चरक संहिता

(हिन्दी अनुवाद)

(चिकित्सित १२-३० तक-सिद्धिस्थानान्त)

तृतीय खण्ड



ओ३म्

चरक-संहिता

महर्षि अग्निवेश प्रणीत

चरक और दृढ़बल से प्रतिसंस्कृत

(हिन्दी अनुवाद)

(चि० अ० १५—३०), कल्प और सिद्धिस्थान

तृतीय खण्ड



अनुवादक—

कविराज अत्रिदेवजी गुप्त

विद्यालङ्कार, भिषग्रत्न

प्रकाशक—

सस्ता साहित्य मण्डल लिमिटेड्, अजमेर.

सं० १९९४ वि०

मूल्य ४) रुपये



ओ३म्

चरक-संहिता

महर्षि अग्निवेश प्रणीत

चरक और दृढ़बल से प्रतिसंस्कृत

(हिन्दी अनुवाद)

चिकित्सित (अ० १५—३०), कल्प और सिद्धिस्थान

तृतीय खण्ड

अनुवादक—
श्री कविराज अत्रिदेवजी गुप्त
विद्यालङ्कार, भिषग्रत्न

प्रकाशक—
आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड्, अजमेर.

प्रथमावृत्ति १००० | सं० १९९४ वि० | मूल्य ४) रुपये

मुद्रक—
बाबू मथुराप्रसाद शिवहरे
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिङ्ग प्रेस, अजमेर.



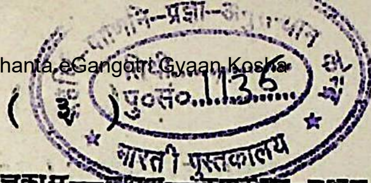
चरक-संहिता

(तृतीय खण्ड)

विषय सूची

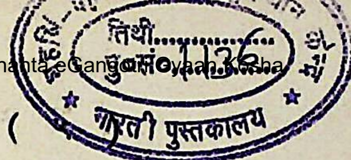
चिकित्सितस्थानम्

षोडशोऽध्यायः (पृ० १-३०)



एकोनविंशोऽध्यायः (पृ० १००–१३२)

विंशोऽध्यायः (पृ० १३२–१४४)


तिथी
पुस्तकालय

त्रयोविंशोऽध्यायः (पृ० १९६–२६३)

पञ्चविंशोऽध्यायः (पृ० ३०५–३३२)

षड्विंशोऽध्यायः (पृ० ३३२–४०४)


पु०सं० 1132
भारती पुस्तकालय

सप्तविंशोऽध्यायः (पृ० ४०४–४१६)

अष्टाविंशोऽध्यायः (पृ० ४१६–४६६)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः (पृ० ४६७–४९८)

त्रिंशोऽध्यायः (पृ० ४९८–५६५)

कल्पस्थानम् ॥

सप्तमोऽध्यायः (पृ० ६०३–६२०)

अष्टमोऽध्यायः (पृ० ६२०–६२४)

नवमोऽध्यायः (पृ० ६२४–६२८)

दशमोऽध्यायः (पृ० ६२८–६३३)

एकादशोऽध्यायः (पृ० ६३३–६३८)

द्वादशोऽध्यायः (पृ० ६३८–६६३)

इति कल्पस्थानम् ॥

सिद्धिस्थानम् ॥

प्रथमोऽध्यायः (पृ० ६६४–६८०)

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० ६८०–६९४)

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ६९५–७१३)

---

* ओ३म् *

चरकसंहिता

(चिकित्सितस्थानम्)

षोडशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे अब हम 'पाण्डुरोग-चिकित्सा' का वर्णन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः ।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ ३ ॥

पाण्डुरोगों के भेद—पाण्डुरोग पांच प्रकार के होते हैं—(१) वात-जन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य, (४) सन्निपातजन्य और (५) मिट्टी के खाने से उत्पन्न होने वाला। [सुश्रुत में पाण्डु रोग के ४ प्रकार ही हैं। कामला, हलीमक आदि सब पाण्डु रोग के ही भेद हैं। चक्र०]।

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।
शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ॥ ४ ॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात ॥ ५ ॥

सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निः सारः शिथिलेन्द्रियः ।
वैवर्ण्यं भजते ।

सम्प्राप्ति—जिस पुरुष के धातुओं में पित्त-प्रधान दोष कुपित हो जाते हैं, उस पुरुष के धातुओं में शिथिलता आ जाती है और शरीर में भारीपन हो जाता है। इससे दोष और दूष्य (रक्तादि धातु) के दूषित होने से वर्ण, बल, स्नेह और ओज के अन्य जो दस गुण हैं, उनका अति क्षय होने पर पाण्डु रोग उत्पन्न होता है। इसलिये उस पुरुष में रक्त और मेद न्यून हो जाते हैं, वह निःसार, निर्बल हो जाता है, उसकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, उसके शरीर में विवर्णता (पाण्डुता, पिलाहट) उत्पन्न हो जाती है। ❀

तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥ ६ ॥

अब उसके कारण और लक्षण सुनो—

क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात् ।
निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ ७ ॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा ।
प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात् ॥ ८ ॥
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः ।
समुदीर्णं यथा पित्तं हृदये समवस्थितम् ॥ ९ ॥
वायुना बलिना क्षिप्तं स्रोतोभिर्दशभिः सृतम् ।
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ॥ १० ॥
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत ।
वर्णान्हरितहारिद्रान्पाण्डून्बहुविधांस्त्वचि ॥ ११ ॥
स पाण्डुरोग इत्युक्तः ।

कारण—क्षार, अम्ल, लवण, उड़द, पिण्याक (तिल-खल), तिल-तैल

❀ ओज के दस गुण—गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं मधुरं स्थिरम् ।
प्रसन्नं पिच्छिलं श्लक्ष्णमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥

अति उष्ण, विरुद्ध और असात्म्य भोजन के सेवन से, निष्पाव (सेम), इनके सेवन से, अन्न के विदग्ध होने से, दिन में सोने से, व्यायाम से, मैथुन से, चिकित्सा कर्म की विषमता से, ऋतु-विषमता से, वेगों को रोकने से, काम, चिन्ता, भय, क्रोध वा शोक में ग्रस्त पुरुष के हृदय में स्थित, बढ़ा हुआ पित्त बलवान् वायु के द्वारा दस स्रोतों (धमनियों) में फैल कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप जाता है। इससे त्वचा और मांस के मध्य में आश्रित होकर यह पित्त, कफ, वायु, रक्त, त्वचा और मांस इनको दूषित करके त्वचा में हरे, हल्दी के समान पीले, पाण्डु वर्ण आदि अनेक प्रकार के वर्ण उत्पन्न करता है, इस को 'पाण्डु-रोग' कहते हैं। *

तस्य लिङ्गं भविष्यतः।
हृदय स्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥ १२ ॥

पूर्वरूप—हृदय का धड़कना, शरीर में रूक्षता, पसीने का न आना तथा थकावट का होना ये पाण्डु रोग के पूर्वरूप हैं।

सम्भूतेऽस्मिन् भवेत्सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः।
दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥ १३ ॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिकान्नरः।
मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥ १४ ॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः।
कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥ १५ ॥
पिण्डिकोद्वेष्टकट्यूरुपादरुक्सदनानि च।

* यकृत का प्रत्येक कोषाणु रक्त से पित्त उत्पन्न करता है। यह पित्त पित्ताशय में एकत्र होकर पित्त-प्रणाली द्वारा आंतों में आता है। जिस समय यकृत पित्त पैदा न करे या पित्तप्रणाली में अवरोध होजाये, तो पित्त रक्त में रहता है या रक्त में पहुंचने लगता है। जिससे कि शरीरमें पित्त की झलक दीखने लगती है। सुश्रुत ने पाण्डुरोग चार प्रकार का माना है।

स्फुरणारोहणायासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते[1] ॥ १६ ॥

सामान्य लक्षण—पाण्डुरोग हो जाने पर रोगी के कानों में शब्द सुनाई देता है, अग्नि कम हो जाती है, शरीर में निर्बलता, अंगों में शिथिलता, भोजन में द्वेष (अनिच्छा), थकान, चक्कर आना, शरीर में वेदना, ज्वर, श्वास (हांपनी), भारीपन और अरुचि रहती है, अंग मर्दित (मसले हुए से), पीड़ित (दबे हुए से), उन्मथित (मथे हुए के समान पीड़ायुक्त) रहते हैं। अक्षिकूट में शोथ, देह में हरित वर्ण, बालों का गिरना या पकना, कान्ति का नष्ट हो जाना, स्वभाव में क्रोध, शीत के प्रति द्वेष, नींद का अधिक आना, मुख से लार बहना, थोड़ा बोलना, पिण्डलियों में उद्वेष्टन (ऐंठन के समान वेदना), कमर, ऊरु तथा पैरों में चलने-फिरने से वेदना या शिथिलता होती है। विशेष लक्षण आगे कहेंगे—

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः ।
जनयेत्कृच्छ्रपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥ १७ ॥
अङ्गमर्दं ज्वरं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम् ।
शकृच्छोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥ १८ ॥
पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः ।
दूषयित्वा तु रक्तादीन्पाण्डुरोगाय कल्पते ॥ १९ ॥
स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः ।
तृष्णामूर्च्छापरीतस्तु पीतमूत्रशकृन्नरः ॥ २० ॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति ।
कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥ २१ ॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते ।
दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥ २२ ॥

वायुजन्य पाण्डुरोग के हेतु और लक्षण—वायुवर्धक आहार विहार से कुपित हुआ वायु कष्टसाध्य पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है अर्थात् वातजन्य

1. 'भवन्त्यारोहभाणासैर्विशेषश्चात्रवक्ष्यते' इति पाठान्तरम् ।

पाण्डु रोग कष्टसाध्य है इस लिये शरीर में रूक्षता और अरुण वर्ण आ जाता है। अंग मर्द, ज्वर, तोद (वेदना), कम्प, पार्श्वशूल, शिर में दर्द, मल का शुष्क हो जाना, मुख में विरसता, पांव, हाथ आदि पर शोथ (Dropsy), आनाह और निर्बलता ये लक्षण प्रकट होते हैं।

पित्तजन्य पाण्डुरोग के लक्षण—पित्तवर्धक कारणों से प्रकुपित पित्त पित्त प्रकृति वाले पुरुष में रक्त आदि धातुओं को दूषित करके पाण्डु रोग को उत्पन्न करता है। इससे रोगी का वर्ण पीला या हरी झांई वाला हो जाता है, उस समय रोगी को ज्वर, दाह, तृष्णा, मूर्च्छा रहती है, रोगी का मल, मूत्र भी पीले रंग का हो जाता है, पसीना बहुत आता है, शीत पदार्थों की बहुत इच्छा करता है, अन्न में रुचि नहीं होती, मुख का स्वाद कड़ुवा रहता है, उष्ण और अम्ल पदार्थ अनुकूल नहीं पड़ते। भोजन के विदग्ध होने पर विदाह और खट्टे डकार आते हैं। शरीर से दुर्गन्ध आती है, मल भी पतला आता है, अतिसार रहता है, रोगी दुर्बल हो जाता है, उसकी आंखों के सामने अंधेरा रहता है।

विवृद्धैः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत्।
करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम् ॥ २३ ॥
प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम्।
श्वासकासौ तथाऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ॥ २४ ॥
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम्।
श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्डवामयः कफात् ॥ २५ ॥

कफजन्य पाण्डुरोग के कारण और लक्षण-कफवर्धक आहार विहार से बढ़ा हुआ कफ पूर्व की भांति रक्त आदि धातुओं को दूषित करके पाण्डु रोग उत्पन्न करता है। इससे शरीर में भारीपन, तन्द्रा, वमन, शरीर में श्वेत वर्ण (सफ़ेदी) की झलक, मुख से लाला-स्राव, रोमाञ्च, शिथिलता, मूर्च्छा, भ्रम, थकान (विना परिश्रम के भी), श्वास, कास, आलस्य, अरुचि, वाग्ग्रह (वाणी का ठीक प्रकार से न चलना), स्वर में

क्षीणता, मूत्र, आंख और मल में श्वेत वर्ण का होना, कटु रस, उष्ण और रूक्ष पदार्थों की चाह (इच्छा) होना, हाथ, पांव पर शोथ, मुख की मधुरता ये कफजन्य पाण्डु-रोग के लक्षण हैं।

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् ।
त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥ २६ ॥

सन्निपातजन्य पाण्डुरोग के हेतु और लक्षण—सब प्रकार के अन्नों को सेवन करने वाले पुरुष में तीनों दोष कुपित होकर तीनों दोषों के लक्षणों वाले 'त्रिदोषज पाण्डु रोग' को उत्पन्न करते हैं। इसमें वायु, पित्त, कफ तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं।

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुराकफम् ॥ २७ ॥

मट्टी के खाने से उत्पन्न पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—मिट्टी को खाने वाले पुरुष में वात आदि तीनों दोषों में से कोई एक दोष कुपित हो जाता है। कषाय रस वाली मिट्टी वायु को, ऊसर (क्षार रस से युक्त) मिट्टी पित्त को और मधुर मिट्टी कफ को प्रकुपित करती है। ❀

कोपयेन्मृद्रसादींश्च, रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्षयेत् ।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च ॥ २८ ॥
इन्द्रियाणां बलं तेज ओजो वीर्यं निहत्य च ।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥ २९ ॥
शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः[1] ।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ॥ ३० ॥

❀ सुश्रुत ने मृद्-भक्षण से उत्पन्न पाण्डु रोग को पृथक् नहीं गिना। उसकी गिनती दोषजन्य पाण्डु रोगों में ही की है। परन्तु चिकित्सा की भिन्नता से सुश्रुत ने उसको पृथक् गिना है। मृद्भक्षण से उत्पन्न पाण्डु रोग को 'पालकि' भी कहते हैं।

1. 'नाभिपादाग्रमेहनः' इति च पाठः।

रूक्ष होने से मिट्टी रस आदि धातुओं को कुपित कर देती है, खाये हुए अन्न को भी रूक्ष कर देती है, वा अविपक्वावस्था में ही क्योंकि मिट्टी पचती नहीं है, स्रोतों में भर जाती है, वह स्रोतों को बन्द कर देती है और इन्द्रियों के बल, तेज, ओज और वीर्य को नष्ट करके पाण्डु रोग को जल्दी से उत्पन्न कर देती है। इस रोग में रोगी का बल, वर्ण और अग्नि नष्ट हो जाते हैं। रोगी के गण्डस्थल (गालें), अक्षिकूट (आंख) के ऊपर के भाग और भोहों पर सूजन आ जाती है, पांव, नाभि और लिंग पर भी शोथ हो जाता है, पेट में कृमि हो जाते हैं, रोगी को बार बार मल त्याग होता है। मल में रक्त या कफ मिला रहता है।

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यश्च पीतानि पश्यति॥ ३१॥

असाध्यता—चिरकाल से उत्पन्न पाण्डु रोग जिस समय आमाशय में पहुंच कर शरीर को रूक्ष, कर्कश कर देता है, तब असाध्य हो जाता है। और जिस रोगी में देर से शोथ (Chronic Dropsy) उत्पन्न हो गई हो और जो सब कुछ पीला ही पीला देखता हो तो वह रोगी भी असाध्य है।

बद्धाल्पविट्कं सकफं हरितं योऽतिसार्यते।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः॥ ३२॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्।
इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम्॥ ३३॥

जिस पाण्डु रोगी का मल बंधा हुआ और मात्रा में थोड़ा, कफ से मिश्रित तथा हरे रंग का हो वह असाध्य है। जो पाण्डुरोगी दीन और श्वेत वर्ण तथा * अति मैल से खूब लिप्त हो, वमन, मूर्च्छा और तृष्णा से पीड़ित हो उसे असाध्य समझना चाहिये।

जिस पुरुष में रक्त के क्षय से पाण्डुता या श्वेत वर्ण आ गया हो,

* 'श्वेतानुदिग्धांगता' इति चक्रसम्मतः पाठः।

वह भी असाध्य है। ये पांचों प्रकार के पाण्डु रोग के लक्षण कह दिये।

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ ३४ ॥

कामला का हेतु और सम्प्राप्ति—जो पाण्डु रोगी पित्तकारक पदार्थों का बहुत अधिक सेवन करता है, उस पुरुष का पित्त, रक्त और मांस को जला कर कामला रोग को उत्पन्न करता है।

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ ३५ ॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥ ३६ ॥

कामला के लक्षण—कामला में आंखों का रंग हल्दी के समान पीला, रोगी की त्वचा, नख और मुख भी हल्दी के समान पीला हो जाता है। मल और मूत्र का रंग लाल-पीला सा होता है। शरीर का वर्ण बरसाती मेंड़क के समान पीला पड़ जाता है, इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। रोगी को जलन, अविपाक, दुर्बलता, शिथिलता (सुस्ती), और भोजन में अरुचि रहती है। यह कामला रोग कोष्ठ (महास्रोत, आमाशय, पक्वाशय, शरीर-मध्य) की शाखा (रक्तादि धातु और त्वचा) में आश्रित पित्त की अधिकता के कारण उत्पन्न होता है। [हारीत ने कामला आदि को पाण्डु रोग में गिना है]।

कालान्तरात्खरीभूतात् कृच्छ्रास्यात् कुम्भकामला।
कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥ ३७ ॥

कुम्भकामला—कामला रोग ही जब पुराना होकर देह वा धातुओं में रूक्षता उत्पन्न कर देता है तो इसको 'कुम्भकामला' कहते हैं। यह कष्टसाध्य है। इस रोग में मल, मूत्र का रंग काला, पीला होता है, रोगी को शोथ (सूजन) अति अधिक होता है।

संरक्ताक्षिमुखच्छर्दिर्विण्मूत्रो यश्च ताम्यति।

दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥ ३८ ॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते ।

असाध्यता—जिस रोगी की आंख, मुख, वमन, मल और मूत्र का वर्ण लाल हो, जिस रोगी को ग्लानि (उदासी) रहती हो, जिसको जलन, अरुचि, प्यास, आनाह, (अफ़ारा) तन्द्रा, मोह (मूर्च्छा) रहती हो, जिस रोगी की अग्नि मन्द और चेतना नष्ट हो गई हो, वह कामला रोगी शीघ्र ही मर जाता है ।

साध्यानामितरेषां तु भेषजं संप्रवक्ष्यते ॥ ३९ ॥
तत्र पाण्डूवामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरुर्ध्वानुलोमिकैः ।
संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः ॥ ४० ॥
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत ।
शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान्[1] ॥ ४१ ॥
मुद्गाढकमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः[2] ।
यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत ॥ ४२ ॥

चिकित्सा—अब साध्य पाण्डु और कामला रोग की चिकित्सा कहते हैं ।

(१) पाण्डु रोगी को प्रथम स्नेहन करके तीक्ष्ण, ऊर्ध्व और आनुलोमिक अर्थात् वमन और विरेचन से शोधन करना चाहिये । कामला रोगी को तिक्त रस युक्त मृदु विरेचन ओषधियों से संशोधन करना चाहिये । पाण्डु रोगी और कामला रोगी का कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर इनको पथ्य भोजन देना चाहिये । इसके लिये यूषों के साथ पुरातन हेमन्त धान्य (चावल), जौ, गेहूं देना चाहिये । यूष के लिये मूंग, अरहर और मसूर हितकर हैं । अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांस-रस के साथ शालि आदि का प्रयोग करना चाहिये । यह कर्म दोनों में सामान्य

---

१. 'शालयो यवगोधूमपुराणयूषसंस्कृताः' इति च पाठः ।
२. 'रसैर्हिताः' इति पाठान्तरम् ।

है, परन्तु दोष के अनुसार चिकित्सा विधि भिन्न भिन्न है।

पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा।
स्नेहनार्थं घृतं दद्यात्कामलापाण्डुरोगिणे ॥ ४३ ॥

(२) स्नेहार्थं घृतों की व्यवस्था—कामला अथवा पाण्डु रोगी को पंचगव्य घृत (अपस्मारोक्त चि० अ० १०), महातिक्त घृत (कुष्ठोक्त चि० अ० ७) अथवा कल्याणक घृत (उन्मादोक्त चि० अ० ९) स्नेहन के लिये प्रयोग करना चाहिये।

दाडिमात्कुडवो धान्यात्कुडवार्धपलं पलम्।
चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा ॥ ४४ ॥
तैः कल्कैर्विंशति पलं[1] घृतस्य सलिलढाके।
सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शः[2]प्लीहवातकफार्तिनुत ॥ ४५ ॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते।
दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम् ॥ ४६ ॥

इति दाडिमाद्यं घृतम्।

(३) दाडिमाद्य घृत—गाय का घृत २० पल। कल्कार्थ—अनार दाना ४ पल, धनिया २ पल, चित्रक १ पल, सोंठ १ पल, पिप्पली २ कर्ष, जल २ आढ़क लेकर यथाविधि घृत-पाक करना चाहिये। यह घृत हृदयरोग, पाण्डु-रोग, गुल्म अर्श, प्लीहा, वायु रोग और कफजन्य रोगों को नष्ट करता है। अग्नि-दीपक, श्वास-कास नाशक, तथा मूढ़ वायु में उत्तम है। जिन स्त्रियों को प्रसव के समय अत्यन्त कष्ट होता है, उनके लिये उत्तम है। तथा वन्ध्या स्त्रियों के लिये यह घृत गर्भदाता है।

कटुका रोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात्पलम्।
पटोलं चन्दनं मूर्वा त्रायमाणा दुरालभा ॥ ४७ ॥
कृष्णा पर्पटको निम्बो भूनिम्बो देवदारु च।

---

१. 'द्वात्रिंशतलं कल्कैः' इति च पाठान्तरम्।
२. 'पाण्डुरोगार्शः' इति पाठान्तरम्।

तैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः क्षीरचतुर्गुणः ॥ ४८ ॥
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम् ।
अर्शांस्यसृग्दरं चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा ॥ ४९ ॥

इति कटुकाद्यं घृतम् ।

(४) कटुकाद्य घृत—घृत १ प्रस्थ, कल्कार्थ—कुटकी, मोथा, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, पटोलपत्र, लाल चन्दन, मूर्वामूल, त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, चिरायता, देवदारु प्रत्येक एक एक कर्ष, गाय का दूध ४ प्रस्थ लेकर यथा विधि घृत-पाक करना चाहिये। यह घृत रक्तपित्त, ज्वर, दाह, शोथ, भगन्दर, अर्श, रक्तप्रदर और विस्फोटक को नष्ट करता है।

[चक्रदत्त ने इसी घृत का नाम 'मूर्वाद्य घृत' दिया है। अष्टाग-संग्रह में चिरायता, गिलोय, अजवायन अधिक पढ़े हैं, परन्तु मूर्वा, पिप्पली और नीम नहीं पढ़े]।

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान् ।
प्रस्थः सिद्धो घृतात्पेयः सपाण्ड्वामयगुल्मनुत ॥ ५० ॥

इति पथ्याघृतम् ।

(५) पथ्याघृत—गाय का घृत १ प्रस्थ, १०० हरड़ों का क्वाथ और ५० हरड़ों के वृन्तों (फलों की डण्डी) के कल्क से यथा विधि घृत-पाक करना चाहिये। यह घृत पाण्डु रोग और गुल्म को नष्ट करता है। [मात्रा चौथाई तोले से आधी रत्ती]। हरड़ों का क्वाथ करने के लिये पानी २ द्रोण लेकर चतुर्थांश ४ प्रस्थ रहने पर छान लेना चाहिये।

दन्त्याश्चतुःप्रस्थरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः ।
तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः प्लीहपाण्ड्वर्तिशोफजित ॥ ५१ ॥

इति दन्तीघृतम् ।

(६) दन्तीघृत—गाय का घृत १ प्रस्थ, दन्ती ४ पल के रस में दन्तीफल की मज्जा के कल्क से यथाविधि घृत सिद्ध करके रोगी को देना चाहिये।

[मात्रा ४ बूंद] इससे प्लीहा, पाण्डुरोग और शोथ नष्ट होते हैं।

इसमें दन्ती ४ पल, पानी १ द्रोण लेकर चतुर्थांश रखना चाहिये अर्थात् ४ प्रस्थ और कल्क घृत से चतुर्थांश अर्थात् ८ पल लेना चाहिये, परन्तु तीक्ष्ण होने से वृद्ध वैद्य मतानुसार ४ पल लेना चाहिये। इसी प्रकार क्राथ भी कई वैद्य घृत के समान ही लेते हैं। ※

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः।
कामलागुल्मपाण्डूर्वार्तिज्वरमेहोदरापहः ॥ ५२ ॥

इति द्राक्षाघृतम्।

(७) द्राक्षा घृत—दस साल का पुरातन गव्य घृत १ प्रस्थ, कल्कार्थ—द्राक्षा (मुनक्का) आधा प्रस्थ, पाकार्थ जल ८ प्रस्थ लेकर यथाविधि घृत-पाक करना चाहिये। यह कामला रोग, गुल्म, पाण्डुरोग, ज्वर, प्रमेह और उदर रोगों को नष्ट करता है, [मात्रा २ मासा]। कई वैद्य हारीत संहिता के अनुसार पानी के स्थान में चौगुने दूध में द्राक्षा का क्राथ करते हैं।]*

हरिद्रात्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम्।
सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥ ५३ ॥

इति हरिद्रादिघृतम्।

(८) हरिद्रादि घृत—हल्दी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आंवला), नीम की छाल, बलामूल का छिलका, मुलहठी मिलित १ शराव, भैंस का घी १ प्रस्थ, दूध ८ प्रस्थ लेकर यथाविधि घृतपाक करना चाहिये। यह घृत कामला रोग को नष्ट करता है। [मात्रा आधा तोला]

गोमूत्रद्विगुणो दार्वीकल्कात्तद्वयसाधितः।

(९) भैंस का घी १ प्रस्थ, गोमूत्र २ प्रस्थ, कल्कार्थ दारुहल्दी

※ कहा भी है—निकुम्भकुडवक्राथप्रस्थे तत्कल्कसंयुतम्।
सर्पिः प्रस्थं पचेत्प्लीहकामलापाण्डुरोगनुत् ॥

* पिष्ट्वा गोस्तनिकायाश्च पलान्यष्टौ समावपेत्।
पुराणसर्पिषः प्रस्थं पचेत् क्षीरचतुर्गुणम् ॥ (हारीत सं०)

२ कर्ष लेकर यथाविधि घृत सिद्ध करना चाहिये । [मात्रा चौथाई तोला] यह घृत पाण्डुरोग में उत्तम है ।

पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ।
दार्व्याः पञ्चपलक्वाथे कल्के कालीयके परः ॥ ५४ ॥

(१०) भैंस का घृत १ प्रस्थ, दारु हल्दी का क्वाथ ५ पल, कालीयक काष्ठ (पीले अगर की लकड़ी) के कल्क में यथाविधि घृत-पाक करना चाहिये । यह घृत कामला रोग में उत्तम है ।

[इस दूसरे घृत में दारुहल्दी का क्वाथ घृत से दुगना लेना चाहिये अर्थात् २ प्रस्थ । इसके लिये ५ पल दारुहल्दी को ८ प्रस्थ पानी में क्वाथ करना चाहिये, चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये ।]

माहिषात्सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः ।
स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ॥ ५५ ॥

इन स्नेहों के द्वारा जब रोगी का स्नेहन भली प्रकार से हो जाये तब विरेचन देना चाहिये । इसके लिये केवल दूध या गोमूत्र से युक्त दूध बहुत बार पिलाना चाहियें । [वाग्भट ने इस प्रयोग को १५ दिन तक निरन्तर सेवन करने का आदेश दिया है ।]

दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना शृतम् ॥ ५६ ॥
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात्पाण्ड्वामयापहम् ।

(११) विरेचन योग—दन्ती फल के कोसे क्वाथ में गम्भारी फल १ अंजलि (४ पल) और मुनक्का ४ पल मल कर छान लेना चाहिये । [मात्रा ३ मासा] इस योग को विरेचन के लिये पाण्डुरोग में देना चाहिये ।

[फाण्टयोग की परिभाषा से द्रव्य की अपेक्षा द्रव चतुर्गुण होना चाहिये । अतः दन्तीफल का क्वाथ ३२ पल होना चाहिये ।]

द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत् ॥ ५७ ॥

(१२) त्रिवृत-चूर्ण—पैत्तिक पाण्डुरोगी को चाहिये कि निशोथ

के चूर्ण में दुगनी खाण्ड मिला कर आधी पल मात्रा में विरेचन के लिये दे । [मात्रा ३ या ४ माशे, अनुपान जल] ।

कफपाण्डुस्तु गोमूत्रयुक्तां क्लिन्नां हरीतकीम् ।

(१३) हरीतकी योग—कफज पाण्डु रोगी को चाहिये कि गोमूत्र में भिगोई हुई और कूट कर गोमूत्र में आलोडित की हुई हरड़ को मात्रा में खावे ।

आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च ॥ ५८ ॥
सत्र्यूषणं बिल्वपत्रं पिबेन्ना कामलापहम् ।

(१४) आरग्वधादि योग—अमलतास के गूदे के साथ त्रिकटु का चूर्ण मिला कर १ पल मात्रा में ईख के रस या आंवले के रस के साथ कामला रोग में पीना चाहिये । यह कामला रोग को नष्ट करता है ।

दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥ ५९ ॥
कामली त्रिवृतां वापि त्रिफलाया रसैः पिबेत् ।

(१५) दन्तीयोग वा त्रिवृत् त्रिफलायोग—दन्ती के आधे पल कल्क को १ पल गुड़ के साथ मिला कर शीतल जल से कामला रोगी को पीना चाहिये । [आधुनिक मात्रा १ रत्ती] ।

अथवा निशोथ के चूर्ण को त्रिफला के रस से पीना चाहिये । [चूर्ण की मात्रा १ मासे से २ मासा] ।

विशालात्रिफलामुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान् ॥ ६० ॥
कार्षिकानर्धकर्षांशां कुर्याददतिविषां तथा ।
कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्वमेतत्सुखाम्बुना ॥ ६१ ॥
मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च मध्वनु ।
कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम् ॥ ६२ ॥
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत् ।

(१६) विशालादि योग—विशाला (इन्द्रायण), कुटकी, मोथा,

कूठ, दारुहल्दी, इन्द्रजौ प्रत्येक वस्तु एक कर्ष, अतीस आधा कर्ष, मूर्वामूल २ कर्ष, इस चूर्ण को सबसे चतुर्गुण सुखोष्ण गरम जल में मल कर छान लेना चाहिये। इस छने हुए रस को पीकर ऊपर से मधु चाटना चाहिये। इससे कास, श्वास, ज्वर, दाह, पाण्डुरोग, अरुचि, गुल्म, आनाह, आमवात और रक्त पित्त नष्ट होता है। [मात्रा ४ तोले]।

[अष्टांग-संग्रह में इसको चूर्ण रूप विधान किया है और अनुपान गरम जल बतलाया है]।

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम् ॥ ६३ ॥
शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः ।

(१७) त्रिफलादि योग—कामला रोगी को चाहिये कि प्रातःकाल त्रिफला, गिलोय, दारुहल्दी या नीम किसी एक वस्तु के रस में मधु मिला कर शीतल रूप में व्यवहार करे।

क्षीरमूत्रं पिबेत्पक्वं गव्यं माहिषमेव वा ॥ ६४ ॥
पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलारसम् ।

(१८) दुग्ध-मूत्र योग—पाण्डु रोगी को चाहिये कि गाय के दूध में गोमूत्र मिला कर अथवा भैंस के मूत्र में भैंस का दूध मिला कर पन्द्रह दिन तक पान करे। अथवा

(१९) गोमूत्र-त्रिफला योग—गोमूत्र से त्रिफला के क्वाथ को सिद्ध करके सात दिन तक पीना चाहिये।

तरुजान् ज्वलितान्मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान् ॥ ६५ ॥
मातुलुङ्गस्य तत्पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत् ।

(२०) मातुलुङ्गाङ्कुर योग—बिजौरों के नवीन अंकुरों को अग्नि में जला कर गोमूत्र में बुझाना चाहिये और वहीं रगड़ देना चाहिये। पीछे से इसको कपड़े में छान कर पीना चाहिये। इससे पाण्डु और शोथ रोग या पाण्डुजन्य शोथ नष्ट होता है।

स्वर्णक्षीरीं त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम् ॥ ६६ ॥

गोमूत्राञ्जलिना पिष्टे मूत्रे वा कथितं पिबेत् ।

(२१) स्वर्णक्षीर्यादि योग—स्वर्ण क्षीरी (चोक), निशोथ, श्याम (श्याम वर्ण की निशोथ). देवदारु, सोंठ इनको ४ पल परिमित गोमूत्र से पीस कर या गोमूत्र में क्वाथ विधि से क्वाथ करके मात्रा में पीना चाहिये । अथवा

क्षीरमेभिः शृतं वापि पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥ ६७ ॥

(२२) इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि दूध सिद्ध करके पीना चाहिये । यह दोषों का अनुलोमन करता है ।

हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत् ।
जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥ ६८ ॥

(२३) त्रिफला-गोमूत्र योग—अथवा हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के अनुपान से सदा पीना चाहिये । इसके जीर्ण होने पर दूध या मधुर मांस रस से भोजन करना चाहिये । [वृद्ध-वाग्भट ने इसका प्रयोग सात दिन तक प्रतिदिन सेवन करने का विधान किया है] ।

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः ।
पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद्भिषक् ॥ ६९ ॥

(२४) वैद्य को चाहिये कि लोह भस्म को गोमूत्र में सात दिन तक भावना देकर पाण्डु रोग की शान्ति के लिये दूध के साथ पिलाये । [मात्रा आधी रत्ती से २ रत्ती] ।

त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चित्रकाः समाः ।
नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं क्षौद्रसर्पिषा ॥ ७० ॥
भक्षयेत्पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम् ।
नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥ ७१ ॥

इति नवायसचूर्णम् ।

(२५) नवायस चूर्ण—सोंठ, त्रिफला, नागरमोथा, बायविडंग, चीता प्रत्येक १ भाग, लोह भस्म ९ भाग इनको मिला कर मधु और घी

से मिला कर सेवन कर लेना चाहिये । यह पाण्डुरोग, हृदयरोग, कुष्ठ, अर्श और कामला को नष्ट करता है । कृष्णात्रेय ने इस चूर्ण का उपदेश किया है । [मात्रा १ रत्ती से ४ रत्ती] ।

गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान् ।
पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे ॥ ७२ ॥

(२६) गुड़, सोंठ, मण्डूर भस्म (गोमूत्र से शोधित), तिल प्रत्येक १ भाग, पिप्पली दुगुनी कर इनको मिला कर गुटिका बनाना चाहिये । इसका पाण्डुरोगी के लिये प्रयोग करना चाहिये ।

त्रिफला त्र्यूषणं मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ ।
दार्वी त्वङ्माक्षिको धातुर्ग्रन्थिको देवदारु च ॥ ७३ ॥
एतान् द्विपलिकान्भागांश्चूर्णं कुर्यात्पृथक् पृथक् ।
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥ ७४ ॥
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत्प्रक्षिपेत्ततः ।
उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान्यथाग्निना ॥ ७५ ॥
उपयुञ्जीत तक्रेण जीर्णे सात्म्यं च भोजनम् ।
मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥ ७६ ॥
कुष्ठान्यजीर्णकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान् ।
अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहानं शमयन्ति च ॥ ७७ ॥

इति मण्डूरवटकाः ।

मण्डूर वटक—हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, मोथा, बायविडंग, चविका, चीता, दारुहल्दी की त्वचा, स्वर्णमाक्षिक भस्म, पिप्पलीमूल, देवदारु, प्रत्येक का चूर्ण पृथक् पृथक् दो पल, इस सबसे दुगुने प्रमाण में गोमूत्र से शोधित अंजन के सदृश कृष्ण वर्ण मण्डूर को लेकर आठ गुणे गोमूत्र में पकाना चाहिये और जब पाक पकने के अनकरीब हो तो इसमें उपरोक्त चूर्ण मिला देना चाहिये । इसको नीचे उतार कर गूलर के समान वटक बनाने चाहिये । इनको अग्नि के अनुसार तक्र के

साथ खाना चाहिये । जीर्ण होने पर सात्म्य भोजन देना चाहिये । ये मण्डूर वटक पाण्डु रोगियों के लिये जीवनदाता हैं । इनके सेवन से कुष्ठ, अजीर्ण, शोथ, ऊरुस्तम्भ, कफरोग, अर्श, कामला, प्रमेह और प्लीहा रोग शान्त होते हैं ।

[इसमें गोमूत्र को मण्डूर से आठ गुणा लेना चाहिये । इसमें चूर्ण की मात्रा अधिक है, इसलिये आसन्न पाक के समय चूर्ण डालना चाहिये। क्योंकि यदि चूर्ण की मात्रा थोड़ी हो तो इसके पाक की समाप्ति पर चूर्ण डालना चाहिये । वर्त्तमान काल की मात्रा ४ रत्ती है] ।

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक् ।
चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पालिकैः सह ॥ ७८ ॥
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः ।
अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे नियमिताशिना ॥ ७९ ॥
कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा ।

(२७) योगराज (१)—स्वर्ण माक्षिक भस्म, विशुद्ध शिलाजीत, चांदी की मैल (रजत माक्षिक भस्म), मण्डूर भस्म प्रत्येक ५ पल, चीता, त्रिफला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, बायविडंग प्रत्येक १ पल, खाण्ड ८ पल मिला कर चूर्ण कर लेना चाहिये । इसको मधु में मिला कर १ कर्ष प्रमाण में प्रयोग करना चाहिये। औषध के जीर्ण होने पर नियमित भोजन करना चाहिये । इस औषध के प्रयोग में कुलत्थी, मकोय आदि तथा कबूतर का मांस अपथ्य है, इसका नाम योगराज है । [मात्रा ४ रत्ती] ।

त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च ॥ ८० ॥
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च ।
पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च ॥ ८१ ॥
माक्षिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा ।
अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम् ॥ ८२ ॥
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे ।

उदुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद्यथाग्निना ॥ ८३ ॥
दिने दिने प्रयुञ्जीत जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम् ।
वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमाचीं कपोतकम् ॥ ८४ ॥
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपम् ।
रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम् ॥ ८५ ॥
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम् ।
कुष्ठान्यजीर्णकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम् ॥ ८६ ॥
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ।

इति योगराजः ।

(२८) योगराज (२)—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) ३ भाग, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) ३ भाग, चीतामूल १ भाग, वायविडंग १ भाग, शिलाजीत ५ भाग, रजतमल (रजतमाक्षिक की भस्म) ५ भाग, स्वर्ण माक्षिक भस्म ५ भाग, लोहभस्म ५ भाग, खाण्ड ८ भाग सबके चूर्णों को मिला लेना चाहिये। इस चूर्ण को मधु से लिप्त लोह के पात्र में रखना चाहिये। इसमें से प्रतिदिन कर्ष प्रमाण मात्रा को अग्नि बल की अपेक्षा से खाना चाहिये। औषध के जीर्ण होने पर कुलत्थी, मकोय और कपोत मांस को छोड़ कर शेष अन्न इच्छानुसार खाना चाहिये। इसको भी 'योगराज' कहते हैं, यह अमृत के समान है। यह उत्तम रसायन है, सब रोगों को नष्ट करता है, कल्याणकारी है। पाण्डु रोग, विष, कास, यक्ष्मा, विषम ज्वर, कुष्ठ, अजीर्ण, प्रमेह, शोष, श्वास और अरुचि, अपस्मार, कामला और अर्श रोग को विशेषतः नष्ट करता है। [वर्त्तमान मात्रा ४ रत्ती] ।

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः ॥ ८७ ॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा ।
शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥ ८८ ॥
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कर्कटाख्या पलोन्मिता ।

निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम् ॥ ८९ ॥
चूर्णितं मधुनः[1] कुर्यात् त्रिपलेनाक्षिकान् गुडान् ।
दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥ ९० ॥
तान् भक्षयित्वाऽनु पिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा ।
पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरान् ॥ ९१ ॥
हृद्रोगशुक्रमूत्राग्निदोषशोथगरोदरान् ।
कासासृग्दरपित्तासृक्शोषगुल्मगरामयान् ॥ ९२ ॥
ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः ।

इति शिलाजतुवटकाः ।

(२९) शिलाजतु वटक—आठ पल विशुद्ध शिलाजीत को इन्द्रजौ मिलित त्रिफला, नीम की छाल, पटोल, मोथा, सोंठ इनके रसों से दस, बीस या तीस दिनों तक रसायनाधिकार में बताये गये विधान के अनुसार ही भावनायें देकर इसमें निर्मल खाण्ड ८ पल, वंशलोचन, पिप्पली, आंवला, काकड़ासींगी प्रत्येक का चूर्ण १ पल, छोटी कटेरी के फल और मूल का चूर्ण १ पल, त्रिगन्ध (दालचीनी, इलायची और तेजपात) को युक्तिपूर्वक [१ कर्ष परिमित या जिससे गन्ध ठीक हो जाये इतनी मात्रा में] मिलावे, इसमें ३ पल शहद मिला कर एक एक कर्ष के वटक बना लेने चाहियें । [वर्त्तमान मात्रा ६ रत्ती ।]

खाली पेट या भोजन के पश्चात् इन वटकों को खाकर ऊपर से अनार का रस, दूध, पक्षियों का मांस रस, जल, सुरा या आसव इनमें से कोई एक वस्तु आवश्यकतानुसार पीना चाहिये । यह पाण्डुरोग, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहा, तमक श्वास, अर्श, भगन्दर, हृदयरोग, शुक्रदोष, मूत्र रोग, अग्नि दोष, शोथ, संयोगजन्य विष, उदर रोग, कास, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, शोष, गुल्म, गले के रोग तथा सब व्रणों को नष्ट करता है । ये वटक सर्वरोगनाशक और कल्याणकारी हैं ।

१. 'मधुरं' इति च पाठः ।

पुनर्नवा त्रिवृद् व्योषविडङ्गं दारु चित्रकम् ॥ ९३ ॥
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः ।
कटुका पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम् ॥ ९४ ॥
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रे द्व्याढके पचेत् ।
कोलवद् गुडिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत् ॥ ९५ ॥
ताः पाण्डुरोगान् प्लीहानमर्शांसि विषमज्वरम् ।
श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं क्रिमींस्तथा ॥ ९६ ॥

इति पुनर्नवामण्डूरम् ।

(३०) पुनर्नवा मण्डूर—पुनर्नवा, निशोथ, सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, वायविडंग, देवदारु, चीता, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, दन्तीमूल, चविका, इन्द्रजौ, कुटकी, पिप्पलीमूल, मोथा प्रत्येक वस्तु १ पल, गोमूत्र से शोधित मण्डूर भस्म सम्पूर्ण चूर्ण से दुगनी अर्थात् ४० पल लेकर प्रथम मण्डूर भस्म को ४ आढ़क गोमूत्र में पकाना चाहिये। जब आसन्न पाक हो तो उपरोक्त वस्तुओं का चूर्ण मिला कर अच्छी प्रकार से विलोडित कर देना चाहिये । इससे कोल (बेर) प्रमाण की गुटिकायें बांध लेनी चाहियें । इनको तक्र में मथ कर रोगी को पीना चाहिये । ये गुटिकायें पाण्डु रोग, प्लीहा, विषम ज्वर, शोथ, ग्रहणी रोग, कुष्ठ और कृमियों को नष्ट करती हैं । [आधुनिक मात्रा ३ रत्ती] ।

दार्वीत्वक्त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रजः ।
मधुसर्पिर्युतं लिह्यात्कामलापाण्डुरोगवान् ॥ ९७ ॥

(३१) दार्व्यादि लेह—दारुहल्दी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आंवला सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, वायविडंग और लोहभस्म इन सब वस्तुओं को परस्पर समान भाग लेकर मिलाना चाहिये । इसको मधु और घी के साथ कामला और पाण्डु रोगी को चाटना चाहिये । ❀

❀ लोहसर्वस्व में—लोह भस्म सम्पूर्ण चूर्ण के समान है । यथा—
दार्वी वरा व्योष विडंग कृष्णा समा समं ताभिरयोरजश्च ।

तुल्या अयोरजःपथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा ।
चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः ॥ ९८ ॥

(३२) लोह भस्म, हरड़, हल्दी इनके चूर्णों को परस्पर समान भाग में मिला कर मधु और घी के साथ चाटने से कामला रोग नष्ट होता है। अथवा हरड़ के चूर्ण को गुड़ और मधु के साथ खाने से कामला रोग नष्ट होता है।

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः ।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां स लेहः कामलापहः ॥ ९९ ॥

(३३) त्रिफलाद्यवलेह—हरड़, बहेड़ा, आंवला, हल्दी, दारुहल्दी, कुटकी, लोहभस्म इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रित करके मधु और घी के साथ चाटना चाहिये। यह लेह कामला रोग नाशक है। [मात्रा ४ रत्ती]।

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम् ।
प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्कराधंतुलां तथा ॥ १०० ॥
धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत्पचेत् ।
शीतं मधुप्रस्थयुतं लिह्यात्पाणितलं ततः ॥ १०१ ॥
हन्त्येष कामलां पित्तं पाण्डु कासं हलीमकम् ।

इति धात्र्यवलेहः ।

(३४) धात्र्यवलेह—वंशलोचन २ पल, सोंठ २ पल, मुलहठी २ पल, पिप्पली १ प्रस्थ, मुनक्का १ प्रस्थ, खांड ५० पल इनको मिला कर दो द्रोण (५१२ पल) आंवले के रस में अवलेह के समान पकाना चाहिये। जब यथाविधि पाक हो जाये तब नीचे उतार ले। शीतल होने पर २ प्रस्थ (३२ पल) मधु मिलाना चाहिये। इसमें से १ कर्ष मात्रा

क्षौद्राज्यलीढं विनिहन्ति सद्यः सकामलं पाण्डुगदं नराणाम् ॥
इसका नाम दार्व्यादिलोह दिया है।

रोगी चाटे। यह लेह कामला, पित्तरोग, पाण्डु, कास तथा हलीमक को नष्ट करता है।

त्र्यूषणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च ॥ १०२ ॥
विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत्।
मण्डूरतुल्यं तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ॥ १०३ ॥
शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः।
यथाग्नि भक्षणीयास्ते प्लीहपाण्ड्वामयापहाः ॥ १०४ ॥
ग्रहण्यर्शोनुदश्चैव तक्रवाट्याशिनः स्मृताः।

इति मण्डूरवटकाः।

(३५) मण्डूर-वटक—सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, चविका, चीता, देवदारु, बायविडंग, मोथा और इन्द्रजौ इनका परस्पर समान भाग लेना चाहिये और सब के बराबर गोमूत्र-शोधित मण्डूर भस्म लेनी चाहिये। इस मण्डूर भस्म को आठ गुणे गोमूत्र में धीरे धीरे पकाना चाहिये। आसन्न पाक में उपरोक्त सोंठ आदि का चूर्ण मिला देना चाहिये। शीतल होने पर एक एक कर्ष के वटक अग्नि के अनुसार खाने चाहियें। ये वटक प्लीहा, पाण्डु रोग, ग्रहणी तथा अर्श के नाशक हैं। इसके सेवन के समय तक्र और वाट्य (यवान्न) का सेवन करना पथ्य है। [वर्त्तमान मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती]।

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः ॥ १०५ ॥
लोध्रं चैतेषु गौडः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम्।

इति गौडोऽरिष्टः।

(३६) गौडारिष्ट—मजीठ, हल्दी, द्राक्षा, बलामूल, लोह भस्म, लोध इन द्रव्यों का गुड़ के योग से तैय्यार किया गया अरिष्ट पाण्डु रोगियों के लिये प्रशस्त है। [मात्रा डेड़ तोला से ढाई तोला]।

बीजकात्षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः ॥ १०६ ॥
द्राक्षायाः पञ्च, लाक्षायाः सप्त, द्रोणे जलस्य तत्।

साध्यं पादावशेषे तु पूतशीते समावपेत् ॥ १०७ ॥
शर्करायास्तुलां, प्रस्थं माक्षिकस्य च, कार्षिकम् ।
व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम् ॥ १०८ ॥
मधूकं कुष्ठमित्येतच्चूर्णितं घृतभाजने ।
यवेषु दशरात्रस्थं ग्रीष्मे, द्विः शिशिरे स्थितम् ॥ १०९ ॥
पिबेत्तद् ग्रहणीपाण्डुरोगार्शः शोथगुल्मनुत ।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातजित्[1] ॥ ११० ॥
बीजकारिष्ट एवैष आत्रेयेण प्रकीर्तितः ।

इति बीजकारिष्टः ।

(३७) बीजकारिष्ट—बीजक (असन या विजयसार) की लकड़ी १६ पल, त्रिफला मिलित २० पल, मुनक्का ५ पल, कच्ची लाख ७ पल इनको दो द्रोण जल में पकाना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये । शीतल होने पर खांड १०० पल, मधु ३२ पल मिला देनी चाहिये । पीछे से सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, व्याघ्रनखी, खस, सुपारी या लोध, एलवालुक, महुए के फूल, कूठ प्रत्येक वस्तु एक कर्ष लेकर सब का चूर्ण मिला देना चाहिये । इस औषध को घृत से भावित पात्र में रख कर दस दिन तक जौ की राशि में ग्रीष्म ऋतु के अन्दर रखना चाहिये । शीत काल में २० दिन तक जौ की राशि में रखना चाहिये । सिद्ध हो जाने पर मात्रा में इसका सेवन करना चाहिये । इसके सेवन से ग्रहणी, पाण्डु रोग, अर्श, शोथ, गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह, कामला तथा सन्निपात नष्ट होता है । इस अरिष्ट का उपदेश आत्रेय ने किया है । [मात्रा डेढ़ से ढाई तोले तक] ।

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं भिषक् ॥ १११ ॥
क्षौद्राष्टांशेन संयुक्तं कृष्णार्धकुडवेन च ।
शर्करार्धतुलोन्मिश्रं पक्वं स्निग्धघटे स्थितम् ॥ ११२ ॥

1. 'नुत्' इति च पाठः ।

प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे मितहिताशनः ।
कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्विषमज्वरान् ॥ ११३ ॥
कासहिक्कारुचिश्वासांश्चैषो ऽरिष्टः प्रणाशयेत् ।

इति धात्र्यरिष्टः ।

(३८) धात्र्यरिष्ट—दो हज़ार आंवलों को कूट कर निर्मल वस्त्र में बांध कर इनका रस निकाल कर इस रस में अष्टमांश मधु, पिप्पली २ पल, खांड ५० पल मिला कर घृत से भावित घड़े में डाल कर पन्द्रह दिनों (१ पक्ष) तक रख दे । इसमें से मात्रानुसार प्रातःकाल रोगी पान करे । इसके जीर्ण होने पर हितकारी भोजन करे । यह अरिष्ट, कामला, पाण्डु, हृदय रोग, वातरक्त, विषम ज्वर, कास, हिचकी, श्वास और अरुचि को नष्ट करता है ।

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते ॥ ११४ ॥
पाण्डूनां कामलार्तानां मृद्वीकामलकीरसः ।

(३९) पाण्डु रोगियों को पेय द्रव तथा भोजन में शालपर्णी आदि स्वल्प पंचमूल से साधित जल का प्रयोग करना चाहिये । कामला रोगियों को खाने-पीने में अंगूर या मुनक्का और आंवले का रस प्रयोग करना चाहिये ।

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा ॥ ११५ ॥
विकल्प्यमेतद्भिषजा पृथग्दोषबलं प्रति ।

पाण्डु रोग की शान्ति के लिये महर्षि ने जो कुछ उपदेश किया है वैद्य को चाहिये कि दोष और बल के अनुसार नाना प्रकार की कल्पनायें करके उसका पृथक् पृथक् प्रयोग करे ।

वातिके स्नेहभूयिष्ठं पैत्तिके तिक्तशीतलम् ॥ ११६ ॥
श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके ।
निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ॥ ११७ ॥

वातजन्य पाण्डु रोग में—स्नेह (घृत आदि) बहुल चिकित्सा,

पित्तजन्य में—तिक्त और शीतल चिकित्सा, कफजन्य में—कटु, रूक्ष और उष्ण चिकित्सा तथा सन्निपातजन्य में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये ।

युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत् ॥ ११८ ॥

मृत्तिका-भक्षण से उत्पन्न पाण्डु रोग की चिकित्सा—युक्ति को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि खाई हुई मिट्टी को बलाबल के अनुसार तीक्ष्ण विरेचनों द्वारा शरीर से बाहर कर दे । संशोधनों से देह के शुद्ध हो जाने पर बलदायक घृतों का उपयोग करे ।

व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ।
मुस्तान्ययोरजः पाठां विडङ्गं देवदारु च ॥ ११९ ॥
वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैः समैर्घृतम् ।
साधयित्वा पिबेद्युक्त्या नरो मृद्दोषपीडितः ॥ १२० ॥

(४०) व्योषाद्य घृत—घी २ प्रस्थ, कल्कार्थ—सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, बेलगिरी, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, मोथा, लोहभस्म, बिच्छू बूटी, भारंगी मिलित ८ पल, गौ का दूध ८ प्रस्थ इनसे यथाविधि घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत मिट्टी के दोष से पीड़ित व्यक्ति को देना चाहिये ।

तद्वत्केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षारशाद्वलैः ।

(४१) केसराद्य घृत—इसी प्रकार नागकेसर, मुलहठी, पिप्पली क्षार दूब इनके मिलित चतुर्थांश कल्क से चतुर्गुण गाय के दूध में घृत यथाविधि सिद्ध करना चाहिये । इसकी आधा तोला मात्रा मिट्टी के दोष से पीड़ित व्यक्ति को देना चाहिये ।

मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिवर्तिनः ॥ १२१ ॥
द्वेषार्थं भावितां कामं दद्यात्तद्दोषनाशनैः ।

(४२) यदि रोगी लोभवश मिट्टी के खाने की आदत न छोड़े तो

मिट्टी के दोषों को नष्ट करने वाले द्रव्यों से मिट्टी को यथेच्छ भावना देकर वही खाने को देनी चाहिये।

विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ॥ १२२ ॥
वार्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा।

मिट्टी के दोष को नष्ट करने वाले द्रव्य—वायविडंग, अतीस, नीम के पत्ते, पाठा, बैंगन, कुटकी, इन्द्रजौ और मूर्वामूल इनमें से किसी एक के रस से भावना देनी चाहिये। इससे मिट्टी का रस तिक्त बन जायगा, इससे रोगी मिट्टी नहीं खायगा।

यथादोषं प्रकुर्वीत भैषज्यं पाण्डुरोगिणाम् ॥ १२३ ॥
क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुविशेषतः।

दोषजन्य पाण्डु रोगों में वर्णित चिकित्सा-विधि के अनुसार ही मृद्-भक्षण से उत्पन्न पाण्डु रोग में भी वही चिकित्सा दोष के अनुसार करनी चाहिये। कषाय रस से उत्पन्न पाण्डु रोग में वातज, ऊषर रस से उत्पन्न पाण्डु में पित्तज, मधुर रसजन्य उत्पन्न पाण्डुरोग में कफज पाण्डु रोग की चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि मृद्-भक्षण की भिन्नता के कारण ही उपयुक्त विशेष चिकित्सा की जाती है।

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ॥ १२४ ॥
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तं कफपित्तहरैर्जयेत्।

जिस कामला रोगी का मल, तिलकल्क के समान श्वेत वर्ण हो, उसमें कफ से अवरुद्ध मार्गों को समझकर पित्त के नाश के लिये कफ हर चिकित्सा करे। कफ के नाश से मार्ग खुल जाने पर पित्त स्वयं बहने लगता है।

शाखाश्रित कामला

रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः ॥ १२५ ॥
कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात्पित्तं क्षिपेद् बली।
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः ॥ १२६ ॥

भवेत्साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ।

शाखाश्रित कामला के कारण और सम्प्राप्ति—रूक्ष, शीतल, गुरु, मधुर, व्यायाम तथा मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने के कारण कफ मिश्रित वायु पित्त को अपने स्थान से बाहर फेंकता है। इस से रोगी के नेत्र, मूत्र, त्वचा का रंग हल्दी के समान और मल का वर्ण श्वेत हो जाता है। पेट में गुड़गुड़ाहट और विष्टम्भ रहता है, हृदय भारी होकर रुका रहता है।

दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः ॥ १२७ ॥

क्रमेणाल्पेन सज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ।

जब पित्त शाखाओं में (रक्त आदि धातु तथा त्वचा में) आश्रित हो जाता है, तो रोगी को निर्बलता, मन्दाग्नि, पार्श्वशूल, हिचकी, श्वास, अरुचि और ज्वर भी हो जाता है।

बर्हितित्तिरिदक्षाणां रूक्षाम्लकटुकै रसैः ॥ १२८ ॥

शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत् ।

पथ्य—मोर, तीतर, मुर्गा इनके रूक्ष (स्नेह रहित), अम्ल तथा कटु (मिर्च आदि से युक्त) रसों से युक्त मांस रसों से या सूखी मूली या कुलत्थी के यूष के साथ रोगी को अन्न देना चाहिये। यूष भी रूक्ष और कटु, अम्ल रस से युक्त होने चाहियें।

मातुलुङ्गरसं क्षौद्रं पिप्पलीमरिचान्वितम् ॥ १२९ ॥

सनागरं पिबेत्पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम् ।

कटुतीक्ष्णैस्तु लवणैर्भूयोऽम्लैश्चाप्युपक्रमः[1] ॥ १३० ॥

आपित्तरोगाच्च कृतो वायोश्चाप्रशमाद्भवेत् ।

स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते ॥ २३१ ॥

निवृत्तोपद्रवस्यास्य पूर्वः कामलिको विधिः ।

बिजौरे के रस में पिप्पली, मरिच और सोंठ तथा मधु मिलाकर पीने से पित्त अपने आशय स्थान में आ जाता है।

---

१. 'तृषाम्ल कटुरूक्षोष्णैर्लवणैश्चाप्युपक्रमः' इति च।

जब तक रोगी के मल में पित्त न आये तथा वायु शान्त न हो जाय तब तक अत्यन्त अम्ल, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये। *

जिस समय पित्त अपने स्थान पर आ जाय, तथा मल में पित्त का रंग दीखने लग जाय और रोगी के उपद्रव शान्त हो जायें तो कामला रोग की पूर्वोक्त (श्लोक ३८–४१ में कही) चिकित्सा करनी चाहिये।

हलीमक-चिकित्सा

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः ॥ १३२ ॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ॥ १३३ ॥
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः।

हलीमक का स्वरूप—जब पाण्डु रोगी का वर्ण हरा, श्याम और पीला सा होता है, उसका बल और उत्साह घट जाता है, तन्द्रा, अग्नि-मान्द्य, ज्वर, मैथुन में अशक्ति, अंगों में पीड़ा, श्वास, तृष्णा, अरुचि, भ्रम ये लक्षण रहते हों तो उसको 'हलीमक' कहते हैं। यह रोग वात और पित्तजन्य है।

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् ॥ १३४ ॥
स पिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु।

(४२) चिकित्सा विधि—भैंस के घी को गिलोय के रस और दूध से यथाविधि सिद्ध करके रोगी को देना चाहिये। गिलोय का रस घी से तिगुना और दूध घी के समान लेना चाहिये। इस घृत से यथाविधि स्नेहन हो जाने पर रोगी को आंवले के रस के साथ निशोथ का चूर्ण

---

* कविराज गङ्गाधर 'आपित्तरोगाच्च' का अर्थ करते हैं—जब तक नेत्र, मूत्र और त्वचा में पित्त का रंग विद्यमान रहे तब तक अम्ल, कटु, आदि से चिकित्सा करनी चाहिये। इनका रंग हटने पर ही मल में पीत वर्ण आता है, अतः तात्पर्य एक ही है।

देना चाहिये। विरेचन हो जाने पर मधुर प्राय और पित्त-वायुनाशक पथ्य का सेवन करना चाहिये।

विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत्पित्तानिलापहम् ॥ १३५ ॥
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पीषि मधुराणि च।
यापनान्क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ॥ १३६ ॥
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये।

(४३) रोगी को पूर्वोक्त द्राक्षावलेह (धान्यवलेह से कहा गया), मधुर द्रव्यों से साधित घृत, यापन बस्तियां, क्षीर बस्तियां और अनुवासन बस्तियां इनका सेवन करना चाहिये। रोगी को अंगूर से प्रस्तुत अरिष्ट अग्नि की वृद्धि के लिये युक्तिपूर्वक पीने चाहियें।

कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम्।
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम् ॥ १३७ ॥

(४४) कास रोग में कहे जाने वाले अभयावलेह (अगस्त्य हरीतकी) और पिप्पली, मुलहठी और बला इनको समान मात्रा में लेकर दूध के साथ प्रयोग करना चाहिये। अथवा दोष और बल के अनुसार इनको मिला कर प्रयोग करना चाहिये।

तत्र श्लोकौ। पाण्डोः पञ्चविधस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम्।
कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ॥ १३८ ॥
तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः।
तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ॥ १३९ ॥

उपसंहार—पांचों प्रकार के पाण्डु रोगों का कारण, लक्षण और चिकित्सा, दो प्रकार का कामला रोग, इनकी साध्य-असाध्यता, इनके अन्य भेद और महारोग हलीमक के संक्षेप से लक्षण और चिकित्सा इस अध्याय में उपदेश की गई है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
पाण्डुरोगचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो हिक्काश्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे अब हम हिक्का और श्वास रोग की चिकित्सा की व्याख्या करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम् ।
अपृच्छत् संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः ।
रोगा नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥ ४ ॥

बुद्धिमान् अग्निवेश ने हाथ जोड़कर वैदिक और लौकिक तत्त्वों को जानने वाले ऋषिश्रेष्ठ आत्रेय से संशय का समाधान पूछा—भगवन् निज और आगन्तुज भेद से अथवा मृदु और दारुण भेद से जो दो प्रकार के वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले तथा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम इन तीनों कारणों से प्रकुपित होने वाले जो नाना प्रकार के रोग कहे हैं, उनमें से कौन कौन से रोग कष्टसाध्य हैं ?

अग्निवेशस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥ ५ ॥
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥ ६ ॥

अग्निवेश के इस वचन को सुनकर, अति प्रसन्न होकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने इस निश्चित सत्य सिद्धान्त का उपदेश किया—चाहे बहुत रोग ऐसे हैं जो प्राणों को हर लेते हैं, परन्तु वे इतनी जल्दी मृत्यु का कारण नहीं बनते, जैसे श्वास और हिक्का (हिचकी)। ये दोनों रोग प्राणों को शीघ्र नष्ट करते हैं।

अन्यैरत्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः ।
अन्ते संजायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥ ७ ॥

नाना प्रकार के अन्य रोगों से आक्रान्त प्राणी को भी मृत्यु-समय में तीव्र पीड़ादायक हिक्का (हिचकी) या श्वास रोग हो जाता है ।

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥ ८ ॥

ये दोनों हिचकी और श्वास कफ और वायु से उत्पन्न होते हैं । परन्तु इन दोनों की उत्पत्ति पित्तस्थान से होती है । ये दोनों रोग हृदय के रस आदि धातुओं को सुखा देते हैं ।

तस्मात्साधारणावेतौ मतौ समसुदुर्जयौ ।
मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हतावाशीविषाविव ॥ ९ ॥

इसलिये ये दोनों रोग समान हैं और एक ही समान रूप में दुःसाध्य हैं । जिस प्रकार ताड़ित होकर क्रुद्ध हुए नाग-नागिन मनुष्य की मृत्यु के कारण होते हैं उसी प्रकार ठीक ठीक चिकित्सा न होने से ये दोनों रोग भी प्राणनाशक होते हैं ।

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे ।
तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम् ॥ १० ॥

रोगसंग्रह (सूत्रस्थान अध्याय १९) प्रकरण में इन दोनों रोगों को पृथक् २ रूप में पांच प्रकार का कहा है । अब इन दोनों रोगों के हेतु, लक्षण और चिकित्सा सुनो—

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात् ।
व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात् ॥ ११ ॥
आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात् ।
दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः ॥ १२ ॥
अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् ।
रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ॥ १३ ॥

पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ ।

श्वास मार्ग में धूलि वा धुएं के प्रवेश से, वायु से, शीतल स्थान या शीतल जल के सेवन से, अति व्यायाम से, मैथुन से, मुसाफ़िरी से, रूक्ष अन्न के सेवन से, विषमासन से, आमदोष से, आनाह (अफ़ारा) से, रूक्षता से, अधिक उपवास आदि से, निर्बलता से, मर्मस्थान पर चोट लगने से, द्वन्द्व अर्थात् शीत, उष्ण आदि के क्रम-रहित सेवन से, वमन, विरेचन आदि संशोधनों के अतिशोधन से, अतिसार से, ज्वर से, वमन से, प्रतिश्याय से, उरःक्षत से, क्षय से, रक्तपित्त रोग से, उदावर्त्त से, विसूचिका या अलसक से, पाण्डुरोग से और विष के कारण से, इन वातिक कारणों से ये दोनों रोग उत्पन्न होते हैं ।

निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ १४ ॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात् ।
जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात्॥ १५ ॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात् ।
कण्ठोरसोः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥ १६ ॥

निष्पाव (सेम), उड़द, तिलकल्क या तिल-तैल के सेवन से, पिष्ट (चावल का आटा या पिट्ठी), शालूक (जल में उत्पन्न होनेवाला कमल या कन्द), विष्टम्भि, विदाही तथा गुरु द्रव्यों के भोजन से, जलज तथा आनूप देश के पशु-पक्षियों के मांस से, दही तथा कच्चे दूध के सेवन से, अभिष्यन्दि द्रव्यों के सेवन से, कफकारक पदार्थों के सेवन से, कण्ठ या छाती पर किसी प्रकार की चोट या इनमें रुकावट पैदा होने से या नाना प्रकार का मल, मूत्र, वात आदि की विबद्धता वा रुकावट से वायु प्राणवाही स्रोतों में प्रवेश करके प्रकुपित हो जाता है और छाती में जाकर कफ का प्रकोप होकर ये दोनों रोग उत्पन्न होते हैं । ये दोनों रोग अतिकष्टदायी प्राणियों के प्राणनाश करने वाले होते हैं ।

मारुतः प्राणवाहिनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।

उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान्करोति सः ॥ १७ ॥
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च ।

सम्प्राप्ति—वातप्रकोपक या कफप्रकोपक कारणों से कुपित कफ द्वारा मार्गों के रुक जाने से प्रकुपित वायु प्राणवाही स्रोतों में प्रविष्ट होकर अति प्रकुपित हो जाता है। तब छाती (फेफड़ों) में स्थित हुए कफ को ऊपर की ओर कंपाकर (शिथिल करके) प्राणघातक पांच प्रकार के पृथग् २ रूप में श्वास और हिक्का-रोग प्राणियों में पैदा करता है।

उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम् ॥ १८ ॥

अब दोनों रोगों का पूर्वरूप सुनो—

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ १९ ॥

हिक्का का पूर्वरूप—गले और छाती में भारीपन, मुख में कषाय रस की प्रतीति तथा उदर में आटोप (गुड़ागुड़ाहट) होना ये हिक्काओं (हिचकी रोग) के पूर्वरूप हैं। ※

आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च ।
प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम् ॥ २० ॥

श्वास के पूर्वरूप—आनाह (अफ़ारा), पार्श्वों में वेदना, हृदय में वेदना, प्राण वायु की विलोम (विपरीत गति) होना, श्वास रोग के ये पूर्वरूप हैं। *

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः ।
हिक्काः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥ २१ ॥

हिक्का के पृथक् लिंग—कफ से मिश्रित वायु प्राणवाही और उदक-

※ सुश्रुत उत्तर तंत्र अ० ५० में 'अरति' लक्षण अधिक पढ़ा है।
* अष्टांगसंग्रह में चि० अ० ५० में 'शंखभेद' लक्षण अधिक पढ़ा है।

वह स्रोतों को बन्द करके हिक्का रोग को उत्पन्न करता है यह इसकी विशेष सम्प्राप्ति है। ❀

अब इनके लक्षणों को पृथक् पृथक् सुनो—

क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः।
गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवती भृशम् ॥ २२ ॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा।

महाहिक्का—जिस पुरुष के मांस, बल, प्राण और तेज क्षीण हो जाते हैं, उस पुरुष में कफ से मिश्रित वायु (उदान) सहसा कण्ठ को लेकर निरन्तर, विना विच्छेद के प्रवृत्त होने वाली तथा उच्च घोष वाली हिक्का (हिचकी) को उत्पन्न करता है। किसी पुरुष में यह हिचकी एक गुण वेग वाली, किसी में दुगुने वेग वाली और किसी में तीन गुणावेग वाली होती है। [एक गुणा हिचकी में एक ही वार 'हिक्' शब्द होता, दुगुने वेग से आने वाली हिचकी में दो बार और तिगुने वेग वाली में तीन बार शब्द होता है]।

प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥ २३ ॥
संज्ञां मुष्णाति गात्रस्य[1] स्तम्भं संजनयत्यपि।
मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्ध्यपहतस्मृतेः ॥ २४ ॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः।
सक्तजल्पप्रलापस्य निर्वृतिं नाधिगच्छतः ॥ २५ ॥
महातेजा महावेगा महाशब्दा महाबला।
महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥ २६ ॥

इति महाहिक्का।

❀ हिक्का का रूप—
मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखादि वा क्षिपन्।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्के त्यभिधीयते बुधैः ॥

1. 'गात्रे च' इति पाठान्तरम्।

महाहिक्का—यह हिक्का प्राणवह स्रोतों, हृदयादि मर्मस्थानों तथा उष्णिमा को अवरोध करके संज्ञा का लोप कर देती है और शरीर के अंगों में जड़ता उत्पन्न करती है। इस हिक्का के कारण पुरुष की स्मृति नष्ट हो जाती है, अन्न-पान के मार्ग बन्द हो जाते हैं, आंखों में आंसू आ जाते हैं, शंख (कनपटी) प्रदेशों में स्तब्धता आ जाती है, भौहें अपने स्थान से नीचे हो जाती हैं, रोगी अव्यक्त और अनर्थक वचन बोलता, बकता रहता है, उसको कहीं चैन नहीं मिलती, यह हिचकी निरन्तर प्रवृत्त होने से नहीं बन्द होती। इस प्रकार निरन्तर प्रवृत्त होने से अन्न-पान के मार्गों को बन्द कर देती है। इस प्रकार के पुरुष में यह हिक्का महान् शब्द वाली, बड़े वेग वाली, बड़े तेज और बड़े बलवाली होती है, इसलिये इसको 'महाहिक्का' कहते हैं, यह हिचकी मनुष्यों के प्राणों को शीघ्र हर लेती है। [यह हिक्का महामूला प्रथम आमाशय में उत्पन्न होती है।]

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः।
जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ॥ २७ ॥
संजृम्भन् संक्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन्।
पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः ॥ २८ ॥
नाभेः पक्वाशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते।
क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥ २९ ॥
रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतसः।
गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥ ३० ॥

इति गम्भीरा हिक्का।

गम्भीरा हिक्का—कृश, दीन, मन वाला और जर्जरित (निर्बल) उरःस्थल का पुरुष कठिनाई के साथ गम्भीर शब्द को करता हुआ और अंगों को भूमि पर फैलाता हुआ (हाथों से भूमि पर सहारा लेकर गर्दन को आगे झुका कर), जम्भाई लेकर तथा दोनों पार्श्वों को तान कर कूजने की तथा जड़ता की वेदना से पीड़ित श्वास को बन्द करने वाली बढ़ी हुई हिचकी लेता है। इस प्रकार से उत्पन्न होने वाली यह हिक्का नाभि या

पक्वाशय से उत्पन्न होती है। यह हिक्का शरीर को बहुत क्षुब्ध करती है, ग्लानि उत्पन्न करती है, शरीर को झुका देती है। रोगी के मन का बल नष्ट हो जाता है, इसके उच्छ्वास मार्ग को रोक लेती है। यह गम्भीरा नाम की हिक्का रोगी के प्राणों का अन्त करती है।

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे।
आहार परिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥ ३१ ॥
प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः।
जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य[1] शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥ ३२ ॥
पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता।
सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ॥ ३३ ॥

इति व्यपेता वा यमिका हिक्का।

व्यपेता या यमिका हिक्का—जो हिचकी (अशित, खादित, पीत और लीढ इन चारों प्रकार के) आहारों से उत्पन्न होती है और आहार के जीर्ण होने पर पुनः बल को प्राप्त कर लेती है उसको 'व्यपेता' हिक्का कहते हैं। प्रलाप, छर्दि (वमन), अतीसार, तृष्णा से पीड़ित, विचेतस (अन्यत्र मनवाले), वाले व्यक्ति के जम्भाई लेते समय, आंखों को फैलाये, सूखे मुख वाले, आगे को झुके, फूले पेट वाले, रोगी में जो हिक्का जत्रु मूल (क्लोम, हंसली के नीचे के स्थान) से उत्पन्न होती है उसको 'व्यपेता' हिक्का कहते हैं, यह हिक्का प्राणनाशक है। इसमें हिक्का का यमल (दुगुना) वेग होता है। इसलिये इसको 'यमला' वा 'यमिका' भी कहते हैं। *

---

१. 'सजृम्भस्यप्लुताक्षस्य' इति च पाठः।

* (१) चिरेण यमलैः वेगैराहारे या प्रवर्त्तते।
अष्टांगसंग्रह निदानस्थान चतुर्थ अध्याय।

(२) चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सं प्रवर्त्तते।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ।सु० उत्त०५०अ०॥

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद् व्यायामपरिघट्टितः ।
कण्ठे प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः ॥ ३४ ॥
अतिदुःखा न सा घोरः शिरोमर्मप्रबाधिनी ।
न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ॥ ३५ ॥
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ।
यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्तते ॥ ३६ ॥
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता ।
मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता ॥ ३७ ॥

इति क्षुद्रहिक्का ।

क्षुद्रहिक्का—जिस समय व्यायाम आदि परिश्रम के कारण थोड़ी सी वायु उदर से कण्ठ में पहुंच जाती है उस समय क्षुद्रा नाम हिक्का उत्पन्न होती है । इससे न तो कोई बहुत कष्ट होता है और न यह छाती, शिर, मर्म को कोई पीड़ा पहुंचाती है (उनको कंपाती भी नहीं है) । न यह श्वास या अन्न-पान के मार्गों को रोकती है । यह भोजन से शान्त होजाती है और परिश्रम से यह बढ़ती है । जहां से प्रथम उत्पन्न होती है, वहीं से शान्त होती है, उत्पन्न होने के साथ २ शान्त हो जाती है । यह हृदय, क्लोम, कण्ठ और तालु में आश्रित रहती है, इस कोमल प्रकृति की हिक्का को 'क्षुद्रहिक्का' कहते हैं । यह हिक्का साध्य है ।

सहसाऽत्यभ्यवहृतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः ।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वाऽतिमदप्रदैः ॥ ३८ ॥
तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः ।
वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः ॥ ३९ ॥
उरःस्रोतःसमाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽन्नजाम् ।
तथा शनैरसंबन्धं क्षुवंश्चापि स हिक्कते ॥ ४० ॥
न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी ।
हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा ॥ ४१ ॥

इत्यन्नजा हिक्का ।

अन्नजा हिक्का—रूक्ष, तीक्ष्ण, खर, असात्म्य, खानपान और अति मद उत्पन्न करने वाले मद्यों से पीड़ित वायु सहसा कोष्ठ से ऊपर आ जाता है। अति क्रोध, अति बोलने, अति मुसाफिरी करने, हंसने, अधिक भार उठाने आदि से और खान-पान से पीड़ित कोष्ठगत वायु ऊपर को दौड़ता हुआ उरः-स्रोतों का आश्रय लेकर 'अन्नजा' हिक्का को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह वायु भोजन से असम्बन्धित तथा छींकते समय भी (विना कारण) हिचकी उत्पन्न करता है। इस हिक्का से न तो मर्म स्थानों में और न इन्द्रियों में कोई पीड़ा होती है। यह हिक्का खाने पीने से शान्त हो जाती है, इसको 'अन्नजा' हिक्का कहते हैं।

अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ ४२ ॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।
यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता ॥ ४३ ॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥ ४४ ॥

साध्यासाध्य—इन पांचों प्रकार की हिक्काओं में जो हिक्का अति सञ्चित दोष वाले पुरुष में उत्पन्न हो, या जो अरुचि के कारण भोजन के अभाव से निर्बल हुए पुरुष में उत्पन्न हो, वा रोगों से निर्बल हुए पुरुष में वा, वृद्ध व्यक्ति में उत्पन्न, वा अति मैथुन करने वाले पुरुषों में भी जो हिक्का उत्पन्न होती है, वह असाध्य होती है, वह मनुष्य के लिये प्राणघातक होती है। यमिका हिक्का के साथ यदि प्रलाप, मोह और तृष्णा हों तो यह शीघ्र प्राणनाशक होती है। जो व्यक्ति बलवान् हो, जिसका रक्त, मांस क्षीण न हो, धातु और इन्द्रियां स्थिर (प्रसन्न) हों उसकी यमिका हिक्का साध्य है, अन्यथा यह असाध्य है। [और यदि यमिका में प्रलाप आदि लक्षण न हों तो वह देर में प्राणनाशक होती है]।

श्वास-चिकित्सा

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥ ४५ ॥

श्वास-निदान—जिस समय कफ से मिश्रित वायु प्राणवह स्रोतों को बन्द कर देता है, इससे स्रोतों का अवरोध होने पर वायु सम्पूर्ण शरीर में (चारों ओर) फैलता है इससे श्वास रोग उत्पन्न होते हैं।

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्-दुःखितो नरः।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ ४६ ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः।
विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥ ४७ ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।
महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥ ४८ ॥

इति महाश्वासः।

महाश्वास—जिस पुरुष में वायु स्वयमेव ऊपर को जाता है, पुरुष पीड़ित होकर शब्दपूर्वक, ऊंचा, जैसे गला रुका हुआ हो मस्त बैल के समान रात दिन श्वास लेता है, और ज्ञान (संज्ञा) तथा विज्ञान (चेष्टायें) नष्ट हो जायें, आंखें फैली रहती है, आंखें और मुख खुले रहते हैं, मल, मूत्र का अवरोध रहता हैं, वाणी गिर जाती है, रोगी दीन हो जाता है, इसका श्वास दूर से ही जाना जाता है, इस प्रकार का महाश्वास से पीड़ित रोगी शीघ्र ही मर जाता है।

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥ ४९ ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः।
प्रमुह्यन्वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥ ५० ॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥ ५१ ॥

इत्यूर्ध्वश्वासः।

ऊर्ध्व श्वास—कफ के द्वारा मुख तथा स्रोतों के बन्द हो जाने पर कुपित वायु के कारण मनुष्य ऊपर का ही श्वास लेता है और नीचे श्वास भली प्रकार से नहीं आता। * रोगी की दृष्टि ऊपर को ही रहती है, ऊपर ही देखता है, उसकी पुतली (दृष्टि) चंचल, चारों ओर फिरती है, उसको मूर्च्छा रहती है, पीड़ा होती है, मुख सूख जाता है, बेचैनी होती है। ऊर्ध्वश्वास के कुपित होने पर अधःश्वास रुक जाता है। रोगी को मोह और ग्लानि रहती है, यदि रोगी को मोह, ग्लानि हों तो ऊर्ध्वश्वास प्राणों का नाश करता है, अन्यथा नहीं।

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥ ५२॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥ ५३॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन् नरः।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं प्रजहात्यसून्॥ ५४॥

इति छिन्नश्वासः।

छिन्न-श्वास—जो पुरुष सब प्राणों से पीड़ित, रुक रुक करके श्वास लेता है, और जब मर्म-च्छेद की वेदना से पीड़ित होता है, तब श्वास नहीं लेता, उसे (श्वास लेने में कठिनाई या दुःख होता है इसलिये तब श्वास नहीं लेता), आनाह, स्वेद और मूर्च्छा से पीड़ित, मूत्राशय में जलन, आंखें फैली हुई, रोगी क्षीण होता है, श्वास लेते समय एक आंख लाल हो जाती है। रोगी का चित्त अस्थिर, मुख शुष्क, मुख का रंग बदला हुआ, रोगी बकवाद करता है। इस प्रकार के छिन्न-श्वास से विच्छिन्न रोगी प्राणों को शीघ्र छोड़ देता है। ये तीन प्रकार के श्वास कभी अच्छे नहीं होते।

---

* रोगी का श्वास उरःस्थल तक ही (Thorocic) नियमित रहता है, कोष्ठ में नहीं आता।

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ ५५ ॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ ५६ ॥
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ ५७ ॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने च भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥ ५८ ॥
अथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ ५९ ॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥ ६० ॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ ६१ ॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते ।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ ६२ ॥

इति तमकश्वासः ।

तमक-श्वास—जिस समय वायु प्रतिलोम होकर प्राणवाही स्रोतों में पहुंच जाता है, तब स्रोतों में पहुंचा हुआ प्रतिलोम वायु ग्रीवा और शिर को पकड़ कर और कफ को कुपित करके पीनस और प्रतिश्याय उत्पन्न करता है। इस कफ के कारण स्रोतों के रुक जाने पर वायु मार्ग अवरोध के कारण घर्घर शब्द उत्पन्न करता है। तब श्वास मरणान्तिक तीव्र वेदना उत्पन्न करता है। रोगी इस तीव्र वेग के कारण घबरा जाता है, वह खांसते समय निश्चेष्ट हो जाता है। खांसते खांसते वार वार मूर्च्छित हो जाता है। कफ के न निकलने पर वह बहुत दुःखी होता है और कफ के निकलने से कुछ देरी के लिये आराम मिल जाता है।

रोगी का कण्ठ विकृत हो जाता है, रोगी कठिनाई से कुछ बोल सकता है। जब बोलने लगता है तभी खांसी आती है। श्वास रोगी को लेटने पर भी नींद नहीं आती। लेटने पर वायु रोगी के पार्श्वों में भर जाता है इससे श्वासावरोध हो जाता है। बैठे रहने से रोगी को आराम मिलता है गरम वस्तुओं को रोगी पसन्द करता है। आखों पर शोथ हो जाती है, माथे पर पसीना आ जाता है, पीड़ा अनुभव करता है, मुख सूखा करता है, वह बार बार श्वास लेता है और बार बार शरीर को आगे पीछे हिलाता है। यह श्वास बादल, वर्षा, शीत, सामने की सीधी वायु तथा कफवर्धक वस्तुओं से बढ़ जाता है। यह तमक श्वास याप्य है, अथवा नवीन और चतुष्पादयुक्त 'तमक' श्वास साध्य भी है।

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तत्।
उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ ६३ ॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति।
मज्जतस्तमसी वाऽस्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥ ६४ ॥

इति प्रतमक-संतमकश्वासौ।

प्रतमक श्वास—यदि तमक श्वास में ज्वर, मूर्च्छा भी हो तो इसको प्रतमक श्वास कहते हैं। उदावर्त्त (वेग धारण से उत्पन्न व्याधि), रज, धूलि कण, अजीर्ण (साम आदि), क्लिन्न काय* (वृद्ध पुरुष में), निरोध (अग्निमान्द्य या वेगों के रोकने आदि) कारणों से उत्पन्न होता है, यह तमक श्वास अन्धकार में बहुत बढ़ता है और शीत कार्यों से शीघ्र शान्त हो जाता है।

संतमक श्वास—रोगी अपने को अन्धकार में डूबता हुआ समझता है, इसको 'सन्तमक' श्वास कहते हैं।

* कविराज श्री गंगाधरसेन ने—'क्लिन्न' का अर्थ युक्त किया है अर्थात् अन्न से और काय-निरोध से कायाग्नि का निरोध किया है। चक्रपाणि ने—क्लिन्नकाय से वृद्ध और निरोध से वेग-निरोध अर्थ लिया है।

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रवात उदीरयन् ।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥ ६५ ॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ ६६ ॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदुत्पादयेद् रुजम् ।

इति क्षुद्रश्वासः ।

क्षुद्र-श्वास—रूक्ष, अन्न-पान, विहारादि, आयास (श्रम) से कोष्ठ में उत्पन्न क्षुद्र वायु ऊपर को जाकर क्षुद्र श्वास को उत्पन्न करता है, यह क्षुद्र श्वास विशेष रूप से अंगों को दुःख नहीं पहुंचाता । जिस प्रकार से दूसरे श्वास शरीर में पीड़ा उत्पन्न करते हैं, उस प्रकार से यह श्वास पीड़ा नहीं पहुंचाता । खान-पान के उचित मार्गों को भी यह बन्द नहीं करता । यह इन्द्रियों में किसी भी प्रकार की पीड़ा को या अन्य रोगान्तर को भी उत्पन्न नहीं करता ।

स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ ६७ ॥
इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः ।

साध्यता—बलवान् पुरुष में क्षुद्रश्वास साध्य है और शेष महाश्वास आदि जब पूर्वरूप अवस्था में अस्पष्ट लक्षणों वाले हों तब साध्य हैं । * इस प्रकार से पांचों श्वास और पांचों हिक्काओं के अपने अपने लक्षण कह दिये हैं ।

एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः ॥ ६८ ॥
भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत् ।
उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ॥ ६९ ॥

इन हिक्का और श्वासों में प्राणनाशक हिक्काओं और श्वासों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि ये शीघ्र ही मृत्युकारक होते हैं ।

* कहा भी है—क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिद्ध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥

साध्य और याप्य हिक्काओं और श्वासों की चिकित्सा ओषधियों से यथा शीघ्र करनी चाहिये । उपेक्षा करने से ये हिक्काएं और श्वास शुष्क तृणों के ढेर को अग्नि के समान जल्दी से रोगी को जला देते हैं ।

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम् ।
द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ॥ ७० ॥
हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् ।
आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसंकरैः ॥ ७१ ॥
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते ।
खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥ ७२ ॥

हिक्का और श्वास रोग का कारण और स्थान—प्राथमिक उत्पत्ति स्थान एक ही है, इसलिये इन दोनों की एक ही चिकित्सा ऋषियों ने कही है उसको इस प्रकार जानो ।

चिकित्सा-विधि (१)—हिक्का श्वास से पीड़ित व्यक्ति की सब से प्रथम स्वेदनों से चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये लवण मिश्रित तैल से स्निग्ध (गीले) नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद या संकर स्वेद देने चाहियें । इस प्रकार स्नेहपूर्वक स्वेद देने से स्रोतों में जमा हुआ कफ गलने लगता है, छिद्रों में कोमलता आ जाती है और वायु का अनुलोमन हो जाता है ।

यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम् ।
श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥ ७३ ॥
स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत्स्निग्धमोदनम् ।
मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥ ७४ ॥
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम् ।
पिप्पलीं सैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वाताविरोधि यत् ॥ ७५ ॥
निर्हृते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे ।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यनिहतोऽनिलः ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार पर्वत के शिखरों पर जमा हुआ हिम सूर्य की किरणों से पिघलने लगता है, इसी प्रकार से शरीर में जमा हुआ कफ स्वेद की गरमी से पिघलता है। जब हिक्का और श्वास रोगी का स्वेदन भली प्रकार से हो जाये तब इनको शीघ्रता से (जिससे कि श्लेष्मा शुष्क होकर जमने न पाये) चावलों को मछली, सूअर के स्निग्ध मांस-रस के साथ अथवा दधि के साथ देना चाहिये। इसके पीछे कफ के उत्क्लेश होने पर रोगी को वमनकारक औषध देनी चाहिये। इसके लिये जो औषध वायु का अविरोधी हो उसमें सैन्धा नमक, पिप्पली और शहद मिला कर देना चाहिये। इस प्रकार दुःखदायी कफ के निकलने से रोगी को सुख मिलता है। क्योंकि स्रोतों के शुद्ध होने पर वायु बिना रोक टोक के गति कर सकता है।

लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः।
हरिद्रां यवमैरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥ ७७ ॥
मांसीं सदेवदार्वेलां पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत्।
तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥ ७८ ॥

(२) यदि वमन से भी कफ शेष रह जाये और दोष यदि स्रोतों में छिपा हुआ हो तो बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि धूम प्रयोगों से इस छिपे दोष को बाहर करे। इसके लिये धूम, हल्दी, जौ, एरण्ड मूल, लाक्षा, मैनसिल, देवदारु, एला [अथवा आलं) हरिताल) चक्र०], जटांमासी इनको पीस कर वर्त्ती बनानी चाहिये। इस वर्त्ती को घृत से भिगो कर अथवा घृत मिश्रित जौ को पीस कर उनसे वर्त्ती बना कर पीना चाहिये।

मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसंपुटे।
कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा स्नायु वा गवाम् ॥ ७९ ॥

(३) एक शराव सम्पुट में मोम और राल को घृत में मिला कर इसमें अंगारों को रख कर इनका धुंआ धूम्रपान नलिका के द्वारा पीना

चाहिये । इसी प्रकार से गाय का सींग, गाय की पूंछ के बालों का अथवा स्नायुओं का धुंआ पीना चाहिये । अथवा

स्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा ।
पद्मकं गुग्गुलं लोध्रं शल्लकीं वा घृताप्लुताम् ॥ ८० ॥
स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान् ।
मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥ ८१ ॥

(४) शुष्क श्योनाक को घृत से तर करके उसका धुंआ पीना चाहिये । इसी प्रकार से वर्धमान (एरण्ड) की नाड़ी को घृत से तर करके या कुश की सूखी नाड़ी को घृत से तर करके धुंआ पीना चाहिये । या पद्माख, गुग्गुलु, लोध, शल्लकी (सुरभि) वृक्ष की लकड़ी के चूर्ण को पीस कर घी में मिला कर वर्त्ती करके पीना चाहिये । ॐ

स्वर, क्षीण, अतिसार, रक्तपित्त, दाहरोग से पीड़ित हिक्का, श्वास रोगियों की चिकित्सा मधुर, स्निग्ध और शीतल आदि वस्तुओं से करनी चाहिये ।

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः ।
क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥ ८२ ॥

स्वेदन के अयोग्य—(१) पित्त दाह से पीड़ित, (२) अति रक्त वाले, (३) अति स्वेद वाले (४) अति स्थूल, (५) क्षीण धातु, (६) क्षीण बल वाले, (७) रूक्ष शरीर के, (८) गर्भिणी तथा (९) पित्त प्रकृति वाले यदि हिक्का श्वास से पीड़ित हों तो इनको स्वेद नहीं देना चाहिये ।

कोष्णैः कामसुरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः ।

ॐ अष्टांगसंग्रह चि० अ० ६ में निम्न पाठ अधिक है—

ऋष्यगोधाकुरंगैणचर्मश्रृंगखुराणि च ।
गुग्गुलुं वा मनोह्वां वा सालनिर्यासमेव वा ।
सल्लकीं गुग्गुलुं लोहं पद्मकं च घृताप्लुतम् ॥

उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन्मृदुभिः क्षणम् ॥ ८३ ॥

इन रोगियों को स्वेद देने के लिये शर्करा मिश्रित स्नेह द्रव्यों के द्वारा कवोष्ण (थोड़ा गरम) सेक यथेच्छ रूप में कण्ठ और छाती पर करना चाहिये। इसके लिये कोमल उत्कारिका (पिष्टस्विन्न पिण्डा), उपनाह (पिष्ट-बन्ध) द्वारा थोड़ी देर के लिये स्वेद देना चाहिये।

तिलोमामाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह।
स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृता हिता ॥ ८४ ॥

(५) उत्कारिका—तिल, उमा (अलसी), उड़द, गेहूं इनके चूर्णों को वातहर तैलों (तिल तैल आदि) के साथ और अम्ल वस्तुओं के साथ या दूध आदि से उत्कारिका बनानी चाहिये। ये उत्कारिकायें हितकारी हैं।

नवज्वरामदोषेषु रूक्षस्वेदं विलंघनम्।
समीक्ष्योल्लेखनं वापि कारयेल्लवणाम्बुना ॥ ८५ ॥
अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्।
रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥ ८६ ॥

(६) नव ज्वर या आम दोष की अवस्था में वातहर तैलों के विना रूक्षस्वेद देना तथा लंघन हितकारी है। रोगी के बल आदि देख कर ही नमक के पानी से वमन कराना चाहिये। वमनादि के अतियोग से यदि वायु का प्रकोप हो जाये तो वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध और स्निग्ध मांस रसों के द्वारा, न तो बहुत शीतल, न बहुत गरम अभ्यंगों से वायु का शमन करना चाहिये।

उदावर्त्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
हिङ्गुपीलुबिडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥ ८७ ॥

(७) मातुलुङ्गादि योग—हिक्का श्वास रोगी को आध्मान या उदावर्त्त हो तो मातुलुंग (बिजौरा), अम्लवेतस, हींग, पीलु और काला नमक से सिद्ध अन्न देना चाहिये, यह अन्न अनुलोमक है।

हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः ।
कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः ॥ ८८ ॥
कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम् ।
कुर्यात्पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः ॥ ८९ ॥
वातिकान्दुर्बलान्बालान्वृद्धांश्चानिलसूदनैः ।
तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः ॥ ९० ॥

(८) हिक्का और श्वास के रोगी दो प्रकार के होते हैं । एक बलवान् और दूसरा निर्बल । ये फिर दो प्रकार के होते हैं । एक कफबहुल और दूसरा रूक्ष और बहुत वायु वाला । यदि रोगी कफ-बहुल और बलवान् हो तो उसको वमन और विरेचन देना चाहिये । पीछे से पथ्य, हितकारी भोजन देकर धूम-लेहादि से शमन करना चाहिये । वात-बहुल, निर्बल, वृद्ध और बालक आदि के वायु का वातनाशक, स्निग्ध यूष रसादि से शमन करना चाहिये ।

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात् ।
वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥ ९१ ॥
दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः ।
तृप्तान्विशोधयेत्स्विन्नान्बृंहयेदितरान् भिषक् ॥ ९२ ॥

(९) जिन पुरुषों में कफ उत्क्लिष्ट (उखड़ा) नहीं हुआ, जिनको स्वेद नहीं दिया, जो निर्बल हैं, उनको वमन या विरेचन देने से वायु स्थान को प्राप्त करके, हृदय को शुष्क करके प्राणों को शीघ्र नष्ट कर देता है । इसलिये बलवान् और बहुत कफ वाले व्यक्तियों को स्नेहन और स्वेदन कराके आनूप और जलचरों के मांस रस के साथ तृप्त करके फिर वमन और विरेचन द्वारा संशोधन देना चाहिये और जो कफ-बहुल, निर्बल या वात-बहुल, वृद्ध या बालक हों उनको संशमन चिकित्सा से पुष्ट करना चाहिये । इसके लिये—

बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः ।

दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः ॥ ९३ ॥

(१०) मोर, तीतर, मुर्गा और जंगल के पशु-पक्षियों के मांस को दशमूल के क्वाथ में या कुलत्थी के क्वाथ में सिद्ध करके देना चाहिये।

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम्।
त्रिकण्टकं गुडूचीं च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥ ९४ ॥
जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः।
सनागरः सलवणः स्याद्यूषो भोजने हितः ॥ ९५ ॥

(११) निदिग्धिकादि यूष—निदिग्धिका (छोटी कटेरी), बेल की गिरी, कर्कटशृंगी, धमासा, गोखरू, गिलोय, कुलत्थी और चित्रक इन आठ द्रव्यों में से कुलत्थी को छोड़ कर शेष सात द्रव्यों में प्रत्येक एक एक कर्ष लेकर एक प्रस्थ जल में पकाना चाहिये। जब आधा रह जाये तब छान कर इसमें कुलत्थी की दाल एक का अठारहवां भाग मिला कर पकाना चाहिये। फिर इनको छान लेना चाहिये। इस यूष में पिप्पली, सोंठ, नमक मिला कर इसमें घी का बघार देकर रोगी को देना चाहिये।

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान्सचित्रकान्।
पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन्यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥ ९६ ॥

(१२) रास्नादि यूष—इसी प्रकार से रास्ना, खरैटी, ह्रस्व पंच मूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), मूंग और चीता इनको जल में पका कर इनसे पूर्व की भांति पिप्पली, सोंठ, नमक मिला कर यूष सिद्ध करना चाहिये। यह रास्नादि यूष हिक्का और श्वास के रोगी को भोजन में देना चाहिये।

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च।
पक्त्वा मुद्गांश्च सव्योषान्क्षारयूषान्विपाचयेत् ॥ ९७ ॥
दत्त्वा सलवणं क्षारं शिग्रूणि मरिचानि च।
युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारनुत् ॥ ९८ ॥

(१३) क्षारयूष—बिजौरे नींबू के पत्ते, नीम के पत्ते, कुलक वृक्ष के पत्ते, परबल के पत्ते इनको मिला कर या स्वतंत्र रूप में पकाना चाहिये। इस रस में मूंग की दाल तथा उचित परिमाण में सोंठ, मरिच, पिप्पली मिला कर क्षार यूप पकाना चाहिये। इसके लिये इसी में यवक्षार, सैन्धा नमक, शोभांजन की फलियां और मरिच युक्तिपूर्वक मिला देना चाहिये। यह क्षार-यूष हिक्का और श्वास को नष्ट करता है।

कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च।
शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः ॥ ९९ ॥
सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्ताकजो हितः।

(१४) कासमर्द आदि यूष—कासमर्द (कसौंदी) के पत्तों से साधित क्वाथ में, सहजन के पत्तों से साधित क्वाथ में और सूखी मूली के क्वाथ में साधित यूष हिक्का और श्वास रोग को नष्ट करता है। इसी प्रकार से बैंगन के फल के साथ मुद्गादि यूष को दधि में सोंठ, मरिच, पिप्पली मिला कर घृत में भून कर खाने से हिक्का और श्वास रोग नष्ट होते हैं।

शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च ॥ १०० ॥
हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडपौष्करचित्रकैः।
सिद्धा कर्कटशृङ्ग्या च यवागूः श्वासहिक्किनाम् ॥ १०१ ॥

(१५) यवागू (१)—भोजन में पुरातन शालि धान्य, षष्टिक धान्य या गेहूं बरतने चाहियें। पुरातन शालि चावलों से बनी यवागू को घृत में भून कर हींग, संचल नमक, जीरा, बिड् नमक, पोहकर-मूल, चीता और कर्कटशृंगी (काकड़ासिंगी) से साधित (मिश्रित) यवागू श्वास और हिक्का के रोगियों के लिये उत्तम है।

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीबिल्वपौष्करैः।
शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागरर्धिभिः ॥ १०२ ॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः।

कासहृद्-ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये ॥ १०३ ॥

(१६) यवागू आदि (२)—दशमूल (बिल्व छाल, अरणी छाल, श्योनाक छाल, गम्भारी छाल, पाटला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), कचूर, रास्ना, पिप्पली, बेलगिरी, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, तामलकी (भूई आंवला), भार्गी, गिलोय, सोंठ इनके क्वाथ में विधिपूर्वक यवागू, मण्ड, विलेपी कोई एक वस्तु सिद्ध करके पीनी चाहिये अथवा इनके कषाय को पीना चाहिये। इससे कास, हृद्ग्रह (हृदय-पीड़ा), पार्श्वशूल, हिक्का और श्वास शान्त होते हैं।

पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः।
योजयेदन्नपानानि ससर्पिर्बिडहिङ्गुभिः ॥ १०४ ॥

(१७) यवागू आदि (३)—पोहकरमूल, कचूर, सोंठ, मरिच, पिप्पली, बिजौरा, अम्लवेतस इनके क्वाथ में सिद्ध खान-पान की वस्तुओं को घी, बिडनमक और हींग के प्रक्षेप के साथ हिक्का और श्वास रोगी को देना चाहिये।

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः !
तृषितो मदिरां वापि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः ॥ १०५ ॥

(१८) विशेष पान (१)—हिक्का और श्वास के रोगी को प्यास लगने पर दशमूल का अर्धश्टत क्वाथ या देवदारु का क्वाथ अथवा मदिरा का पान करना चाहिये।

पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च।
प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत् ॥ १०६ ॥
तं मन्दलवणं कृत्वा भिषक् प्रसृतसंमितम्।
पाययेत्तु ततो हिक्का श्वासश्चैवोपशाम्यति ॥ १०७ ॥

(१९) पान (२)—पाठा, मधुरसा (मूर्वा), रास्ना, सरल काष्ठ और देवदारु इनको पानी से धोकर कूट लेना चाहिये। फिर इनको चतुर्गुण या छः गुणे सुरा मण्ड में एक रात भर रखना चाहिये। प्रातः

क्वाल इसमें थोड़ा सा नमक मिला कर दो पल परिमित रोगी को पिलाना चाहिये इससे हिक्का और श्वास नष्ट होते हैं ।

हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम् ।
मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन वा पिबेत् ॥ १०८ ॥

(२०) पान (३)—हींग, सौवर्चल नमक, बेर, समंगा, पिप्पली, बला इनको घृत में भुन कर, बिजौरे के रस के साथ पीस कर कांजी के साथ मनुष्य को पीना चाहिये ।

सौवर्चलं नागरं च भार्गीद्विशर्करायुतम् ।
उष्णाम्बुना पिबेदेतद्धिक्काश्वासविकारनुत ॥ १०९ ॥

(२१) सौवर्चल, सोंठ, भार्गी इसमें द्विगुण शर्करा मिला कर उष्ण जल से पान करे तो हिक्का, श्वास रोग को दूर करता है ।

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा ।
पीतद्रुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत् ॥ ११९ ॥

(२२)—भार्गी, सोंठ इनके कल्क को, मरिच और यवक्षार के कल्क को, पीतद्रु, चीता, आस्फोता और मूर्वा इनके कल्क को इनके ही क्वाथ से पीस कर गरम पानी के साथ पीना चाहिये ।

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा ।
उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ॥ १११ ॥
श्वाविधं शशमांसं च शल्लकस्य च शोणितम् ।
पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे ॥ ११२ ॥
सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकायुतम् ।
शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम् ॥ ११३ ॥
शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः ।
पिप्पलीमधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मतः ॥ ११४ ॥
मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोऽश्वशकृद्रसः ।
घृतं क्षौद्रं कासहिक्काश्वासाभिष्यन्दिनां शुभम् ॥ ११५ ॥

(२३) पांच योग—(१) पित्त-कफ जनित हिक्का-श्वास रोग में—शिरीष के फूलों के स्वरस अथवा सप्तपर्ण के स्वरस में पिप्पली और मधु मिला कर देना चाहिये। (२) श्वास रोग में पित्त का योग हो तो मधूलिका (गेहूं के पीसने से बचा हुआ थोड़ा सा भाग थूली) तीन भाग, वंशलोचन, सोंठ, पिप्पली एक भाग और घृत लेकर उत्कारिका सिद्ध करनी चाहिये, ये रोगी को देनी चाहियें। * (३) श्वासरोग में वायु का योग हो तो श्वावित् (बृहत् सेजड़), खरगोश का मांस और शल्लक (क्षुद्र सेजड़) के रक्त को पिप्पली चूर्ण मिश्रित घृत में सिद्ध करके देना चाहिये। (४) श्वास रोग में वात-पित्त का सम्बन्ध हो तो सुवर्चला (सूर्यमुखी) का स्वरस या दूध अथवा घृत में सोंठ, मरिच, पिप्पली मिला कर शाल्योदन खाने के पश्चात् अनुपान रूप में पीना चाहिये। ※ (५) मुलहठी, पिप्पलीमूल के चूर्ण को गुड़, गोबर का रस, मधु और घृत इन सब को मिला कर खाना हिक्का, श्वास और कास रोगियों के लिये उत्तम है।

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च।
शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत् ॥ ११६ ॥
क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लेहयेत्क्षौद्रसर्पिषा।
मयूरपादनालं वा शकलं शल्लकस्य वा ॥ ११७ ॥
श्वाविद्रोहकचाषाणां रोमाणि कुररस्य वा।

(२४) तीन योग—(१) कफ की प्रबलता होने पर गधा, घोड़ा, ऊंट, सुअर, मेढ़ा और हाथी इनमें से किसी एक के विष्ठा के रस को मधु के साथ पीना चाहिये। अथवा (२) असगन्धा की

* अष्टांगसंग्रह में—'तुकाकृष्णामधूलीगुड़नागरैः' यह पाठ दिया है और मधूली से मुलहठी का ग्रहण किया है।

※ इनका एक योग अष्टांगसंग्रह में पढ़ा है—"सुवर्चलारसव्योषसर्पिर्भिः सहितं पयः ॥"

जला कर इसकी भस्म को पानी में घोल कर छान लेना चाहिये। फिर नीचे बैठे क्षार को मधु और घी के साथ मिला कर श्वास रोगी को खाना चाहिये। (३) मयूरपाद के नाल को जला कर इनसे क्षार बना कर घी और मधु के साथ खाना चाहिये।

एकद्विशफशृङ्गाणि चर्मास्थीनि क्षुरांस्तथा ॥ ११८ ॥
सर्वाण्येकैकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्।
चूर्णं लीढ्वा जयेत्कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् ॥ ११९ ॥
एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपहाः।
तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे ॥ १२० ॥

(२५) नखशृंगादि चूर्ण—एक शफ (घोड़े आदि), द्वि-शफ (गाय आदि) इनके सींग, त्वचा, अस्थियां और खुर इनको मिला कर वा अलग अलग जला कर चूर्ण कर लेना चाहिये। इसको मधु और घृत के साथ खाने से कास, हिक्का और कठिन श्वास रोग में भी लाभ होता है। ये सब पदार्थ कफ के कारण अवरुद्ध गति वाले प्राण (वायु) के प्रकोप को शान्त करते हैं इसलिये प्राण के रोधक कफ की शुद्धि के लिये इनका व्यवहार करना चाहिये, कफ के अभाव में इनका व्यवहार करना ठीक नहीं है।

कासिने छर्दनं दद्यात्स्वरभङ्गे च बुद्धिमान्।
वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥ १२१ ॥
उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्वहज्जलम्।
यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥ १२२ ॥

(२६) वमनादि योग—श्वास रोगी को यदि कास आता हो तो उसको वमनकारक औषध देनी चाहिये। श्वास रोगी को यदि स्वर भेद हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वात-कफ नाशक वस्तुओं से युक्त विरेचन देवे। इसी प्रकार तमक श्वास में भी विरेचन देना चाहिये। जिस प्रकार बहती हुई नदी आदि का जल मार्ग के रुक जाने पर अधिक कुपित हो

जाता है, उसी प्रकार से मार्ग के रुकने से वायु भी अति प्रकुपित हो जाता है। इसलिये मार्ग का नित्यप्रति शोधन करना चाहिये।

शटीचोरकजीवन्तीत्वङ्मुस्तं पुष्कराह्वयम्।
सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥ १२३ ॥
वालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम्।
सर्वथा तमके श्वासे हिक्कायां च प्रयोजयेत् ॥ १२४ ॥

इति शट्यादिचूर्णम्।

(२७) शट्यादि चूर्ण—शठी (कचूर), ग्रन्थिक (पिप्पलीमूल), जीवन्ती, दालचीनी, मोथा, पोहकरमूल, सुरसा (तुलसी), भूई आंवला, पिप्पली, अगरू, सोंठ और बालक इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये और इस चूर्ण से अष्ट गुण शर्करा इस चूर्ण में मिलानी चाहिये। इस चूर्ण का तमक श्वास और हिक्का में प्रयोग करना चाहिये।❀

मुक्ताप्रवालवैडूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम्।
ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥ १२५ ॥
ताम्रायोरजसी रूप्यं सौगन्धिककशेरुकम्।
जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥ १२६ ॥
एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा।
हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति ॥ १२७ ॥
अञ्जनात्तिमिरं काचं नीलिकां पुष्पकं तमः।
पैल्यं कण्डूमभिष्यन्दं मर्म च प्रणाशयेत् ॥ १२८ ॥

इति मुक्ताद्यं चूर्णम्।

(२८) मुक्ताद्य चूर्ण—मोती, प्रवाल, वैडूर्य (बिल्लौरी पत्थर), शंख, स्फटिक इन पांचों द्रव्यों में प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म चूर्ण कर लेना चाहिये, (भस्म नहीं), इसी प्रकार से अंजन का भी चूर्ण, ससार काच,

❀ अष्टांगसंग्रह में—'शटीतामलकीभार्गीचण्डबालकपौष्करम्' यह पाठ है।

(दृढ़ काच), गन्ध (शोधित गन्धक), छोटी इलायची, सौवर्चल और सैन्धा नमक, ताम्र भस्म और लोह भस्म और रजत भस्म, सौगन्धिक (कल्हार जाति का कमल), कशेरु, जायफल, शण के फल, अपामार्ग के तण्डुल, इन सब के मिलित चूर्ण में से पाणितल (एक कर्ष परिमित) देह-बल की अपेक्षा से घी और मधु के साथ चाटने के लिये देना चाहिये । इसके चाटने से हिक्का, श्वास और कास रोग शीघ्र नष्ट होते हैं । इसके अंजन से तिमिर, काच, नीलिका, पिष्टक, तम, नीलिनता, कण्डू, अभिष्यन्द तथा मर्म भी नष्ट होते हैं । *

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च ।
मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम् ॥ १२९ ॥
सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोऽश्वशकृद्रसम् ।
तुल्यं गुडं नागरं च प्राशयेन्नावयेत्तथा ॥ १३० ॥

(२९) लेह्य योग—(१) कचूर और पोहकरमूल के चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । (२) आंवले के चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । (३) काल लोह (तीक्ष्ण लौह चूर्ण की भस्म को) मधु के साथ चाटना चाहिये । (४) शर्करा, भूई आंवला, मुनक्का, गाय और घोड़े के मल (गोबर) के रस को गुड़ और सोंठ के साथ मिला कर खाना चाहिये और इसी का नस्य भी लेना चाहिये ।

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा ।
नावयेच्चन्दनं वापि नारीक्षीरेण संयुतम् ॥ १३१ ॥
सुखोष्णां घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम् ।
नावयेन्मक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन वा ॥ १३२ ॥
स्त्रियाः स्तन्येन सिद्धं वा सर्पिर्मधुरकैरपि ।
पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिक्कां नियच्छति ॥ १३३ ॥

* अष्टांग-संग्रह में—'मसारगल्लस्फटिककाचैलालवणद्वयम्' यह पाठ देकर 'मसारगल्ल' से एक विशेष मणि का ग्रहण किया है ।

सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्धिक्किनां पयः ।
पाने नस्तःक्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम् ॥ १३४ ॥

(३०) छः नस्य योग—(१) लहसुन का रस या प्याज का रस अथवा गृंजनक (लाल पलाण्डु या शल़जम) की जड़ का नस्य लेना चाहिये । (२) इसी प्रकार से चन्दन को औरत के दूध में घिस कर उसका नस्य देना चाहिये । (३) कवोष्ण घृतमण्ड (घृत के उपरितन स्वच्छ भाग) में सैन्धव नमक मिला कर उसका नस्य लेना चाहिये । (४) मक्खी की विष्टा को आलक्त रस (मेहदी या महावर के रस में) के साथ या औरत के दूध में मिला कर उसका नस्य लेना चाहिये । (५) मधुरक (जीयनीय गण) ओषधियों के कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध किये घृत का नस्य लेने से या इसको नाक में डालने से अथवा नासिका से पीने पर तुरन्त हिक्का रोग शान्त होता है । (६) हिक्का रोगी को अदल बदल करके एक बार गरम पानी या दूध और एक वार ठण्डा पानी या दूध इस प्रकार से क्रमशः पीने के लिये देना चाहिये । नस्य के लिये शर्करा और मधु से मिश्रित शीतल दूध देना चाहिये ।

अधोभागे घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति ।
पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः ॥ १३५ ॥
लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान् ।
लिह्यात्कोलं मधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ॥ १३६ ॥
शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम् ।
क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यवना मताः ॥ १३७ ॥
हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत्प्रकीर्तितम् ।
वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्काश्वासविकारिभिः ॥ १३८ ॥

(३१) पांच लेह्य योग—(१) विरेचक द्रव्यों के कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध घृत तुरन्त हिक्का को रोक देता है । (२) आंवले के रस में या कैथ के रस में पिप्पली चूर्ण और मधु मिला कर चटाना

चाहिये । (३) लाक्षा, लाजा, शहद, मुनक्का और पिप्पली इनके चूर्ण को घोड़े की लीद के रस में मिला कर चाटना चाहिये । (४) बेर, मुनक्का, पिप्पली और सोंठ इनको पीस कर मधु के साथ चाटना चाहिये । (५) शीतल जल का परिषेक, सहसा डराना, चकित करना, डर दिखाना, क्रोध, हर्ष, प्रिय उद्वेग इन कार्यों से हिक्का रुक जाती है ।

हिक्का और श्वास रोगियों की आरोग्यता की यदि कामना हो तो उनको चाहिये कि हिक्का और श्वास रोग का जो निदान बताया है, उसका परित्याग कर दें ।

हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः ।
प्रकृत्या रूक्षदेहा ये सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत् ॥ १३९ ॥

हिक्का और श्वास के जिन रोगियों के वक्षःस्थलों कफ शुष्क और क्षीण हो गया हो तथा प्रकृति से रूक्ष शरीर हों उनकी चिकित्सा घृतों द्वारा करनी चाहिये ।

दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डेन साधयेत् ।
कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥ १४० ॥
कायस्थया च संसिद्धं हिक्काश्वासौ प्रणाशयेत् ।

इति दशमूलाद्यं घृतम् ।

(३२) दशमूलाद्य घृत—दशमूल का क्वाथ २ प्रस्थ, दधि मण्ड २ प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, पिप्पली, संचल, यवक्षार, वयःस्था (आंवला), हींग और चोरक इनके चतुर्थांश कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये । इसी प्रकार दशमूल के क्वाथ दधि-मण्ड में कायस्था (हरीतकी) के कल्क से साधित घृत देना चाहिये । [यह दूसरा दशमूल घृत है, ऐसा गंगाधर सेनजी ने माना है, अष्टांगसंग्रह में यह एक ही घृत है] ।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ॥ १४१ ॥
भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी ।
सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका ॥ १४२ ॥

तालीशपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसंमितैः ।
हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत्तोये चतुर्गुणे ॥ १४३ ॥
एतद्यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः ।
शोथानिलार्शोग्रहणीहृत्पार्श्वरुज एव च ॥ १४४ ॥

इति तेजोवत्यादिघृतम् ।

(३३) तेजोवत्यादि घृत—तेजोवती (तेजबल), हरड़, कूठ, पिप्पली, कुटकी, भूतीक (अजवायन), पोहकरमूल, पलाश, चित्रक, कचूर, संचल, भूईंआंवला, सैन्धा नमक, बेल की गिरी, तालीशपत्र, जीवन्ती, वच प्रत्येक वस्तु एक अक्ष और हींग १ शाण, घृत एक प्रस्थ, जल ४ प्रस्थ इनसे यथाविधि घृत सिद्ध करना चाहिये । इस घृत को अग्नि बल के अनुसार पीना चाहिये । इससे हिक्का, श्वास, शोथ, वायु, अर्श, ग्रहणी, हृदयशूल और पार्श्वशूल नष्ट होती है । *

मनःशिलां सर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः ।
मञ्जिष्ठैलैश्च कर्षांशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः ॥ १४५ ॥

इति मनःशिलादिघृतम् ।

(३४) मनःशिलादि घृत—मनशिल शोधित, राल, लाख, हल्दी, पोहकरमूल, मजीठ, छोटी इलायची प्रत्येक एक कर्ष, जल ४ प्रस्थ और घृत १ प्रस्थ लेकर यथाविधि घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत हिक्का और श्वास रोगी के लिये हितकारी है ।

जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद् घृतम् ।
त्र्यूषणं दाधिकं वापि पिबेद्वासाघृतं तथा ॥ १४६ ॥

(३५) जीवनीयादि घृत—जीवनीय गण के कल्क से चतुर्गुण जल में साधित घृत में शीतल होने पर चतुर्थांश मधु मिलाना चाहिये । यह घृत चाटना चाहिये । अथवा गुल्मोक्त (चि० अ० ५) वासाघृत

* अष्टांगसंग्रह में—भूतीक के स्थान पर 'पूतीक' पाठ है और जल घृत के सम-परिमाण कहा है ।

या दाधिक घृत अथवा कासरोगोक्त (चि० अ० १८) त्र्यूषणादि घृत चाटना चाहिये।

यत्किंचित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किते ॥ १४७ ॥

जो भी कोई खान-पान या औषध कफ-वातनाशक, उष्ण और वायु का अनुलोमन करने वाली है, वह सब हिक्का और श्वास रोगियों के लिये हितकारी है।

वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम्।
कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥ १४८ ॥

हिक्का श्वास रोगियों की चिकित्सा में जब कभी कफ के कारण वायु का अवरोध होता है तो निम्न प्रकार से चिकित्सा की जाती है और कभी वातकारक और कफनाशक चिकित्सा होती है जिस से कफ का नाश होने पर वायु बढ़ कर अपना मार्ग पकड़ लेती है और कभी कफकारक और वातनाशक चिकित्सा करनी पड़ती है, जिससे कि प्रचण्ड वायु शान्त हो जाता है और लीन कफ बाहर आ जाता है। इस प्रकार से दोनों प्रकार के कार्य करने होते हैं। इनमें भी प्रायः करके सर्वत्र वायु-नाशक कर्म ही श्रेष्ठ हैं।

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत्।
अवश्यं शमनोपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥ १४९ ॥
तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि।
हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥ १५० ॥

सब प्रकार के हिक्का, श्वास रोगियों की चिकित्सा शमन और बृंहण विधि से करनी चाहिये, कर्षण से नहीं। क्योंकि बृंहण-चिकित्सा करते समय प्रथम तो कोई अपाय (विघ्न या अन्य रोग) होता नहीं और यदि हो भी जाये तो सुगमता से साध्य होता है। शमन क्रिया करने में अपाय बहुत नहीं होता और जो होता है वह मध्यम वृत्ति से साध्य है।

कर्षण चिकित्सा में अपाय बहुत होता है और प्रायः असाध्य होता है। इसलिये शमन और बृंहण चिकित्सा ही करनी चाहिये कर्षण चिकित्सा नहीं। इसलिये सब प्रकार के वमन विरेचनादि से शुद्ध या अशुद्ध सब प्रकार के हिक्का और श्वास के रोगियों की शमन और बृंहण चिकित्सा ही प्रायः करके करनी चाहिये।

तत्र श्लोकः। दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम्।
लिङ्गं पथ्यं च हिक्कानां श्वासानां चेह दर्शितम् ॥ १५१ ॥

उपसंहार—हिक्का श्वास दोनों रोगों के दुर्जय होने के कारणों, उत्पत्ति, एक ही चिकित्सा होने के कारणों और पृथक् पृथक् लक्षणों को इस अध्याय में दर्शाया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
हिक्काश्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे कास-चिकित्सा का वर्णन करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

तपसा तेजसा धृत्या धिया च परयाऽन्वितः।
आत्रेयः कासशान्त्यर्थं प्राह सिद्धं चिकित्सितम् ॥ ३ ॥
वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा।
पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ ४ ॥

तप से, तेज से, धृति से और परा (जिस बुद्धि से ब्रह्म अक्षर जाना जाता है) बुद्धि से युक्त भगवान् आत्रेय ने कास रोग की शान्ति के लिये निम्नलिखित अनुभूत चिकित्सा का उपदेश दिया।

पांच प्रकार के कास—(१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य ये तीन तथा (४) क्षतजन्य और (५) क्षयजन्य, ये पांचों प्रकार के कास जब पुरुषों में वृद्धि को प्राप्त करते हैं तब क्षय रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ५ ॥

पांचों प्रकार के कासों का पूर्वरूप—शूक (जौ आदि की बाल) के समान गले और मुख में काटे से, गले में कण्डू, गले के शुष्क होने से भुक्त अन्न का गले में रुक जाना होता है।

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतःसमाश्रितः ।
उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥ ६ ॥
आविश्य सिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् ।
आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥ ७ ॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः ।
शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ॥ ८ ॥

सम्प्राप्ति—जब किसी कारण से या स्वयमेव ही स्वभाव से वायु का निम्न गमन रुक जाता है, तब वायु उदान गति को प्राप्त करके गले और छाती में रुक जाती है, जिससे कि शिर के सब मुख, नासिका, कान, नेत्रों के छिद्रों में घुस कर सब इन्द्रियों में व्याप्त होकर सम्पूर्ण शरीर को तोड़ते हुए, हनु (ठोड़ी) मन्या (धमनी) और आंखों को चलायमान करके, नेत्र, पीठ, छाती, पार्श्वों को मरोड़ कर तथा जड़ (शिथिल) करके स्वतन्त्र रूप में या कफ के साथ मिल कर कास उत्पन्न करती है। [कस गतिसंतानयोः' इस धातु से घञ् प्रत्यय होने से कास शब्द बना है। निरन्तर चलता है वा ऊपर को उठता है इसी से 'कास' कहाता है]।

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः ।

वेदनाशब्दवैषम्यं कासानामुपजायते ॥ ९ ॥

कारण विशेष से वायु के कुपित होने पर प्रबल गति के कारण अपने ही प्रतिघात विशेष से वेदना विशेष सहित शब्द विशेष कास रोगों में होता है।

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः।
वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥ १० ॥

कारण—रूक्ष, शीत, कषाय या अल्प भोजन से, परिमित भोजन से, अनशन से, स्त्रीसेवन से, उपस्थित वेगों को रोकने से और परिश्रम से वातजन्य कास उत्पन्न होते हैं।

हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्।
शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥ ११ ॥
निर्घोषदैन्यक्षामास्यदौर्बल्यक्षयमोहकृत्।
शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥ १२ ॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति।
ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥ १३ ॥

लक्षण—वातजन्य कास से हृदय, पार्श्व, छाती और शिर में दर्द होता है, अतिशय स्वर-भेद होता है, छाती, कण्ठ और मुख में शुष्कता आ जाती है, रोमांच होता है, ग्लानि होती है, कास का प्रबल शब्द होता है, चेहरे पर दीनता, क्षीण मुख, निर्बलता, बेचैनी, मोह रहता है।

कास शुष्क होता है, कफ भी सूखा होता है, कठिनाई से कफ बाहर आता है, कफ निकलने पर कास थोड़ा हो जाता है। स्निग्ध वस्तुएं पानी, नमक और उष्ण खान पान से शान्त हो जाता है। भोजन के जीर्ण होने पर जब वायु ऊर्ध्वगामी होता है तो फिर वेगवान् हो जाता है।

कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्।
पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥ १४ ॥
पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः।

उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १५ ॥
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति ।
श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥ १६ ॥

पित्त-कास—कटु, उष्ण, विदाही, क्षार और अम्ल इनके अति सेवन से, क्रोध से, अग्नि और सूर्य के सन्ताप से पित्तजन्य कास उत्पन्न होता है।

लक्षण—रोगी का थूक पीले रंग का, आंखों में पीलापन, मुख में तिक्त स्वाद, स्वरभंग, छाती में धूएं की सो प्रतीति (दम रुकना या जलन), श्वास, दाह, मोह, अरुचि, भ्रम, निरन्तर खांसने में आंखों के आगे तारे से दीखना तथा पित्तमिश्रित कफ बाहर आता है।

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः ।
वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥ १७ ॥

कफ-कास—गुरु, अभिष्यन्दि, मधुर, स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिन में सोने से बढ़ा हुआ कफ वायु को रोक कर कफ-कास उत्पन्न करता है।

मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः ।
लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥ १८ ॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम् ।
कासमानो ह्यरुग्वक्षः[1] संपूर्णमिव मन्यते ॥ १९ ॥

लक्षण—अग्निमान्द्य, अरुचि, वमन, पीनस, जी मचलाना, शरीर में भारीपन, रोमांचता, मुख की मधुरता रहती है, खांसी में क्लेद, अंस में पीड़ा रहती है, कफ बहुत, मधुर, स्निग्ध और घन होता है, खासने में कोई दर्द नहीं होता, वक्षःस्थल कफ से भरा प्रतीत होता है।

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरः क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥ २० ॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।

१. 'ऽतिरुग्' इति पाठान्तरम् ।

५

क्षत-कास—अति मैथुन से, अति भार उठाने से, मुसाफ़िरी से, लड़ाई से, घोड़े या हाथी को रोकने से रूक्ष व्यक्ति के शरीर में छाती के अन्दर क्षत हो जाता है। इस क्षत के साथ मिल कर वायु कास उत्पन्न करती है। इसमें प्रथम तो केवल सूखी खांसी आती है, पीछे से रक्त-मिश्रित थूक बाहर आता है।

रुजमानेन कण्ठेन विरुग्णेनैव चोरसा ॥ २१ ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
दुःसंस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ २२ ॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः।
पारावत इवाकूजन्कासवेगात्क्षतोद्भवात् ॥ २३ ॥

क्षयजन्य कास के कारण गले में अत्यन्त पीड़ा होती है, छाती में वेदना होती है, रोगी को तीक्ष्ण सुइयों के चुभने की सी दर्द होती है, छूने से भी रोगी को कष्ट होता है, शूल, भेदन, पीड़ा रहती है (नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं)। पर्वों (जोड़ों) में दर्द, ज्वर, श्वास, प्यास, स्वरभंग रहता है, गले से कबूतर के बोलने के समान ध्वनि होती है।

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात्।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥ २४ ॥
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्।

क्षय कास—विषम भोजन से, असात्म्य भोजन से, अति मैथुन से, उपस्थित वेगों को रोकने से, घृणा करने वाले (नाजुक प्रकृति) तथा चिन्ता करने वाले पुरुषों में अग्नि मान्द्य हो जाने से वात आदि तीनों मल कुपित होकर रसादि धातु-क्षयजन्य कास को उत्पन्न करते हैं। इस कास से शरीर का क्षय होने के कारण राजयक्ष्मा रोग हो जाता है।

दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत्पूयोपमं कफम् ॥ २५ ॥
कासमानश्च हृदयं स्थानभ्रष्टं स मन्यते[1]।

1. 'स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्' इति च पाठः।

अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः ॥ २६ ॥
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनैः ।
पाणिपादतलौ श्लक्ष्णौ सततासूयको घृणी ॥ २७ ॥
ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः ।
भिन्नसङ्घातवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥ २८ ॥
इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।

लक्षण—रोगी के खांसने में दुर्गन्धयुक्त, हरा, रक्तमिश्रित, पूय (पीव) के समान कफ आता है । खांसते समय रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका हृदय अपने स्थान से खिसक गया है । रोगी को विना कारण अचानक सर्दी या गरमी लगने लगती है, भूख बढ़ जाती है, बहुत खानेपर भी रोगी निर्बल और कमज़ोर रहता है । चेहरा प्रसन्न और चिकना दीखता है, आंखों में पानी की-सी स्वच्छता झलकती रहती है । पांव और हाथ के तलुवे चिकने, सब स्थानों से परहेज़ करता है, निन्दा करता है । रोगी को द्वन्द्व (वात-पित्तात्मक, कफ-वातात्मक या पित्त-कफात्मक) या सान्निपातिक ज्वर रहता है, पार्श्वों में दर्द, पीनस, अरुचि, रोगी को पतला या सख्त मल आता है, विना कारण के ही स्वर-भेद रहता है, यह क्षयजन्य कास क्षीण पुरुषों के लिये घातक और बलवान् व्यक्तियों के लिये साध्य है ।

साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ २९ ॥
नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥ ३० ॥

बलवान् पुरुषों में क्षतजन्य कास याप्य है, ये क्षतजन्य और क्षयजन्य कास यदि नूतन हैं और चिकित्सा के चारों पाद प्राप्त हो जायें तो कभी भाग्य से साध्य भी हो जाते हैं । वृद्ध पुरुषों में बुढ़ापे के कारण जो भी कास उत्पन्न होता है, वह सब याप्य है । धातु क्षय के विना ही वातादि के अपने अपने कारणों से जो कास उत्पन्न होते हैं वे साध्य हैं ।

त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान्पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत् ।

चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु शृणु कासनिबर्हिणीम् ॥ ३१ ॥

प्रथम तीनों को वात, पित्त, कफजन्य साध्य कासों की चिकित्सा करनी चाहिये, बलवान् पुरुषों के क्षतजन्य और जरा-कासों की पथ्यों द्वारा याप्य चिकित्सा करनी चाहिये। इसके आगे कास-चिकित्सा को सुनो।

कास-चिकित्सा

रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्।
सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः ॥ ३२ ॥
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः।
अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान् ॥ ३३ ॥
बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चौर्ध्वभक्तिकैः।
घृतैः सपित्तं सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ॥ ३४ ॥

(१) रूक्ष व्यक्ति के वातजन्य कास की प्रथम स्नेहों से चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये घृत, बस्तियां, पेया, दूध, यूष, रस (मांस रस) देना चाहिये। वातनाशक स्नेहादि से, धूमों से, लेहों से, अभ्यंग और परिषेक, स्निग्ध स्वेदों से बुद्धिमान् वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिये। रूक्ष स्वेद नहीं देना चाहिये। यदि मल और वायु का अवरोध हो तो बस्तियों से चिकित्सा करनी चाहिये। यदि मल शुष्क हो और वायु ऊर्ध्व गति हो तो भोजन के पश्चात् घृत देकर उसका शमन करना चाहिये। यदि वातजन्य कास में पित्त, कफ भी वायु के साथ हों तो स्नेह युक्त विरेचन देने चाहियें।

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलाद्रसे।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः ॥ ३५ ॥

इति कण्टकारीघृतम्।

(२) कण्टकारी घृत—छोटी कटेरी ३० पल, गिलोय ३० पल लेकर अष्ट गुण जल में क्वाथ करना चाहिये। जब चतुर्थांश रह जाये तब

इसमें एक प्रस्थ घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत वातनाशक और अग्निदीपक है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।
धान्यपाठावचारास्नायष्ट्याह्वक्षारहिङ्गुभिः॥ ३६॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद्दशमूलीरसाढके।
सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयामण्डं पिबेदनु॥ ३७॥
तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत्।
पिप्पल्याद्यं घृतं चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम्॥ ३८॥

इति पिप्पल्यादिघृतम्।

(३) पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, धनिया, पाठा, वचा, रास्ना, मुलहठी, यवक्षार, हींग प्रत्येक वस्तु का कल्क कोल अर्थात् अक्ष परिमित, दशमूल का क्राथ एक आढ़क और घृत एक प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घृत में से एक पल पीकर ऊपर से पेया या मण्ड पीना चाहिये। इस घृत से श्वास, कास, हृदयशूल, पार्श्वशूल, ग्रहणी रोग और गुल्म नष्ट होते हैं। इस पिप्पल्यादि घृत का ऋषि आत्रेय ने उपदेश किया है।

त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षां काश्मर्याणि परूषकम्।
द्वे पाठे देवदार्वृद्धिं स्वगुप्तां चित्रकं शटीम्॥ ३९॥
व्याघ्रीं[1] तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम्।
त्रिकण्टकां विदारीं च पिष्ट्वा कर्षसमं घृतात्॥ ४०॥
प्रस्थं चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत्।
ज्वरगुल्मारुचिप्लीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत्॥ ४१॥
कामलार्शोऽनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम्।
त्र्यूषणाद्यं तु विख्यातमेतद् घृतमनुत्तमम्॥ ४२॥

इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

---

१. 'ब्राह्मीं' इति पाठान्तरम्।

(४) त्र्यूषणाद्य घृत—कल्कार्थ—सोंठ, मरिच, पिप्पली, त्रिफला, मुनक्का, गम्भारी, फालसा, दोनों पाठा (क्षुद्र और बृहत् भेद से), देवदारु, ऋद्धि, कौंच, चीता, कचूर, छोटी कटेरी, भूईंआंवला, मेदा, काकनासा (कऊआ ठोड़ी), शतावरी, गोखरू और विदारी प्रत्येक वस्तु एक एक कर्ष, घृत एक प्रस्थ, दूध चार प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत कासनाशक है। ज्वर, गुल्म, अरुचि, प्लीहा, शिरःशूल, पार्श्वशूल, हृदयशूल को नष्ट करता है, कामला, अर्श, वायु, अष्ठीला, उरःक्षत, शोष, क्षय को नष्ट करता है। यह त्र्यूषणाद्य घृत अति उत्तम है।※

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम्।
पलिकान् माणिकांशांस्त्रीन् कुलत्थान्बदरान् यवान् ॥ ४३ ॥
तुलार्धं चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च।
घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥ ४४ ॥
सिद्धं तद्दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः।
समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ ४५ ॥
पञ्च कासान् शिरःकम्पं शूलं वङ्क्षणयोनिजम्।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत् ॥ ४६ ॥

इति रास्नाघृतम्।

(५) रास्नादि घृत—क्वाथार्थ—रास्ना, दशमूल, शतावरी प्रत्येक १२ पल, कुलत्थी, बेर और जौ प्रत्येक वस्तु आठ पल, जवान बकरी का मांस ५० पल लेकर एक द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये, जब चतुर्थांश रह जाये तब छान लेना चाहिये। इसमें १६ शराव परिमित दूध मिलाना चाहिये। इसमें जीवनीय गण की दस औषधियों में प्रत्येक का कल्क एक पल डाल कर घृत का एक आढक सिद्ध करना चाहिये। यह घृत नस्य, अनुवासन और पान कर्म में वातरोगों के अन्दर अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिये, इसमें क्वाथ के समान ही दूध भी मिलाना चाहिये।

※ अष्टांग-संग्रह में इसको 'काश्मर्यादि घृत' कहा है।

यह घृत पांचों कासों को, शिरः-कम्प, वंक्षणशूल, योनिजन्य शूल, सर्व्वांग रोग, एकांग रोग, प्लीहा और ऊर्ध्व वायु को नष्ट करता है।

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्ग सैन्धवम्।
भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ॥ ४७ ॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिक्काहताग्निषु।

(६) विडंगाद्यघृत योग—वायविडंग, सोंठ, रास्ना, पिप्पली, हींग, सैन्धा नमक, भार्गी, यवक्षार इनके चूर्ण को थोड़े से घृत के साथ मिला कर पीना चाहिये [कविराज श्री गंगाधरसेन चौगुना घृत लेने को कहते हैं]। यह कफयुक्त वातजन्य कास में, श्वास में, हिक्का रोग में और मन्दाग्नि में उत्तम है।

द्वौ क्षारौ पञ्च कोलानि पञ्चैव लवणानि च ॥ ४८ ॥
शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम्।
पाययेत घृतोन्मिश्रं वातकासनिबर्हणम् ॥ ४९ ॥

(७) यवक्षारादि घृत-योग—यवक्षार, सर्जक्षार, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ और पांचों नमक (बिड्, सैन्धव, संचल, उद्भिद्, सांभर), कचूर, सोंठ, नेत्रबाला इनको परस्पर समान भाग लेकर जल के साथ पीस कर वस्त्र में से छान कर घृत मिला कर पीना चाहिये। यह वात-कास को नष्ट करता है।

दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गवेरं सितोपलाम्।
लिह्यात्कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ॥ ५० ॥
दुःस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकीं शटीम्।
पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वापि लेहयेत् ॥ ५१ ॥
विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम्।
मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन् ॥ ५२ ॥

(८) वातजन्य कास में दुरालभादि तैल-योग—(१) दुरालभा, आर्द्रक या सोंठ, कचूर, मुनक्का और काकड़ाश्रृंगी इनको समान भाग

लेकर और सबके बराबर शर्करा (मिश्री) मिला कर तैल के साथ चाटना चाहिये। इसी प्रकार से (२) कौंच, पिप्पली, मोथा, भार्गी, काकड़ाश्रृंगी और कचूर इनके चूर्ण को पुरातन गुड़ और तैल के साथ मिला कर चाटना चाहिये। वायविडंग, सैन्धा नमक, कूठ, सोंठ, मरिच, पिप्पली, हींग शोधित मैनसिल इनके चूर्ण को घृत और मधु के साथ हिक्का, श्वास और कास रोग में चाटना चाहिये।

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिङ्गु दुरालभाम्।
शटीं पुष्करमूलं च श्रेयसीं सुरसां वचाम्॥ ५३॥
भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्षिकान्।
कल्कान् निदिग्ध्यर्धतुलां निःक्वाथ्य पलविंशतिम्॥ ५४॥
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत्।
सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम्॥ ५५॥
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत्।
लेहयेत्कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम्॥ ५६॥

इति चित्रकादिलेहः।

(९) चित्रकादि लेह—चित्रक, पिप्पलीमूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, मोथा, दुरालभा, कचूर, पोहकरमूल, श्रेयसी (शालपर्णी), सुरसा (तुलसी), वच, भार्गी, गिलोय, रास्ना, काकड़ाश्रृंगी प्रत्येक वस्तु एक एक कर्ष लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। छोटी कटेरी का ५० पल लेकर ३२ शराव जल में क्वाथ करना चाहिये। जब आठ शराव रह जाये तब इसको छान कर इसमें २५ पल खाण्ड और घृत एक कुड़व तथा उपरोक्त चूर्ण मिला कर पाक करना चाहिये। जब यह घृत सिद्ध हो जाये तब इसमें वंशलोचन चार पल मिला देना चाहिये। सिद्ध होने पर जब ठण्डा हो जाये तब इसमें शहद एक कुडव और पिप्पली का चूर्ण एक कुडव मिला कर रख देना चाहिये। यह अवलेह कास रोग, हृदयरोग, श्वास और गुल्म को नष्ट करता है।

दशमूलीं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम् ।
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ ५७ ॥
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम् ।
हरीतकीशतं भद्रं जले पञ्चाढके पचेत् ॥ ५८ ॥
यवे स्विन्ने कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम् ।
पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथक् घृतात् ॥ ५९ ॥
तैलात्सपिप्पली चूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकात् ।
लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥ ६० ॥
तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धदम् ।
पञ्च कासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरान् ॥ ६१ ॥
हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणीहृद्रोगारुचिपीनसान् ।
अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥ ६२ ॥

इत्यगस्त्यहरीतकी ।

(१०) अगस्त्य-हरीतकी—दशमूल, कौंच, शंखपुष्पी, कचूर, बला, गजपिप्पली, अपामार्ग, पिप्पलीमूल, चित्रक, भार्गी, पोहकरमूल प्रत्येक दो पल, जौ एक आढ़क, सम्पूर्ण वीर्यवती सौ हरड़ों को वस्त्र में पोटली बांध कर पांच आढ़क जल में पकाना चाहिये । जब जौ स्विन्न हो जायें अर्थात् चतुर्थांश शेष रह जाये तब इसको छान लेना चाहिये । फिर हरड़ों में से गुठली निकाल लेनी चाहिये । घृत आठ पल, तैल आठ पल लेकर इनमें हरड़ों को भूनना चाहिये । क्वाथ में ५० पल गुड़ मिला कर तथा उपरोक्त हरड़ों को मिला कर गुड़-पाक विधि से पाक करना चाहिये । पाक में पिप्पली चूर्ण चार पल मिला देना चाहिये । शीतल होने पर इसमें आठ पल मधु मिला कर इस रसायन में से यथाशक्ति खाना चाहिये और नित्यप्रति दो हरड़ों का सेवन करना चाहिये ।

इससे झुर्रियां, पलित (बालों का पकना) नष्ट होता है, वर्ण, आयु, बल बढ़ता है । पांचों प्रकार के कास, क्षय, श्वास, हिक्का, विषम ज्वर,

अर्श, ग्रहणी, हृदयरोग, अरुचि और पीनस नष्ट होते हैं। इस शुभ रसायन का आविष्कार और उपदेश अगस्त्य ऋषि ने किया था।

सैन्धवं पिप्पलीं भार्ङ्गीं शृङ्गवेरं दुरालभाम्।
दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्गीं नागरमम्बुना ॥ ६३ ॥
पिबेत्खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः।
अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥ ६४ ॥

(११) सैन्धवादि चार योग—(१) सैन्धा नमक, पिप्पली, भार्गी, सोंठ और दुरालभा इनके चूर्ण को अनार के खट्टे रस के साथ पीना चाहिये। (२) भार्गी और सोंठ को गरम पानी के साथ पीना चाहिये। (३) कत्थे को चूर्ण करके मदिरा या दहि के मस्तु (पानी) के साथ पीना चाहिये। (४) पिप्पली के चूर्ण को घृत में भून कर सैन्धा नमक मिला कर मदिरा या अनार के रस अथवा गरम पानी से पीना चाहिये। [अष्टांग-संग्रह में खदिरसार के स्थान में बेर की मज्जा का चूर्ण पीने को कहा है]।

शिरसः सदने स्रावे नासाया हृदि ताम्यति।
कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥ ६५ ॥
दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टाङ्गुलोन्मिताम्।
शरावसंपुटे च्छिद्रं कृत्वा जिह्मं विचक्षणः ॥ ६६ ॥
वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत्।
तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत्पुनः ॥ ६७ ॥
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छेद्य श्लेष्माणमुरसि स्थितम्।
निष्कृष्य शमयेत्कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥ ६८ ॥

(१२) कासहर धूम—शिर दर्द हो या नासा से स्राव बहता हो या हृदय में ग्लानि हो तो कास और प्रतिश्याय के रोगी के लिये धूम की आयोजना करनी चाहिये। इसके लिये दस अंगुल या आठ अंगुल वक्र, तीन पर्वों से युक्त नलिका को कास-हर ओषधियों से युक्त शराव-सम्पुट में लगा कर

मुख से वैरेचनिक धूम का पान करना चाहिये। जिस समय धुंआं सम्पूर्ण छाती में पहुंच जाये तो इसको पुनः मुख से बाहर निकाल देना चाहिये। इस धुंए की तीक्ष्णता से उरःस्थल में स्थित कफ टुकड़े टुकड़े होकर बाहर निकलता है, इस प्रकार से वात-कफ जनित कास शान्त हो जाता है।

मनः शिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदैः पिवेत्।
धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥ ६९ ॥
एष कासान् पृथग्दोषसन्निपातासमुद्भवान्।
धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगशतैरपि ॥ ७० ॥

(१३) मनःशिलादि धूम—मैनसिल, मुलहठी, हरताल, जटामांसी, मुस्ता, इंगुदी का फल इनके धूम को पीकर पीछे से गुड़ मिश्रित गरम दूध पीना चाहिये। यह प्रयोग पृथक् दोषों से उत्पन्न तथा सन्निपातजन्य और जो कास अन्य सैकड़ों प्रयोगों से शान्त नहीं होते इससे शान्त हो जाते हैं।

प्रपौण्डरीकं मधुकं शार्ङ्गेष्टां समनःशिलाम्।
मरिचं पिप्पलीं द्राक्षामेलां सुरसमञ्जरीम् ॥ ७१ ॥
कृत्वा वर्तिं पिबेद्धूमं क्षौमचेलानुवर्तिताम्।
घृताक्तामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा ॥ ७२ ॥

(१४) पुण्डरीकादि धूमवर्त्ति – पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, शार्ङ्गेष्टा (घण्टारवा), मैनसिल, मरिच, पिप्पली, द्राक्षा, इलायची, तुलसी की मञ्जरी (बाल) इनको पीस कर रेशम की बनी वर्त्ति पर लगा कर इसको सुखा लेना चाहिये। इस वर्त्ति को घृत में भिगो कर इसका धुंआ पीना चाहिये। पीछे से ओज की रक्षा के लिये दूध या गुड़ का शर्बत पीना चाहिये।

मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः।
वंशलेखनसेव्यालक्षौमालक्तकरोहिषैः ॥ ७३ ॥

पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते ।

(१५) मनःशिलादि शराव-धूम—(१) मैनसिल, बड़ी इलायची, मरिच, यवक्षार, अंजन, कुटन्नट (कैवर्त्त मुस्ता), वंशलेख (वंशनीली), सेव्य (उशीर), आल (हरताल), क्षौम (अलसी के बीज), अलक्तक (लाक्षा), रोहिष (गन्धतृण) इनको पीस कर पूर्व की भांति रेशम के कपड़े पर लगा कर घृत में भिगो कर शराव सम्पुट में रख कर इसका धुंआ पीना चाहिये, ऊपर से दूध या गुड़ का शर्बत पीना चाहिये ।

आलं मनःशिला तद्वत्पिप्पलीनागरैः सह ॥ ७४ ॥
त्वगैङ्गुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला ।
कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥ ७५ ॥

(१६) मनःशिलादि शराव-धूम—(२) मैनसिल, हरताल, पिप्पली और सोंठ इनके चूर्ण को पूर्व की भांति रेशम के वस्त्र पर लगा कर घृत से स्निग्ध करके इनका धुंआ पीना चाहिये । (३) इंगुदी वृक्ष की छाल, बड़ी कटेरी, तालमूली, मैनसिल, बिनौले की गिरी और असगन्ध इनको पीस कर रेशम पर लगा कर घृत से स्निग्ध करके शराव सम्पुट में रख कर इनका धुंआ पीना चाहिये ।

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान् ।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥ ७६ ॥

पथ्य—भोजन के लिये ग्राम्य पशु-पक्षियों का मांस या आनूप तथा उदकचर पक्षि-पशुओं का मांस देना चाहिये । अथवा शालि चावल, जौ, गेहूं, सांठी के चावल या उड़द और कौंच का यूष देना चाहिये ।

यवानीपिप्पलीबिल्वशटीचित्रकपुष्करैः[1] ।
रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशविश्वभेषजैः[2] ॥ ७७ ॥
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत् ।
कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिक्काप्रणाशिनीम् ॥ ७८ ॥

१. 'मध्यनागरचित्रकैः' इति च । २. 'पलाशशटिपौष्करैः' इति च ।

(१७) पेया (१)—अजवायन, पिप्पली, बेलगिरी, कचूर, चीता, पोहकरमूल, रास्ना, जीरा, पृथकूपर्णी, ढाक की फली, सोंठ, इन में से प्रत्येक एक कर्ष लेकर एक प्रस्थ जल में क्वाथ करना चाहिये। जब आधा रह जाय तब इस क्वाथ से पेया सिद्ध करनी चाहिये। इस पेया को घृत से स्निग्ध करके अनारदाने से खट्टा और नमक से नमकीन करके वातजन्य कास में देना चाहिये। यह पेया कटिशूल, हृदयशूल, पार्श्वशूल, कोष्ठशूल, श्वास और हिक्का को नष्ट करती है।

दशमूलीरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्विताम्।
सिद्धां समतिलां दद्यात्क्षीरे वापि ससैन्धवाम् ॥ ७९ ॥
मत्स्यकौक्कुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम्।
सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबेन्नरः ॥ ८० ॥

(१८) पेया (२)--इसी प्रकार से दशमूल क्वाथ में सिद्ध पेया में पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) और गुड़ मिला कर वातजन्य कास में देना चाहिये। अथवा तिलों के बराबर चावलों को लेकर दूध में पका कर थोड़ा सा सैन्धा नमक मिला कर वातज कास में देना चाहिये। मछली, कुक्कुट, सुअर इनमें से किसी एक के मांस के साथ यवागू (मण्ड, पेया, विलेपी) पका कर घृत से स्निग्ध करके तथा नमक मिला कर वात-कास के रोगी को देनी चाहिये।

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्।
स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥ ८१ ॥
दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च।
शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥ ८२ ॥

शाक—बथुआ, वायसी शाक, कच्ची नरम मूली, सुनिषण्णक (चौलाई), तैलादि स्नेह, दूध आदि से बने भक्ष्य, गन्ने का रस, गुड़ से बने पदार्थ, दही, आरनाल (कांजी) या खट्टे फल (इमली आदि), प्रसन्ना मद्य तथा स्वादु अम्ल और लवण रस वातजन्य कास रोग में हितकारी है।

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम् ।
तथा मदनकाश्मर्यमधूककथितैर्जलैः ॥ ८३ ॥
यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसायुतैः ।
हृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत् ॥ ८४ ॥

(१९) वमन योग—पित्त जनित कास में यदि कफ मिश्रित हो तो घृत से वमन कराना चाहिये । इसी प्रकार मैनफल, गम्भारी और मुलहठी इनके क्वाथ से वमन देना उत्तम है । अथवा मुलहठी के जल के कल्क को विदाही और गन्ने के रस के साथ वमन के लिये देना चाहिये । वमन से दोष निकल जाने पर रोगी को शीतल, मधुर क्रिया करनी चाहिये ।

पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् ।
दद्याद् घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थे युतां भिषक् ॥ ८५ ॥
स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने ।
क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ॥ ८६ ॥

(२०) विरेचन योग—पित्त जनित कास में कफ घट्ट न हो तो मधुर पदार्थों से युक्त निशोथ का चूर्ण विरेचन के लिये देना चाहिये । और यदि कफ घट्ट हो तो तिक्त पदार्थों से युक्त निशोथ का चूर्ण विरेचन के लिये देना चाहिये । कफ के पतला (घट्ट नहीं) होने पर स्निग्ध और शीतल चिकित्सा करनी चाहिये । कफ के घट्ट होने पर रूक्ष और शीत क्रिया करनी चाहिये । यह क्रिया भोजनों से, स्नेहों से, लेहों द्वारा की जाती है ।

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीली सारिणिपिप्पली ।
पिप्पलीमुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वा महौषधम् ॥ ८७ ॥ ॥
लाजाऽमृतफला द्राक्षा त्वक्क्षीरी पिप्पली सिता ।
पिप्पली पद्मकं द्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः ॥ ८८ ॥

खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्च ते।
घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम् ॥ ८९ ॥

(२१) पांच अवलेह योग—(१) सिंघाड़ा, कमलगट्टा, नील क्षार (नीलनी-फलसार), पिप्पली। (२) पिप्पली, मोथा, मुलहठी, मुनक्का, मूर्वा और सोंठ। (३) लाजा, अमृतफल (आंवला), मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली और शर्करा। (४) पिप्पली, पद्माख, मुनक्का इनको बड़ी कटेरी के फल के रस में पीस कर (५) खर्जूर, पिप्पली, वंशलोचन और गोखरू इन पांच योगों में से किसी एक योग के चूर्ण को मधु और घृत में मिला कर पित्तजनित कास में देना चाहिये। ये आधे आधे श्लोक में पांच योग कहे गये हैं।

शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः।
पैत्ते समुस्तमरिचः सकफे सघृतोऽनिले ॥ ९० ॥

(२२) शर्करादि लेह्य चूर्ण—शर्करा, चन्दन, मुनक्का, आंवला और नीला कमल इनको समान भाग लेकर चूर्ण करके मधु के साथ शुद्ध पित्त जनित कास में देना चाहिये। कफयुक्त पित्त-कास में इस योग में मोथा और मरिच चूर्ण और मिला लेने चाहियें। वातयुक्त पित्त कास में इस योग को घृत के साथ देना चाहिये।

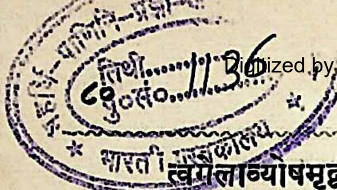
मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पली शर्करापलम्।
लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम्[1] ॥ ९१ ॥

(२३) मृद्वीकादि लेह—मुनक्का ५० संख्या में, पिप्पली ३० संख्या में, शर्करा एक पल इनको मधु के साथ चाटना चाहिये। दूध पीने वाले बछड़े के गोमय-रस को मधु के साथ चाटना चाहिये। ❀

---

१. 'क्षीरेपीत्वाशकृद्रसम्' इति पाठान्तरम्।

❀ कविराज श्री गंगाधर सेन ने—"लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरे पक्त्वा शकृद्रसान्" यह पाठ दिया है। इस प्रकार से चौगुणे गाय के दूध में पका कर पीने का आदेश किया जानना।



त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः ।
लाजामुस्तशटीरास्नाधात्रीफलबिभीतकैः ॥ ९२ ॥
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः ।
श्वासं हिक्कां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत् ॥ ९३ ॥

(२४) त्वगादि लेह—दालचीनी, इलायची, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), मुनक्का, पिप्पलीमूल, पोहकरमूल, लाजा, मोथा, कचूर, रास्ना, आंवला और बहेड़ा ये सब वस्तुएं समान भाग लेकर चूर्ण करके शर्करा, मधु और घृत के साथ इनको चाटना चाहिये । यह लेह श्वास, कास, हृदयरोग, हिक्का और क्षय को नष्ट करता है ।

पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजान् सितोपलाम् ।
क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात्क्षौद्राष्टभागिकम् ॥ ९४ ॥

(२५) पिप्पल्यादि लेह—पिप्पली, आंवला, लाजा, लाक्षा, मुनक्का, मिश्री इनको समान भाग लेकर इनका चूर्ण दूध में पकाना चाहिये । जब लेह की तरह घट्ट हो जाये तब इसमें मधु आठवां भाग मिला देना चाहिये ।

विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम् ।
पिबेद्वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥ ९५ ॥

(२६) विदार्यादि क्वाथ—विदारी कन्द का रस, गन्ने का रस, मृणाल (उशीर) का क्वाथ और दूध इनमें मिश्री या मधु मिला कर (दोष की अपेक्षा से) पीने से पित्त-कास नष्ट होता है ।

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः ।
मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ॥ ९६ ॥
घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः ।
शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ॥ ९७ ॥
शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसान् पयः ।
सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ॥ ९८ ॥

(२७) पथ्य, यूष, लेह, पेया आदि—मधुर रस, जांगल मांसरस में पकाये श्यामाक (सांवक), जौ या कौदों चावल, मुद्गादि यूष और तिक्त शाकों के साथ मात्रा में खाना पित्तकास में हितकारी है। यदि पित्त-कास में कफ घट्ट (गाढ़ा) हो तो मधुररस से युक्त तिक्त लेह उत्तम हैं और यदि कफ पतला हो तो पित्तकास में जांगल मांस-रस, मुद्गादि यूष के साथ सांठी के चावल देना उत्तम है। भोजन के पीछे पीने के लिये शर्करा का शर्बत, मुनक्कों का पानी, गन्नों का रस या दूध उत्तम है। सब प्रकार के मधुर और शीत तथा अविदाही पदार्थ उत्तम हैं।

काकोलीबृहतीमेदायुग्मैः सवृषनागरैः।
पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ॥ ९९ ॥

(२८) काकोल्यादि मुद्ग यूष—काकोली, क्षीरकाकोली, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, मेदा और महामेदा, वासा और सोंठ इनके क्काथ के साथ मांसरस, दूध, मुद्गादि यूष आदि सिद्ध करके पित्त-कास में देना चाहिये।

शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा।
कषायेण शृतं क्षीरं पिबेत्समधुशर्करम् ॥ १०० ॥

(२९) शरादि पंचमूल कषाय—(तृण पंचमूल, कुश, काश, इक्षु शर और दर्भ इनकी जड़ें), पिप्पली और मुनक्का इनके शृत कषाय से सिद्ध दूध को मधु और शर्करा के साथ पीना चाहिये। [कोई २ इसमें दो योग मानते हैं।]

स्थिरासितापृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः।
जीवकर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ॥ १०१ ॥
शृतं पयः पिबेत्कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी।

(३०) स्थिरादिसिद्ध दुग्ध (१)—स्थिरा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, श्रावणी (मुण्डेरी), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, वीरा (शतावरी), ऋषभक, काकोली, तामलकी (भूई आंवला), ऋद्धि, जीवक, सिता (दूर्वा या

मिसरी) इनके क्काथ से सिद्ध दूध पीना चाहिये । इससे पित्तकास, ज्वर, दाह, क्षत और क्षय को आराम मिलता है ।

तज्जं वा साधयेत्सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ॥ १०२ ॥
जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलैश्चाभिषुकादिभिः ।
कल्कैस्त्रिकार्षिकैः सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत् ॥ १०३ ॥
शर्करापिप्पलीचूर्णं त्वक्क्षीर्या मरिचस्य च ।
शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान् पलोन्मितान् ॥ १०४ ॥
गुडान् गोधूमचूर्णेन कासे खादेद्धिताशनः ।
शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासे क्षीणक्षतेषु च ॥ १०५ ॥

(३१) घृत (१)—स्थिरा आदि के क्काथ से सिद्ध दूध से घृत निकाल ले । इस घृत के समान दूध और घृत से तिगुना गन्ने का रस ले । कल्कार्थ—जीवकादि मधुर गण की दस ओषधियां, अभिषुक आदि वात-पित्त नाशक फल (बादाम, अखरोट, पिस्ता, खिरनी, मकूलक, निकोचक आदि) प्रत्येक तीन कर्ष लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । सिद्ध होने पर जब ठण्डा हो जाये तब छान कर इसमें शर्करा, पिप्पली चूर्ण, वंसलोचन, मरिच और सिंघाड़ा इनका चूर्ण घृत से चतुर्थांश मिलाना चाहिये । इसमें शहद भी उचित मात्रा में मिला कर गेहूं के आटे के साथ एक पल परिमित गुड़क अर्थात् लड्डू बना लेने चाहियें । इनको पथ्याशी होकर खाना चाहिये । इनका उपयोग शुक्र-दोष, रक्त-दोष, शोष, कास, क्षत और क्षीणावस्था में करना चाहिये ।

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शटीं समाम् ।
पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ॥ १०६ ॥

(३२) घृत (२)—सोंठ, उदीच्य (ह्रीवेर), कटेरी, कचूर इनको आर्द्र, (विना सुखाये) ही लेकर कूट लेना चाहिये । इनको छान कर जो रस निकले उसमें शर्करा और घृत मिला कर पका लेना चाहिये । फिर 'खज' बना कर इसको पीना चाहिये ।

महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः ।
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम् ॥ १०७ ॥

इति पित्तकासचिकित्सा ।

(३३) घृत (३) पित्तकास में—भैंस, बकरी, भेड़ और गाय का दूध, आंवले का रस इनको समान भाग लेकर इनसे चतुर्थांश घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत पीने से पित्तकास को नष्ट करता है ।

बलिनं वमनैरादौ शोधयेत्कफकासिनम् ।
यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत् ॥ १०८ ॥
पिप्पलीक्षारकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च ।
लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ॥ १०९ ॥
धान्वबैल्वरसैर्स्नेहैस्तिलसर्षपबिल्वजैः ।
मध्वाम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ॥ ११० ॥

(३४) कफ-कास चिकित्सा—कफ-कास का रोगी यदि बलवान् हो तो प्रथम वमन द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये । कटु, रूक्ष, उष्ण और कफनाशक जौ आदि अन्नों से चिकित्सा करनी चाहिये । पिप्पली और यवक्षार से संस्कृत कुलत्थी यूष या सूखी मूली के यूष के साथ लघु अन्न खाने चाहियें । अथवा कटुक रस युक्त धान्व मांसरस या बिलेशय मांसरस के साथ लघु अन्न खाने चाहियें । तिल, सरसों या बिल्वबीजों से उत्पन्न स्नेहों के साथ लघु अन्न खाना चाहिये । भोजन के पश्चात् मद्य, दधि, अम्ल, गरम पानी, तक्र या मद्य यथारुचि स्वतंत्रता से पीना चाहिये ।

पौष्करारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम् ।
जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु * ॥ १११ ॥

(३५) पुष्करादि कषाय योग—पोहकरमूल, अमलतास की जड़, परवलपत्र इनको समान भाग लेकर पानी में भिगो कर एक रात

* कविराज श्रीगंगाधरसेन के मत में—'कालेष्वन्नस्य रात्रिषु' यह पाठ है ।

भर रख कर अगले दिन इनके शीत कषाय में मधु मिला कर भोजन के तीनों समयों में (पूर्व, मध्य और अन्त में) पीना चाहिये ।

कट्फलं कत्तृणं भार्गी मुस्तं धान्यं वचाऽभया ।
शुण्ठी पर्पटकः शृङ्गी सुराह्वं च शृतं जले ॥ ११२ ॥
मधुहिङ्गुयुतं पेयं कासे वातकफात्मके ।
कण्ठरोगे मुखे शूले श्वासहिक्काज्वरेषु च ॥ ११३ ॥

(३६) वातमिश्रित कफकास में कट्फलादि कषाय योग—कट्फल, कत्तृण, भार्गी, मुस्ता, धान्य (यवासा), वच और हरड़, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकड़ाशृंगी, देवदारु इनका क्वाथ बनाना चाहिये । जब यह ठण्डा हो जाये तो इसमें मधु और हींग मिला कर पीना चाहिये । कण्ठरोग में, मुख के शोथ में, श्वास, हिक्का और ज्वर में इस को देना चाहिये ।

पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वां गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम् ।
पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिङ्गुसैन्धवाभ्यां युतां पिबेत् ॥ ११४ ॥

(३७) पाठादि योग—पाठा, सोंठ, कचूर, मूर्वा, गवाक्षी (इन्द्रायण), मोथा, पिप्पली इनको पीस कर इसमें सैंधा नमक और हींग मिला कर गरम पानी के साथ पीना चाहिये ।

नागरातिविषामुस्तं शृङ्गी कर्कटकस्य च ।
हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ११५ ॥

(३८) नागरादि योग—सोंठ, अतीस, मोथा, काकड़ासिंगी, हरड़, कचूर इनको पीस कर हींग और सैंधा नमक से मिला कर गरम पानी से पीना चाहिये ।

तैलं भृष्टं च पिप्पल्याः कल्कात्तं ससितोपलम् ।
पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं कुलत्थरससंयुतम् ॥ ११६ ॥

(३९) तैलभृष्ट पिप्पलीयोग—मिसरी के समान पिप्पली का कल्क एक अक्ष लेकर तैल में भर्जन करना चाहिये । फिर इसको कुलत्थी के पानी में घोल कर पीना चाहिये । इससे कफकास नष्ट होता है ।

कासमर्दाश्वविट् भृङ्गराजो वार्ताकजो रसः ।
सक्षौद्राः कफकासघ्नाः सुरसस्यासितस्य च ॥ ११७ ॥

(४०) कासमर्दादि पांच योग—(१) कासमर्द (कसौंदी) का रस, (२) घोड़े की लीद का रस, (३) भांगरे का रस, (४) वार्त्ताक (बैंगन) का रस इनमें मधु मिला कर पीने से कफकास नष्ट होता है। इसी प्रकार से (५) काली तुलसी के रस में भी मधु मिला कर पीने से कफकास नष्ट होता है ।

देवदारु शटी रास्ना कर्कटाख्या दुरालभा ।
पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ॥ ११८ ॥
मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे ।

(४१) देवदार्वादि दो योग—(१) देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ासिंगी, धमासा इनको मधु और तैल में मिला कर चाटने से, वातमिश्रित कफकास नष्ट होता है । (२) पिप्पली, सोंठ, मुस्ता, हरड़, आंवला और मिसरी इनको मधु और तैल में मिला कर चाटने से भी वातमिश्रित कफकास शान्त होता है ।

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तीपिप्पली ॥ ११९ ॥
पथ्या तामलकी धात्री भद्रमुस्तानि पिप्पली ।
देवदार्वभया मुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ १२० ॥
विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत् ।
चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक् ॥ १२१ ॥

(४२) कफकास नाशक चार लेह—(१) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक और गजपिप्पली इनके चूर्ण को मधु के साथ (२) हरड़, भूई आंवला, आंवला, भद्रमुस्ता, पिप्पली इनके चूर्ण को मधु के साथ, (३) देवदारु, हरड़, मुस्ता, पिप्पली और सोंठ इनके चूर्ण को मधु के साथ, (४) विशाला, पिप्पली, मुस्ता और निशोथ इनके चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । ये चारों कफकास हर लेह हैं ।

सौवर्चलाभयाधात्रीपिप्पलीक्षारनागरम् ।
चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत् ॥ १२२ ॥

(४३) सौवर्चलादि घृतयोग—सौवर्चल नमक, हरड़, आंवला, पिप्पली, यवक्षार और सोंठ इनके चूर्ण को घृत (चूर्ण से चतुर्गुण घृत) के साथ पीने से वातमिश्रित कफकास नष्ट होता है ।

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ।
पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसव्योषहिङ्गुभिः ॥ १२३ ॥
पेयानुपानं पेयं तत्कासे वातकफात्मके ।
श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च ॥ १२४ ॥

इति दशमूलादिघृतम् ।

दशमूलादि घृत—दशमूल का क्वाथ दो आढ़क, घृत दो प्रस्थ, कल्कार्थ पोहकरमूल, कचूर, बिल्व, तुलसी, सोंठ, मरिच, पिप्पली और हींग प्रत्येक एक कर्ष लेकर यथाविधि घृत सिद्ध करना चाहिये । इस घृत को वातकफ जनित कास में सब प्रकार के वातकफात्मक रोगों में और श्वास रोगों में पीना चाहिये, पीछे से पेया पीनी चाहिये ।

समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके ।
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिचित्रकैः ॥ १२५ ॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैः ।
वृश्चीर[1]बृहतीपथ्यायवानीदाडिमर्द्धिभिः ॥ १२६ ॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालभाम्लवेतसैः ।
शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत् ॥ १२७ ॥
कल्कैस्तत्सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते ।
कण्टकारीघृतं ह्येतत्कफव्याधिनिसूदनम् ॥ १२८ ॥

इति कण्टकारीघृतम् ।

(४४) कन्टकारी घृत—क्वाथार्थं—मूल, पत्ते और शाखा समेत

1. 'वृश्चीक' इति पाठान्तरम् ।

छोटी कटेरी का क्वाथ २ आढ़क, घी २ प्रस्थ, कल्कार्थं—खरैटी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, वायविडंग, कचूर, चित्रक, संचल, यवक्षार, बेलगिरी, आंवला, पोहकरमूल, वृश्चीर (पुनर्नवा), बड़ी कटेरी, हरड़, अनारदाना, ऋद्धि, मुनक्का, पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), चविका, दुरालभा, अम्लवेतस, काकड़ासिंगी, भूईं आंवला, भार्गी, रास्ना और गोखरू मिलित कल्क घृत से चतुर्थांश लेकर इनसे घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत हिक्का, श्वास में उत्तम तथा कफ रोगों को नष्ट करता है।

कुलत्थरसयुक्तं वा पञ्चकोलशृतं घृतम्।
पाययेत्कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते ॥ १२९।

इति कुलत्थादिघृतम्।

(४५) कुलत्थादि घृत—कुलत्थी क्वाथ ४ प्रस्थ, पंचमूल का कल्क घृत से चतुर्थांश, घृत १ प्रस्थ इनसे साधित घृत सब कासों में उपयोगी है। कफजन्य कास और हिक्का श्वास में उत्तम है।

धूमास्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम्।
कोशातकीफलान्मध्यं पिबेद्वा समनःशिलम् ॥ १३० ॥

(४६) वातकास रोगियों के लिये जो धूम कहे हैं वे सब कफ रोगियों को भी देने चाहिये। कोषातकी (कड़ुवी तुम्बी) के फल की मज्जा को मैनशिल के साथ मिला कर उसका धूम्र पीना चाहिये।

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत्पित्तानुबन्धजे।
पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥ १३१ ॥

(४७) पित्त से सम्बन्धित कफकास में यदि तमक श्वास हो तो पूर्वोक्त पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। कफ से मिश्रित यदि वायु हो तो कफ की शान्ति के लिये कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। अनुबन्ध के नाश होने से अनुबन्ध्य का भी नाश हो जाता है। यदि वात-कफकास में पित्त का अनुबन्ध हो तो पित्तनाशक क्रिया करनी चाहिये। अनुबन्ध के नाश होने पर शुद्ध दोष का नाश भी सुगम होता है।

वातेकफानुबन्धे तु कुर्यात् कफहरीं क्रियाम् ।
पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम् ॥ १३२ ॥
आर्द्रे विरूक्षणं शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके ।
कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम् ॥ १३३ ॥

इति कफजकासचिकित्सा ।

(४८) वातकफजन्य कास में यदि कफ आर्द्र हो तो रूक्ष खान पान देना चाहिये, वातकफ से उत्पन्न कास में यदि कफ शुष्क हो तो स्निग्ध अन्नपान देना चाहिये । कफजन्य कास में पित्त का योग हो तो तिक्त मिश्रित खानपान देना चाहिये ।

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत् ।
मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः ॥ १३४ ॥

क्षतजन्य कासचिकित्सा—क्षतजन्य कास को शीघ्र नाश करने वाला समझ कर अति शीघ्रता से जीतना चाहिये । मधुर, द्राक्षा, खर्ज्जूरादियों से, जीवनीय दश मधुर द्रव्यों से, बल्य और बृंहणीय ओषधियों से (सूत्रस्थान में वर्णित) चिकित्सा करनी चाहिये ।

पिप्पलीमधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम् ।
प्रास्थिकं गव्यमाजं तु क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥ १३५ ॥
यवगोधूममृद्वीकाचूर्णमामलकीरसः ।
तैलं च प्रसृतांशानि तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना ॥ १३६ ॥
पचेल्लेहं घृतक्षौद्रयुक्तः स क्षतकासनुत् ।
श्वासहृद्रोगकासेषु हितो वृद्धेऽल्परेतसे ॥ १३७ ॥

(४९) पिप्पल्यादि लेह—पिप्पली एक कर्ष, मुलहठी १ कर्ष, मिसरी १ कर्ष, गाय का दूध २ प्रस्थ, बकरी का दूध २ प्रस्थ, गन्ने का रस २ प्रस्थ, जौ, गेहूं, मुनक्का इनका चूर्ण, आंवले का रस तथा तैल प्रत्येक वस्तु दो पल लेकर मृदु अग्नि पर पकाना चाहिये । जिस समय वह तैयार हो जाये तब इसमें मधु और घृत मिलाना चाहिये । यह उरः-

क्षत नाशक है; कास, हृदयरोग, कार्श्य, वृद्ध तथा अल्प शुक्र वालों के लिये हितकारी है।

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात्पित्तकासिकी ।
क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम् ॥ १३८ ॥
वातपित्तार्दिताऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्हितः ।
तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना ॥ १३९ ॥
हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः ।

(५०) उरःक्षत कास से पीड़ित रोगियों के लिये पित्तकास की चिकित्सा करनी चाहिये। दूध, घी, मधु इनका विशेष प्रयोग करना चाहिये। यदि दो दोषों का मिश्रण हो तो निम्न लिखित विशेष है—वात, पित्त से यदि गात्रों में पीड़ा हो तो घृतों से अभ्यंग करना हितकारी है। यदि वायु से पीड़ा हो तो आगे कहे जाने वाले वातनाशक तैलों से अभ्यंग करना चाहिये। हृदय पीड़ा और पार्श्वपीड़ा में जीवनीय नामक घृत का पान कराना उत्तम है।

सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले ॥ १४० ॥
मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो[1] लावादीनां रसा हिताः ।

(५१) उरःक्षत रोगी यदि अग्नि (जाठराग्नि) के प्रबल होने पर जलन के साथ रक्त मिश्रित थूक थूके तो क्षीण व्यक्तियों को मांस से पुष्ट लाव आदियों का मांसरस देना चाहिये।

तृष्णार्तानां पयश्छागं शरमूलादिभिः शृतम् ॥ १४१ ॥
रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद्वाऽप्यागते क्षीरजं घृतम् ।
नस्यं पानं यवागूर्वा श्रान्ते क्षामे हतानले ॥ १४२ ॥
स्तम्भायामेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत् ।
कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ॥ १४३ ॥

उरःक्षत रोगियों को प्यास लगने पर शरमूल (तृण पंचमूल, कुश,

1. 'कासिभ्यो' इति पाठान्तरम् ।

काश, शर, दर्भ और इक्षु) से पका दूध पीना चाहिये। नासा आदि स्रोतों से या मुख से यदि रक्तस्राव होता हो तो क्षीर (दूध) से उत्पन्न घृत पीने और नस्य के लिये देना चाहिये। यदि अग्नि मन्द हो, थकान हो या कृशता हो तो यवागू देनी चाहिये। शरीर में जड़ता या परिश्रम प्रतीत होने पर घृत की बड़ी मात्रा पीनी चाहिये। पित्तरक्त की अविरोधी वातरोग नाशक चिकित्सा करनी चाहिये।

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरःक्षते।
दाल्यते कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान् ॥ १४४ ॥

(५२) उरःक्षत रोग में क्षत के निवृत्त होने पर साथ ही अनुबन्ध दोष वात, पित्त के घट जाने पर और कफ के बढ़ने पर रोगी को खांसने के समय वक्षःस्थल में क्षत के स्थान पर यदि दालन अर्थात् फटने-चिरने के समान वेदना होती हो तो इन आगे कहे हुए धुंओं को पीये।

द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकैः।
वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ॥ १४५ ॥

(५३) धूम्रयोग (१)—मेदा, महामेदा, मुलहठी, बला, अतिबला इनको पीस कर रेशम के वस्त्र पर लगा कर बर्ती बना कर धूम्र पीये। पीछे से ओज की रक्षा के लिये जीवनीय घृत पीना चाहिये।

मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः।
भावयित्वा पिबेत्क्षौमं शर्करेक्षुगुडोदकम् ॥ १४६ ॥

(५४) धूम्रयोग (२)—मैनसिल, ढाक के बीज, अजगन्धा (यमानी), वंशलोचन और सोंठ इनको पीस कर रेशम पर लगा कर बर्ती बना कर शुष्क कर लेना चाहिये। फिर शराव-सम्पुट में रख कर इनका धूम्र पीना चाहिये। पीछे से गन्ने का रस; मिसरी का पानी या गुड़ का शर्बत पीना चाहिये।

पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया।
ससर्पिष्कं पिबेद् धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥ १४७ ॥

भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः।
क्षौमं धूमं पिबेत् क्षीरं श्रृतं चायोगुडैरनु॥ १४८॥
इति क्षतजकासचिकित्सा।

(५५) धूम्रयोग (३)—आर्द्र वट-शुंगों (हरे वट के अंकुरों) के बराबर मैनसिल को पीस कर रेशम के वस्त्र पर लगाना चाहिये। शुष्क हो जाने पर इस पर घृत लगा कर धूम्र पीना चाहिये। पीछे से तीतर के मांसरस से भोजन देना चाहिये। (४) रेशम के वस्त्र को जीवनीय गण की दस औषधियों के क्वाथ में पका तथा कुलिंग के अण्डों के रस में मिला कर इसका धूम्र पीना चाहिये। पीछे से श्रृत दूध पीना चाहिये, अथवा लोह-गुडकों को गरम करके उनको दूध में बुझाये, इस श्रृत दूध को पीना चाहिये।

संपूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत्।
नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत्क्रियाम्॥ १४९॥

क्षयजन्य चिकित्सा—क्षयजन्य कास का रोगी यदि दुर्बल हो और उसमें क्षय कास के सम्पूर्ण लक्षण हों तो वह असाध्य एवं त्याज्य है। यदि रोगी बलवान् तथा रोग नया हो और क्षयकास के लक्षण सम्पूर्ण हों तो असाध्य कह कर चिकित्सा करनी चाहिये।

तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम्।
बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम्॥ १५०॥
शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया।
तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च॥ १५१॥
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम्।
हितं तद्देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम्॥ १५२॥

(५६) विरेचक घृतयोग (१)—रोगी बलवान् हो और रोग नया हो तो प्रथम बृंहण और अग्निदीपक औषध देनी चाहिये। यदि रोगी में दोषों की प्रचुरता हो तो स्नेहयुक्त मृदु विरेचन देना चाहिये।

इसके लिये कल्कार्थ—शम्पाक (अमलतास), त्रिवृत् (निशोथ का कल्क), मुनक्के का रस, तिल्वक का कषाय और विदारी का स्वरस तीनों मिलित घृत से चौगुना लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत क्षीण शरीर का शोधन करता है। शरीर के लिये हितकारी और उरःस्थल के बल की रक्षा करने वाला है।

पित्ते कफे च संक्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु ।
घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ॥ १५३ ॥
विदारीभिः कदम्बैर्वा तालशस्यैस्तथा शृतम् ।
घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥ १५४ ॥

(५७) घृतयोग (२)—यदि क्षयकास के रोगी के पित्त और कफ तथा रक्तादि धातु क्षीण हो जायें तो चतुर्गुण दूध में, घृत से चतुर्थांश कर्कटशृङ्गी और बला और अतिबला के कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये। इसी प्रकार विदारी कन्द के कल्क से शृत घृत तथा क्षीर-परिभाषा के अनुसार विदारी कन्द के रस से साधित दूध, या कदम्ब के कल्क से साधित घृत और शृत दूध अथवा ताल शस्य (तालांकुर) के कल्क से साधित घृत या दूध, मूत्र की विवर्णता में या मूत्र की कृच्छावस्था में पीना चाहिये।

शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवंक्षणे ।
घृतमण्डेन मधुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ॥ १५५ ॥
जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः ।
क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥ १५६ ॥
औष्ण्यात्प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते ।
कफं शुद्धस्य तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग्वहन् रसः ॥ १५७ ॥

(५८) घृतानुवासन—नवीन क्षयकास का रोगी यदि दुर्बल अथवा बलवान् हो और उसको यदि शिश्न (लिंग) में वेदना या शोथ हो अथवा गुदा, नितम्ब और पेडू में वेदना या शोथ हो तो मधुमिश्रित घृतमण्ड

(घृत के उपरितन स्वच्छ भाग) से अथवा मिश्रक तैल (घृत तैल मिश्रित) से अनुवासन देना चाहिये। अनुवासन के पीछे शश आदि जांगल पशुओं का मांस, बटेर आदि बिलेशय पक्षी, व्याघ्र आदि मांसभोजी प्रसह पशुओं और श्येन आदि पक्षियों के मांसों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिये।

ये वर्त्तक आदि पक्षी गरमी से, प्रमाथी (सम्पूर्ण स्रोतों में व्याप्त अर्थात् व्यवायी) होने से स्रोतों में से कफ को बाहर निकालते हैं। * इस प्रकार से कफ का संशोधन होने पर नये क्षयकास रोगी के स्रोतों का शोधन होने से रस धातु भली प्रकार से बहता हुआ रक्तादि का पोषण करता है।

द्विपञ्चमूलीत्रिफलाचविकाभार्गिचित्रकैः।
कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ॥ १५८ ॥
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः।
कल्कैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥ १५९ ॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च।
दत्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ॥ १६० ॥

इति द्विपञ्चमूल्यादिघृतम्।

(५९) द्विपंचमूल्यादि घृत—क्वाथार्थ दोनों पंचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बेलगिरी, श्योनाक, गम्भारी, अरणी और पाठा की छाल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), चविका, भार्गी, चीता, कुलत्थी, पिप्पलीमूल, पाठा, बेर, जौ इनका क्वाथ कल्कार्थ—सोंठ, कौंच, कचूर, पिप्पली, पुष्करमूल और काकड़ासिंगी इन का सम्मिलित कल्क घृत से चतुर्थांश और घृत क्वाथ से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। जब घृत सिद्ध हो जाये इसमें यवक्षार, सर्जक्षार और पांचों नमक (बिड, सैन्धव, सौवर्चल, उद्भिद् और सामुद्र)

* देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते व्यवायी।

इनको युक्ति से मिलाना चाहिये। इस घृत को क्षयकास रोगी को मात्रा में पीना चाहिये।

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां हरिद्रां श्रेयसीं वचाम्।
निदिग्धिकां कासमर्दं पाठां चित्रकनागरम् ॥ १६१ ॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम्।
सिद्धं सर्पिः पिबेद् गुल्मश्वासार्तिक्षयकासनुत् ॥ १६२ ॥

इति गुडूच्यादिघृतम्।

(६०) गुडूच्यादि घृत—गिलोय, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), मूर्वा, हल्दी, श्रेयसी (रास्ना), वच, कटेरी, कासमर्द, पाठा, चित्रक और सोंठ इनका क्वाथ चतुर्गुण जल में पकाना चाहिये। जब चतुर्थांश रह जाये तब इसके बराबर ही घृत लेकर इसको सिद्ध करना चाहिये। यह घृत श्वास, कास और क्षय को नष्ट करता है।

कासमर्दाभयामुस्तपाठाकट्फलनागरैः।
पिप्पलीकटुकाद्राक्षाकाश्मर्यसुरसैस्तथा ॥ १६३ ॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके।
पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ॥ १६४ ॥

(६१) कासमर्दादि घृतयोग—कासमर्द (कसौंदी), हरड़, मुस्ता, पाठा, कायफल, सोंठ, पिप्पली, कुटकी, मुनक्का, गम्भारी, सुरसा (तुलसी) प्रत्येक वस्तु अक्ष मात्र लेकर इनका कल्क बनाये, द्राक्षा रस (मुनक्के का रस) को आढ़क, दूध दो आढ़क, घृत १ प्रस्थ लेकर इनसे घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत शोष, ज्वर, प्लीहा तथा सब प्रकार के कास को नष्ट करती है।

धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाऽप्यवचूर्णितम्।
द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम् ॥ १६५ ॥
पिबेदुपरि भक्तस्य यवक्षारघृतं नरः।
पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम् ॥ १६६ ॥

एतान्यग्निविवृद्धयर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम् ।
स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये ॥ १६७ ॥

(६२) चार घृत योग—(१) यथायोग्य दूध में गुठली रहित आंवलों को पीस लेना चाहिये । इन आंवलों को घृत में मर्दन करके पीना चाहिये । (२) दुगने अनार के रस में घृत से चतुर्थांश सोंठ, मरिच, पिप्पली इनके कल्क से घृत पकाना चाहिये । (३) चतुर्गुण जल में घृत से अष्टमांश यवक्षार कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये । इस घृत को क्षयकास का रोगी भोजन के पश्चात् खाये । (४) घृत में चतुर्गुण बकरी के दूध में पिप्पली और गुड़ घृत से चतुर्थांश (मिलित) मिला कर घृत सिद्ध करना चाहिये । ये चारों घृत क्षयकास के रोगियों के लिये अग्निवर्धक हैं और दोष से अविरुद्ध कोष्ठ, छाती और स्रोतों को शोधन करने वाले हैं ।

हरीतकीर्यवकाथद्व्याढके विंशतिं पचेत् ।
स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणं गुडषट्पलम् ॥ १६८ ॥
दद्यान्मनःशिलाकर्षं कर्षार्धं च रसाञ्जनम् ।
कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत् ।

इति हरीतकीलेहः ।

(६३) हरितकी अवलेह—जौ को अष्टगुण जल में पका कर चतुर्थांश दो आढ़क शेष रखना चाहिये । इस दो आढ़क क्वाथ में बीस हरड़ों को पकाना चाहिये । जब हरड़ें नर्म हो जायें तो इनकी गुठली निकाल लेनी चाहिये । इन हरड़ों को मल कर बारीक पीस लेना चाहिये । जौ के क्वाथ में पुराना गुड़ छः पल मिला कर पाक करना चाहिये । पकने पर उतारते समय शोधित मैनसिल एक कर्ष और रसौत आधा कर्ष, पिप्पली आधा कुडव मिला कर लेह सिद्ध करना चाहिये । यह हरीतकी अवलेह श्वास और कास का नाशक है ।

श्वाविधः सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ।

श्वासकासहरा बर्हिःपादौ वा क्षौद्रसर्पिषा ॥ १७० ॥
एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् ।
लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम् ॥ १७१ ॥
द्राक्षापद्मकवार्ताकपिप्पलीः क्षौद्रसर्पिषा ।
लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ॥ १७२ ॥
चित्रकं त्रिफलाजाजीकर्कटाख्यं कटुत्रिकम् ।
द्राक्षां च क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लिह्यादद्याद् गुडेन वा ॥ १७३ ॥

(६४) सात लेह योग—(१) श्वाविद् (सेह) जन्तु के शरीर में उत्पन्न कांटों को जला कर इसकी भस्म के समान इसमें शर्करा मिला कर घृत और मधु के साथ चाटना चाहिये । यह श्वास-कासनाशक है । (२) मोर की जंघाओं को जला कर इसकी भस्म को मधु और घृत के साथ मिला कर चाटना चाहिये । (३) एरण्ड के पत्तों को जला कर क्षार बनाना चाहिये । इसमें समान भाग त्रिकटु चूर्ण (सोंठ, मरिच, पिप्पली) मिला कर तैल, गुड़ के साथ चाटना चाहिये । (४) इसी प्रकार से सुरसा (तुलसी) के पत्ते तथा एरण्ड पत्तों के क्षार को त्रिकटु से मिला कर तिल, गुड़ के साथ चाटना चाहिये । (५) वार्ताक (बैंगन), पिप्पली, मुनक्का, पद्माख इनके समांश चूर्ण को मधु और घृत के साथ चाटना चाहिये । (६) त्रिकटु के चूर्ण को पुरातन गुड़ और घृत के साथ खाना चाहिये । (७) चित्रक, त्रिफला, जीरा, काकड़ासिंगी और त्रिकटु, मुनक्का इनको मधु और घी के साथ चाटना चाहिये अथवा समान भाग गुड़ मिला कर इनको खाना चाहिये ।

पद्मकं त्रिफलां व्योषं विडङ्गं सुरदारु च ।
बलां रास्नां च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ १७४ ॥
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रे घृतं सिताम् ।
विमथ्य लेहयेल्लेहं सर्वकासहरं शिवम् ॥ १७५ ॥

इति पद्मकादिलेहः ।

(६५) पद्मकादि लेह—पद्माख, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, विडंग, देवदारु, बला (खरैटी), रास्ना इनको बराबर १ लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले, इनके चूर्ण के बराबर घी शर्करा और मधु मिला कर चटावे, यह लेह सब कासों को नाश करता है और रोगी का कल्याण करता है ।

जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम् ।
मुस्तैले पद्मकं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम् ॥ १७६ ॥
सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यं रसाञ्जनम् ।
पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम् ॥ १७७ ॥
भार्गीं तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम् ।
क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च ॥ १७८ ॥
चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत्क्षौद्रसर्पिषा ।
चूर्णात्पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति ॥ १७९ ॥

(६६) जीवन्त्यादि लेह—जीवन्ती, मुलहठी, पाठा, वंशलोचन, त्रिफला, कचूर, नागरमोथा, इलायची, पिप्पली, मुनक्का, कटेरी, बड़ी कटेरी, वितुन्नक (कुटन्नट, परिपेलव), सारिवा, पोहकरमूल, काकड़ासिंगी, रसौत, पुनर्नवा, लोह भस्म, त्रायमाण, अजवायन, भार्गी, तामलकी, ऋद्धि, वायविडंग, धन्वयासक, यवक्षार, चित्रक, चव्य, अम्लवेतस, त्रिकटु, देवदारु ये सब वस्तुएं एक एक पल लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण में से एक अक्ष मात्रा को मधु और घृत के साथ खाने से पांचों प्रकार के कास अच्छे होते हैं ।

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
सर्वकासहरं श्रेष्ठं लेहं कासार्दितो नरः ॥ १८० ॥
बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।
स्वरभेदे च कासे च लेहमेतत्प्रयोजयेत् ॥ १८१ ॥

(६७) कासहर दो लेह—(१) मरिच के चूर्ण को घृत, मधु

७

और शर्करा के साथ समांश में चाटना चाहिये। यह अवलेह सब प्रकार के कासों को नष्ट करता है।

(२) स्वरभंग और कास रोग में बेर के पत्तों के कल्क को सैंन्धा नमक के साथ मिला कर घृत में भून लेना चाहिये। इस लेह को घृत से चाटना चाहिये।

पत्रकल्कं घृतैर्भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम्।
पेया चोत्कारिका छर्दितृट्कासामातिसारनुत् ॥ १८२ ॥

(६९) उत्कारिका—तिल्वक (लोध्र) के पत्तों के कल्क को घृत में भून कर इसमें शर्करा मिला कर पेया अथवा उत्कारिका बना कर खाना चाहिये। इससे प्यास, वमन, कास और अतिसार नष्ट होते हैं।

गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान्।
साभयान्साधयेत्तोये यवागूं तेन चाम्भसा ॥ १८३ ॥
ससर्पिर्लवणां कासे हिक्काश्वासे सपीनसे।
पाण्ड्वामये क्षये शोथे कर्णशूले च शस्यते ॥ १८४ ॥

(७०) यवागू योग—श्वेत सरसों, गण्डीर (रामठ), वायविडंग, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), चित्रक और हरड़ इनको एक एक कर्ष लेकर एक प्रस्थ जल में पकाना चाहिये। जब आधा शेष रह जाये तब इसके साथ यवागू सिद्ध करनी चाहिये। इस यवागू को घृत और नमक के साथ हिक्का, श्वास और पाण्डु रोग, पीनस, क्षय, शोष और कर्णशूल में प्रयोग करना चाहिये।

कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः।
सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम् ॥ १८५ ॥

(७१) कासहर यूष—(१) कटेरी एक कर्ष लेकर एक प्रस्थ जल में पकाना चाहिये। जब आधा रह जाये तब इस के साथ मूंग का यूष बनाना चाहिये। इसमें गौरा (हल्दी) और आंवला मिला कर खट्टा कर लेना चाहिये। इसको सब प्रकार के कास रोगों में बरतना चाहिये।

वातघ्नौषधनिष्क्काथं क्षीरं यूषान् रसानपि ।
वैष्किरप्रतुदान् वैलान्[1] दापयेत्क्षयकासिने ॥ १८६ ॥

(७२) वातनाशक यूष—(२) देवदारु आदि क्काथ क्षय कास रोगी को देना चाहिये । इस क्काथ से सिद्ध दूध, यूष देने चाहियें । इस क्काथ में विष्किर पक्षियों का मांसरस, प्रतुद पक्षियों का मांसरस, प्रसह आदि पक्षियों का मांसरस सिद्ध करके देना चाहिये ।

क्षतकासे च ये धूमाः सानुष्ठाना निदर्शिताः ।
क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत ॥ १८७ ॥
दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम् ।
व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत्[2] ॥ १८८ ॥
सन्निपातभवोऽप्येष क्षयकासः सुदारुणः ।
सन्निपातहितं तस्मात्सदा कार्यं भिषग्जितम् ॥ १८९ ॥

(७३) क्षतकास में जो जो धूम जिस २ विधि से कहे हैं, क्षयकास में भी उन २ धूमों को उसी उसी विधि से अवस्थानुसार देना चाहिये ।

क्षयकास में जो दोष बलवान् हो उस दोष के विपरीत जो औषध अग्निदीपक, बृंहण, स्रोतों की विशोधक और बल्य हो वह सब क्षयकास रोगियों के लिये हितकारी है । क्योंकि यह क्षयकास सन्निपातजन्य है, इसीसे सद् वैद्य से चिकित्सा करने पर साध्य होता है । इसलिये जो जो औषध त्रिदोष के लिये हितकारी हो वह सब इस क्षयकास में प्रयोग करनी चाहिये ।

दोषानुबलयोगाच्च हरेद्रोगबलाबलम् ।
कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम ॥ १९० ॥

दोष के अनुबन्ध योग के कारण से रोग का बल अबल होता है । इन कासों में उत्तरोत्तर कास अधिकाधिक कष्टसाध्य होता है । वातकास

१. 'वैष्किरप्रतुदादीनां' इति पाठान्तरम् ।
२. 'मितं हितम्' इति पाठान्तरम् ।

से अधिक पित्तकास, पित्तकास से अधिक कफकास, कफकास से अधिक क्षतकास और क्षतकास से भी अधिक क्षयकास कष्टसाध्य है।

तत्र श्लोकौ। भोज्यं पानानि सर्पींषि लेहाः पाचनकानि च।
क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसंग्रहः ॥ १९१ ॥
संख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च।
कासानां भेषजं प्रोक्तं गरीयस्त्व च कासिनः ॥ १९२ ॥

उपसंहार—कास रोग की ओषधियां संक्षेप में—भोजन, पान, घृत, अवलेह, पानक, क्षीर, सर्पि, गुड़ इस अध्याय में कह दिया है। कास रोगों की संख्या, निमित्त, रूप इनका साध्य और असाध्य रूप इनके औषध कासरोगों का उत्तरोत्तर गरीयस्त्व इस अध्याय में कह दिया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृत चिकित्सितस्थाने
कासचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे अतीसार रोग की चिकित्सा का वर्णन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

भगवन्तं खल्वात्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्र[1]मासीनमृषिगणपरिवृतमुत्तरे हिमवतः पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्याग्निवेश उवाच—भगवन्नतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि तु प्रजानुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति ॥ ३ ॥

जिस समय भगवान् आत्रेय हिमालय के उत्तर पार्श्व में ऋषियों से घिरे तथा अपने दैनिक कार्यों तथा सन्ध्या-होम से निवृत्त होकर बैठे थे

१. 'कृताग्निहोत्र' इति पाठान्तरम्।

उस समय अग्निवेश ने विनयपूर्वक उनके पास जाकर प्रणाम करके पूछा कि हे भगवन् ! अतीसार रोग की पूर्व उत्पत्ति अर्थात् (रोगोत्पत्ति का इतिहास), कारण, लक्षण और चिकित्सा को आप प्रजा के कल्याण के लिये कहिये । ॐ

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच—

श्रूयतामग्निवेश सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्—

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय अग्निवेश के वचन सुन कर बोले—हे अग्निवेश ! सुनो इन सब बातों को विस्तार से कहते हैं—

आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बुभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म, ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुदिष्टशर्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमेवापुः,[1] अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता[2] पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रवर्तितः, तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगात्स्वाद्धयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ॥ ४ ॥

प्राग्-उत्पत्ति—आदि काल अर्थात् कृतयुग में यज्ञों में पशु को समालंभ अर्थात् केवल स्पर्श कर मन्त्र पढ़ कर छोड़ देने के लिये ही लाया जाते थे, वे आलम्भ अर्थात् वध के लिये संस्कृत नहीं किये जाते थे। इसके पीछे दक्षयज्ञ के बाद के काल में मनु के पुत्र नरिष्यन् नाभाग, इक्ष्वाकु, दिष्ट, शर्याति आदि के यज्ञों में, पशुओं का ही आदेश होने से पशुओं का प्रोक्षण अर्थात् अभिमन्त्रित करके हिंसन करना प्रारम्भ हुआ।

ॐ ज्ञान प्राप्त करने के लिये गीता में कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

१. 'मवापुः' इति पाठान्तरम् । २. 'यजमानेन' इति पाठान्तरम् ।

मनु पुत्रों के यज्ञ के अनन्तर अर्वाचीन समय में पृषध्र राजा ने बहुत काल तक यज्ञ चलने के कारण यज्ञ में अन्य पशुओं के न मिलने से गायों का वध करना भी प्रारम्भ किया। इन गायों का वध देख कर मनुष्यादि सब प्राणिसमूह व्याकुल हो गये। क्योंकि गायों के उपयोगी (यज्ञ, कृषि आदि में दुग्ध घृत देने और हलाकर्षण आदि के साधन) होने से, तथा यज्ञ के लिये अभिमन्त्रित करके मारी हुई गौओं के मांस के उपयोग से, मांस के भारी, उष्ण और असात्म्य एवं निन्दित होने से * ऋत्विग् लोगों की अग्नि मन्द हो गई तथा मन में ग्लानि हो गई इस चिन्ता वा मानस ताप के कारण पृषध्र राजा के यज्ञ में ही सब से प्रथम अतीसार उत्पन्न हुआ।

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यावायनित्यस्योदावर्ततश्च वेगाद्वायुः प्रकोपमापद्यते पक्ता चोपहन्यते; स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्र-स्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य,[1] ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतीसाराय प्रकल्पते ॥ ५ ॥

इसके पीछे से हेतु-विशेष से कुपित वातादि दोष छः प्रकार के अतिसारों को उत्पन्न करने लगे। यथा—(१) वात बहुल रोगी के वायु, धूप, व्यायाम इनके अधिक सेवन से, (२) रूक्ष, अल्प, मात्रा में कम भोजन करने से, (३) तीक्ष्ण मद्य और नित्य मैथुन से, (४) मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से वायु प्रकुपित हो जाती है और अग्नि मन्द हो जाता है। यह प्रकुपित वायु अग्नि के मन्द होने पर मूत्र और पसीने को मलाशय में लाकर मूत्र और स्वेद से मल को पतला करके अतीसार रोग को उत्पन्न करता है।

* सूत्रस्थान में कहा है—गोमांसं मृगमांसानामहिततमम् ॥

१. 'अभिहत्य' इति च पाठः।

तस्य रूपाणि—विज्जल[1]मामविप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धं सशब्दमीषच्छब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात्,

लक्षण—वातजन्य अतिसार में मल में—जल की मात्रा अधिक (विड्-जल, पिच्छल), आम से विप्लुत (अपक्व आम दोष से भरा), अवसादि (अवसन्नता उत्पन्न करने वाला), रूक्ष, द्रव, शूलयुक्त, आम का गन्ध वाला, और मल के साथ थोड़ा सा वायु का शब्द होता है, मल-त्याग के समय मूत्र की धारा बहती बहती रुक जाती है। वायु कोष्ठ के अन्दर अवरुद्ध गति से, शब्द और शूल के साथ तिरछा चलता है। यह आमातिसार वायु से होता है।

पक्वं विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिश्वसन् शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्, तमाहुरनुग्रथितमित्येके,[2] वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् ॥ ६ ॥

वातजन्य पक्वातिसार—में मल बंधा हुआ, थोड़ा थोड़ा शब्द, शूल, झाग, पिच्छा तथा कर्त्तन (कटने की सी दर्द) के समान वेदनायुक्त बाहर आता है। रोगी के शरीर में रोमांच रहता है, निःश्वास के समान मलत्याग में शब्द होता है, मुख शुष्क रहता है, कमर, जांघ, कूल्हों, गोड़ों, पीठ और पार्श्व में वेदना रहती है। गुदा बाहर निकल आती है, बंधा हुआ मल बार बार आता है। इस अतिसार को कुछ विद्वान् 'अनुग्रथित' भी कहते हैं क्योंकि इसमें मल वायु के कारण ग्रथित (गांठदार) होता है।

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः

1. 'विड्जलमन्नविप्लुतमवसादितं रूक्षद्रव सशब्दयशब्दं वा' इति च पाठः।
2. 'अनुग्रन्थमित्येके' इति पाठान्तरम्।

प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते, तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयमाश्रितमौष्ण्यात् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्वा पुरीषमतिसाराय कल्पते ।७।

पित्तातिसार—पित्त-बहुल मनुष्य जब अम्ल, लवण, कटु, क्षार, तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थों का अति सेवन करता है, निरन्तर अग्नि या सूर्य के सन्ताप का सेवन करे वा शरीर पर गरम वायु लगे वा क्रोध, ईर्षा की अधिकता से पित्त प्रकुपित हो जाता है। पित्त के द्रव होने से अग्नि मन्द हो जाता है। प्रकुपित पित्त मलाशय में पहुंच कर अपनी उष्णिमा से, अपने द्रव गुण से, सर (विरेचक) होने से मल का भेदन करके अतिसार उत्पन्न करता है।

तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं रक्तपित्तोपगतमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः ॥ ८ ॥

लक्षण—पित्तातिसार में मल हरा, नीला, काला, रक्त और पित्त से मिश्रित, अतिशय दुर्गन्धयुक्त होता है। रोगी को प्यास, जलन, पसीना, मूर्च्छा, शूल, ब्रध्न, सन्ताप और गुदा का पाक हो जाता है, यह पित्तातिसार के लक्षण हैं।

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः संपूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, स स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते ॥ ९ ॥

कफजन्य अतिसार—गुरु, मधुर, शीतल और स्निग्ध वस्तुओं का सेवन करने से, सम्पूरक (खूब पेट भर खाने वाले) पुरुष में द्रव द्रव्य के सेवन से या अति भोजन से, चिन्ता के न करने से, दिन में सोने तथा आलसी स्वभाव वाले व्यक्ति में कफ कुपित हो जाता है। यह श्लेष्मा स्वभाव से ही गुरु, मधुर, शीत, स्निग्ध पुरुष की अग्नि को मन्द करके

सौम्य स्वभाव के कारण (अधोगति होने से) मलाशय में आकर मल को क्लिन्न बना कर अतिसार उत्पन्न करती है।

तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं गुरूदरगुदबस्तिवंक्षणोद्देशः कृतापकृतसङ्गः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ॥ १० ॥

कफजन्य अतिसार के लक्षण—मल, स्निग्ध, श्वेत, पिच्छिल, तन्तुयुक्त, आम (अपक्व), भारी, दुर्गन्धयुक्त, शूल के साथ बहुत थोड़ा थोड़ा बार बार आता है। रोगी को अतिशय प्रवाहिका रहती है, उदर में भारीपन, गुदा, वंक्षण और मूत्राशय प्रदेश में भार का अनुभव होता रहता है, मलत्याग बिना होश के हो जाता है (मल त्याग हो जाने पर भी खबर नहीं होती), वमन की अभिरुचि, निद्रा तथा आलस्य से युक्त, रोमांचयुक्त, अंगों में पीड़ा तथा अन्न में अनिच्छा रहती है, यह कफातिसार के लक्षण हैं।

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद् यत्किंचिदभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानीयपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवन-सलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद्वेगविधारणादृतुविपर्ययादयथाबलमारम्भाद्भयशोकचिन्तोद्वेगातियोगात् कृमिशोषज्वरार्शोविकारातिकर्षणाद्वा व्यापन्नाग्नेस्त्रयो दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्यातीसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति। अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रदुष्टान् दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृतानतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति। तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठामांसधावनसंकाशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वा वराहमेदःसदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद् ग्रथितमामं शकृदपि वा पक्वमनतिक्षीणमांसशोणित-

बलो मन्दाग्निर्विहितमुखरसश्च, तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्। एभिर्वर्णैरविसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत। तद्यथा—काथशोणिताभं यकृत्पिण्डोपमं मेदोमांसोदकसन्निकाशं दधिघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेशवाराभमतिनीलमतिरक्तमतिकृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषायवर्णं कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूतिपूयगन्ध्यामत्स्यगन्धि मक्षिकाक्रान्तं कथितबहुधातुस्रावमल्पपुरीषमपुरीषं वाऽतिसार्यमाणं तृष्णादाहज्वरभ्रमतमकहिक्काश्वासानुबन्धमतिवेदनमवेदनं वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबलमांसशोणितं सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसंमोहपरीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यादिति सन्निपातातिसारः ॥ ११ ॥ १२ ॥

सन्निपातजन्य अतिसार—अति शीत, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, गुरु, खर, कठिन, विशद, विषम, विरुद्ध, असात्म्य भोजन से, अभोजन (उपवास) से, भोजन के समय व्यतीत होने पर भोजन करने से, थोड़ा खाने से, दूषित मद्य या पानी के पीने से, अतिमद्य या अति पानी के पीने से, वमन, विरेचन से, शरीर की शुद्धि न करने पर, चिकित्सा कर्म के मिथ्यायोग से, या रोगों की चिकित्सा न करने से, अग्नि, सूर्य, वायु, पानी इनके अति सेवन से, रात में न सोने से, मल, वायु के उपस्थित वेगों को रोकने से, ऋतु-परिवर्त्तन से, शरीर बल के विरुद्ध कार्य करने से, भय, शोक, चिन्ता, उद्वेग के अति सेवन से, कृमि, शोथ, ज्वर, अर्श रोग से शरीर में अति कृशता आने के कारण से दूषित अग्नि वाले पुरुष में तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं। प्रकुपित हुए ये तीनों वातादि दोष फिर से अग्नि को मन्द करके पक्वाशय में पहुंच कर तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त अतिसार को उत्पन्न करते हैं।

अति दूषित हुए रक्तादि धातुओं को दूषित करके, रक्तादि धातुओं और वातादि दोषों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले वर्णों को अति-

सार में पैदा कर देते हैं। इनमें यदि रक्तादि धातु अति दूषित हों तो ❀ मल हल्दी के समान गहरा पीला, हरा, नीला, मजीठ के समान लाल या मांस के धोवन के समान हल्का लाल, काला, श्वेत अथवा सुअर की चर्बी के समान रंग वाला, अति वेदना से युक्त या वेदनारहित, सम्पूर्ण लक्षणों से मिश्रित या थोड़े लक्षणों वाला मल आता है।

कष्टसाध्य अतिसार—जिस सन्निपात रोगी का मल मात्रा में बहुत, ग्रथित (गांठदार), आम (अपक्व दोष) से युक्त या पक्व होता है उसकी यदि अग्नि, बल, मांस और रक्त अधिक क्षीण नहीं हुए होते तथा मन्दाग्नि और मुख का रस नष्ट हो चुका हो तो उसको कष्ट साध्य समझना चाहिये।

असाध्य—आगे कहे जाने वाले क्वाथ शोणित के रंग के समान मल वाला तथा उपद्रवों से युक्त अतिसार रोगी असाध्य है। उपद्रव सहित रोगी को असाध्य समझ कर उसकी चिकित्सा न करे। मल के रंग—नाना औषधियों को पकाने से तैयार किये क्वाथ (काढ़े) के समान वर्ण, रक्त के समान वर्ण, यकृत् पिण्ड के समान (काला, लाल), मेद के समान, मांस के पानी के समान, दही, मज्जा, तेल, दूध और वेशवार के समान * अथवा बहुत नीला, बहुत लाल, बहुत काला, पानी के समान स्वच्छ मेचक (कृष्ण वर्ण) और फिर अतिस्निग्ध, हरे रंग का, नीलनी पत्र के क्वाथ के समान, कर्बुर वर्ण (नाना वर्ण मिश्रित), आविल, पिच्छिल, तन्तुयुक्त आम (अपक्व दोषयुक्त) युक्त, चन्द्रिका (मोर पंख की चन्द्रिका के समान) युक्त, कुणप (शव) की गन्ध से युक्त, पूति, सड़ी, पूय, दुर्गन्ध से युक्त, अपक्व आम दोष की गन्ध से युक्त, मछलियों की बदबू वाला, मक्खियां जिस पर बहुत आवें, कुथित (पूतिगन्धि), धातुओं

❀ कहीं २ पर 'धातुषु नाति प्रदुष्टेषु' पाठ है।

* वेशवार—अस्थि रहित मांस को काली मिर्च, पिप्पली गुड़ के साथ पीस कर बनाया जाता है।

का बहुत अधिक स्राव होता हो, मल की मात्रा थोड़ी हो या बहुत अधिक हो, रोगी को प्यास, जलन, चक्कर आना, अन्धकार, हिचकी या श्वास हो, बहुत अधिक वेदना या वेदना न हो, गुदा पक जाये या निकल आये, गुदा की बलियां अपने स्थान से खिसक जायें, गुदा की नाल (मार्ग) ढीली होकर बाहर आ जाये, रोगी के बल, मांस और रक्त बहुत क्षीण हो जायें, सब सन्धियों में, अस्थियों में दर्द हो, अरुचि, बेचैनी, प्रलाप और मूर्च्छा से युक्त, रोगी में हठात् सब लक्षण शान्त हो जायें तो अतिसार रोगी को असाध्य समझना चाहिये, सन्निपात अतिसार के ये लक्षण हैं।

[तृष्णा, दाह, ज्वर, भ्रम, तम हिक्का, तमक श्वास ये अतिसार रोग के उपद्रव हैं]

तमसाध्यतामसंप्राप्तं चिकित्सेद् यथाप्रधानोपक्रमेण हेतूपशय-दोषविशेषपरीक्षया चेति ॥ १३ ॥

सन्निपात अतिसार की असाध्यावस्था में पहुंचने से पूर्व ही चिकित्सा करनी चाहिये। सन्निपातजन्य अतिसार में जो दोष प्रधान हो उसकी हेतु (उपशय) पूर्वक दोषविशेष की परीक्षा करके उसी प्रधान दोष की चिकित्सा करनी चाहिये। ये चार अतिसार दोषजन्य हैं।

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ।
तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम् ॥ १४ ॥

शेष दो अतिसार आगन्तुज हैं। ये दोनों अतिसार मन के दोष से उत्पन्न होते हैं। ये भयजन्य और शोकजन्य जो दो अतिसार हैं इनके लक्षण वातजन्य अतिसार के समान ही हैं। भय और शोक के कारण वायु शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है, इन दोनों के लिये सब प्रकार की वात-नाशक क्रियायें तथा हर्षण तथा आश्वासन कार्य करने चाहियें।

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति।
तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥ १५ ॥

मानसिक दोष रज और तम से भय और शोक उत्पन्न होते हैं।

पीछे से ये वायु से मिल जाते हैं, इसलिये वातनाशक चिकित्सा शरीर दोष के लिये हर्षण और आश्वासन क्रिया मानसिक दोष के लिये की जाती है। *

इत्युक्ताः षडतीसाराः, साध्यानां साधनं स्वतः।
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत्तन्निबोधत ॥ १६ ॥

इस प्रकार से छः अतीसारों का उपदेश कर दिया है। अब साध्य

---

* सुश्रुत में भयजन्य अतिसार को नहीं गिना और आमातिसार को गिना है। यथा—

आमाजीर्णैः प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषाः सम्प्रदुष्टाः सभक्तम्।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति।

यहां पर आम-पाचन की मुख्य चिकित्सा के लिये इसको पृथक् कहा है और भयजन्य अतिसार का अन्तर्भाव वातातिसार में ही किया है। इसी प्रकार हेतु की प्रधानता से अन्य अतिसारों का भी वर्णन करके दोषज अतिसारों में ही इनका अन्तर्भाव किया है।

शरीरिणामतीसारः सम्भूतो येन केन चित्।
दोषाणामेव लिंगानि कदाचिन्नातिवर्त्तते ॥ १ ॥
स्नेहाजीर्णनिमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिका।
विसूचिको निमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः ॥ २ ॥
विषार्शःकृमिसम्भूतो यथास्वं दोषलक्षणः।
आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया यतः ॥ ३ ॥
अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयाः पक्वामलक्षणैः ॥

इस प्रकार सब अतिसार आमजन्य अतिसार कहने पर भी जो इसके लक्षण पृथक् कहे हैं वह केवल दोष से दूषित आम अन्न से उत्पन्न अतिसार को बताने के लिये हैं। चरक में आमजन्य स्नेहाजीर्णादि से उत्पन्न होने वाला अतिसार दोषप्रकोपजन्य होने से वातादि में ही उसका अन्तर्भाव समझना चाहिये।

अतिसारों की चिकित्साविधि क्रमशः कहते हैं उसको सम्यक् प्रकार से सुनो—

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः ।
अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् संप्रवर्तयेत् ॥ १७ ॥
न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे ।
विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहुन् ॥ १८ ॥
शोथपाड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ।
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा ॥ १९ ॥

जिस पुरुष में एकत्रित हुए दोष विदग्ध आहार के कारण कुपित होकर अतिसार रोग उत्पन्न करते हैं, उस पुरुष में स्वयं प्रवृत्त हुए दोषों को पुनः और अधिक प्रवृत्त करना चाहिये, उनको बन्द नहीं करना चाहिये। आमातिसार रोगी को प्रथम में स्तम्भन औषध नहीं देनी चाहिये। क्योंकि आमावस्था में स्थित शेष दोष रुक कर बहुत से रोगों को उत्पन्न करते हैं। ये रोग शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, गुल्म, उदर, ज्वर, दण्डक, अलसक, आध्मान, ग्रहणी, अर्श इन रोगों को उत्पन्न करते हैं।

तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान् ।
कृच्छ्रं वातहतान् दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम् ॥ २० ॥
तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः ।
जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ॥ २१ ॥
प्रमथ्यां मध्यदोषेभ्यो दद्याद्दीपनपाचनीम् ।
लंघनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥ २२ ॥

यदि रोगी को आंव आता हो और रोगी बलवान् हो तो उसको विरेचन देकर दोषों का प्रवृत्त करना ठीक है। [परन्तु यदि रोगी निर्बल हो और आम क्षीण हो तब प्रथम प्रवर्त्तन करके फिर संग्रहण देना चाहिये। कई आचार्य संग्रहण से शाल्मली, कुटज-त्वग् आदि संग्रहण का निषेध मानते हैं मुस्ता, नेत्रबाला आदि पाचन संग्रहण का विधान स्वीकार करते हैं।]

इसलिये आमातिसार में यदि मल कठिनाई से प्रवृत्त हो रहे हों तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये । अथवा कठिनाई से मल आने पर विरेचन के लिये हरड़ देनी चाहिये । इस प्रकार हरड़ द्वारा दोषों का विरेचन होने से उदर रोग अतिसार शान्त हो जाता है । इसके अनन्तर जब दोष अध्यम रह जायें तब दीपन पाचन गुण वाली प्रमथ्या देनी चाहिये । इस प्रमथ्या के देने से शरीर में हल्कापन और अग्नि की दीप्ति होती है । यदि अतिसार रोगी में दोषों की अल्पता हो तो उसको लंघन कराना चाहिये ।

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा ।
ह्रीबेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥ २३ ॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका ।
तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम् ॥ २४ ॥

(१) तीन प्रमथ्यायें—(१) पिप्पली, सोंठ, धनिया, भूतीक (अजवायन), हरड़ और वच, (२) ह्रीवेर, भद्रमोथा, बेलगिरी, सोंठ और धनिया (३) पृश्निपर्णी, गोखरू, समंगा (लाजवन्ती) और कटेरी ये तीन प्रमथ्यायें आधे आधे श्लोकों में कहीं हैं—ये चूर्ण, कषायादि कल्पना द्वारा अतिसार रोगी को देना चाहिये ।

(१) वच, अतीस, (२) मुस्ता और पित्तपापड़ा, (३) ह्रीवेर और सोंठ इन तीन योगों में से किसी एक प्रमथ्या से अर्धश्रृत जल पका कर रोगी को देनी चाहिये षडंग विधि से क्वाथ करना चाहिये ।

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा ।
ह्रीबेरशृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा पाययेज्जलम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार प्रमथ्या के प्रयोग से जब रोगी भूख के कारण निर्बल हो जाय (अति क्षुधा प्रतीत हो) तब ठीक भोजन के समय में लघु अन्न खाने को देने चाहियें । इस प्रकार से अतिसार रोगी में शीघ्र ही रुचि, अग्निदीप्ति हो जाती है ।

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत् ।

तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥ २६ ॥
तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा ।
सुरया मधुना चादौ यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥ २७ ॥
यवागूभिर्विलेपीभिः खडैर्यूषैरसौदनैः ।
दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम् ॥ २८ ॥

तक्र के साथ अवन्ति सोम (कांजी) से या यवागू द्वारा अथवा सुरा या मधु से लघु अन्न, सात्म्य के अनुसार देने चाहियें। पीछे से अग्नि दीपक और संग्राही पदार्थों से युक्त यवागू (पेया छः गुणे जल में साधित), विलेपी (चतुर्गुण जल में साधित), खड यूष (अम्ल रहित) तथा लघुमांस रस में साधित ओदन (भात) भोजन देना चाहिये।

शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम् ।
बलां श्वदंष्ट्रां बिल्वानि पाठां नागरधान्यकम् ॥ २९ ॥
शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम् ।
यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ३० ॥
वृक्षाम्लं दाडिमं चाम्लं सहिङ्गुबिडसैन्धवम् ।
प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम् ॥ ३१ ॥
वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः ।
ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम् ॥ ३२ ॥

(२) दीपन-पाचन द्रव्य—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, खरैटा, गोखरू, बेलगिरी, पाठा, सोंठ, धनिया, कचूर, ढाक के बीज, हाउवेर, वच, जीरा, पिप्पली, अजवायन, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, वृक्षाम्ल (समगदाना), खट्टा दाड़िमी, हींग, काला नमक, सैन्धा नमक इनमें से जो भी वस्तुएँ मिल सकें उनके साथ यवागू आदि खानपान विधिपूर्वक सिद्ध करके देना चाहिये। यह गण वात-कफनाशक, दीपक-पाचक, संग्राही, बलकारक, भोजन में रुचि पैदा करने वाला है, इसलिये अतिसार रोगियों के लिये प्रशस्त है।

आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते ।
सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥ ३३ ॥
यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा ।

इस प्रकार से आमातिसार का परिपाक हो जाने पर यदि मल बंधा हुआ, शूल और पिच्छा के साथ मिला हुआ, बार बार, थोड़ा थोड़ा आये और रोगी को प्रवाहिका * भी हो तो उसको सूखी मूलियों के यूष के साथ या सूखे बेरों से सिद्ध यूप के साथ भोजन देना चाहिये ।

उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्या वास्तुकस्य वा ॥ ३४ ॥
सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा ।
शट्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा ॥ ३५ ॥
लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः ।
दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत् ॥ ३६ ॥

(३) इसी प्रकार उपोदिका (चौलाई), क्षीरिणी, यमानी (अजवायन), बथुआ, सुवर्चला (सूर्यमुखी), चञ्चुशाक (नाड़ीचा, या एरण्ड पत्र), अवल्गुजा (कौंच), कचूर, कर्कारु (ककड़ी या कूष्माण्ड), जीवन्ती, चिर्भटी (ककड़ी, खीरा), लोणिका (लूणी), पोठा, शुष्कशाक (रूक्ष देश में उत्पन्न शाक या नाल शाकों) में से किसी भी शाक, दही और अनार द्वारा सिद्ध करके घृत से स्निग्ध करके देना चाहिये ।

कल्कः स्याद् बालबिल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः ।
दध्नः सरोऽम्लस्नेहाढ्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥ ३७ ॥

(४) कच्ची बेलगिरी और इसके समान भाग तिलकल्क (निस्तुष तिल) लेकर दही की मलाई से खट्टा करके और घृत आदि की बड़ी

* प्रवाहिका का लक्षण—
वायुर्विवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ सुश्रुते ॥

८

मात्रा से स्निग्ध क्रिया खड (मूंग आदि का यूष) प्रवाहिका (अतिसार से कुन्थन पीड़ा को) नष्ट कर देता है।

यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च ।
कोलानां बालबिल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसाधितम् ।
वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥ ३९ ॥

(५) जौ, मूंग, माष (उड़द), चावल, तिल, बेर, कच्ची बेलगिरी, शूक धान्य और शमी धान्यों को मिला १८ गुणे या १४ गुणे जल में यूष सिद्ध करना चाहिये। इस यूष को दही और अनार के रस में पका कर यावक (घृत और तैल) में भून लेना चाहिये। अतिसार रोगी को मल क्षय होने पर तथा मुख के शुष्क हो जाने पर इस यूष के साथ चावल खिलाने चाहिये।

दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम् ।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत् ॥ ४० ॥
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा ।
लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥ ४१ ॥
बर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां तथा रसाः ।
स्निग्धाम्लाः शालयश्चाग्र्या वर्चःक्षयरुजापहाः ॥ ४२ ॥

(६) गुड़ और सोंठ को दही की मलाई के साथ मिला कर घृत तैल के यमक में भून कर देना चाहिये। अथवा सुरा को घी और तैल में भून कर व्यंजन के लिये देना चाहिये। फलाम्ल, इमली आदि के फलाम्लों को यमक में भून कर अथवा गृंजनक (गाजर या पलाण्डु) के यूष को अथवा लोपाक (गीदड़) के मांसरस को आंवले आदि से खट्टा करके, अथवा कछुए के मांसरस को घृतादि से स्निग्ध और आंवले आदि से खट्टा करके व्यंजन के लिये देना चाहिये। इसी प्रकार से मोर, तीतर, मुर्गा, बटेर इनका मांस रस तथा स्निग्ध और उष्ण उत्तम शालि धान्य मलक्षय जनित पीड़ा को नष्ट करते हैं।

अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम् ।
पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम् ॥ ४३ ॥
ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तम् ।
तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

(७) मेष (मेढ़ा) के शरीर के मध्य देह के मांस रस को पका कर छान लेना चाहिये, इसी प्रकार रक्त को भी लेकर रस और रक्त दोनों को पकाना चाहिये। पाक क्रिया समाप्त होने के लगभग इस में अनारदाने का खट्टा रस, धनिया और सोंठ का चूर्ण उचित मात्रा में मिला कर घृतादि स्नेह में पका लेना चाहिये। भोजन में इस रस के साथ लाल चावलों को खाना चाहिये और इसी रस को पीना चाहिये। इसके सेवन करने से मलक्षय से उत्पन्न रोगों से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः ।
प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ॥ ४५ ॥

(८) अतिसार में प्रवाहण से यदि गुदा बाहर निकलती हो और दर्द हो तो अनार, आंवले आदि अम्ल फलों से साधित घृत का पान करना चाहिये, यदि अतिसार रोगी को आम दोष न हो तो अनुवासन अर्थात् स्नेह-वस्ति देनी चाहिये।

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम् ।
घृतमुत्कथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥ ४६ ॥

इति चाङ्गेरीघृतम् ।

(९) चांगेरीघृत—चांगेरी (चौपतिया) का स्वरस, बेर का क्वाथ, दही मिलित घृत से चतुर्गुण, सोंठ और यवक्षार का कल्क घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये यह घृत गुदभ्रंश के शूल में पीना चाहिये।

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषबिडदाडिमम् ।
पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम् ॥ ४७ ॥

इति गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम् ।

(१०) चव्यादिघृत—चांगेरी का स्वरस, बेर का क्वाथ, दही घृत से चतुर्गुण, कल्कार्थ चव्य, पिप्पली मूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, अनारदाना, बिड, जीरा, धनिया और सोंठ ये दस वस्तुएं घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। इस अम्ल घृत को युक्ति (मात्रा) में पीना चाहिये।

दशमूलोपसिद्धं वा सबिल्वमनुवासनम्।
शताह्वाशटिबिल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा।

(११) दशमूल के क्वाथ में कच्ची बेलगिरी के कल्क से साधित घृत अथवा तैल गुदभ्रंश में अनुवासन के लिये देना चाहिये। इसी प्रकार से सौंफ, कचूर और कूठ इनके कल्क से दशमूल क्वाथ में सिद्ध घृत गुदभ्रंश में अनुवासन के लिये देना चाहिये। अथवा वचा या चित्रक के कल्क से दशमूल के क्वाथ में साधित घृत अनुवासन के लिये देना चाहिये।

स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्॥ ४८॥
सुस्विन्नं च मृदुभूतं पिचुना संप्रवेशयेत्।

(१२) गुदभ्रंश होने पर यदि गुदा स्तब्ध (कठिन) हो जाये तब प्रथम स्नेहन (मूषिकादि तैल से*) और स्वेदन करना चाहिये। स्वेदन से जब गुदा मृदु हो जाय तब पिचु से (रुई के फोये की मदद से) गुदा को अन्दर प्रविष्ट कर देना चाहिये।

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः॥ ४९॥
सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति।
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः॥ ५०॥

---

* अष्टांगसंग्रह में कहा है—गुदं चाभ्यंगपूर्वं स्वेदेन मृदुभूतं प्रवेशयेत्। सच्छिद्रेण चास्य चर्मणा गोष्फणाबन्धं कुर्यात्। मुष्टिकमनान्त्रं कृत्वा महापंचमूलकषायं च क्षीरे विपचेत्। तेन पयसा वातहरकल्कप्रतिवापं तैलं पाचयेत् तदभ्यंजनेन पानेन च सुकृच्छ्रमपि गुदभ्रंशो नश्यति। अ० सं० चि० अ० ११॥

शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पुनः[1] ।
एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति ॥ ५१ ॥
शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति ।

(१३) अतिसार रोगी का मल और वायु रुक जाय, उसे बहुत शूल एवं प्रवाहिका (कुन्थन में पीड़ा) हो, मल में रक्त और पिच्छा आये तथा प्यास हो तो उसको दूध से तर्पण देना चाहिये । अथवा यमक भोजन (यहां मूंग आदि दालें और चावल इन को मिलाकर पकाने से बनी खिचड़ी को 'यमक' भोजन कहा है) खाकर ऊपर से धारोष्ण दूध का पान करे । एरण्डमूल से अथवा कच्ची बेलगिरी द्वारा पकाये दूध के पीने से रक्त पिच्छा, शूल, और प्रवाहिका शान्त हो जाते हैं ।

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिराम[2]मुपलभ्य यथाबलं लंघनपाचनाभ्यामुपाचरेत् ॥ ५२ ॥

तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्तकोदीच्य-वारिभिरुपचारः ॥ ५३ ॥

(१४) पित्तातिसार में—निदान आशय लक्षणों से आम का योग समझकर बलानुसार लंघन और पाचन से चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्तातिसार रोगी को प्यास लगने पर मोथा, पित्तपापड़ा, उशीर, शारिवा, चन्दन लाल, चिरायता, नेत्रबाला इनके पानी को षडंगपानीय विधि से पका कर देना चाहिये ।

लंघितस्य चाहारकाले बलातिबला-शूर्पपर्णी-शालपर्णी-पृश्नि-पर्णी-बृहती-कण्टकारिका-श्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागू-मण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः ॥ ५४ ॥

(१५) लंघन के उपरान्त भूख लगने पर भोजन के समय बला, अतिबला, मूंगपर्णी, मांसपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी,

१. 'वा पयः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'रामानयमुपलभ्य' इति पाठान्तरम् ।

शतावरी, गोखरू इनके क्वाथ में सिद्ध यवागू, मण्ड, पेया, तर्पण आदि को सात्म्य के अनुसार क्रमशः उपयोग करना चाहिये ।

मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाढकीयूषैर्वा लावकपिञ्जलशशहरिणैणेयकालपुच्छकरसैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत ॥५५॥

(१६) मूंग, हेरणु (मटर), मसूर, मोठ, अरहर इनके खट्टे अथवा विना खट्टे यूषों, बटेर कपिञ्जल, खरगोश, हरिण, ऐण (मृग), कालपुच्छ हरिण, इनके अनार आदि से खट्टे अथवा विना खटाई के मांस रसों से निरन्तर अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये ।

अनुबन्धे त्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान् योगान् प्रयोजयेदिति ॥ ५६ ॥

(१७) पित्तातिसार में उपरोक्त चिकित्सा से आराम न होने पर दीपनीय (पिप्पल्यादि दस ओषधियों), पाचनीय (जीवकादि दस), उपशमनीय (बालबिल्वादि दस), संग्रहणीय (पुरीषसंग्रहणीय दस) औषधियों के आगे कहे जाने वाले योगों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

भवन्ति चात्र । सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम् ।
पिबेत् पित्तातिसारघ्नं तण्डुलोदकसंयुतम् ॥ ५७ ॥

(१८) दीपनीय—वत्सक (कुड़े) के फल, इन्द्रजौ और त्वचा (छाल) दोनों को अतीस के साथ चावलों के पानी के साथ पीस लेना चाहिये । इसमें शहद मिलाकर इसको चावलों के पानी के साथ पीना चाहिये, इससे पित्तातिसार नष्ट होता है ।

किराततिक्तकं मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः ।
बिल्वं दारुहरिद्रां च ह्रीबेरं[1] सदुरालभम् ॥ ५८ ॥
चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम् ।
तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥ ५९ ॥
उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम् ।

१. 'त्वक्ह्रीबेर दुरा'-इति च ।

कट्फलं नागरं पाठा जम्ब्वाम्रास्थिदुरालभाः ॥ ६० ॥
योगाः षडेते सक्षौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः ।
पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निदर्शिताः ॥ ६१ ॥
जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः ।

(१९) पित्तातिसारनाशक छः योग—(१) चिरायता, मुस्ता, वत्सक, (कुड़े का फल, इन्द्रजौ) और रसौत । (२) बेलगिरी, दारुहल्दी, ह्रीबेर दुरालभा । (३) लाल चन्दन, मृणाल, सोंठ, लोध और कमल । (४) तिल, मोचरस, लोध, समंगा (मजीठ), कमल और नीला कमल । (५) सोंठ, धाय के फूल, नीला कमल और अनार की छाल । (६) कायफल, सोंठ, पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली और दुरालभा ये छः योग आधे २ श्लोक में कहे हैं । इनको तण्डुलोदक के साथ पीसकर उसमें शहद मिलाकर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये । ये योग पित्तातिसार नाशक हैं ।

रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ॥ ६२ ॥

इन औषधियों के जीर्ण होने पर विधि अनुसार बने सांग्राहिक मांस रसों के साथ एक साल पुराने चावल खाने चाहियें ।

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति ।
अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ॥ ६३ ॥
बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति ।
पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार से अग्नि के दीप्त होने पर पित्तातिसार बकरी के दूध के सेवन से शीघ्र शान्त हो जाता है, तथा रोगी का बल और वर्ण (कान्ति) भी बढ़ती है ।

यदि रोगी में दोषों का संचय बहुत हो, तथा अग्नि प्रदीप्त हो और रोगी में प्राण (बल) हो तो पित्तातिसार रोगी को दूध से विरेचन कराना चाहिये । निर्बल को विरेचन नहीं देना चाहिये ।

पलाशफलनिर्यूहं पयसा पाययेत तम् ।
ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥ ६५ ॥
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः ।
पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी ॥ ६६ ॥

(१७) विरेचन—ढाक के फल के क्वाथ को दूध के साथ रोगी मनुष्य को पीना चाहिये। इसके पीछे बलानुसार गरम दूध उसको पिलाना चाहिये। इससे विरेचन होने पर अतिसार रोग शान्त हो जाता है। इसी प्रकार से बहुत दोष वाले बलवान् पुरुष को त्रायमाणा के क्वाथ को दूध के साथ देना चाहिये और फिर पीछे से गरम दूध बलानुसार देना चाहिये। इससे मल का प्रवाहण होने पर उदर रोग शान्त हो जाता है।

सांसर्ग्यां ह्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते ।
स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ॥ ६७ ॥

इस प्रकार विरेचन हो जाने पर भी मल के शेष रहने से पेयादि संसर्ग कर्म के छोड़ने पर यदि फिर शूल उत्पन्न हो जाय तो शीघ्र अनुवासन देना चाहिये।

शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च ।
तैलपादं घृतं सिद्धं सबिल्वमनुवासनम् ॥ ६८ ॥

घृत से चतुर्गुण दूध में सौंफ, शतावरी, मुलहठी, बेलगिरी इनके घृत से चतुर्थांश कल्क द्वारा घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घृत में चतुर्थांश तैल मिला कर अनुवासन देना चाहिये। अथवा घृत में चतुर्थांश तैल प्रथम ही मिला कर स्नेह-पाकविधि से घृत सिद्ध कर लेना चाहिये।

कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च ।
वर्तते यद्यतीसारः पिच्छाबस्तिरतः परम् ॥ ६९ ॥

यदि अनुवासन देने और पेयादि संसर्जन-भोजन विधि के सेवन करने पर भी अतिसार रह जाता हो तो पिच्छाबस्ति प्रयोग करनी चाहिये।

परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः ।
कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेत् गोमयाग्निना ॥ ७० ॥
सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः ।
शृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखले ततः ॥ ७१ ॥
पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः ।
योजित मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ॥ ७२ ॥
बस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागते ततः ।
स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ॥ ७३ ॥

(१८) पिच्छाबस्ति—सिम्बल के गीले वृन्तों को (वह भाग जिससे कि फूल शाखा से मिला रहता है अथवा फूलों को) गीली कुशा से लपेट कर ऊपर काली मिट्टी का लेप करके गोमय (उपलों) की अग्नि में पकाना चाहिये। जब मिट्टी सूख जाये तब सिम्बल के वृन्तों को निकाल कर ऊखल में कूट लेना चाहिये। इनको एक पल परिमित लेकर एक प्रस्थ गरम दूध में मसलना चाहिये। पीछे से इसको वस्त्र में छान लेना चाहिये। इसमें स्नेह योग्य मात्रा में तैल और घी तथा महीन पिसा हुआ मुलहठी का कल्क उचित मात्रा में मिला लेना चाहिये। रोगी का स्नेहन करके इसकी बस्ति देनी चाहिये। जब बस्ति बाहर आ जावे तब स्नान करके दूध के साथ या मांसरस के साथ भोजन करना चाहिये।

पित्तातिसारज्वरशोथगुल्माजीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान् ।
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान् विरेचनास्थापनयोश्च बस्तिः ॥ ७४ ॥
इति पिच्छाबस्तिः ।

ये विरेचन, आस्थापन और पिच्छा बस्ति अति प्रवृद्ध पित्तातिसार, ज्वर, शोष, गुल्म, पुरातन अतिसार, ग्रहणी रोग को शीघ्र शान्त कर देते हैं। (अष्टांगसंग्रह में पिच्छाबस्ति के अन्दर मधु मिश्रित करने को भी लिखा है *)।

---

* ततस्तेन पयसा पूतेन सघृततैलेन मधुमधुककल्कयुक्तेनास्थापयेत् ॥ अ० सं० चि० ११ ॥

रक्तातिसार-चिकित्सा

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते ।
पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥ ७५ ॥
रक्तातिसारं कुरुते रक्तमाशु प्रदूषयेत् ।
तृष्णाशूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम् ॥ ७६ ॥

पित्तातिसार का जो रोगी उपरोक्त पित्तातिसार की चिकित्सा का त्याग करके पित्तकारक खान-पान का सेवन करता है, उसका पित्त अति बलवान् होकर, रक्त को जल्दी से दूषित करके, रक्तातिसार को उत्पन्न कर देता है। इससे प्यास, जलन, शूल, तीव्र गुदपाक हो जाता है।

तत्र छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम् ।
पानार्थं व्यञ्जनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा ॥ ७७ ॥
भोजनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत् ।
रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः ॥ ७८ ॥
शशानां धन्वजानां च शीतानां मृगपक्षिणाम् ।
रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत तं सशर्करैः ॥ ७९ ॥
रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते ।
काश्मर्यफलयूषो वा किंचिदम्लः सशर्करः ॥ ८० ॥

(१९) इस रक्तातिसार में पीने के लिये व्यंजन अर्थात् भोजन के साथ में खाने के लिये गुदा-पाक में गुदा के प्रक्षालन के लिये बकरी के दूध को थोड़ा सा पका कर ठण्डा करके मधु और शर्करा मिला कर देना चाहिये। भोजन के लिये लाल चावलों को मधु शर्करा मिश्रित बकरी के दूध के साथ देना चाहिये। इसी प्रकार से कबूतर आदि पक्षियों के मांस रसों को घृत में भून कर शर्करा के साथ खिलाना चाहिये।

(२०) खरगोश, धन्वज (जांगल देशीय) और शीतवीर्य मृगों और पक्षियों के अम्ल रहित मांस रसों को घृत और शर्करा से मिश्रित करके रक्तातिसार के रोगी को देना चाहिये। मृग के या बकरी के रक्त को

घी में भून कर रक्तातिसार रोगी को देना उत्तम है। काश्मरी फल के क्वाथ से सिद्ध यूष को आंवले आदि से कुछ खट्टा बना कर शर्करा के साथ देना उत्तम है।

नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गां पद्मकेशरम्।
अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम् ॥ ८१ ॥
दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत्।
प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥ ८२ ॥
प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः।
त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा ॥ ८३ ॥
पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुक् जयेत्।
रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥ ८४ ॥

(२१) सात योग—(१) नीला कमल, मोचरस, समंगा (मजीठ), कमल का केशर इनका चूर्ण कर बकरी के दूध के साथ देना चाहिये। इसके जीर्ण होने पर दूध के साथ चावल देने चाहियें। (२) दुर्बल रक्तातिसार रोगी को नीला कमल आदि का चूर्ण बकरी के दूध के साथ देकर ऊपर से दूध चावल देना चाहिये, जीर्ण होने पर नहीं। (३) दुर्बल रक्तातिसार रोगी को भोजन से पूर्व मधु और शर्करा के साथ मक्खन देना चाहिये। (४) दूध से निकाले हुए घृत को दूध के साथ खाकर पीछे से कपिञ्जल पक्षी के मांस रस को खाने से रक्तातिसार रोगी तीन दिन में स्वस्थ हो जाता है। (५) इसी प्रकार केवल दूध मात्र को ही भोजन में लेते हुए दूध से निकले घृत को दूध के साथ खाने से तीन दिन में स्वस्थ हो जाता है। (६) दूध मात्र का भोजन करने वाला रक्तातिसार रोगी दूध से शतावरी के कल्क को पीकर स्वस्थ हो जाता है। (७) घृत से चतुर्गुण जल में शतावरी कल्क से साधित घृत को दूध मात्र भोजन करते हुए पीने से रक्तातिसार रोगी स्वस्थ हो जाता है।

घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम्।

पेयं, तस्यानुपातव्या पेया रक्तोपशान्तये ॥ ८५ ॥

(२२) कुटज वृक्ष के फल (इन्द्रजौ) के कल्क से घृत से चतुर्गुण जल में साधित घृत को यवागू या मण्ड के साथ पीना चाहिये, पीछे से पेया पीनी चाहिये। इससे रक्त की शान्ति होती है।

त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च।
पिप्पली शृङ्गबेरं च द्राक्षा कटुकरोहिणी ॥ ८६ ॥
षडभिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम्।
अतिसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥ ८७ ॥

(२३) घृत से चतुर्गुण जल में इन्द्र जौ, दारुहल्दी की त्वचा, पिप्पली, सोंठ, कुटकी और लाक्षा इन छः वस्तुओं के कल्क से साधित घृत को पेया या मण्ड के साथ पीने से त्रिदोषजन्य अतिसार तथा रक्तातिसार नष्ट होता है।

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम्।
पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्रहणं परम् ॥ ८८ ॥
पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्भसा।
रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥ ८९ ॥

(२४) काली मिट्टी, मुलहठी, शंख भस्म, रक्त इनको मिला कर तण्डुलोदक के साथ पीने से रक्तस्राव रुकता है। प्रियंगु (फूल प्रियंगु) के कल्क को मधु के साथ मिला कर चावलों के पानी के साथ पीने से रक्तस्राव रुकता है। इसके साथ धन्व (मरु जांगल भूमि के) पशु पक्षियों का मांस रस खाना चाहिये।

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः।
आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥ ९० ॥
पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्।
यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जाठरामयम् ॥ ९१ ॥

(२५) निस्तुष काले तिल १ भाग, शर्करा ५ भाग लेकर इनको

मिला कर बकरी के दूध के साथ पीना चाहिये । इससे तुरन्त रक्तस्राव बन्द हो जाता है । मांसरस का भोजन करने वाला जो व्यक्ति इन्द्रजौ की एक पल मात्रा को अष्ट गुणे जल में पका कर चतुर्थांश शेष रख कर पीता है उसका पैत्तिक अतिसार शीघ्र शान्त हो जाता है ।

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा ।
दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ॥ ९२ ॥

(२६) लाल चन्दन के चूर्ण को शर्करा और मधु के साथ मिला कर तण्डुलोदक के साथ पीने से रोगी जलन, तृष्णा, प्रमेह और रक्तस्राव से मुक्त हो जाता है ।

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते ।
सेचयेत्तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥ ९३ ॥

(२७) जिस रोगी की गुदा बार बार मल त्याग करने से पित्त के कारण पक जाती है, इसकी गुदा को पटोल पत्र और मुलहठी के शीतल क्वाथ से जल शौचादि कार्य में प्रक्षालन करना चाहिये ।

पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः ।
छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥ ९४ ॥
प्रक्षालनानां कल्कैर्वा ससर्पिष्कैः प्रलेपयेत् ।
एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥ ९५ ॥
पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति ।
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा समांशैः प्रतिसारयेत् ।
तथा न च स्रवत्यस्रं गुदं तैः प्रतिसारितम् ॥ ९६ ॥

(२८) पंचवल्कल (बरगद, पीपल, गूलर, जामुन और पिलखन इनकी छालें), महुए की छाल इनके शीतल क्वाथ से अथवा गन्ने के रस से, या बकरी अथवा गाय के घृतों से, या बकरी गाय के शर्करा मधु-मिश्रित दूध से गुदा का परिषेक करना चाहिये । अथवा पटोल से लेकर महुए तक कथित द्रव्यों के पत्थर पर पिसे हुए कल्क को घृत में मिलाकर

गुदा पर लेप करना चाहिये । इन्हीं कल्क द्रव्यों के चूर्णों से गुदा का प्रतिसारण करना चाहिये । इन वस्तुओं से प्रतिसारण करने पर रक्तस्राव नहीं होता, पकी हुई गुदा शान्त हो जाती है, वेदना भी दूर हो जाती है ।

यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणिते निःस्रवत्यपि ।
गुदवङ्क्षणकटच्यूरू सेचयेद् घृतभावितम् ॥ ९७ ॥
चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।
कार्पाससंगृहीतेन भावयेद् गुदवंक्षणौ ॥ ९८ ॥

(२९) पटोल, मुलहठी आदि के क्वाथों से परिषेचन करने पर भी यदि रक्तस्राव बन्द न हो तो गुदा, वंक्षण (पेड़ू), कटि और ऊरू में बार-बार घृत-मर्दन करके पटोल, मधुक आदि क्वाथों से परिषेचन करना चाहिये। गुदा और वंक्षण में रुई के फोये से ज्वर प्रकरण में कहे चन्दनादि तैल से अथवा सौ वार धोए घृत से भावित करना चाहिये ।

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ।
यदा वायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं जरति वा न वा ॥ ९९ ॥
पिच्छाबस्तिं तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत् ।
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ॥ १०० ॥

(३०) जब बार-बार थोड़ा-थोड़ा रक्त शूल के साथ आता हो और वायु अवरुद्ध हो अथवा कठिनाई से वायु गति करता हो या गति न करता हो तब रोगी को पूर्वोक्त पिच्छाबस्ति देनी चाहिये । अथवा पुण्डरीक की त्वचो के कल्क से साधित घृत द्वारा रोगी को अनुवासन देना चाहिये ।

प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः ।
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ॥ १०१ ॥
पवनोऽतिप्रवृत्तो हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम् ।
बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थे बस्तिरुत्तमः ॥ १०२ ॥

प्रायः करके पुरातन अतिसार रोगियों की गुदा निर्बल होती है, इस लिये गुदा में बल देने के लिये बार-बार इनकी गुदा में स्नेह का प्रयोग

करना चाहिये । क्योंकि अतिसार के पुरातन न होने पर वायु अपने स्थान पर (मलाशय में) अधिक बलवान् हो जाती है, इसलिये पित्तसहित वायु को जीतने के लिये अनुवासन बस्ति उत्तम है ।

रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते ।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥ १०३ ॥
शर्कराधाँशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥ १०४ ॥

(३१) जिस रोगी को पहिले या पीछे मल से मिला रक्त आता हो, उसको शतावरी घृत चाटने के लिये देना चाहिये । अथवा नये ताजे निकाले मक्खन में आधा भाग शर्करा और चतुर्थांश मधु मिलाकर चाटने से पथ्याशी रोगी का मल मिश्रित रक्त बन्द हो जाता है ।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥ १०५ ॥
तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात्सक्षौद्रपादिकम् ।
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥ १०६ ॥

(३२) बरगद, गूलर पीपल इनके शुङ्गों को कूटकर चतुर्गुण गरम जल में एक रात दिन भिगोकर रखना चाहिये । फिर इस घृत में चतुर्गुण इस कषाय से घृत सिद्ध करना चाहिये । इस घृत में आधा भाग शर्करा और चतुर्थांश मधु मिलाकर चाटना चाहिये । जिस अतिसार रोगी को मल से पूर्व या पीछे मल से मिला रक्त आता हो उस रक्त को यह योग शान्त करता है ।

यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात्पित्तलान्येव सेवते ।
दारुणं स बलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ॥ १०७ ॥
श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लंघनपाचनम् ।
योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः ॥ १०८ ॥
लंघितस्यानुपूर्व्या च कृतायां न निवर्तते ।

कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ॥ १०९ ॥

(३३) जो रक्तातिसार रोगी इस प्रकार से दुर्बल होकर अज्ञानवश पित्तकारक वस्तुओं का सेवन करता है, उसकी गुदवलियों में भयानक पाक हो जाता है, जिससे कि वह मर जाता है ।

कफजन्य अतिसार में सबसे प्रथम लंघन, पाचन, पिप्पली, नागर, धान्य आदि आमातिसार नाशक द्रव्य तथा पंचाशत (५०) महाकषायों में वर्णित दीपनीय गुण का प्रयोग करना चाहिये । * कफजन्य अतिसार यदि लंघन, पाचन, आमातिसार नाशक दीपन ओषधियों के क्रमशः आनुपूर्वी विधि से प्रयोग करने पर भी नष्ट न हो तो आगे कहे जाने वाले कफनाशक गण से चिकित्सा करनी चाहिये ।

बिल्वं कर्कटिका मुस्तमभया विश्वभेषजम् ।
वचा विडङ्गं पूतीकं धान्यकं देवदारु च ॥ ११० ॥
कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली ॥ १११ ॥
योगाः श्लोकार्धविहिताश्चत्वारस्तान् प्रयोजयेत् ।
शृताञ्छ्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्धनान् ॥ ११२ ॥

(३४) कफघ्न गण—

कफघ्न चार योग—(१) बेलगिरी, काकड़ाशृङ्गी, मुस्ता, अभया और सोंठ । (२) वचा, बायविडंग, अजवायन, धनिया और देवदारु । (३) कूठ, अतीस, पाठा, चविका और कुटकी । (४) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक और गजपिप्पली ये चार योग आधे २ श्लोक में कहे हैं । इनको क्वाथ विधि से कफातिसार में प्रयोग करना चाहिये । ये जाठराग्नि के बल को बढ़ाते हैं ।

अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च ।
धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसाप्लुतम् ॥ ११३ ॥

* चक्रपाणि के अनुसार शालपर्णी आदि दीपनीय गण लेना चाहिये ।

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च ।
धातकीद्विगुणं दद्यात्पातुं सक्षौद्रनागरम् ॥ ११४ ॥

(३५) काला जीरा, पाठा, सोंठ और मरिच प्रत्येक वस्तु सम भाग और सब के चूर्ण से द्विगुण धाय के फूल मिला कर इस चूर्ण को गलगल के रस में घोल कर कफातिसार रोगी को पीने के लिए देना चाहिये । इसी प्रकार से रसौत, अतीस और इन्द्रजौ प्रत्येक वस्तु सम भाग और सब से द्विगुण धाय का चूर्ण मिला कर सोंठ और मधु के साथ पीने के लिये देना चाहिये । मधु चूर्ण से चौगुना मिलाना चाहिये ।

धातकी नागरं बिल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम् ।
जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला ॥ ११५ ॥
समङ्गा धातकी बिल्वमध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचः ।
कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥ ११६ ॥
चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान्कफोत्तरे ।
श्लोकार्धविहितान्दद्यात्सस्नेहलवणान् खडान् ॥ ११७ ॥

(३६) चार खड—(१) धाय के फूल, सोंठ, बेलगिरी, लोध और कमल का केशर (२) जामुन की छाल, सोंठ, धनिया, पाठा, मोचरस और बला (३) समंगा (मजीठ), धातकी, बेल का मध्य भाग, जामुन की छाल और आम की छाल (४) कैथ, बायविडंग, सोंठ और मरिच ये चारयोग आधे २ श्लोकों में वर्णित हैं, इनको चांगेरी स्वरस, तक्र और बेर से खट्टा करके घृत, तैल, स्नेह और नमक से मिश्रित करके [उचित मात्रा में] कफातिसार में देना चाहिये ।

कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम् ।
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ॥ ११८ ॥
कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ।
जग्ध्वा वा बालबिल्वानि मुच्यते जठरामयात् ॥ ११९ ॥

(३७) व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), शर्करा, मधु इनको कैथ

९

के गुड़े के साथ मिला कर चाटने से, अथवा कायफल के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से अतिसार रोग शान्त हो जाता है। पिप्पली के चूर्ण को मधु के साथ चाट कर पीछे से चित्रक मिश्रित तक्र को पीने से अथवा कच्ची बेलगिरी को खाने से अतिसार रोग से मुक्त हो जाता है।

बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम्।
लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ॥ १२० ॥
भोज्यं मूलकयूषेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः।
वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ॥ १२१ ॥
पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम्।
पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥ १२२ ॥

१. 'कफातुरे' इति पाठः।

(३८) कफातिसार रोगी को यदि शूल और प्रवाहिका हो तथा वायु प्रतिलोम हो तो उसको कच्ची बेलगिरी, पिप्पली और सोंठ इनके चूर्ण को गुड़ और तैल के साथ चाटना चाहिये। शूल और प्रवाहिका वाले कफ रोगी को शुष्क मूली के यूष के साथ भोजन देना चाहिये। तथा वातघ्न दधि आदि आहार द्रव्य देने चाहियें। वातातिसार में कथित मुद्ग, माषादि यूष, लोपाक आदि मांस रस, बाल-बिल्वादि खडों के साथ भोजन देना चाहिये। अथवा पूर्वोक्त चांगेरी घृतादि अम्ल घृत, षट्पल घृत या पुरातन घृत को बलानुसार यवागू या मण्ड में मिला कर देना चाहिये।

वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि।
शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छाबस्तिं प्रयोजयेत् ॥ १२३ ॥
पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि।
कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत् ॥ १२४ ॥
प्रत्यागते सुखं स्नातं कृताहारं दिनात्यये।
बिल्वतैलेन मतिमान्सुखोष्णेनानुवासयेत् ॥ १२५ ॥

(३९) वायु और कफ का अवरोध होनेपर या कफ के अतिस्राव होने पर शूल और प्रवाहिका में पिच्छा-बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । इस के लिये पिप्पली, बेलगिरी, कूठ, सौंफ, वच और सैन्धा नमक इनके कल्क को पिच्छाबस्ति में मिला कर प्रयोग करना चाहिये ।

पिच्छा बस्ति के गुदा से बाहर आने पर, सुख, शान्ति मिलने पर स्नान करके सायं काल में भोजन कर लेने पर कवोष्ण बिल्व तैल से रोगी को बुद्धिमान् वैद्य अनुवासन बस्ति देवे ।

वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् ।
बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम् ॥ १२६ ॥

(४०) अथवा कफ वात से पीड़ित अतिसार रोगी को बेलगिरी, काकड़ासींगी, मुस्ता, हरड़, सोंठ और वच इनके कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध तैल से बार बार अनुवासन देना चाहिये, इससे उसको शान्ति मिलती है ।

स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंक्षये ।
स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥ १२७ ॥
वातस्यानु जयेत्पित्तं पित्तस्यानुजयेत्कफम् ।
त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः ॥ १२८ ॥

त्रिदोषजन्य अतिसार में प्रथम कफ का क्षय होने से वायु अपने स्थान में (मलाशय में) अवश्य बढ़ती है । बढ़ी हुई वायु सहसा इस रोगी को मार देती है । इसलिये इसको जल्दी से शान्त करना चाहिये । वायु के पीछे पित्त को शान्त करना चाहिये और पित्त के पीछे कफ को शान्त करना चाहिये । यदि कफ का क्षय न हो और वायु भी बलवान् न हो तो सन्निपात-अतिसार में तीनों दोषों में जो दोष अधिक बलवान् हो उसी को प्रथम शान्त करना चाहिये ।

[भयजन्य और शोकजन्य अतिसारों की चिकित्सा वातातिसार के

ही समान है, इसलिये नहीं कही, इनमें केवल हर्षण और आश्वासन अधिक अपेक्षित हैं ।]

तत्र श्लोकः । प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च ।
क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टा ह्यतिसारिणाम् ॥ १२९ ॥

उपसंहार—अतिसार रोग की उत्पत्ति, निदान और लक्षण, साध्यासाध्यता और दोषानुसार सिद्ध चिकित्सा इस अध्याय में कही हैं ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रातिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
ऽतिसारचिकित्सितं नामोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः



अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'छर्दिरोग-चिकित्सा' की व्याख्या करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युतिभ्यां ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम् ।
पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं पप्रच्छ शिष्योऽग्निजमग्निवेशः ॥ ३ ॥

ब्रह्मज्ञान तप, और धृति (धारणात्मक बुद्धि) से यशस्वी, अग्नि के समान दीप्तिमान्, सूर्य के समान प्रभाव वाले, तेजस्वी, प्राणियों की हित-कामना में लगे हुए ऋषि पुनर्वसु आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा—

याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ ! ।
तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम् ॥४॥

हे वैद्यों में श्रेष्ठ भगवन् ! आपने 'अष्टोदरीय' नामक रोगाधिकार में जो पांच प्रकार के छर्दि रोग (वमन) कहे हैं उनकी चिकित्सा, कारण और लक्षण मनुष्यों के हित के लिये सम्पूर्ण रूप में कहिये ।

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद ।

याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्तास्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ॥ ५ ॥

अग्निवेश के इस वचन को सुन कर प्रसन्न होकर भिषक्-श्रेष्ठ आत्रेय ने कहा—'पहिले रोगाधिकार में जो पांच प्रकार की छर्दियां (वमन) मैंने कही हैं उनको अब विस्तार से सुनो—

दोषैः पृथक् त्रिप्रभवा चतुर्थी[1] द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात् ।

भेद—छर्दि रोग पांच प्रकार का है, पृथक् पृथक् वात, पित्त, कफ से उत्पन्न तीन प्रकार का, तीनों दोषों से उत्पन्न एक और पांचवां दूषित वस्तु के देखने से उत्पन्न होता है ।

तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥ ६ ॥

पूर्वरूप—हृदय का उत्क्लेश (जी मचलाना), मुख से कफ का स्राव (मुंह से पानी का अधिक आना), और भोजन में विद्वेष ये छर्दिरोग के पूर्वरूप हैं ।

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्षितस्य ।
क्रुद्धो महास्रोतसि मातरिश्वा दोषान् समुत्क्लिश्य तदूर्ध्वमस्यन् ॥७॥
आमाशयोत्क्लेश[2]कृतां च मर्म प्रपीडयन् छर्दिमुदीरयेत्तु ।

सम्प्राप्ति—व्यायाम से, तीक्ष्ण औषध से, शोक से, रोग, भय, उपवास आदि कारणों से, शरीर में अतिकृशता आ जाने से, गल-उदर नामक महास्रोतों में प्रकुपित वायु दोषों को उत्क्लेशित अर्थात् बाहर निकलने के स्वभाव वाला करके, ऊपर की ओर लाकर, हृदयादि मर्म स्थानों को पीड़ित करता हुआ आमाशय के उत्क्लेश अर्थात् जी मचलाने से से उत्पन्न छर्दिरोग को उत्पन्न करता है ।

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्ध्वनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ॥ ८ ॥
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥ ९ ॥

१. 'त्रिप्रभवाश्चतस्रो' इति पाठान्तरम् ।
२. '-शयोद्रेक....रयेच्च' । इति पाठान्तरम् ।

वातजन्य छर्दि के लक्षण—हृदय और पार्श्व में पीड़ा, मुख में शुष्कता, शिर और नाभि में दर्द, कास, स्वरभेद और पीड़ा रहती है, वमन काल में प्रबल उद्गार शब्द (ढकार) होता है, वमन में झाग होता है, वमन में आई वस्तु विच्छिन्न (टुकड़े टुकड़े), कृष्ण वर्ण, तनुक (पतली घनी नहीं), कषाय रस या कषाय वर्ण, थोड़े या बड़े वेग के साथ कठिनाई से वमन करता है, यह वातजन्य छर्दि के लक्षण हैं।

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्।
रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति ॥ १० ॥

पित्तजन्य छर्दि की सम्प्राप्ति—अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाही और उष्ण वस्तुओं से आमाशय में पित्त प्रकुपित होकर रसायनी अर्थात् धमनियों द्वारा फैलता हुआ मर्म हृदय आदि को पीड़ित करके, ऊपर वक्षःस्थल में पहुंच कर वमन को उत्पन्न करता है।

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसंतापतमोभ्रमार्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ११ ॥

लक्षण—रोगी को मूर्च्छा, प्यास, मुख में शुष्कता, तालु, आंख में सन्ताप, अन्धेरा और आंखों के सामने चक्कर आते हैं। वमन में आया पदार्थ पीला, हरा, अति उष्ण, तिक्त रस तथा कृष्ण वर्ण का होता है, वमन के समय जलन भी होती है।

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः।
उरःशिरोमर्म रसायनीश्च सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥ १२ ॥

स्निग्ध, अति गुरु, आम, विदाहकारक भोजनों से, दिन में सोने आदि से बहुत बढ़ा हुआ कफ छाती, शिर, मर्म (हृदय) और सब रसवाहिनी धमनियों को घेर कर वमन उत्पन्न करता है।

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसंतोषनिद्रारुचिगौरवार्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफं विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ १३ ॥

लक्षण—रोगी को तन्द्रा, मुख में मधुरता, मुख से कफ का स्राव,

सन्तोष (भोजन में अनिच्छा, तृप्ति), नींद का आना, अरुचि तथा भारीपन रहता है। वमन में आया पदार्थ स्निग्ध, घन, मधुर, तथा शुद्ध कफ रूप होता है। वमन के समय रोगी थोड़ी वेदना भी अनुभव करता है और उसको रोमांच हो जाता है।

समश्नतः सर्वरसान्प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च ।
सर्वे प्रकोपं युगपत्प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः ॥ १४ ॥

त्रिदोषज छर्दि—सब रसों को निरन्तर समशन अर्थात् पथ्यापथ्य सबको एकसाथ मिलाकर खाने से, आम अन्न के दूषित होने से और ऋतु परिवर्त्तन से तीनों वात आदि दोष एक साथ में प्रकुपित होकर त्रिदोषजन्य वमन को उत्पन्न करते हैं।

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् ।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥१५॥
विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति ।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ १६ ॥
विण्मूत्रयोस्तत्समवर्णगन्धं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम् ।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्ततोऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ १७ ॥

लक्षण—रोगी को शूल, अविपाक, अरुचि, जलन, प्यास, श्वास और प्रबल मूर्च्छा निरन्तर रहती है। वमन में आया हुआ पदार्थ लवण रस का, खट्टा, नील वर्ण, सान्द्र (घन), उष्ण तथा लाल वर्ण (या रक्त मिश्रित) होता है।

उत्सन्न दोष (उद्गत अर्थात् प्रकुपित दोष) वाले पुरुष में जब वायु, मल, स्वेद, मूत्र और उदकवह स्रोतों के मार्गों को रोक कर मल और मूत्र के समान गन्ध और वर्ण वाले पित्त कफ दोषों को कोष्ठ से ऊपर ले जाकर प्यास, श्वास और हिचकी के साथ निरन्तर बड़े भारी तीव्र वेग से वमन प्रवृत्त कराता है, तब वह पुरुष भय से व्याकुल हो शीघ्र नष्ट होजाता है।

[त्रिदोष हेतु के विना वमन इतना प्रबल नहीं होता और सब वातजन्य वमनों में वायु का इतना ऊर्ध्ववेग भी नहीं होता ।]

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।
यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥ १८ ॥

आगन्तुज छर्दि—पुरुष जिस वस्तु से द्वेष करता है उससे प्रतीप (सात्म्य के विपरीत), अपवित्र, पूति (दुर्गन्धयुक्त), अमेध्य (मन के प्रतिकूल), बीभत्स (विकृत), पदार्थों के देखने वा खाने से, अथवा उनकी गन्ध से, मन की उद्विग्नता होने के कारण जी मचलाने से जो वमन होता है, उसको दूषित, अप्रीतिकारक अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाली छर्दि (वमन) समझना चाहिये ।

[सुश्रुत में जो दौहृद, असात्म्य, बीभत्सता आदि से उत्पन्न पांचवीं छर्दि कही है उसका अन्तर्भाव भी इसी में करना चाहिये । कृमिजन्य छर्दि का अन्तर्भाव कफजन्य छर्दि में करना चाहिये ।]

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च ॥ १९ ॥

असाध्य छर्दि—क्षीण व्यक्ति में जो वमन निरन्तर, प्रबल वेग से होता हो, कास आदि उपद्रवों से युक्त, तथा वमन में रक्त तथा पूय मिला हो, मेद आदि धातुओं के कारण वमन में मोर के पंख के समान चन्द्रिका (चकत्ते २) दीखती हो तो उसको असाध्य समझना चाहिये । उपद्रव से रहित साध्य छर्दि रोग की चिकित्सा करनी चाहिये ।

छर्दि-चिकित्सा

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लंघनमेव तस्मात् ।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ २० ॥

चिकित्सा—आमाशय कफ का स्थान है और आमाशय के ही उत्क्लेशित होने (मचलाने) से सब छर्दियां उत्पन्न होती हैं, इसीलिये सब से प्रथम लंघन कराना चाहिये । अथवा वातजन्य छर्दि को छोड़ कर

सब छर्दियों में कफ-पित्तनाशक वमन, विरेचन रूपी संशोधन कराने चाहियें, वातजन्य छर्दि में लंघन ही कराना चाहिये ।

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि ।
मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम् ॥२१॥

(१) कफ-पित्तनाशक विरेचन—हरड़ों के चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । अथवा जो विरेचन हृदय को प्रिय हों उनको मद्य और दूध में युक्तिपूर्वक मात्रा में मिला कर सेवन करना चाहिये । इससे ऊपर की ओर कुपित हुआ दोष नीचे की ओर चला जाता है ।

वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद्वा यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् ।
रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥ २२ ॥

(२) कफ-पित्त नाशक वमन—कड़ुवी तुरई आदि फलों के साथ वमन लेना चाहिये । जो व्यक्ति निर्बल हो उसकी संशमनी चिकित्सा करनी चाहिये । ॐ शमन के लिये मन के अनुकूल लघु मांसरसों से, लघु विशुष्क भक्ष्य अपूप आदियों से, नाना प्रकार के लघु खान-पान पेयादि से चिकित्सा करनी चाहिये ।

सुसंस्कृतास्तित्तिरिबर्हिलावरसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम् ।
छर्दिं तथा कोलकुलत्थधान्यबिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः ॥ २३ ॥

(३) वातजन्य छर्दि पर दो योग—(१) तीतर, मोर और बटेर के मांसरसों को घृतादि में भून कर हींग, जीरा मरिच से संस्कृत करके देना चाहिये । इसी प्रकार बेर, धनिया, बिल्वादि पंचमूल (बेलगिरी, अरणी, सोना पाठा, गम्भारी, पाढल) की मूलों से, कांजी के अधःस्थित किट्ट तथा जौ से कुलत्थी का यूष सिद्ध करना चाहिये । ये वातजन्य छर्दि को नष्ट करते हैं ।

ॐ शमन औषध का लक्षण—

न शोधयति यद् दोषान् समान् नोदीरयत्यपि ।
समीकरोति विषमान् तत् संशमनमुच्यते ॥ शार्ङ्गधरे ॥४।२॥

वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो[1] नरः पिबेत्सैन्धववद् घृतं तु ।
सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥२४॥
व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात् ।
स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः ॥२५॥

(४) और पांच योग—वातजन्य छर्दि में यदि रोगी को हृदय की धड़कन (Palpitation) हो तो उसको (१) घृत से चतुर्गुण सैन्धव मिश्रित जल में घृत सिद्ध करके पीना चाहिये । अथवा (२) चतुर्गुण दधि में सोंठ और धनिये के कल्क से साधित घृत पीना चाहिये । अथवा (३) अनार के रस में सिद्ध घृत पुरुष को पीना चाहिये । अथवा (४) अनार के रस में सिद्ध घृत में सोंठ, मरिच, पीपल और सैन्धव, सौवर्चल और बिड ये तीन नमक मात्रा में मिलाकर वातजन्य छर्दि में देना चाहिये । (५) घृतादि से स्निग्ध, मन के अनुकूल भोज्य पदार्थ मण्ड पेयादि, वात हर द्रव्यों से साधित लघु मांसरसों, यूषों को दही और अनार से खट्टा बना कर वातजन्य छर्दि में देना चाहिये ।

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत्स्यात् ।
कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत्स्वादुभिरूर्ध्वमेव ॥ २६ ॥

(५) पित्तजन्य छर्दि में रेचक-वामक योग—पित्तजन्य छर्दि में अनुलोमन (विरेचन) के लिये द्राक्षा रस या विदारी के रस में अथवा गन्ने के रस में त्रिवृत् का चूर्ण मिला कर देना चाहिये । कफाशय (आमाशय) में स्थित बड़े हुए पित्त को निकालने के लिये मधुर वमन द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये, जिससे रोगी को वमन हो जाये ।

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम् ।
प्रदापयेन्मुद्गरसेन वापि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा ॥ २७ ॥

पथ्य—इस प्रकार से शुद्ध होने पर, समय पर भूख लगने पर लाजा के चूर्ण को पानी में घोल कर बनाये मन्थ को मधु और शर्करा

१. 'वातात्मके हृद्गद-कासयुक्तो' इति च पाठः ।

के साथ मिला कर देना चाहिये । अथवा लाजा से बनी पेया मधु और शर्करा के साथ देनी चाहिये । अग्नि प्रबल हो तो मूंग के यूष के साथ शालि भात देना चाहिये । अथवा जांगल मांसरस के साथ शालि चावल देने चाहियें ।

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जान् ।
खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ॥ २८ ॥

(६) पांच योग—(१) कुल्माष (वनमाष, अभाव में चने), लाजा और जौ इनके सत्तुओं में गृंजनक (प्याज या शलजम) और पिप्पली का चूर्ण मात्रा में मिला कर मिश्री और मधु के साथ चाटना चाहिये । (२) खजूर के मांसों (कोमल गूदों) को पिप्पली के साथ पीसकर मिश्री और मधु के साथ चाटना चाहिये । (३) अथवा नारियल को पिप्पली के साथ पीस कर मिश्री और मधु के साथ चाटना चाहिये । (४) मुनक्का को पिप्पली के साथ पीस कर मधु और मिश्री के साथ चाटना चाहिये । (५) बेरों को पिप्पली के साथ पीस कर मधु और मिश्री के साथ चाटना चाहिये ।

स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्जचूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयां वा ।
कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्लाजासितामागधिकाकणान् वा ।२९।

(७) दो योग—(१) स्रोतोज (रसांजन, रसौंत), जलज (मुस्ता), नीला कमल, बेर की मज्जा इनके चूर्णों को अथवा हरड़ के चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । अथवा (२) बेर की गुठली की मज्जा, रसांजन, मक्खी का मल, लाजा, मिश्री तथा पिप्पली के तण्डुलों को मिश्री के साथ चाटना चाहिये । [छः वस्तुओं का मिलित यह एक ही योग है ।]

द्राक्षारसं वापि पिबेत्सुशीतं मृद्-भृष्टलोष्ट्रप्रभवं जलं वा ।
जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं पिबेत्सुशीतं मधुसंयुतं वा ॥ ३० ॥
निशि स्थितं वारि समुद्गकृष्णं सोशीरधान्यं चणकोदकं वा ।
गवेधुकामूलजलं गुडूच्या जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा ॥ ३१ ॥

(८) आठ योग—(१) द्राक्षा (मुनक्का) के क्वाथ को शीतल करके पीना चाहिये। अथवा (२) मिट्टी के ढेले को गरम करके पानी में बुझा कर उस पानी को पीना चाहिये। (३) जामुन और आम दोनों के कोमल पत्तों के क्वाथ को ठण्डा करके मधु मिला करके पीना चाहिये। (४) मूंग और पिप्पली को एक साथ रात में रक्खा पानी पीना चाहिये। (५) उशीर (खस), धनिया और चनों को जल में डालकर रातभर रखना चाहिये। प्रातःकाल इस पानी को पीना चाहिये। (६) गवेधुक (क्षुद्र गोधूम) की मूल को जल में भिगो कर रात भर रख कर प्रातः पीना चाहिये। इसी प्रकार से (७) गिलोय को पानी में भिगो कर रात भर रखना चाहिये और प्रातः पीना चाहिये। अथवा (८) गन्ने का रस या दूध पीना चाहिये।

सेव्यं पिबेत्काञ्चनगैरिकं वा सवालकं तण्डुलधावनेन।
कल्कं तथा चन्दनसेव्यमांसीद्राक्षोत्तमाबालकगैरिकाणाम् ॥ ३२ ॥

(९) तीन योग—(१) सेव्य (उशीर, खस) को पीस कर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये। (२) कांचनगैरिक (स्वर्णगैरिक) को और बालक (नेत्रबाला) के चूर्ण को मिला कर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये। (३) श्वेत चन्दन, सेव्य (खस), जटामांसी, मुनक्का, उत्तमा (प्रियंगु), बालक (नेत्रबाला) और गैरिक (स्वर्णगैरिक) इन सात वस्तुओं के चूर्ण को तण्डुलोदक (चावलों का धोवन) के साथ पीना चाहिये।

शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं मूर्वां तथा तण्डुलधावनेन।
धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि ॥ ३३ ॥

(१०) चारयोग—(१) स्वर्ण गैरिक का चूर्ण और शालिधान्य के चूर्ण को शीतल पानी से पीना चाहिये (२) मूर्वा के चूर्ण को तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये। (३) श्वेत चन्दन के चूर्ण को आंवले के रस के साथ पीना चाहिये। (४) प्यास और वमन में गैरिक, शालि, मूर्वा और चन्दन इनके चूर्णों को मधु के साथ चाटना चाहिये।

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः।

पिण्डीतकैः सैन्धवसंप्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम् ॥ ३४ ॥

(११) शोधक योग—कफ और आमाशय के शोधन के लिये कफजन्य छर्दि में वमन देना चाहिये। वमन के लिये पिप्पली, सरसों और नीम के क्वाथ में पिण्डीतक (मैनफल) का कल्क और उचित वमन योग्य मात्रा में सैन्धव मिला कर प्रयोग करना चाहिये।

गोधूमशालीन्सयवान्पुराणान्यूषैः पटोलामृतचित्रकाणाम्।
व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात् ३५.
रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां मांसानि—

पथ्य—पुरातन (एक साल पुराने) गेहूं, चावल और जौ को पटोल, गिलोय, चित्रकमूल से बने यूषों के साथ, अथवा सोंठ, मरिच, पिप्पली के साथ तक्र में सिद्ध यूषों के साथ, नीम के द्वारा तक्र में सिद्ध यूषों से, शुष्क बेर, मूली आदि अम्ल फलों से साधित यूष के साथ तथा कटु पदार्थों के साथ खाना चाहिये। जांगल पशु पक्षियों के मांसरसों को और इनके मांसों को सलाख पर भूनकर खाना चाहिये।

जीर्णान्मधुशीध्वरिष्टान्।
रागांस्तथा षाडवपानकानि द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥ ३६ ॥

पेय—पुरातन मधु, शीधु, अरिष्टों को पीना चाहिये और कपित्थ और द्राक्षा आदि से बने रागों, षाड्व, पानक आदि को पीना चाहिये।

मुद्गान्मसूरांश्चणकान्कलायान्भृष्टान् युतान्नागरमाक्षिकाभ्याम्।
लिह्यात्तथैव त्रिफलाविडङ्गचूर्णं विडङ्गप्लवयो रसं वा ॥ ३७ ॥

(१२) मूंग, मसूर, चना, मटर इनको भूनकर सोंठ और शहद के साथ खाना चाहिये। त्रिफला और बायविडंग के चूर्ण को मधु से चाटना चाहिये, अथवा बांयावडंग और प्लव (कैवर्तमुस्ता) के क्वाथ को मधु के साथ पीना चाहिये।

सजाम्बवं वा बदरस्य चूर्णं मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्।
दुरालभां वा मधुसंप्रयुक्तां लिह्यात्कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम् ॥ ३८ ॥

(१३) लेह्य तीन योग—कफजन्य छर्दि को रोकने के लिये—(१) जामुन और बेर के चूर्ण को मधु के साथ, (२) मुस्ता और काकड़ासींगी के चूर्ण को मधु के साथ और (३) दुरालभा के चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये।

मनःशिलायाः फलपूरकस्य रसैः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम् ।
क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं लिह्ज्जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥ ३९ ॥

(१४) दो योग—(१) आर्द्रक के रस की भावना से शोधित मैनसिल के चूर्ण की एक रत्ती मात्रा को कैथ के रस और फलपूरक (बिजौरे) के रस के साथ शहद में चाटने से तीव्र वेगवती छर्दि (वमन) शान्त होती है। (२) पिप्पली के चूर्ण को मरिच चूर्ण के साथ मिला कर शहद से चाटना चाहिये, इस से कफजन्य छर्दि नष्ट होती हैं।

यैषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेऽपि समीक्ष्य बुद्धया ।
दोषर्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रविद्प्रमत्तः ॥ ४० ॥

वात आदि दोषों से उत्पन्न छर्दि की जो चिकित्सा पृथक् रूप से मैंने कही है, इसी चिकित्सा को रोग, ऋतु, दोष और अग्नि के बल का विचार करते हुए सावधान शास्त्रवित् वैद्य को सन्निपातजन्य छर्दि में भी बुद्धिपूर्वक विचार करके प्रयोग करना चाहिये।

मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि ।
लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारयुक्ताश्च हिता विहाराः ॥ ४१ ॥

(१५) आगन्तुज छर्दि चिकित्सा—मन में ग्लानि होने पर मन के अनुकूल वचनों को, आश्वासन, सान्त्वना तथा प्रसन्न करने वाले कार्यों को, लोक में प्रसिद्ध हर्षजनक गाथाओं को सुनाना चाहिये, शृंगार रस वाले विहारों और मित्रों का सेवन हितकारी है।

गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृत्पुष्पयुक्ताम्लफलादिकानाम् ।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाडवरागलेहाः ॥ ४२ ॥
यूषा रसाः काम्बलिका खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः ।

फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ॥ ४३ ॥
गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत्प्रियमप्यसात्म्यम् ।
तदेव दद्यात्प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुखमेव जेतुम् ॥ ४४ ॥

(१३) सात्म्य-चिकित्सा—मन के अनुकूल विचित्र सुगन्धियां, आम आदि के फलों के पुष्पों से युक्त मिट्टी, (मिट्टी चूंकि गन्ध को जल्दी से ग्रहण कर लेती है), उत्तम है । मन के अनुकुल, शाक, भोजन, पानक, अच्छी प्रकार से संस्कृत षाडव, राग, लेह, यूष, मांसरस, कांम्बलिक, खड, मांस, नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थ, नाना वर्ण और रस से युक्त फल और मूल वमन को शान्त करते हैं । जो गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द या रूप रोगी को प्रिय हो वही उस रोगी को देना चाहिये । क्योंकि असात्म्य से उत्पन्न रोग उसी असात्म्य के प्रिय गन्धादि के देने से सुख पूर्वक शान्त किया जा सकता है । असात्म्य गन्ध से उत्पन्न वमन में प्रिय गन्ध देनी चाहिये ।

छर्द्युत्थितानां च चिकित्सितात्स्वाच्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम् ।
अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य कर्मातियोगे विहितं विधेयम् ॥ ४५ ॥

छर्दि से उत्पन्न ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा वही अपने अपने रोग की चिकित्सा करनी चाहिये । इस प्रकार से सब उपद्रवों की अपनी २ चिकित्सा करनी चाहिये । वमन के अति अधिक होने पर विरेचन के अधिक होने के कार्यों (चिकित्सा) को करना चाहिये ।

वमिप्रसङ्गात्पवनोऽप्यवश्यं धातुक्षयाद् वृद्धिमुपैति तस्मात् ।
चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि ॥ ४६ ॥
सर्पिर्गुडाः क्षीरविधिर्घृतानि कल्याणकत्र्यूषणजीवनानि ।
वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहाश्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति ॥ ४७ ॥

वमन के अधिक होने के कारण धातु का क्षय होने पर वायु अवश्य कुपित होता है । इसलिये चिरकालिक वमन में वायुनाशक, उपष्टम्भक और बृंहण कार्य करने चाहियें । इस के लिये 'क्षतक्षीण-चिकित्सा' में कहे

सर्पिर्गुड़, दुग्ध-पाक विधि, कल्याणक घृत, त्र्यूषणादि घृत, जीवनीय घृत, वृष्य मांसरस और अवलेह (वृष्य) चिरकालिक छर्दि को शान्त कर देते हैं।

तत्र श्लोकः। संख्यां हेतुं लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां च योगांश्च।
छर्दीनां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह मुनिवर्यः ॥ ४८ ॥

उपसंहार—मुनिश्रेष्ठ आत्रेय ने छर्दियों की संख्या, कारण, लक्षण, उपद्रव, साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा प्रयोगों का इस चिकित्सा अध्याय में छर्दि रोग की शांन्ति के लिये उपदेश किया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'विसर्प-चिकित्सा' का वर्णन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे।
पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसंपदः ॥ ३ ॥
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान्सर्वतः स्वभ्यलङ्कृते।
विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥ ४ ॥
महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम्।
अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ॥ ५ ॥

अग्निवेश का प्रश्न—ऋषियों से पूजित, महर्षियों से घिरे, सब प्राणियों की मंगलकामना में लगे हुए, जितेन्द्रिय ऋषि आत्रेय किन्नरों से सेवित,

अनेक झरनों और रसवती ओषधियों से व्याप्त, फूलों से लदे, मधुर गन्ध वाले, नाना प्रकार के वृक्षों से सदा हरे-भरे कैलास पर्वत पर जिस समय विचर रहे थे, उस समय विनयपूर्वक, उचित समय पर अग्निवेश ने गुरु आत्रेय से निवेदन किया—

भगवन् दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम् ।
विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षये ॥ ६ ॥
सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा ।
विनश्यन्त्यनुपक्रान्तास्तत्र नः संशयो महान् ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! सर्पविष के समान विषैले, प्राणियों के शरीर में सर्पण-शील अर्थात् फैलने वाले भयानक रोग को देखता हूं। इस शीघ्रकारी रोग से सहसा आक्रान्त होने पर चिकित्सा न करने से प्राणी मर जाते हैं, इस रोग के विषय में हमें बहुत संशय है।

स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना ।
कतिभेदः कियद्धातुः किं निदानः किमाश्रयः ॥ ८ ॥
सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः ।
कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवन् तस्य भेषजम् ॥ ९ ॥

(१) इस रोग का क्या नाम है ? (२) इस रोग की यह संज्ञा किसलिये हुई ? (३) इसके कितने भेद हैं ? (४) कितने धातुओं को दूषित करता है ? (५) इसका कारण क्या है ? (६) इसका आश्रय क्या है ? (७) सुखसाध्य, (८) कष्टसाध्य और (९) असाध्य के क्या भेद हैं ? (१०) या किस प्रकार, (११) किन २ लक्षणों से जाना जाता है ? (१२) इसकी चिकित्सा क्या है ? इस प्रकार से अग्निवेश ने बारह प्रश्न पूछे।

तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रेयः पुनर्वसुः ।
यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥ १० ॥

इस प्रकार अग्निवेश के प्रश्नों को सुन कर मुनिश्रेष्ठ पुनर्वसु आत्रेय ने सब बातों को विस्तार से पूर्ण रूप में कहा—

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।
परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥ ११ ॥

नामार्थ—यह विविध प्रकार से फैलता है, इसलिये इसको 'विसर्प' नाम से कहते हैं । अथवा चारों ओर फैलने से इसको 'परिसर्प' नाम से भी कहते हैं ।

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः ।

विसर्प के भेद—यह विसर्प रोग दोष-भेद से सात प्रकार का है और रक्त आदि सात धातुओं से स्फुटित होता है ।

पृथक्त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥ १२ ॥
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ।
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥ १३ ॥
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ।
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ॥ १४ ॥

सात प्रकार का विसर्प—तीनों दोषों से पृथक् २ तीन प्रकार का, त्रिदोषज एक प्रकार का और द्वन्द्वज विसर्प तीन प्रकार का है । इस प्रकार से विसर्प सात प्रकार का है । अर्थात् (१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य, (४) सन्निपातजन्य, (५) वातपित्तजन्य, आग्नेय विसर्प, (६) कफवातजन्य, ग्रन्थि-विसर्प और (७) पित्तकफजन्य, कर्दमक, घोर (भयानक) विसर्प होता है ।

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥ १५ ॥

विसर्प रोग की उत्पत्ति में सात धातुएं कारण हैं । जैसे—रक्त, लसीका नामक उपधातु, त्वचा, मांस ये चारों दूष्य धातु तथा वात, पित्त

और कफ ये तीन शरीर को मलिन करने वाले दोष, ये सातों धातुएं विसर्प के कारण हैं। ❀

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥ १६ ॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्।
शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥ १७ ॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मस्तुकस्य[1] च।
दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां[2] च सेवनात् ॥ १८ ॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पिष्टकस्य[3] च।
ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ॥ १९ ॥
प्रक्लिन्नानां च मत्स्यानां[4] विरुद्धानां च सेवनात्।
अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात्तथा ॥ २० ॥

❀ कुष्ठ रोग में भी ये ही सात धातु दूष्य होते हैं, यथा—

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग् रक्तं मांसमम्बु च।
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥

यहां पर अम्बु और लसीका की भिन्नता है। कोई आचार्य इनको एक ही वस्तु मानते हैं, परन्तु श्रीगंगाधर सेन ने पृथक् माना है। कुष्ठ रोग में दोषों की चिरकारिता तथा रक्त-पित्त की अप्रबलता रहती है और विसर्प में दोषों की शीघ्रकारिता तथा रक्त-पित्त की प्रबलता रहती है, दोनों में यही भेद है।

(२) वात आदि की कार्यानुसार दोष, मल या धातु संज्ञा हो जाती है। यथा—

शरीरदूषणात् दोषा, मलिनीकरणान्मलाः।
धारणाद् धातवश्च स्युः वात-पित्त-कफास्त्रयः ॥

१. 'मन्दकस्य' इति पा०। २. आस्नुतानां इति पा०।
३. पैष्टिकस्य इति पा०। ४. 'प्रस्विन्नानामसात्म्यानां' इति पा०।

क्षतबन्धप्रपतनाद्घर्मकर्मातिसेवनात् ।
विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥ २१ ॥

विसर्प रोग के कारण—लवण, अम्ल, कटु और उष्ण रसों के अति सेवन से, दधि, खटाई, शुक्त, मस्तु और सुरा, सौवीरक (कांजी) के सेवन से, दूषित उष्ण मद्य के बहुत सेवन से, उष्ण रागों और षाड़वों के अति सेवन से, हरे शाकों और हरित शाक वर्ग में पठित आर्द्रक आदि विदाहकारक पदार्थों के सेवन से, कूर्चिका (दही या तक्र की फुटकन)से, किलाट (फटे हुए दूध) की फुटकन के सेवन से, मन्दक या मण्डक (मन्द, दूध या दही) के सेवन से, दही से बनी शिखरणी (रसाला) के पीने से, शाण्डाकि आदि तीव्र आसवों के सेवन से, तिल, उड़द, कुलत्थी, तैलों और पिट्ठी के बने पदार्थों के सेवन से, ग्राम्य, आनूप और उदक मांसों के सेवन से, लशुन के सेवन से, प्रक्लिन्न अर्थात् सड़ी, गली मछलियों तथा संयोग-विरुद्ध पदार्थों के सेवन से, अति मात्रा में भोजन करने से, दिन में सोने से, अजीर्णावस्था में और अधिक भोजन करने से, चोट से, व्रण के बांधने से, गिरने से, सूर्य्य, अग्नि आदि के अति सेवन से, विष-दोष से, वायु के दोष से और अग्नि के दोषों से विसर्प रोग उत्पन्न होते हैं ।

एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः ।
दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥ २२ ॥

इन सम्मिलित निदानों (कारणों) से कुपित वात आदि दोष रक्त आदि दूष्य धातुओं को दूषित करके अहितसेवी पुरुष में विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं ।

बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः ।
विसर्पो बलमेषां तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥ २३ ॥
बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् ।
विसर्पं दारुणं विद्यात्सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम् ॥ २४ ॥

यह रोग तीन स्थानों में आश्रित है। (१) बहिःश्रित, (२) शरीर के अन्तःश्रित और (३) अन्तः बाह्य दोनों में आश्रित। इनमें पूर्व २ से उत्तर उत्तर का विसर्प-काल अधिक है। अर्थात् बहिःश्रित साध्य, अन्तःश्रित कृच्छ्रसाध्य और उभयाश्रित विसर्प असाध्य होता है।

अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये।
बहिर्बहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥ २५ ॥

दोष शरीर के अन्दर प्रकुपित होकर अभ्यन्तर आश्रय में विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं। शरीर के बाहर में प्रकुपित दोष शरीर के बाह्य भाग में आश्रित होकर विसर्प रोग उत्पन्न करते हैं। शरीर के अन्दर और बाहर दोनों जगह में आश्रित दोष बाहर और अन्दर सर्वत्र विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं।

मर्मोपघातात्संरोधा[1]दयनानां विघट्टनात्।
तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं[2] च प्रवर्तनात् ॥ २६ ॥
विद्याद्विसर्पमन्तर्यदाशु चाग्निबलक्षयात्।

लक्षण—मर्म (छाती और हृदय) में होने वाली पीड़ा से, श्वास, उच्छ्वास, मूत्र, मलादि प्रवृत्त मार्गों के रुक जाने से, स्रोतों के विघट्टन (नष्ट) होने से, प्यास के अधिक लगने से, वेगों (मल, मूत्रादि) के विषम रूप में प्रवृत्त होने से, तथा अग्निबल के शीघ्र नष्ट होने से अन्तः-विसर्प को जानना चाहिये।

अतो विपर्ययाद् बाह्यमन्यैर्विद्यात्स्वलक्षणैः ॥ २७ ॥

अन्तः-विसर्प के विपरीत, बाह्य-विसर्प मर्म के अनुपघात से, मलादि प्रवृत्त मार्गों के न रुकने से, स्रोतों के अविघट्टन से, प्यास के अधिक न होने से, वेगों के समान रूप में प्रवृत्त होने से उत्पन्न होता है। उसे आगे कहे जाने वाले बाह्य विसर्प के लक्षणों से जान लेना चाहिये।

यस्य लिङ्गानि सर्वाणि बलवद्यस्य कारणम्।

१. 'संमोहाद्' इति पा०। २. 'विषमाणां' इति पा०।

यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः ॥ २८ ॥

घातक विसर्प—जिस विसर्प में आगे कहे जाने वाले सब लक्षण होते हैं, जिस विसर्प का कारण बलवान् हो, जिस विसर्प में कष्टदायक उपद्रव हों और जो विसर्प मर्म स्थान (हृदय या छाती) में पहुंचा हो, वह विसर्प रोगी को मार देता है।

रूक्षोष्णैः कारणैर्वायुः पूरणैर्वा समाहितः[१] ।
प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ॥ २९ ॥

वातज विसर्प की निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—रूक्ष, उष्ण कारणों से कुपित वायु अथवा वातवर्धक रूक्ष, उष्ण, पूरण द्रव्यों से युक्त वायु रक्त, लसीका आदि दूष्यों को दूषित करके बलानुसार विसर्प रोग को उत्पन्न करता है।

तस्य रूपाणि[२] । भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमककासास्थिसन्धिभेदविवर्णवमना[३]रोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनु[४]विसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणावभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायाससंकोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते । अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदैः[५] स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविषमदारुणाल्पास्रावैर्विबद्धवातमूत्रपुरीषैश्च भवति[६] । निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः ॥ ३० ॥

लक्षण—भ्रम (चक्कर आना), दवथु (उपताप, जलन), प्यास, निस्तोद (सुइयों का सा चुभना, वेदना विशेष), शूल, अंगों में पीड़ा, उद्वेष्टन (दण्डे आदि से ऐंठन या ताड़ना), कम्पन, ज्वर, तमक श्वास, कास, अस्थिभेद, सन्धियों में पीड़ा, रंग का परिवर्त्तन, अरोचकता,

१. 'समाचितः' इति पा० । २. 'स्वरूपाणि' इति पा० ।
३. 'विश्लेषणवेपनारो०' इति पा० । ४. 'विसर्पति' इति पा० ।
५. 'शीघ्रं भेदैः' । ६. 'मूत्रवर्चस्तानि निदानोक्तानि' इति पा० ।

आंखों में आंसू, मुख से रक्त का आना होता है। अंगों (शरीर) में चिऊंटियां चलती प्रतीत होती हैं। जिस स्थान में विसर्प फैलता है उसको 'अवकाश' कहते हैं। यह अवकाश काले, लाल रंग का, शोथयुक्त होता है, इस अवकाश वा स्थान में तोद, भेद, शूल, आयास, संकोच, हर्षण (रोमांच), स्फुरण, बहुत अधिक रूप में होते हैं। चिकित्सा न करने पर इस अवकाश में शीघ्र फूटने वाले छाले भर जाते हैं। ये छाले सूक्ष्म, लाल वर्ण या काले रंग के, पतले, विषम, कठोर, थोड़े स्राव वाले होते हैं। रोगी के वायु, मल और मूत्र रुक जाते हैं। निदानोक्त रूक्षोष्ण या लवणादि इसको अनुकूल नहीं पड़ते, विपरीत स्निग्ध शीत वस्तुएं इसके अनुकूल नहीं पड़ती यह वात-विसर्प कह दिया है।

पित्तमुष्णोपचारेण[1] विदाह्यम्लादिभि[2]श्चितम्।
दूष्यान् संदूष्य धमनीः[3] पूरयन्वै विसर्पति ॥ ३१ ॥

पित्तजन्य विसर्प की सम्प्राप्ति—उष्ण उपचार से तथा विदाही अम्लादि वस्तुओं से संचित पित्त, रक्तादि चार दूष्यों को दूषित करके वात, कफ को साथ में लेकर धमनियों को पूर्ण करता हुआ विसर्प रोग को उत्पन्न करता है।

तस्य रूपाणि—ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं[4] हारिद्ररूपदर्शनं यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्र[5]नीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं पुष्यति,[6] सोत्सेधैश्चातिमात्रं

१. '-पचारादि' इति पा०। २. '-म्लाशनै-' इति पा०।
३. 'मार्गांश्च' इति पा०। ४. 'हरितनेत्रमूत्रवर्चस्त्वक् तेषां हरितहारिद्र-' इति पा०। ५. '-ताम्रहरिद्रनील' इति पा०।
६. 'पश्यति' इति पा०।

दाहसंभेदनपरीतैः स्फोटकैरुपचीयते तुल्यवर्णास्रावैरचिरपाकश्च भवति,[1] निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः ॥ ३२ ॥

लक्षण—रोगी को ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, वमन, अरोचक और अंगों में पीड़ा रहती है। पसीना बहुत आता है, शरीर के अन्दर जलन, प्रलाप, शिर में दर्द, आंखों में मैलापन, नींद का न आना, बेचैनी, चक्कर आना, अतिशय रूप में शीतल जल, शीतल वायु को चाहना, मल, मूत्र का हरा या पीला रंग, आंखों से पीला देखना होता है। जिस स्थान में विसर्प पीछे से फैलता है, उसको अवकाश कहते हैं। इस का रंग ताम्बे का सा लाल, हरा, पीला, नीला, काला इनमें से कोई एक होता है। इस स्थान में शोथयुक्त तथा जलनयुक्त और फूटने वाले बहुत से छाले उत्पन्न हो जाते हैं। इन छालों से निकलने वाला स्राव पूर्वोक्त वर्ण के समान होता है, और ये शीघ्र पक जाते हैं (पूय बन जाते हैं)। निदानोक्त लवणादि तथा विदाही, अम्लादि इस रोगी के अनुकूल नहीं होते। विपरीत शीत स्निग्ध आदि पदार्थ इसके अनुकूल पड़ते हैं, यह पित्त-विसर्प कह दिया है।

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसंचितः।
कफः संदूषयन् दूष्यं कृच्छ्रमङ्गं विसर्पति ॥ ३३ ॥

कफजन्य विसर्प की सम्प्राप्ति—स्वादु, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु अन्न (भारी अन्न), दिन में सोने से संचित हुआ कफ रक्तादि दूष्यों को दूषित करके वात और पित्त को साथ लेकर सम्पूर्ण अंग में विसर्प रोग उत्पन्न करता है।

तस्य रूपाणि—शीतकः शीतकज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान्पा-

1. चिरपाकैर्निदानो- इति पा०।

ण्डु[1]र्नातिरक्तः स्नेह[2]सुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकै-श्चिरकारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद् घनमनुबद्धं स्निग्धमास्रावं स्रवत्यूर्ध्वं च गुरुभिः स्निग्धैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहलत्वगुपलेपैर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं,[3]निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः ॥ ३४ ॥

लक्षण—शीतपूर्वक ज्वर, भारीपन, नींद का अधिक आना, अरोचकता, अविपाक, मुख में मधुरता, मुख का कफ से लिप्त रहना (भरा रहना), कफ, लाला-स्राव, वमन, आलस्य, स्तैमित्य (अंगों का गीले वस्त्र से ढंपे होने की प्रतीति), अग्निमान्द्य और निर्बलता रहती है। जिस स्थान में रोग पीछे से फैलता है वह अवकाश शोथयुक्त, पाण्डुवर्ण बहुत कम लाल रंग का, स्निग्ध, संज्ञाशून्यता, जड़ता, भारीपन तथा थोड़ी वेदना से युक्त होता है। इस स्थान में उत्पन्न छाले श्वेत या पाण्डु वर्ण के, देर में पकने वाले, देर तक रहने वाले और घनी (कठोर) त्वचा से बने आवरण वाले होते हैं। इनके फूटने पर श्वेत वर्ण, पिच्छिल, तन्तुयुक्त, घना, अनुबद्ध (पूर्ण स्रवित न हो, कुछ शेष रह जाय ऐसा), दुर्गन्धयुक्त स्राव होता है। छालों के उपरि भाग में गुरु, स्थिर, जाल की तरह बुने, स्निग्ध, घन (कठोर) त्वचा से बने आवरण वाले छाले होते हैं। एक छाला नष्ट होता है कि तुरन्त दूसरा निकल आता है, इस प्रकार से इनका निरन्तर अनुबन्ध लगा रहता है। इस प्रकार यह विसर्प अनुबंधी (निरन्तर देर तक रहने वाला) होता है। रोगी की त्वचा, नख, आँखें, मुख, मूत्र और मल श्वेत वर्ण के होते हैं। लवणाम्लादि तथा स्वादु अम्लादि निदानोक्त इस रोगी को अनुकूल नहीं होते, इसके विपरीत कटु, उष्ण आदि वस्तुएं रोगी के अनुकूल होती हैं।

१. 'श्वयथुमान् पाण्डुमान्' इति पा० । २. 'रक्तस्नेहः सु-' इति पा० । ३. '-वर्चस्तानि' इति पा० ।

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः ।
परस्परं लब्धबलं दहद् गात्रं विसर्पति ॥ ३५ ॥

अपने अपने कारणों (कटु, अम्ल, उष्णादि) से, पित्त और (व्यायाम आदि) से वायु कुपित होकर परस्पर एक दूसरे से बल को प्राप्त करके जल्दी से अंग में विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं ।

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्यतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसन्धिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते । यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवत्यग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां हिक्काश्वासौ जनयति नाशयति निद्रां, स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलभते, अरतिपरीतः स्थानादासनात् शय्यां क्रान्तुमिच्छति क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां लभते[1] दुःखप्रबोधश्च भवति, तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ३६ ॥

लक्षण—इस आग्नेय विसर्प से पीड़ित रोगी सम्पूर्ण शरीर को अंगारों से जलता हुआ अनुभव करता है, उसको बहुत दाह होता है । रोगी को वमन, अतीसार, मूर्च्छा, दाह, मोह, ज्वर, तमक श्वास, अस्थिभेद, सन्धिभेद, प्यास, अरोचकता, अविपाक, अंगों का टूटना होता है । जिस स्थान में रोग फैलता है वह अवकाश बुझे हुए अंगारों के समान कृष्ण वर्ण या बहुत लाल होता है । अग्नि से जलने के कारण उत्पन्न हुए छालों के समान ही छाले होते हैं । यह विसर्प शीघ्र गर्मी होने से जल्दी ही मर्मों (हृदय, छाती आदि) में फैल जाता है । मर्मों में जलन (पीड़ा) होती है, हृदय में या शरीर में वायु अति बलवान् होकर अंगों को विदीर्ण करता है, संज्ञा को बहुत अधिक रूप में नष्ट करता है (अचेतन

१. 'निद्रां भजति अबलो दुःखप्रदश्च तमेवं-' इति पा० ।

कर देता है), हिक्का, श्वास को उत्पन्न करता है, नींद को नष्ट कर देता है। रोगी नींद और संज्ञा के नष्ट होने से दुःखित मन वाला होकर कहीं भी शान्ति नहीं पाता, [वह चारों दिशाओं में भागता फिरता है], स्थान, आसन और शय्या से बचता फिरता है, इस प्रकार से अति पीड़ित होकर जल्दी से सो जाता है और कठिनाई से जागता है। इस प्रकार के रोगी को अग्नि-विसर्प से पीड़ित समझना चाहिये। वह विसर्प असाध्य है।

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना।
विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति चाधिकम् ॥ ३७ ॥

कर्दम-विसर्प—अपने अपने कारणों से कुपित कफ (गुरु, मधुर आदि से) और पित्त (कटु, अम्लादि से), विसर्प रोग के कारणों के बलवान् होने पर शरीर के एक भाग में विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं। यह विसर्प अधिक आर्द्रता (क्लिन्नता) उत्पन्न करता है।

तद्विकाराः—शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा प्रमोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रायोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायशश्चामाशये विसर्पत्यलस एकदेशग्राही च स्यात्, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभो[1] मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् संज्ञास्मृतिहन्ता परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽनन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति, तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ ३८ ॥

लक्षण—शीत लग कर ज्वर आना, शिर में वेदना, जलन, स्तैमित्य

१. 'कालो मलिनः' इति पा०।

(गीले वस्त्र से ढंपे हुए के समान अंगों में प्रतीति), अंगों में अवसाद (पीड़ा का अनुभव), निन्द्रा, तन्द्रा, मूर्च्छा, अन्न में अरुचि, प्रलाप, अग्निमान्द्य, निर्बलता, अस्थियों में वेदना, मूर्च्छा, प्यास, स्रोतों का कफ से उपलिप्त रहना, इन्द्रियों में जड़ता (भारीपन या सुस्ती), मल में आम (अपक्व दोष) का आना, अंगों में विक्षेप, बेचैनी तथा उत्सुकता उत्पन्न होती है। यह विसर्प प्रायः आमाशय में (कफ-पित्त के स्थान में नाभि से ऊपर और वक्षःस्थल से नीचे) होता है, यह स्थानिक अर्थात् एक देश में ही होता है। जिस स्थान में विसर्प फैलता है, वह अवकाश लाल वर्ण, पाण्डुर, पीली, फुन्सियों से व्याप्त, मेचक (स्निग्ध कृष्ण वर्ण) के समान कान्तियुक्त, मलिन, स्निग्ध, बहुत गरम, भारी, मन्द वेदनायुक्त, शोथयुक्त, देर में गहरा पकने वाला, स्राव रहित तथा जल्दी ही आर्द्र होने वाला होता है। यह स्थान स्विन्न (स्वेदयुक्त), क्लिन्न (गीला), सड़े मांस वाला (मांस गल जाता है) होता है। इस में थोड़ी वेदना होती है। यह संज्ञा और चेतना को नष्ट कर देता है। परामृष्ट (हाथ लगाने से) जगह फट जाती है। यह विसर्प हाथ लगाने में कीचड़ के समान लगता है। मांस शीर्ण होकर (गल गल कर) गिरता है, सिरा और स्नायु दीखने लगती है, इसमें से शव जैसी गन्ध आती है, यह कर्दम-विसर्प असाध्य है।

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामसेविनामप्रतिकर्मशीलानां च श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते, तत्र वायुः श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये संजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितानां ग्रन्थीनां मालां कुरुते[1]तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां दीर्घवृत्तरक्तानां,तदुपतापाज्ज्वरातीसारकास-

1. '-श्रितं ग्रन्थिविसर्पंकुरुते' इति पा०।

हिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनानि[1] प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः, तैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ॥ ३५ ॥

ग्रन्थि-विसर्प—स्थिर, गुरु, कठिन, मधुर, शीतल, स्निग्ध, अन्नपान तथा अभिष्यन्दी (कफवर्धक) वस्तुओं के सेवन करने से, व्यायाम आदि श्रमों के न करने और संचित हुए कफ और वायु के प्रतिकार न करने से पुरुषों में कफ और वायु दोनों प्रकुपित हो जाते हैं। ये दोनों अति प्रबल दोष से दूषित होकर और वृद्धि पाकर रक्त आदि दूष्य पदार्थों को दूषित करके विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं। इसमें वायु कफ के कारण मार्ग रुक जाने से कफ को अनेक प्रकार से विभक्त करके, क्रम से ऐसे ग्रन्थि-समूहों को उत्पन्न कर देता है जो बड़ी कठिनाई से पकते हैं। अथवा कफाशय में उत्पन्न अर्थात् कुपित या बढ़े हुए रक्त वाले पुरुष के रक्त को दूषित करके वायु कफ को अनेक प्रकार से छिन्न भिन्न करके ग्रन्थियों को सिरा, स्नायु, मांस, त्वचा में ग्रन्थि-विसर्प को उत्पन्न कर देता है। इस ग्रन्थि-विसर्प में तीव्र पीड़ा वाली बहुतसी मोटी और छोटी, लम्बी और गोल आकार की गांठें उत्पन्न हो जाती हैं। [यह विसर्प बाह्य और आभ्यन्तर दोनों स्थानों में आश्रित होता है]। इस ग्रन्थि-विसर्प के उपताप (पीड़ा) से ज्वर, अतिसार, हिक्का, श्वास, कास, शोष, मूर्च्छा, विवर्णता, अरोचक, अविपाक, मुख से लालास्राव, वमन, संज्ञानाश, अंगों का टूटना, नींद का न आना, बेचैनी, अंगों में साद (शिथिलता) ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इन उपद्रवों से पीड़ित ग्रन्थि-विसर्प का रोगी सब प्रकार के चिकित्सा साधनों से परे हो जाता है, इसलिये त्याज्य होता है, उस पर कोई चिकित्सा काम नहीं करती, इसी से वह असाध्य होता है यह ग्रन्थि-विसर्प है। *

---

१. संसदनाद्याः इति पा०।

* किसी शास्त्र में इसको 'अपची' नाम से भी कहा है।

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव, स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः । तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणीभूत उपद्रवः । तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति । स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्, तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत ॥ ४० ॥

उपद्रव का लक्षण—उपद्रव भी मूल भूत किसी रोग के उत्पन्न होने के पीछे उत्पन्न होकर, उस रोग का आश्रय लेकर रहने वाला एक रोग ही होता है, वह स्थूल (स्पष्ट लक्षणों वाला), या अणु (अस्पष्ट लक्षणों वाला), मूलभूत रोग के पीछे ही उत्पन्न होता है, उसको 'उपद्रव' कहते हैं ।

उपद्रव की चिकित्सा—प्रधान (मुख्य) व्याधि को गुण-भूत (अप्रधान रूप) उपद्रव उस प्रधान व्याधि के शान्त होने पर प्रायः स्वयं शान्त हो जाता है । कभी कभी प्रधान रोग के शान्त होने पर भी कोई कोई २ उपद्रव शान्त नहीं होता है । व्याधि के पीछे उत्पन्न हुआ रोग रूप उपद्रव शरीर के पूर्वोत्पन्न व्याधि से पीड़ित होने पर और भी अधिक क्लेशदायक होता है, इसलिये व्याधि से पीड़ित शरीर वाले व्यक्ति में उपद्रव की शीघ्र ही चिकित्सा (मूल भूत रोग से पूर्व) करे ।

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गं सर्वाङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥४१॥

सन्निपातजन्य विसर्प—सब वात आदि दोषों के जो जो पृथक् २ कारण हैं, उनसे उत्पन्न, वात आदि दोषों के सम्पूर्ण लक्षणों वाले, सब अंगों में फैलने वाले, सब धातुओं में फैलने वाले (प्रथम रक्त आदि चार धातुओं में फैल कर पीछे से मेद आदि धातुओं में पहुंचने वाले), शीघ्रमारक, अति पीड़ा का कारण होने से सन्निपातजन्य विसर्प असाध्य हैं ।

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्याः भवन्ति। अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टौ मर्मण्यनुपहते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे

साधारणक्रियाभि[1]रुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्, अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्याद्देहमाश्वेवाशीविषवत् । तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुमुपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्, सन्निपातजं सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात् ।। ४२ ।।

साध्य और असाध्य—इनमें वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य ये तीन विसर्प साध्य हैं। आग्नेय और कर्दम-विसर्प में यदि ज्वरादि उपद्रवों का मिश्रण न हो वा हृदय, छाती आदि मर्म पीड़ित न हुए हों, सिरा, स्नायु, मांस के क्लिन्न होने पर साधारण क्रिया (दैव-व्यपाश्रय और युक्ति-व्यपाश्रय) से निरन्तर चिकित्सा करने पर ये दोनों आग्नेय और कर्दम-विसर्प शान्त हो जाते हैं। और यदि उपेक्षा के कारण इनकी चिकित्सा न की जाय तो इनमें से प्रत्येक विसर्प सर्प-विष के समान विष से शरीर को शीघ्र नष्ट कर देता है। यदि ग्रन्थि-विसर्प में उपद्रव न हों तो उसकी चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये और यदि ग्रन्थि-विसर्प उपद्रवों से युक्त हो तो इसको छोड़ देना चाहिये। सन्निपातजन्य विसर्प को असाध्य समझना चाहिये, क्योंकि वह सब धातुओं में फैला होने से, शीघ्र मारक या फैलने वाला होने तथा चिकित्सा के परस्पर विरुद्ध होने के कारण यह सन्निपातजन्य विसर्प असाध्य होता है। [क्योंकि पित्त के लिये की गई शीत-चिकित्सा कफ को बढ़ाती है, कफ की उष्ण चिकित्सा पित्त को बढ़ाती है, इसी प्रकार से वायु की भी चिकित्सा परस्पर विरोधी होती है]

विसर्प-चिकित्सा

तत्र साध्यानां साधनमनुव्याख्यास्यामः—

इसके आगे साध्य विसर्पों की चिकित्सा का वर्णन करते हैं—

1. 'क्रियाभिरुपायैस्तानेवाभ्यस्यमानौ' इति पा० ।

लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम् ।
कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपनम्[1] ॥ ४३ ॥
पित्तस्थानगतेऽप्येतत्सामे कुर्याच्चिकित्सितम् ।
शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥ ४४ ॥
मारुताशयसंभूतेऽप्यादितः स्याद्विरूक्षणम् ।

सामान्य चिकित्सा—(१) कफ स्थान में उत्पन्न विसर्प में जब तक दोष आमयुक्त हों तब तक प्रथम उपवास, उल्लेखन (वमन), तथा तिक्त पदार्थों का सेवन और रूक्ष, शीतल, वटादि के बल्कलों से लेपन करना चाहिये । और जब विसर्प पित्त स्थान में हो और दोष आमयुक्त हों तो यही (उपवास, वमन, तिक्त पदार्थों का सेवन, रूक्ष और शीतल लेप) चिकित्सा करनी चाहिये, साथ में रक्त-मोक्षण और विरेचन ये अधिक करने चाहियें । पक्वाशय में जब विसर्प उत्पन्न हो और दोष आमयुक्त हों तो प्रथम विरूक्षण क्रिया करनी चाहिये । [कफ स्थान से शरीर का ऊर्ध्व भाग, मल स्थान से शरीर का निचला भाग और पित्त स्थान से शरीर का मध्य भाग लेना चाहिये] ।

रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥ ४५ ॥
वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते ।
लघुदोषे महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम् ॥ ४६ ॥
न घृतं बहुदोषाय देयं तं च[2] विरेचयेत् ।
तेन दोषो ह्यवष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥ ४७ ॥
तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः ।
रुधिरस्यावसेकं च तद् व्यपाश्रयसंज्ञितम्[3] ॥ ४८ ॥
इति वीसर्पिणामुक्तं[4] समासेन चिकित्सितम् ।

१. 'प्रलेपयेत्' इति पा० । २. 'यन्न' इति पा० ।
३. 'तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम्' इति पा० । 'तद्धि अस्य आश्रितसं·' इति चक्रसम्मतः पाठः । ४. 'वीसर्पनुत्प्रोक्तं' इति पा० ।

एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥ ४९ ॥

(२) प्रारम्भ में रक्त-पित्त का सम्बन्ध होने पर भी स्नेहन कम हितकारी नहीं है। लघु दोष वाले वात-प्रबल तथा पित्तजन्य विसर्प रोगी को कुष्ठ रोग में कहा हुआ तिक्त-घृत देना उत्तम है। बहुत दोष वाले पित्तजन्य विसर्प में विरेचन देना चाहिये। बहुत संचित दोष वाले रोगी को घृत नहीं देना चाहिये, इसको तो विरेचन ही देना उत्तम है। क्योंकि घृत के कारण संचित दोष शरीर में रुक कर त्वचा, मांस और रक्त को पका देते हैं। इसलिये बहुत दोष वाले विसर्प रोगी को सब से प्रथम विरेचन तथा रक्त-मोक्षण कराना चाहिये। यही रक्त इस विसर्प रोग का आश्रय कहा जाता है। इस प्रकार से सब विसर्प रोगों की चिकित्सा संक्षेप में कह दी है, इसी चिकित्सा को अब विस्तार से कहेंगे—

विशेष चिकित्सा—

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च।
वमनं संप्रदातव्यं विसर्पे कफपित्तजे ॥ ५० ॥
पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च।
विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ॥ ५१ ॥
यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम्।
विसर्पिणां तु योज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥ ५२ ॥

(१) कफजन्य, पित्तजन्य या कफपित्तजन्य विसर्प में तीन वमन योग—(१) मुलहठी, नीम की छाल, इन्द्रजौ इनका क्वाथ करके इसमें मैनफल का कल्क मिला कर वमन कराना चाहिये। (२) पटोलपत्र और नीम की छाल के क्वाथ में मैनफल का कल्क मिला कर, अथवा (३) पिप्पली और मैनफल के कल्क से, वा (४) इन्द्रजौ के साथ मैनफल से वमन कराना उत्तम है। कल्पस्थान में जिन योगों का उपदेश करेंगे, कफ-पित्तजन्य विसर्प रोगियों के लिये उनका उपयोग करना चाहिये, वे योग दोषों को निकालने वाले और कल्याणकारी हैं।

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि ।
सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः ॥ ५३ ॥
कषायान् योजयेद् वैद्यः[1] सिद्धान् वीसर्पनाशनान् ।

(२) तीन योग—(१) मुस्ता, नीम की छाल और पटोलपत्र (२) चन्दन और नीला कमल, (३) सारिवा, आंवला, खस और मुस्ता, इन तीन विसर्पनाशक सिद्ध, फलप्रद कषायों का पान कराना चाहिये।

किराततिक्तकं लोध्रं चन्दनं सदुरालभम्[2] ॥ ५४ ॥
नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सविभीतकम् ।
मधुकं नागपुष्पं च दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥ ५५ ॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।
नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ५६ ॥

(३) दो योग—(१) चिरायता, लोध, दुरालभा, चन्दन, सोंठ, कमल का केशर, नीला कमल, बहेड़ा, मुलहठी और नागकेशर इन दस वस्तुओं का क्वाथ विसर्प रोग की शान्ति के लिये देना चाहिये। इसी प्रकार (२) पुण्डरीक, मुलहठी, कमल का केशर, नीला कमल, नागकेशर और लोध इनका क्वाथ पीना चाहिये।

द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीं गुडूचीं धन्वयासकम् ।
निशापर्युषितं दद्यात्तृष्णावीसर्पशान्तये ॥ ५७ ॥
पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम् ।
यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥ ५८ ॥
पटोलादिकषायं वा सर्पिस्त्रिवृतया सह[3] ।
मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ॥ ५९ ॥
पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च ।
पाययेत घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ॥ ६० ॥

१. 'पाययेत कषायान् हि' । २. 'दुरालभां सचन्दनाम्' इति पा० ।
३. 'पिबेत् त्रिफलया सह' इति पा० ।

(४) छः योग—(१) द्राक्षा, पित्तपापड़ा, सोंठ, गिलोय और धमासा इन को रात्रि में रख कर शीत कषाय के रूप में तृष्णा और विसर्प में देना चाहिये। इसी प्रकार (२) विसर्प की शान्ति के लिये पटोलपत्र, नीम की छाल, दारुहल्दी, कुटकी, मुलहठी और त्रायमाणा इनका शीत कषाय देना चाहिये। (३) उपरोक्त पटोल, नीम की छाल आदि के क्वाथ में घृत और त्रिवृत् के चूर्ण का प्रक्षेप मिला कर देना चाहिये। अथवा (४) मसूर के साथ पटोलादि कषाय सिद्ध करके घृत के प्रक्षेप के साथ देना चाहिये। (५) विसर्प रोगी को पटोलपत्र और मूंग के पत्तों के रस में घृत मिला कर देना चाहिये अथवा (६) आंवले के रस में घृत मिला कर देना चाहिये।

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिबर्हणम्।
निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥ ६१ ॥
त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम्।
विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात्तदपि बुद्धिमान् ॥ ६२ ॥

(५) महातिक्त और त्रायमाण घृत—पित्त-कुष्ठनाशक जो महातिक्त घृत कहा है, उसका भी विसर्प रोग की शान्ति के लिये बुद्धिमान् वैद्य प्रयोग करे। गुल्म रोग में जो त्रायमाण घृत कहा गया है, उसका भी विसर्प शान्ति के लिये बुद्धिमान् वैद्य प्रयोग करे। [महातिक्त घृत देखो चरक, चिकि० अ० ७ में और त्रायमाणा घृत देखो चरक चि० अ० ५ में]।

त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा।
घर्माम्बुना वा संयोज्य मृद्वीकानां रसेन वा ॥ ६३ ॥
विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम्।
त्रायमाणाश्रृतं वापि पयो दद्याद्विरेचनम् ॥ ६४ ॥
त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह।

प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरशान्तये[1] ॥ ६५ ॥
रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत् ।
स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥ ६६ ॥
दोषे कोष्ठगते भूय एतत्कुर्याच्चिकित्सितम् ।

(६) त्रिवृत्-चूर्ण योग—(१) निशोथ के चूर्ण को घृत में, या दूध में या गरम पानी में अथवा मुनक्का के रस (अंगूरों के रस) में घोल कर विरेचन के लिये पीना चाहिये । इससे विसर्प रोग शान्त होता है । त्रायमाण के अष्टमांश कल्क से चतुर्गुण जल में दूध पका कर विरेचन के लिये देना चाहिये । (३) त्रिफला के रस में निशोथ का चूर्ण और घृत मिला कर प्रयोग करना चाहिये । इससे विरेचन होता है तथा विसर्पजन्य ज्वर शान्त होता है । (४) आंवले के रस में घृत मिला कर देना चाहिये और (५) यदि रोगी का कोष्ठ भारी हो तो आंवले के रस में घृत के साथ त्रिवृत् चूर्ण मिला कर देना चाहिये । (६) यदि दोष कोष्ठ में आश्रित हों तो आंवले के रस में घृत और निशोथ का चूर्ण बहुत परिमाण में मिला कर (अथवा बार बार) देना चाहिये ।

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥ ६७ ॥
भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत् ।
पित्तान्वितं जलौकाभिः कफान्वितमलाबुभिः ॥ ६८ ॥
यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम् ।
त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥ ६९ ॥
एवं निर्हृतदोषाणां[2] दोषे त्वङ्मांससंश्रिते ।
आदितो वाऽल्प[3]दोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते ॥ ७० ॥

(७) रक्त-मोक्षण के चार उपाय—यदि शाखा (हाथ, पांव) में

१. 'ज्वरनाशनम्' इति पा० । २. 'अन्तःशरीरे संशुद्धे' इति पा० ।
३. 'आदितः स्वल्प-' इति पा० ।

रक्त दूषित हो तो सबसे प्रथम उसका मोक्षण करना चाहिये । इसके लिये (१) वात मिश्रित रक्त को सींग से, (२) पित्त मिश्रित रक्त को जोकों द्वारा, (३) कफ मिश्रित रक्त को तुम्बियों (घटी-यंत्र) से निकलवा देना चाहिये । अथवा (४) विसर्प रोग के समीपस्थ देश में सिरा का वेधन करना चाहिये । क्योंकि यदि रक्त-मोक्षण न किया जाये तो रक्त-क्लेद से ही त्वचा, मांस और स्नायु में क्लिन्नता उत्पन्न होती है, इस प्रकार रक्त-मोक्षण के कारण जब दोष त्वचा और मांस में आश्रित हों अथवा दोषों की अल्पता हो तो सबसे प्रथम बाह्य क्रिया करनी चाहिये । इसलिये उसी बाह्य क्रिया का उपदेश करते हैं ।

उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।
नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ॥ ७१ ॥

(८) रक्त-पित्तजन्य विसर्प में १९ प्रलेप—(१) गूलर की छाल, मुलहठी, कमल का केशर, नीला कमल, नागकेसर और प्रियंगु इनके चूर्ण को घृत में मिला कर लगाना चाहिये ।

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः ।
बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः ॥ ७२ ॥

(२) बरगद की जटायें, केले का मध्य भाग, बिस ग्रन्थि (मृणाल ग्रन्थि) इनके चूर्ण को शतधौत (जल से सौ बार धोये) घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

कालीयं मधुकं हेम बल्यं चन्दनपद्मकौ ।
पत्रं[1] मृणालं फलिनी प्रलेपः स्याद् घृताप्लुतः ॥ ७३ ॥

(३) कालेयक काष्ठ (चन्दन भेद), मुलहठी, नागकेसर, वन्य (केवड़ी मोथा), श्वेत चन्दन, पद्माख, पत्र (तेजपात) मृणाल (कमल नाल), फलिनी इसके चूर्ण को घृत में मिला कर लगाना चाहिये ।

१. पत्र के स्थान पर कहीं 'एला' भी पाठ है ।

शालूकं* च मृणालं च शङ्खं चन्दनमुत्पलम् ।
वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्याद् घृताप्लुतः ॥ ७४ ॥

(४) शालूक* (कमल आदि के कन्द), मृणाल (खस), शंख (शंखनाभि), चन्दन, नीला कमल, वेतस (बेंत) की जड़ और चावल इनके चूर्ण को घृत में मिला कर लगाना चाहिये ।

सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम् ।
मञ्जिष्ठा चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ॥ ७५ ॥

(५) शारिवा, कमल का पराग, खस, नीला कमल, मजीठ, चन्दन, लोध और हरड़ इनके चूर्ण को घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

नलदं च हरेणुश्च लोध्रं मधुकमुत्पलम् ।
दूर्वा सर्जरसश्चैव सघृतं स्यात्प्रलेपनम् ॥ ७६ ॥

(६) नलद (उशीर), हरेणु (गोल मटरा), लोध, मुलहठी, कमल, दूब और सर्जरस (राल) इनको घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

यावकाः सक्तवश्चैव सर्पिषा सह योजिताः ।
प्रदेहाः ।

(७) जौ के सत्तुओं को घृत में मिला कर प्रलेप करना चाहिये ।

मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः ॥ ७७ ॥

(८) मुलहठी, वीरा (शालपर्णी) और जौ के सत्तुओं को घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम् ।
दद्यादालेपनं वैद्यो-

(९) बला, उत्पल, शालूक (नीचे कमल का कन्द), वीरा (शालपर्णी), अगरु और चन्दन वैद्य इनका लेप करावे ।

मृणालं च बिसान्वितम् ॥ ७८ ॥

---

* शालूक के स्थान पर शाद्वल पाठ है, जिसका अर्थ दूब है ।

यवचूर्णं समधुकं सघृतं च प्रलेपनम् ।

(१०) मृणाल (कमल नाल) और बिस (भिस, कंवल ककड़ी) जौ का चूर्ण, मुलहठी इनको घृत में मिला कर लेप करना चाहिये । ❀

हरेणवो मसूराश्च समुद्गाः श्वेतशालयः ।

(११) हरेणु (गोल मटरा), मसूर, मूंग और श्वेत वर्ण शालि धान्य इनको घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः सर्वे वा सर्पिषा सह ॥ ७९ ॥

(१२) इनको अलग अलग अथवा सब को (जौ से लेकर शालि धान्य तक) एक साथ घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव वा ।

(१३) पद्मिनी की जड में तलस्थ शीतल कीचड़, अथवा पिसे हुए मोतियों का लेप करना चाहिये ।

शङ्खः प्रवालाः शुक्तिर्वा गैरिको वा घृताप्लुतः ॥ ८० ॥

(१४) शंख या प्रवाल (मूंगा) या शुक्ति (सीप) अथवा गेरू इनको पीस कर घृत में मिला कर लेप करना चाहिये । ये पृथक् २ लेप भी विसर्प रोगियों के लिये हितकारी हैं ।

पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम् ।
प्रपौण्डरीकं मधुकं बला शाल्लूकमुत्पलम् ।
न्यग्रोधपत्रं दुग्धीका सघृतं स्यात्प्रलेपनम् ॥ ८१ ॥

(१५) पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, बला, नीले कमल का कन्द, बरगद का पत्ता और दूधी इनको घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

बिसानि च मृणालं च सघृताश्च कशेरुकाः ।
शतावर्या विदार्याश्च कन्दौ[1]

❀ श्री गंगाधर ने मृणाल का अर्थ पद्मपुष्प का वृन्त और बिस का अर्थ प्रसूत मात्र कन्द किया है ।

१. 'कन्दौ धौतघृताप्लुतौ' इति पा० ।

(१६) बिस (प्रसूत मात्र कन्द), मृणाल (पद्मपुष्प वृन्त), कशेरू, शतावरी और विदारी कन्द इनको घृत में मिला कर लेप करना चाहिये ।

धौतघृतं तथा ॥ ८२ ॥

(१७) शतधौत (जल से सौ बार धोये) घृत का लेप करना चाहिये ।

न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थजाम्बवैः ।
त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिष्कैस्तैरेवालेपनं हितम् ॥ ८३ ॥

(१८) बरगद, गूलर, पीपल, अम्लवेतस, पिलखन, जामुन इनकी छालों को बारीक पीस कर इनमें बहुत सा घृत मिला कर लेप करना हितकारी है, [यह लेप शीतल है] ।

शैवालं नलमूलानि गोजिह्वा वृषकर्णिका[1] ।
इन्द्राणिशाकं सघृतं[2] देयं वा दाहशान्तये ॥ ८४ ॥

(१९) शैवाल (सरबाल, सेंवार), नलमूल (नरसड़ की जड़), गोजिह्वा (गाज़वां), वृषकर्णिका (मूषिकपर्णी या सुदर्शन), इन्द्राणीशाक (सिन्धुवार, निर्गुण्डी के पत्ते) इनको घृत में मिला कर लेप करना चाहिये, इससे दाह की शान्ति होती है ।

प्रदेहाः सर्व एवैते रक्तपित्तोल्बणे शुभाः ।

ये सब प्रलेप रक्त-पित्त से उत्पन्न प्रबल विसर्प में हितकारी हैं ।

कफजे[3] तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान्[4] ॥ ८५ ॥
त्रिफलां पद्मकोशीरं समङ्गां करवीरकम् ।
नलमूलान्यनन्तां च प्रदेहमुपकल्पयेत् ॥ ८६ ॥

(९) कफजन्य विसर्प पर प्रलेप—कफजन्य विसर्प के लिये

१. 'वृषपर्णिका' इति पा० ।
२. 'शिरीषत्वग् बला घृतम्' इति पाठान्तरम् ।
३. 'सकफे' इति पा० । ४. 'शुभान्' इति पा० ।

दूसरे हितकारी प्रलेपों का वर्णन करते हैं—(१) त्रिफला, पद्माख, खस, समंगा (मजीठ), करवीरक (अजवायन), नरसल की जड़, अनन्ता (सारिवा) इनको पीस कर लेप करना चाहिये।

खदिरं सप्तपर्णं च मुस्तमारग्वधं धवम्।
कुरण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं हितम्[1] ॥ ८७ ॥

(२) खैर की छाल, सप्तपर्ण की छाल, मुस्ता, अमलतास की छाल, धव वृक्ष की छाल, कुरण्टक (नील झिण्टी), देवदारु इनको पीस कर लेप करना चाहिये।

आरग्वधस्य पत्राणि त्वचं श्लेष्मान्तकस्य च।
इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरीषकुसुमानि च ॥ ८८ ॥
शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियङ्गुकाम्।
त्रिफलां मधुकं वीरां शिरीषकुसुमानि च ॥ ८९ ॥
प्रपौण्डरीकं ह्रीबेरं दार्वीत्वङ्मधुकं बलाम्।
पृथगालेपनं कुर्याद् द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा ॥ ९० ॥
प्रदेहाः सर्व एवैते देयाः स्वल्पघृताप्लुताः।

(३) अमलतास के पत्ते, श्लेष्मांतक (लसूड़ा) की छाल, इन्द्रणीशाक (सिन्धुवार, निर्गुण्डी के पत्ते), काकाह्वा (मकोय), शिरीष (छोटे सिरस या काले सिरस) के फूल, शैवाल (सरवाल), नरसल की जड़, वीरा (शालपर्णी), गन्धप्रियंगु (फूल प्रियंगु), त्रिफला, मुलहठी, वीरा (शतावरी) और बड़े सिरस या श्वेत सिरस के फूलों को, पुण्डरीक काष्ठ, ह्रीबेर, दारु हल्दी की छाल, हरड़ और बला इन वस्तुओं को पृथक् २ घी में मिला कर लेप करना चाहिये, अथवा किन्हीं दो वस्तुओं को घृत में मिला कर लेप करना चाहिये, अथवा सब वस्तुओं को घृत में मिला कर लेप करना चाहिये, इन प्रदेहों में घृत की मात्रा थोड़ी रखनी चाहिये।

---

१. 'भिषक्' इति पा०।

वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्ते घृताधिकाः ॥ ९१ ॥
प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः संप्रसादनाः ।
क्षणे क्षणे युज्यमानाः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥ ९२ ॥

(१०) वातजन्य विसर्प पर—पूर्वोक्त रक्त पित्तोल्बण प्रलेपों में घृत की मात्रा बहुत अधिक मिला कर वातजन्य विसर्पों में इनका लेप करना चाहिये । ये समस्त लेप त्वचा को सुखदायी होने चाहियें । पहला लेप हटा कर पुनः नया लेप लगाना चाहिये ।

घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात्केवलेन च ।
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥ ९३ ॥
पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा ।
वातासृक्पित्तबहुलं विसर्पं बहुशः पृथक् ॥ ९४ ॥
सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः ।
ते चूर्णयोगा वीसर्पव्रणानामवचूर्णनाः ॥ ९५ ॥

(११) त्रिदोषजन्य विसर्प पर—वात, रक्त, पित्त प्रबल विसर्प में शतधौत घृत से ही लेप करना चाहिये । अथवा घृतमण्ड (घृत के उपरितन स्वच्छ भाग से), शीतल पानी या दूध से, मुलहठी के शीतल क्वाथ से या पंच वल्कल (गूलर, बरगद, पीपल, पिलखन, अम्लवेतस या जामुन इनके बक्कल) के शीतल क्वाथ से पृथक् पृथक् बार बार विसर्प पर परिषेक करना चाहिये । जो योग परिषेक के लिये हैं, वे ही प्रमेह के लिये बरतने चाहिये, उन्हीं योगों से घृत सिद्ध करके लगाना चाहिये । उन्हीं योगों के चूर्णों को विसर्प के व्रणों पर छिड़कना चाहिये ।

दूर्वास्वरससिद्धं च घृतं स्याद् व्रणरोपणम् ।
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरं चावचूर्णितम् ॥ ९६ ॥
पटोलः पिचुमर्दस्तु त्रिफला मधुकोत्पले ।
एतत्प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणचूर्णं प्रलेपनम् ॥ ९७ ॥

(१२) घृत से चौगुने दूर्वा के स्वरस में कल्क रहित घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत व्रण का रोपण करता है। दारुहल्दी की त्वचा, मुलहठी, लोध, नागकेशर इनको चूर्ण करके प्रयोग करना चाहिये। पटोलपत्र, नीम की छाल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मुलहठी, नीला कमल, इनके मिलित क्वाथ से प्रक्षालन करना चाहिये, इनके ही क्वाथ और कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये और इन्हीं वस्तुओं का चूर्ण छिड़कना चाहिये तथा इनका ही प्रलेप लगाना चाहिये।

प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः संप्रसादनाः।
व्रणे व्रणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥ ९८ ॥
अधावनोद्धृते सर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः।
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्याधानोद्धृते घनाः ॥ ९९ ॥

जिस विसर्प में जो प्रलेप कहे हैं, उनसे क्वाथ करके प्रक्षालन करना चाहिये। इन सब प्रलेपों को उतार कर बार बार दिन में कई बार प्रक्षालन करना चाहिये। पूर्व लगे हुए प्रदेहों को जहां पर धोकर न उखाड़ना हो वहां पर पतला द्रव प्रलेप लगाना चाहिये। कफजन्य विसर्प में चारों ओर लगे शुष्क प्रलेप को उखाड़ कर घना (मोटा) प्रलेप लगाना चाहिये।

त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रं स्यात्प्रलेपः कल्कपेषितः।
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः ॥ १०० ॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्।
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत् ॥ १०१ ॥
क्लेदविसर्पशूलानि सोष्णभावात्प्रवर्तयेत्।
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् ॥ १०२ ॥
स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते।
उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते ॥ १०३ ॥
तानेव दोषाञ्जनयेत्पट्टस्योपरि यान् कृतः।
अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते ॥ १०४ ॥

त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि ।
तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यापुटायते ॥ १०५ ॥
न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति ।
तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद् भृशम् ॥ १०६ ॥
संशुष्कः पीडयेद्व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः ।

प्रलेप विधि—प्रलेप बारीक कल्क रूप में पिसा हुआ होना चाहिये। इसकी मोटाई अंगुष्ठ का तिहाई भाग होनी चाहिये । प्रलेप न तो बहुत स्निग्ध, न बहुत रूक्ष, न बहुत ठोस (कड़ा) और न बहुत द्रव (नरम) होना चाहिये । बासे, पुराने लेप को कभी भी नहीं लगाना चाहिये । पहिले लगे हुए लेप को भी पुनः दो बार नहीं लगा देना चाहिये । क्योंकि उष्ण स्वभाव होने से क्लेद, विसर्प और शूल उत्पन्न कर देता है । वस्त्र की पट्टी के ऊपर लगाया हुआ लेप व्रण में पसीना ला देता है (वस्त्र पर प्रलेप लगा कर विसर्प पर नहीं लगाना चाहिये) । इस प्रकार करने से पसीने के कारण फुन्सियां उत्पन्न हो जाती हैं और खाज होती है । यदि पहिले लगे हुए लेप पर ही पुनः दूसरी बार लेप लगा दिया जाता है, तो वस्त्र के ऊपर लगाये लेप की भांति फुन्सियां और कण्डू उत्पन्न हो जाती है । यदि बहुत स्निग्ध या बहुत द्रव लेप व्रण पर लगाया जाता है, तो वह त्वचा पर नहीं चिपकता और न दोष का शमन करता है । पतला लेप नहीं करना चाहिये, क्योंकि सूखने पर वह फट जाता है । ओषधियों का रस भी रोग तक नहीं पहुंचता, और सूख जाता है । स्नेह रहित लगाया हुआ लेप तनु-प्रलेप के समान दोषों को उत्पन्न करता है तथा सूख कर व्रण में पीड़ा पहुंचाता है ।

अन्नपान-विधि

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये ॥ १०७ ।
लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः ।
मधुरः किञ्चिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः ॥ १०८ ॥

सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः शृताम्बुना ।
तर्पणैर्यवशालीनां सस्नेहा चावलेहिका ॥ १०९ ॥

विसर्प रोग की शान्ति के लिये अन्नपान विधि का वर्णन करते हैं—

सत्तू—रोगी के उपवास करने पर उसको घृतादि स्नेह से रहित अथवा रूक्ष द्रव्यों से बने सत्तुओं को पानी में घोल कर मधु और शहद के साथ देना चाहिये । मधुर द्रव्यों से बने मन्थ को अथवा अनार, आंवले आदि से बने मन्थ को थोड़ा २ करके रोगी को देना चाहिये । फालसा, मुनक्का और खजूर इनके अर्धशृत कषाय में बने सत्तुओं को देना चाहिये । जौ और शालि धान्यों के तर्पणों (द्रव द्रव्य में आलोडित सत्तुओं) से अवलेहिका (चाटन) बनानी चाहिये, इसको घृत से स्निग्ध करके देनी चाहिये ।

जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम् ।
मुद्गान् मसूरांश्चणकान्यूषार्थमुपकल्पयेत् ॥ ११० ॥
अनम्लान्दाडिमाम्लान्वा पटोलामलकैः सह ।
जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत् ॥ १११ ॥
रूक्षान्परूषकद्राक्षादाडिमामलकान्वितान् ।
रक्ताः श्वेता महाह्वाश्च शालयः षष्टिकैः सह ॥ ११२ ॥

यूष-भात—मन्थ, सत्तू के जीर्ण होने पर पुरातन शालि धान्य के चावलों को यूषों के साथ खाना चाहिये । यूष के लिये—मूंग, मसूर, चने आदि को लेकर पटोल फल तथा आंवले के साथ यूष सिद्ध करना चाहिये । इस यूष को अनार से खट्टा करके या विना खट्टा किये बरतना चाहिये । रोगी को जांगल पशु पक्षियों का मांसरस देना चाहिये । इसके लिये जांगल पशु पक्षियों के मांसरस को फालसा, द्राक्षा, अनार, आंवले के साथ सिद्ध करके घृतादि स्नेह से रहित रूक्ष रूप में ही प्रयोग करना चाहिये ।

भोजनार्थे प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिस्रुताः ।

यवगोधूमशालीनां सात्म्यान्येव प्रदापयेत् ॥ ११३ ॥
येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः ।

अन्न—भोजन के लिये एक साल पुराने लाल चावल, श्वेत चावल, महाशालि, सांठी के चावल पानी में खूब अच्छी तरह पका कर बरतने चाहियें। जौ, गेहूं और चावलों में से जिस वस्तु का जिस रोगी को सात्म्य (अनुकूलता) हो वही उसको देनी चाहिये । जिन लोगों को चावल अनुकूल नहीं आते और जिनमें कफ की अधिकता हो उनको गेहूं या जौ में से जो सात्म्य हो वह देना चाहिये ।

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवा ॥ ११४ ॥
क्रोधव्यायामसूर्याग्निप्रवातांश्च विवर्जयेत् ।

अपथ्य—विदाहकारक खानपान, विरुद्ध भोजन, दिन में सोना, क्रोध, व्यायाम, सूर्य्य, अग्नि, प्रवात (सामने की वायु) इनका सेवन नहीं करना चाहिये ।

कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके ॥ ११५ ॥
रूक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके ।
वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पिणे हितम् ॥ ११६ ॥
कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते ।
रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थिवीसर्पमादितः ॥ ११७ ॥
रूक्षणैर्लंघनैः सेकैः प्रदेहैः पाञ्चवल्किकैः ।
सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनैः सविरेचनैः ॥ ११८ ॥
शृतैः कषायतिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत् ।
ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते ॥ ११९ ॥
वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् ।

सामान्य क्रियायोग—इस अन्नपानात्मक चिकित्सा में से पित्तज विसर्प के लिये शीतल खानपान प्रयोग करने चाहियें, कफजन्य विसर्प में रूक्ष खानपान का, वातजन्य विसर्प में घृतादि स्नेहयुक्त खानपान देना

चाहिये। अग्नि-विसर्प में वात-पित्त प्रशामक स्नैहिक शीतल चिकित्सा करनी चाहिये, कर्दम विसर्प में कफ, पित्त शामक, रूक्ष, शीतल खानपान चिकित्सा करनी चाहिये। ग्रन्थि-विसर्प में रक्त विसर्प की प्रबलता देख कर प्रथम विरूक्षण खानपान, उपवास, पंच वल्कल के प्रलेप से, सिरा-मोक्षण से, जलौकाओं से, वमन-विरेचन से, श्रृत तिक्त कषायों से समय को जानने वाले वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिये। इस प्रकार वमन विरेचन द्वारा शरीर के ऊर्ध्व और अधः भाग का शोधन हो जाने पर और रक्त के निकल जाने से पित्त और रक्त की शान्ति हो जाती है, शेष बचे वात और कफ दोष के लिये वात-कफनाशक क्रिया करनी चाहिये।

उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहः प्रशस्यते ॥ १२० ॥
स्निग्धाभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनः।
दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत् ॥ १२१ ॥

(१३) उपनाह—(१) उष्ण उत्कारिका (जौ, गेहूं के आटे को पानी में पका कर अवलेह के समान करके) से उपनाह करना चाहिये। अथवा (२) ग्रन्थि-विसर्प में स्निग्ध वेशवार (अस्थि रहित मांस को स्विन्न करके पीस लेना चाहिये। इसमें गुड़, घृत, पिप्पली और मरिच मिलानी चाहिये) से उपनाह करना चाहिये। (३) ग्रन्थि विसर्प में शूल होने पर घृत से चतुर्गुण जल में दशमूल के कल्क से सिद्ध तैल द्वारा गरम गरम परिषेक करना चाहिये।

कुष्ठतैलेन चोष्णेन पक्वक्षारयुतेन च।
गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत् ॥ १२२ ॥

(१४) परिषेक—पक्व क्षार (भस्म रूप क्षार को छः गुणे जल में घोल कर नितार लेना चाहिये। इस जल को पकाने से यह क्षार रूप हो जाता है)। इस पक्व क्षार के साथ कुष्ठ तैल को मिला कर गरम करके शूल की निवृत्ति के लिये परिषेक करना चाहिये। गोमूत्र से परिषेक करना

चाहिये । इसी प्रकार रूक्ष और उष्ण एरण्ड पत्रादि के क्वाथों से परिषेचन करना चाहिये । *

सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्टया चाश्वगन्धया ।
शुष्कमूलककल्केन नक्तमालत्वचाऽपि वा ॥ १२३ ॥
बिभीतकस्य वा ग्रन्थि कल्केनोष्णेन लेपयेत् ।
बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थि बिभीतकम् ॥ १२४ ॥
वंशपत्राण्यग्निमध्यं कुर्याद् ग्रन्थिप्रलेपनम् ।
दन्ती चित्रकमूलत्वक् सुधार्कपयसी गुडः ॥ १२५ ॥
भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ।
बहिर्मार्गश्रितं ग्रन्थि किं पुनः कफसंभवम् ॥ १२६ ॥

(१५) ग्रन्थि-विसर्प में लेप—(१) अश्वगन्धा को बारीक पीस कर इसको गरम करके लेप करना चाहिये । (२) सूखी मूली के गरम कल्क से, अथवा (३) नक्तमाल (करंजुआ) के उष्ण कल्क से, या (४) बहेड़े के उष्ण कल्क से ग्रन्थि-विसर्प में लेप करना चाहिये ।❀ (५) बला, नागबला, हरड़, भोजपत्र, बहेड़ा, बांस का पत्ता, भरणी इनमें से किसी एक वस्तु के कल्क से ग्रन्थि-विसर्प में लेप करना चाहिये। (६) दन्ती मूल की छाल, चित्रक मूल की छाल, सेहुण्ड का दूध, आक का दूध, गुड़, भिलावे की मज्जा और हीरा कसीस इनको मिला कर किया हुआ घना और गरम लेप शिला को भी तोड़ देता है, फिर कफ-जन्य, बहिर्मार्गाश्रित ग्रन्थि को तोड़ देना क्या कठिन बात है ?

---

* कहीं कहीं 'पाक्यक्षार' पाठ है । वहां पर पाक्य-क्षार का अर्थ सुश्रुतोक्त पाक्य-क्षार लेना चाहिये । चक्रपाणि ने पाक्य से पूति करंज लेकर उससे बना लवण अर्थ किया है ।

❀ अष्टांगसंग्रह में 'अजगन्धा' के स्थान पर 'कृष्णगन्धा' पाठ है, जिस का अर्थ शोभांजन है ।

दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमैः।
मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः। ॥ १२७ ॥
गोधूमान्नैर्यवान्नैर्वा सशीधुमधुशर्करैः।
सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः ॥ १२८ ॥
त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैः।
मुस्तभल्लातशक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च ॥ १२९ ॥
देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च।
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः ॥ १३० ॥
अयोलवणपाषाणहेमतप्तप्रपीडनैः।

(१६) ग्रन्थि-विदारण योग—चिरकालीन ग्रन्थि को निम्न ओषधियों से विदीर्ण करना चाहिये—(१) मूली और कुलत्थी के यूष में यवक्षार और अनार का रस निकाल कर पीने को देना चाहिये। (२) उबले हुए गेहूं या उबले हुए जौ को सीधु, मधु और शर्करा के साथ देना चाहिये। (३) वारुणी मण्ड (वारुणी के स्वच्छ ऊपरले भाग) में गलगल का रस और शहद मिला कर देना चाहिये। (४) हरड़, बहेड़ा और आंवले के चूर्ण को पिप्पली और शहद के साथ देना चाहिये। (५) देवदारु, पटु (सैन्धव नमक) और व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली) इनका चूर्ण या क्वाथ देना चाहिये। (६) गिरिज (शिलाजतु) का प्रयोग रसायन विधि से करना चाहिये। * मुस्ता और भिलावा के सत्तुओं का प्रयोग करना चाहिये। † (७) शहद का प्रयोग करना चाहिये। (८) जत्रु से ऊर्ध्वगत ग्रन्थि-विसर्प में पूर्वोक्त धूम, शिरो-विरेचन बरतने चाहियें। (९) गुल्म को भेदन करने वाली ओष-

* शिलाजतु-प्रयोग रसायन विधि में है। जल्पकल्पतरु में 'गैरिक' पाठ है परन्तु अष्टांगसंग्रह में 'गिरिजा' ही पाठ है।

† चक्रपाणि ने 'भल्लातसक्तूनां' से रसायनोक्त भल्लात सक्तुओं का ग्रहण किया है।

धियों का प्रयोग करना चाहिये । (१०) लोहा, नमक, पत्थर, स्वर्ण इनको गरम करके इनसे दीर्घ काल स्थित ग्रन्थि का पीड़न (विदारण) करना चाहिये ।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिरः ॥ १३१ ॥
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति ।
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्लोहेन वा हितः ॥ १३२ ॥

(१७) ग्रन्थिदाह—यदि इन फलदायिनी नाना प्रकार की क्रियाओं से भी बलवान्, पत्थर के समान स्थित कठोर ग्रन्थि शान्त नहीं होती तब क्षार के द्वारा अथवा लोहे से या सोने के शरों (शलाका वा बाणों) से जलाना हितकारी है ।

पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत् ।
मोक्षयेद् बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् ॥ १३३ ॥
पुनरस्य हृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ।
धूमो विरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम् ॥ १३४ ॥
अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते ।
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः १३५ ॥
बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत् ।

(१८) व्रणोपचार—व्रण को पकाने वाली वस्तुओं से इसको पका कर फिर काट कर निकाल देना चाहिये । आये हुए, दूषित रक्त को बार बार निकालना चाहिये । रक्त मोक्षण करने पर वात, कफनाशक औषध बरतनी चाहिये । इसके लिये, धूम, शिरो-विरेचन, स्वेदन, मर्दन करना चाहिये । दोष के शान्त न होने पर व्रण के समान इसको पकाना चाहिये । जलाने और पकाने से जब ग्रन्थि क्लिन्न (नरम) हो जाये तब बाह्य शोधन-रोपणों द्वारा तथा अन्तः शोधन रोपणों द्वारा व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये ।

कम्पिल्लकं विडङ्गानि दार्वीं कारञ्जकं फलम् ।

पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम् ॥ १३६ ॥
द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत् ।
देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः ॥ १३७ ॥

इति ग्रन्थिविसर्पचिकित्सा ।

(१९) तैल-योग – तैल से चतुर्गुण जल में कमीला, बायविडंग, दारुहल्दी की छाल इनके कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये । यह तैल ग्रन्थि-व्रण में लगाना चाहिये । देश और काल के विभाग को समझने वाले ज्ञानी वैद्य को चाहिये कि 'द्विव्रणीय' अध्याय में कहे हुए उपायों से विसर्प-जन्य व्रणों की चिकित्सा करे ।

य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये ।
स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ॥ १३८ ॥
गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुबला नृणाम् ।
घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते ॥ १३९ ॥
यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये ।
एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥ १४० ॥
विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते ।
तस्मात्साधारणं सर्वमुक्तमेतच्चिकित्सितम् ॥ १४१ ॥
विशेषो दोषवैषम्यान्न च नोक्तः समासतः ।
समासव्यासनिर्दिष्टां क्रियां विद्वानुपाचरेत् ॥ १४२ ॥

(२०) कफज गलगण्ड-चिकित्सा—ग्रन्थि-विसर्प की जो चिकित्सा कही है, यही चिकित्सा कफजन्य गलगण्डों की शान्ति के लिये समझनी चाहिये । जिन वातजन्य गलगण्डों में कफ का संयोग रहता है, वे गलगण्ड घृत-दूध और कषायों के निरन्तर अभ्यास से नहीं होते । विसर्प रोगों की शान्ति के लिये जितने भी कार्य कहे हैं, ये सब एक तरफ़ और रक्तमोक्षण दूसरी तरफ़ अर्थात् अकेला रक्तमोक्षण ही शेष सम्पूर्ण चिकित्सा के तुल्य है । क्योंकि रक्त-पित्त से रहित विसर्प दिखाई

नहीं देता, विसर्प में रक्त-पित्त अवश्य ही मिले रहते हैं। इसलिये वात, पित्त, कफ, रक्त सब की ही यह साधारण चिकित्सा कह दी है। दोषों की भिन्नता से विशेष नहीं कहा और न समस्त रूप में कहा है। संक्षेप और विस्तार से यह चिकित्सा कह दी है।

तत्र श्लोकाः। निरुक्तिर्नामभेदाश्च दोषा दूष्याणि हेतवः।
आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम् ॥ १४३ ॥
लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवः।
साध्यत्वं न च साध्यत्वं साधनं च यथाक्रमम् ॥ १४४ ॥
इति पिप्रच्छवे सिद्धमग्निवेशाय धीमते।
पुनर्वसुरुवाचेदं विसर्पाणां चिकित्सितम् ॥ १४५ ॥

उपसंहार—पूछने की इच्छावाले बुद्धिमान् अग्निवेश के प्रति पुनर्वसु आत्रेय ने इस विसर्प-चिकित्सा में विसर्प शब्द की निरुक्ति, संज्ञा, भेद, दोष, दूष्य, कारण, आश्रय, मार्ग, विसर्प में गुरु, लाघव, लक्षण, उपद्रव, उपद्रवों के लक्षण, साध्यता-असाध्यता और साध्य विसर्पों की चिकित्सा कह दी है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
विसर्पचिकित्सितं नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातस्तृष्णारोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे तृष्णा रोग की चिकित्सा का वर्णन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

ज्ञानप्रशमतपोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः।

तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम् ॥३॥

जगत् के हित में निरन्तर लगे हुए ज्ञान (विज्ञान), प्रशम (शान्ति) और तपों (द्वन्द्वसहिष्णुता आदि) से प्रसिद्ध ऋषि आत्रेय ने पांचों प्रकार की (वातजन्य, पित्तजन्य, आमजन्य, क्षयजन्य और उपसर्गात्मक) तृष्णाओं की शान्ति के लिये चिकित्सा विषयक ग्रन्थ का उपदेश किया।* [सुश्रुत में सात प्रकार की तृष्णा कही हैं, वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, क्षयज, आमज और भक्तज (अन्न से उत्पन्न)]

क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि शोकात्क्रोधाद्विलंघनान् मद्यात्।
क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ॥४॥
धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसंतापैः।
पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च[1] शोषयतः ॥५॥
रसवाहिनीश्च धमनी[2]र्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः।
संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ ॥६॥

सम्प्राप्ति—क्षोभ (मानसिक और शारीरिक विक्षोभ, घबराहट और उद्वेग) से, भय से, श्रम से, शोक से, क्रोध से, उपवास से, मद्यपान से, क्षार, अम्ल, लवण, कटु, उष्ण, रूक्ष और शुष्क अन्न को सेवन करने वालों में, रसादि धातुओं के क्षय से, गदकर्षण अर्थात् रोग के कारण उत्पन्न हुई कृशता से, वमन और विरेचन के अतियोग से,

* तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी, क्षयात् तथा ह्यामसमुद्भवा च।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिंगान्यनुपूर्वशश्च ॥ सु० ॥

कफजन्य तृष्णा में कफ सौम्य धातु है, फिर कफ से तृष्णा किस प्रकार से उत्पन्न होती है। इसके लिये कहा है—

वाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत् तथा च।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तृष्णार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥

१. 'सौम्याद् धातून्' इति चक्रसंमतः पाठः।
२. 'नाडीर्जि–' इति पा०।

सूर्य्य के संताप वा घाम से, पित्त और वायु कुपित होकर सौम्य (कफ) आदि धातुओं, रसवाहिनी धमनियों, जिह्वामूल, गला, तालु और क्लोम (कण्ठ और छाती की सन्धि) इन को शुष्क करके, मनुष्यों के शरीर में अति प्रबल तृष्णा को उत्पन्न करते हैं। [शास्त्रकार सूचित करता है कि तृष्णाएं दो प्रकार की होती हैं एक मानसी तृष्णा, वह शरीर में इच्छा और द्वेषरूप होती हैं, वह दुःख से उत्पन्न होती हैं। दूसरी देहजा वह देहगत दोषों से उत्पन्न होती हैं। चक्र०]

पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो न याति शमम् ।
घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा ॥ ७ ॥

अति बलवान् पित्त और वायु दोनों बार बार पिये हुए जल को शुष्क कर देते हैं, इसलिये तृष्णा शान्त नहीं होती। कठिन रोगों से कृश हुए पुरुषों में यह भयानक तृष्णा उपद्रव रूप से उत्पन्न होती है। [सामान्य तृष्णा भी वात और पित्त से ही उत्पन्न होती है परन्तु वह जलादि से शान्त हो जाती है। चक्र०]

प्राग्रूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम् ।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥ ८ ॥

पूर्वरूप—सब प्रकार की तृष्णाओं का पूर्वरूप मुख का शुष्क होना है। यही सब तृष्णाओं का प्राग्-रूप है। सदा पानी की इच्छा बनी रहना यही तृष्णा का अपना लक्षण है। सब तृष्णाओं के अपने अपने लक्षण जल्दी जल्दी उत्पन्न होकर मृत्यु के कारण होते हैं, [इस प्रकार तृष्णा असाध्य हो जाती है और जल्दी जल्दी लक्षण उत्पन्न होते हैं। वह स्वाभाविक तृष्णा नहीं होती, तृष्णा के लक्षणों का सर्वदा उच्छेद भी नहीं होता। सहज तृष्णा के साथ विशेष तृष्णा के भी थोड़े २ लक्षण दीखते रहते हैं। च०]

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसंतापप्रलापसंस्तम्भान् ।
ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशं च ॥ ९ ॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम् ।

तृष्णोद्भूता कुरुते पञ्चविधा लिङ्गतः शृणु ताम् ॥१० ॥

समस्त तृष्णाओं के सामान्य लक्षण—पांचों प्रकार की उत्पन्न हुई तृष्णाओं में मुख का सूखना, स्वरभेद, सन्ताप, प्रलाप, संस्तम्भ (जड़ता), तालु, ओठ, कण्ठ और जिह्वा में कर्कशता (खुरदरापन), चित्तनाश (अस्थिर चित्तता), जिह्वा का मुख से बाहर निकल आना, अरुचि, बधिरता, मर्म (वक्षःस्थल) में पीड़ा या उपताप, साद (पीड़ा या ग्लानि) ये लक्षण सामान्य रूप से होते हैं। अब आगे तृष्णा का वर्णन सुनो।

अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति।
तस्मिञ्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥ ११ ॥
निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च।
स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः ॥ १२ ॥

वातजन्य तृष्णा—शरीर में प्रकुपित वायु जिस समय अप् धातु (पानी वा द्रव भाग) को शुष्क कर देता है, तब द्रव भाग के शुष्क हो जाने पर निर्बल व्यक्ति सूख जाता है और सूखते हुए उसको प्यास लगती है। उस रोगी को निद्रा नाश, शिर में चक्कर आना, मुख में शुष्कता तथा विरसता (उदकवह) स्रोतों को अवरोध रहता है, ये वातजन्य तृष्णा के लक्षण हैं।

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं चेत्तापयत्यपां धातुम्।
संतप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्बणां नृणाम् ॥ १३ ॥
तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा।
पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः ॥ १४ ॥

पित्तजन्य तृष्णा—पित्त आग्नेय माना गया है। जब वह अग्नि (तेजस्) गुणवाला पित्त कुपित होकर अप् (जलीय भाग) को तप्त करता है, तब यह उपतप्त जलधातु मनुष्यों के शरीर में प्रबल दाहयुक्त तृष्णा को उत्पन्न करता है। इससे मुख में तिक्त (कड़ुआ) स्वाद, शिर में जलन या

दाह, ताप का अनुभव, शीत की इच्छा, मूर्छा, आंख, मूत्र और मल में पीत वर्ण होना यह पित्तजनित तृष्णा की आकृति के (लक्षण) हैं ।†

तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेया न पित्तजनितत्वात् ।
लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ॥ १५ ॥

आमज तृष्णा—उष्णिमा के निर्बल होने से जो खाया हुआ भोजन अपक्व अवस्था में ही आमाशय में दूषित रस रूप में रहता है उसको 'आम' कहते हैं । ‡ इसलिये आम और पित्त के कारण उत्पन्न तृष्णा आग्नेयी होती है ।

[पित्त से तृष्णा उत्पन्न होने से केवल आमज तृष्णा को ही आग्नेयी नहीं समझना चाहिये ।]

आमजतृष्णा के लक्षण—अरुचि, आध्मान (अफ़ारा) और मुख से कफ का स्राव होना ये आमज तृष्णा के लक्षण हैं । *

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येत्तु ।
दीनस्वरः प्रताम्यन्संशुष्कहृदयगलतालुः ॥ १६ ॥

क्षयजन्य तृष्णा—यह शरीर माता के मधुर आदि षड्रसयुक्त अन्न के खाने तथा जल के पीने से उत्पन्न हुए रस से उत्पन्न होता है। इस लिये इस रस के क्षीण होने से मनुष्य को प्यास लगती है । इससे रोगी

---

† कफजन्य तृष्णा का अन्तर्भाव पित्तजन्य तृष्णा में ही होता है । चूंकि—
स्वाद्वम्ललवणा जीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा ।
प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेत् नृणाम् ॥
पित्तजन्य तृष्णा में पित्त की प्रधानता रहती है और कफजन्य में पित्त की अप्रधानता रहती है ।

‡ आम का रूप—उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमान्द्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥

* अन्यत्र इसको त्रिदोषजन्य तृष्णा कहा है । यथा—
त्रिदोषलिंगामसमुद्भवा च हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री ॥

का स्वर दीन हो जाता है, रोगी को ग्लानि या मूर्छा आती है, हृदय, गला और तालु शुष्क हो जाते हैं। *

भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा
ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥ १७ ॥
सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १८ ॥

उपसर्गात्मक तृष्णा—ज्वर, मोह, क्षय, कास, श्वास, आदि रोगों से पीड़ित पुरुषों में उत्पन्न जो तृष्णा मुखादि में शुष्कता उत्पन्न करती है वह अति कष्टदायक और कष्टसाध्य होती है।

लगातार निरन्तर रूप में प्रवृत्त सभी तृष्णायें कष्टदायक या कष्टसाध्य होती हैं, परन्तु रोगों से कृश हुए पुरुषों और जिनको वमन आता हो उनकी तृष्णायें कष्टसाध्य होती हैं। उपद्रवों से युक्त भयानक तृष्णायें मरण के लिये जाननी चाहियें।

नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ॥ १९ ॥
गुर्वन्नपयःस्नेहैःसंमूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च।
यस्तृष्येद्वृतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ॥ २० ॥

अग्नि और वायु के विना किसी भी प्रकार की तृषा (प्यास) उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि ये दोनों कुपित होकर जलीय धातु को शुष्क करते हैं। इसलिये जल के क्षय होने पर मनुष्य को प्यास लगती है। विदाहकाल (भोजन के परिपाक काल) में गुरु अन्न, दूध, पानी और स्नेह (घृतादि) परस्पर मिलकर एक रूप होकर वायु और पित्त की गति को रोक लेते हैं, उस समय रोगी को जो तृषा लगती है, वहां पर भी वायु और

* इस तृष्णा को सन्निपातजन्य भी कहते हैं। यथा-

रसक्षयाद् या क्षयसम्भवा सा तयाभिभूतश्च निशादिनेषु।
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ॥

पित्त ये दोनों कारण होते हैं । [इसलिये अन्नजन्य तृष्णा भी इनसे भिन्न नहीं है ।]

तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान्मद्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति ।
शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशीलानाम् ॥ २१ ॥
तप्तास्विव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्रम् ।
तेषां संतप्तानां हिमजलपानाद्भवति शर्म ॥ २२ ॥

तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष स्वभाव के कारण मद्य पित्त और वायु को कुपित कर देता है । जिस प्रकार गरम रेत में गिरा हुआ पानी घाम और वायु से तुरन्त शुष्क हो जाता है इसी प्रकार ये दोनों पित्त और वायु मद्य पीने वालों के जलीय धातु को शुष्क कर देते हैं । इन मद्यपी पुरुषों को जल के पीने से शान्ति या सुख मिलता है ।

शिशिरस्नातस्योष्मा रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति ।
तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जलं शीतम् ॥ २३ ॥

सन्तप्त शरीर वाला पुरुष जब सहसा शीतजल में स्नान करता है तब शरीर की उष्णिमा रुक कर (बाहर न आकर) जठर में पहुंच कर प्यास उत्पन्न करती है, इसलिये सन्तप्त शरीर वाले पुरुष को स्नान में सहसा शीतल जल नहीं बरतना चाहिये ।

लिङ्गं सर्वास्वेतास्वनिलक्षयात्पित्तजं भवत्यथ तु ।

इन सब गुरु अन्नादि से उत्पन्न तृष्णाओं में जब वायु का क्षय हो जाता है, तब पित्तजन्य तृष्णा के लक्षण होते हैं ।

पृथगागमाच्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णानाम् ॥ २४ ॥

अतः पृथग् वातजन्य आदि तृष्णाओं की चिकित्सा-विज्ञान का आयुर्वेद के शास्त्रानुसार उपदेश करता हूँ ।

तृष्णा-चिकित्सा

अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु ।
तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्गुणं वाऽन्यत् ॥ २५ ॥

किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसं च ।
अनभिष्यन्दि च यत्तद्द्वितिस्थितमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥ २६ ॥
शृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन ।
लाजानां सक्तूनां समधुसितं मन्थमैन्द्रेण[1] ॥ २७ ॥
वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात् ।
पेयां वा शालीनां दद्याद्वा कोरदूषाणाम् ॥ २८ ॥
पयसा शृतेन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं भोज्यम्[2] ।
पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाऽप्यलवणाम्लैः ॥ २९ ॥
तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः पियालैश्च जाङ्गलाः सुकृताः ।
शस्ताः रसा पयो वा तैः सिद्धं शर्करामधुमत् ॥३० ॥

(१) पेय-योग—(१) जलों के क्षय होने से तृष्णा मनुष्य को शीघ्र मार सकती है, इसलिये मधु के साथ ऐन्द्र (वर्षा का जल) अथवा इस के समान गुण वाला अन्य जल मधु मिलाकर पीना चाहिये । इसके लिये हंसोदक का व्यवहार करना चाहिये । * जिस जल में तुवर अर्थात् थोड़ा सा कषाय अनुरस हो, जो तनु (पतला) हो, लघु हो, सुगन्धयुक्त, शीतल उत्तम रसयुक्त, अनभिष्यन्दि हो, उस भूमिस्थ पानी को भी वर्षाजल के समान समझना चाहिये । (२) शृत-शीत अर्थात् पकाकर ठण्डा किये (अर्धावशिष्ट) जल में शर्करा मिलाकर देना चाहिये, अथवा (३) शर पंचमूल (कुश, काश, दर्भ, शर और ईख इनकी मूलों) के क्वाथ में शर्करा मिलाकर देना चाहिये । (४) लाजाओं के सत्तुओं से वर्षा के जल में मन्थ बनाकर मधु और शर्करा के साथ पीना चाहिये । (५) जौ

* हंसोदक—दिवार्ककिरणैर्जुष्टं जुष्टमिन्द्रकरैर्निशि ।
वायुनास्फालितं शश्वत् तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥
अथवा सूत्रस्थान में वर्णित हंसोदक का व्यवहार करना चाहिये ।

१. 'लाजाशक्तूनूसिताक्तान्मधुयुतमैन्द्रेण वा मन्थम्' । इति पा० ।
२. 'योज्यम्' इति पा० ।

को थोड़ा सा भूनकर इनसे मण्ड बनाकर शीतल करके मधु और शर्करा के साथ देना चाहिये। (६) चावलों की पेया अथवा कोरदूषों (कोदों चावल) की पेया देनी चाहिये। (७) अथवा गरम दूध के साथ मधु शर्करा से मिश्रित अन्न देना चाहिये। भोजन में व्यंजन के लिये-(८) कबूतर आदि पक्षियों के मांस रस को घृत में भूनकर लवण और अम्ल के विना ही भोजन में देना चाहिये। (९) तृण पंचमूल (कुश, काश, इक्षु, दर्भ और शर इनके मूल) तथा मूंज के कषाय से तथा पियाल फल के रस से सिद्ध कबूतर आदि जांगल पक्षियों का मांसरस देना चाहिये। अथवा (१०) पंच तृणमूल और मूंज के क्काथ से तथा पियाल फल के रस से सिद्ध दूध को मधु और शर्करा के साथ मिलाकर देना चाहिये।

शतधौतघृतेनाक्तः पय पीबेच्छीततोयमवगाह्य।
मुद्‌गमसूरचणकजा रसास्तु घृतभर्जिता[1] देयाः ॥ ३१ ॥

अभ्यंग और स्नान—(११) तृष्णा से पीड़ित रोगी को चाहिये कि शरीर पर शतधौत (जल से सौ वार धोये) घृत का लेप करके शीतल जल में अवगाहन करके दूध पिये। मूंग मसूर और चने के यूषों को घृत में भूनकर देना चाहिये।

मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरं।
पानाभ्यञ्जनयोगेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम् ॥ ३२ ॥
तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात्।
नारीपयः सशर्करमुष्ट्र्या अपि नस्यमिक्षुरसः॥ ३३ ॥

(२) पान, अभ्यंग और नस्य—(१) जीवनीय गण की ओषधियों तथा मधुर द्रव्यों से पकाये दूध में मधु और शर्करा मिलाकर तथा तिक्त और शीत द्रव्यों से पके दूध में मधु और शर्करा मिलाकर पीने तथा अभ्यंग के योगों में बरतना चाहिये। (२) इस प्रकार के दूध से घृत निकाल कर इस घृत को नस्य कर्म में, पीने में और अभ्यंग (मालिश)

१. 'सृष्टाघृते' इति पा०।

में बरतना चाहिये । (३) औरत के दूध में शर्करा मिलाकर अथवा (४) उंटनी के दूध में शर्करा मिलाकर नस्य देना चाहिये । (५) इसी प्रकार गन्ने के रस से नस्य देना चाहिये ।

क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाः क्षौद्रशीधुमाध्वीकैः ।
वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥ ३४ ॥

(३) गण्डूष योग्य ९ द्रव्य—दूध, गन्ने का रस, गुड़ का शर्बत, शर्करा का शर्बत, मधु का शर्बत, सीधु मद्य, माध्वीक मद्य, वृक्षाम्ल (समगदाना), गलगल का रस इन वस्तुओं में से किसी वस्तु से गण्डूष (मुख में असंचारी, न हिलने वाला कुल्ला) करने पर तालुशोष नष्ट होता है । ॐ

जम्ब्वाम्रातकबदरीवेतसपञ्चपल्लवैश्चाम्लाः ।
हृन्मुखशिरःप्रदेहाः सघृता मूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः ॥ ३५ ॥
दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः ।
लेपो गौरामलकैर्घृतारनालयुतैश्च हितः ॥ ३६ ॥
शैवलपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च शक्तुभिर्लेपाः ।

(४) प्रलेप—(१) जामुन, आम्रातक (आंबड़ा), बेर, अम्लवेतस इनके कोमल पत्तों से बनाया हुआ अम्ल प्रलेप हृदय, मुख और शिर पर लगाने से मूर्च्छा, चक्कर आना और तृष्णा नष्ट होती है । (२) अनारदाना, दधित्थ (कैथ), लोध, बिदारीकन्द और बिजौरे निम्बू का रस इनसे किया हुआ लेप मूर्च्छा, भ्रम और तृष्णा को नष्ट करता है । (३) गौरा (हल्दी), आंवला इनको घृत और कांजी में मिलाकर, शिर और हृदय पर लेप करने से तृष्णा, मूर्च्छा नष्ट होती है । (४) शैवाल (सरवाल), कीचड़ और अम्बुरुह (कमल) का लेप, अम्लों (पंचाम्ल बेर, वृक्षाम्ल, चुक्रिका, अम्लवेतस और अनार) का लेप और घृत

ॐ 'मार्द्वीकं' यह पाठ भी है, वहां पर मृद्वीका का रस लेना चाहिये ।

तथा सत्तुओं से किया हुआ लेप तृष्णा को नष्ट करता है। इन छः वस्तुओं से पृथक् २ भी लेप करना चाहिये, इस प्रकार ये छः लेप हो जाते हैं।

मस्त्वारनालाद्र्वसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ॥ ३७ ॥
शिशिराम्बुचन्दनार्द्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः ।
मौक्तिक[1]क्षौमार्द्रवसनानां वराङ्गनानां प्रियाणां च ॥ ३८ ॥
हिमवद्दरीवनसरित्सरोऽम्बुजपवनेन्दुपादशिशिराणाम्।
रम्योदकयुक्तानां[2] स्मरणं कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥ ३९ ॥

(५) तृष्णाहर संस्पर्श—(१) मस्तु या आरनाल (कांजी) में भिगोये वस्त्र का स्पर्श, अथवा (२) कमल या (३) मणियों के हार का स्पर्श तृष्णा को नष्ट करता है। (४) शीतल जल से गीले या चंदन के लेप से आर्द्र स्तनों, हाथों और शरीर के स्पर्श से तृष्णा शान्त होती है। (५) मोतियों के स्पर्श से, (६) रेशम के स्पर्श से तृष्णा शान्त होती है, (७) शीतल आर्द्र वस्त्रों को पहनने वाली प्रिय स्त्रियों के स्पर्श से तृष्णा नष्ट होती है। (८) शीतल हिमालय पर्वत की गुफाओं, नदियों, तालाबों, कमल वनों, शीतल वृक्षों तथा मनोहर जलों के स्मरण अथवा इनकी कथायें भी तृष्णा को नष्ट करती हैं।

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं च वाततृष्णायाः ।
क्षतकासनुद् घृतक्षीरमूर्ध्वं वाततृष्णाघ्नम् ॥ ४० ॥

(६) वातज तृष्णा की चिकित्सा, घृत और पान—

(१) वातजन्य तृष्णा में वातनाशक खानपान, मृदु, लघु और शीतल अन्न पान (कठिन, गुरु, उष्ण नहीं), तथा क्षय कास के लिये जो जो घृत कहे हैं उनको पीकर ऊपर से दूध पीना वातज तृष्णा को शान्त करता है।

स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरं घृतं वातपित्तजे तर्षे ।
पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम् ॥ ४१ ॥

---

१. 'मौक्तिक' इति पदं नास्ति क्वचित् पुस्तके ।
२. 'रम्यशिशिरोदकानां' इति पा० ।

लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः ।
मधुपक्वलोष्टमेव च जले शृतं शीतलं पेयम् ॥ ४२ ॥
लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः ।
पक्त्वामलोष्टमधुजलसमायुतो मृण्मये पेयः ॥ ४३ ॥

(२) वातजन्य, पित्तजन्य या भयजन्य तृषा में जीवनीय गण से सिद्ध दूध या जीवनीय गण की ओषधियों से साधित घृत पीना चाहिये ।

(७) पित्तजन्य तृषा में पेय—(१) द्राक्षा, खजूर, चन्दन और खस से षडंग विधि से पकाया अर्धशृत जल मधु के साथ पीना चाहिये ।

(२) लाल चावल दो शराव, लोध, मुलहठी, नीला कमल थोड़ा थोड़ा लेकर कूट लेना चाहिये । इनको मिट्टी के पात्र में जल के अन्दर भिगो कर पकाना चाहिये । जब जल आधा शेष रह जाये तब छान कर इसमें मिट्टी का कच्चा ढेला, मधु और जल मिला कर रख देना चाहिये । फिर जब स्वच्छ हो जाये तो नितार कर इसके शीतल जल को पीना चाहिये ।

वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्ट्याह्वैः ।
सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभाः कृष्णमृदः कृष्णसिकता वा ॥ ४४ ॥
तप्तानि नरकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम् ।

(३) बरगद के पत्ते, गलगल के पत्ते, अम्लवेतस के पत्ते, कुशा की मूल, काश की जड़, मुलहठी इनको जल में पकाना चाहिये । जब जल आधा रह जाये तो उतार कर छान लेना चाहिये । फिर काली मिट्टी को या काली रेता को अथवा नये घड़े आदि के टुकड़ों को लाल गरम करके इस पानी में डालना चाहिये । जब पानी शीतल तथा स्वच्छ हो जाये नितर जाये तब इस पानी को पीना चाहिये ।

अल्पपक्वशर्करामृतवल्युदकं वा तृषं हन्ति ॥ ४५ ॥

(४) अल्प शर्करा (क्षुद्र शर्करा, कच्ची शक्कर) को पका कर

(गरम करके) अमृतवल्ली (गिलोय) के अर्धशृत जल में बुझाना चाहिये । इस जल को पीने से तृषा शान्त होती है ।

क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुविमिश्राः ।
शीतकषाया मृद्भृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः ॥ ४६ ॥

(५) क्षीर वाले बरगद, पीपल, गूलर आदि के शीतल कषायों में मिट्टी को गरम करके बुझाना चाहिये । फिर इस जल में शर्करा मधु मिला कर पीने से क्षयजन्य पित्तज तृषा नष्ट होती है ।

(८) क्षयज तृष्णा में—(१) मधुर वस्तुओं (काकोल्यादि) के शीत कषायों में मिट्टी को गरम करके बुझाना चाहिये, इस जल में मधु और शर्करा मिला कर पीने से क्षयज तृष्णा शान्त होती है ।

(२) आंवले आदि शीतल वस्तुओं के शीत कषाय में मिट्टी को गरम करके बुझाना चाहिये । इसमें मधु और शर्करा मिला कर पीने से क्षयज तृष्णा शान्त होती है ।

व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णायाम् ।
यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात् ॥ ४७ ॥

(३) व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), वच, भिलावा, इनमें से किसी एक वस्तु का क्वाथ तथा तिक्त कषाय आमजन्य तृष्णा को शान्त करते हैं । इनके कषायों से रोगी को वमन करानी चाहिये । * कफजन्य छर्दि रोग की चिकित्सा में जो औषध जिस प्रकार से कही हैं, उसका उसी प्रकार से यहां प्रयोग करना चाहिये ।

स्तम्भारुचविपाकालस्यच्छर्दिषु कफानुगां तृष्णाम् ।
ज्ञात्वा दधिमधुतर्पणलवणोष्णजलैर्वमनमिष्टम् ॥ ४८ ॥
दाडिममदनफलं वाप्यन्यतमकषायमथ लेहम् ।

---

* जैसा कि अष्टांगसंग्रह में कहा है—
सर्वैरामाच्च तद्‌हन्त्री क्रियेष्टा वमनं तथा ।
व्यूषणारुष्करवचाफलाम्लोष्णाम्बुमस्तुभिः ॥ अ० सं० चि० ८ ॥

पेयमथवा हरिद्राम्बुशर्कराक्षौद्रसंयुक्तम् ॥ ४९ ॥

(९) वमन योग—(१) शरीर में स्तब्धता (जड़ता), अरुचि, अविपाक, आलस्य, वमन आदि लक्षण होने पर तृष्णा में कफ का योग (मिश्रण) समझ कर रोगी को दधि, मधु, सत्तु तर्पण, नमक अथवा गरम जल से वमन कराना चाहिये । (२) अनार और मैनफल से वमन कराना चाहिये । (३) वमनकारक ओषधियों के किसी भी कषाय से वमन कराना चाहिये । (४) रजनी (हल्दी) को मधु और शर्करा से मिला कर वमन के लिये देना चाहिये । (५) वमन कल्पोक्त लेह को हल्दी, मधु और शर्करा के साथ देना चाहिये । (६) अथवा वमनोक्त पेय में मधु, शर्करा मिला कर देनी चाहिये ।

क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा गरीयसी या नृणाम् ॥
क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात्ता भेषजैः शमयेत् ॥ ५० ॥

क्षयजन्य तृष्णा क्षयजन्य कास के समान होती है, यह क्षय कास से अधिक ख़तरनाक है । इसलिये क्षीण रोगियों की, उरःक्षत रोगियों और शोष रोगियों के लिये हितकारी ओषधियों से इस क्षयजन्य तृष्णा की चिकित्सा करनी चाहिये ।

पानतृषार्तः पानं त्वर्धोदकमम्ललवणगन्धाढ्यम् ।
शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः ॥ ५१ ॥

(१०) पानज तृष्णा—(१) मद्यपान से उत्पन्न तृष्णा में रोगी को शीतल जल से स्नान करके मद्य में आधा पानी, अनार, आंवले आदि का अम्ल रस, नमक तथा सुगन्ध मिला कर पीना चाहिये अथवा (२) पानी मिला मद्य या गुड़ का शर्बत पीना चाहिये ।

भक्तोपरोधतृषितः स्नेहषार्तोऽथवा तनुयवागूम् ।
प्रपिबेद् गुरुणा तृषितो भुक्तेनोद्धरेद्भुक्तम् ॥ ५२ ॥

(११) भक्तज तृष्णा—(१) भूख के कारण जब प्यास लगे अथवा स्नेहपान (घृत-पान) से प्यास लगे तब पतला मण्ड पीना

चाहिये। (२) भारी भोजन करने पर यदि प्यास लगे तो वमन द्वारा उस भोजन को निकाल देना चाहिये।

मद्याम्बु वाऽम्बु चोष्णं बलवांस्तृषितः समुल्लिखेत्पीत्वा।
मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम् ॥ ५३ ॥

(१२) वमन योग—वमन के लिये बलवान् व्यक्ति को जब गुरु भोजन के कारण प्यास लगे तब उसको चाहिये कि पानी में मद्य मिलो कर अथवा गरम पानी पीकर वमन कर देवे। वमन करके पिप्पली को चबा अथवा मुख को स्वच्छ करके शर्करा युक्त मन्थ को पीये।

बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद् घृतं वृष्यमनु मद्यम्।
सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसांश्चाबलः स्निग्धान् ॥ ५४ ॥
अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः।
छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः ॥ ५५ ॥

(१३) तालुशोष में—(१) यदि बलवान् रोगी को तालुशोष हो तो उसको वाजीकरणोक्त घृत पीना चाहिये और पीछे से मद्य पीना चाहिये। (२) और यदि निर्बल रोगी को तालुशोष हो तो घृतमिश्रित दूध अथवा जिस दूध में से घृत न निकाला हो वह दूध पीना चाहिये, अथवा (३) घृतादि से स्निग्ध मांसरसों को पीना चाहिये।*

(४) अति दुर्बल और अति रूक्ष व्यक्तियों की तृषा को दूध बहुत शीघ्र शान्त कर देता है। अथवा (५) घृत में भुने, शीतल, मधुर, मन के अनुकूल बकरी का मांसरस तृषा को शीघ्र शान्त कर देता है।

स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत्।
तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहैर्हन्यात् ॥ ५६ ॥

---

* साधारणतः तालुशोष में घृतपान निषिद्ध है। जैसे—
"तृष्णा मूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः। न पिबेयुर्घृतम्।"
परन्तु वातोल्बण अवस्था के कारण ही यहां घृतपान का निर्देश किया है।

(१४) स्निग्ध अन्न के खाने से जो प्यास उत्पन्न हो उसको शान्त करने के लिये गुड़ का शर्बत पीना चाहिये । मूर्च्छा से पीड़ित रोगी को प्यास लगे तो रक्त-पित्तनाशक ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

छर्द्यम्लदाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययास्त्रविषपित्तैः ।
शस्तं स्वभावशीतं शृतशीतं सन्निपातेऽम्भः ॥ ५७ ॥
हिक्काश्वासनवज्वरपीनसघृतपीतपार्श्वगलरोगे ।
कफवातकृते स्त्याने सद्यः शुद्धे च हितमुष्णम् ॥ ५८ ॥

(१५) वमन, अम्ल के कारण जलन होने पर, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम (थकान), मद्यपान, रक्त, विष और पित्त इनमें औपसर्गिक तृष्णा के होने पर स्वभाव से ही शीतल जल देना चाहिये । सन्निपात ज्वर या सन्निपात रोग में यदि प्यास लगे तो गरम करके शीतल किया जल देना चाहिये । इसके लिये त्रिदोषहर द्रव्यों में शृत-शीत जल देना श्रेष्ठ है, हिक्का या श्वास, नूतन ज्वर, पीनस, घृत के पीने पर, पार्श्व शूल या गल के रोगों में जो तृष्णा उपद्रव रूप से हो, अथवा कफजन्य, वातजन्य रोगों में उपद्रव रूप से उत्पन्न तृषा में, कफ के घट्ट होने पर, वमन विरेचन से शुद्ध होने पर तुरन्त तृषा लगने के समय गरम पानी देना हितकारी है ।

पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दातिसारेषु ।
प्लीह्नि च तोयं हितं काममशक्ये पिबेदल्पम् ॥ ५९ ॥

पाण्डु, उदर रोग, पीनस, प्रमेह, गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार और प्लीहा रोग में प्यास लगने पर पानी (बहुत अधिक मात्रा में पीना) हितकारी नहीं है । यदि रोगी प्यास को सहन न कर सके तो थोड़ा थोड़ा करके यथेच्छ पानी पीना चाहिये ।

पूर्वामयातुरः सन् दीनस्तृष्णार्दितो जलं कांक्षन् ।
न लभेत च चेन्मरणमाश्वेवाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा ॥ ६० ॥
तस्माद्धान्याम्बु पिबेत् तृष्यन् रोगी सशर्कराक्षौद्रम् ।
यद्वा तस्यान्यत्स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम् ॥ ६१ ॥

तस्यां विनिवृत्तायां तज्जन्योपद्रवः सुखं जेतुम् ।
तस्मात् तृष्णां पूर्वं जयेद् बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः ॥ ६२ ॥

(१६) किसी पूर्व वर्त्ति रोग से पीड़ित, गरीब व्यक्ति को जब प्यास लगती है, उस समय यदि उसको पानी नहीं मिलता तो वह मर जाता है अथवा उसको दीर्घ काल तक रहने वाला रोग हो जाता है। इसलिये रोगी को प्यास लगने पर धनिये के जल में शर्करा और मधु मिला कर देना चाहिये। अथवा रोग के लिये जो द्रव द्रव्य पीने में सात्म्य हो, वही द्रव द्रव्य रोगी को पीने के लिये यथेष्ट मात्रा में देना चाहिये। इस प्रकार से तृष्णा के शान्त होने पर उस रोग से और जो अन्य उपद्रव उत्पन्न हुआ होता है वह भी सुखपूर्वक शान्त किया जा सकता है। इसलिये रोगजन्य बहुत से रोगों में भी सब से प्रथम तृष्णा रूप उपद्रव को ही शान्त करना चाहिये।

तत्र श्लोकः। हेतू यथाऽग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवं च पञ्चानाम्।
तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनं चोक्तम् ॥ ६३ ॥

उपसंहार—पांचों प्रकार की तृष्णाओं के कारण वायु और पित्त जिस प्रकार से तृष्णाओं को उत्पन्न करते हैं, तृष्णाओं के भेद उनके उपद्रव, पृथक् पृथक् लक्षण, असाध्य रूप तथा चिकित्सा के प्रकार यह सब कह दिया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
तृष्णाचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'विष-चिकित्सा' का वर्णन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगान् लिङ्गान्युपक्रमान् ।
विषस्य ब्रुवतः सम्यगग्निवेश निबोध मे ॥ ३ ॥

हे अग्निवेश ! मुझ से कहे हुए विष की प्राग् उत्पत्ति, विष के गुण, विष की योनि (उत्पत्ति स्थान), विष के वेग, विष के लिंग (ऊपरी चिह्न) और विष की सिद्ध चिकित्साओं का मैं उपदेश करता हूँ, उनको तू भली प्रकार सुन—

अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः ।
जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥ ४ ॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरित्केशोऽनलेक्षणः ।
जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ॥ ५ ॥
जङ्गमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत् ।

विष की प्राग्-उत्पत्ति—जिस समय देव और असुरों द्वारा अमृत को प्राप्त करने के लिये समुद्र मथा जारहा था, उस समय अमृत की उत्पत्ति से पूर्व देखने में भयंकर, दीप्त तेज, चार दाढ़ोंवाला, हरे (श्याम) रंगवाला और लाल अग्नि वर्ण की आंखों वाला एक पुरुष प्रकट हुआ। उसको देख कर जगत् विषाद को प्राप्त हुआ, इसीसे उसे 'विष' कहते हैं। इसकी दो योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान हैं स्थावर और जंगम। उस विष को ब्रह्मा ने स्थावर और जंगम इन दोनों योनियों में स्थापित किया।

तदम्बुसंभवं तस्माद् विविधं पावकोपमम् ॥ ६ ॥
अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम् ।
तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वात्संक्लेदं गुडवद् नतम् ॥ ७ ॥
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो निहन्ति च ।
प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये ॥ ८ ॥

यह दो प्रकार का (स्थावर और जंगम रूप) विष अम्बु अर्थात् जल (समुद्र वा मेघ) में से उत्पन्न होता है, इसलिये यह अग्नि के समान होता है। [उत्पत्तिकाल में अग्नि ही जल को उत्पन्न कर उसमें प्रविष्ट

होकर रहता है इसलिये विष भी अग्नि के समान होता है।] इस विष के आठ वेग, दस गुण और चौबीस उपक्रम हैं। ❀

यह विष जल से उत्पन्न होने के कारण वर्षा ऋतु में गुड़ के समान क्लिन्न होकर फैलता है। बादलों के बीत जाने पर शरत् काल में अगस्त्य सूर्य वा नक्षत्र) इस विष को नष्ट कर देता है। इसलिये शरद् ऋतु में विष मन्दवीर्य्य हो जाता है।

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः ।
जलौका मत्स्यमण्डूकाः शलभाः सक्ककण्टकाः ॥ ९ ॥
श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः ।
दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम् ॥ १० ॥

जंगम विष—सांप, कीट, उन्दूर (चूहा), लूता (मकड़ी),

❀ सुश्रुत में विष की उत्पत्ति कुछ भिन्न दी है। परन्तु उसका अन्तर्भाव इसमें हो जाता है। जैसे—

प्रजामिमामात्मयोनेर्ब्रह्मणः सृजतः किल ।
अकरोदसुरो विघ्नं कैटभो नाम दर्पितः ॥
ततः क्रुद्धस्य वै वक्तुर् ब्रह्मणस्तेजसो निधेः ।
क्रोधो विग्रहवान् भूत्वा निष्पपाताथ दारुणः ॥
सतं ददाह गर्जन्तमन्तकाभं महाबलम् ।
ततोऽसुरं घातयित्वा तत् तेजो ऽवर्द्धताद्भुतम् ॥
ततो विषादो देवानामभवत् तं निरीक्ष्य वै ।
विषादजननात् तच्च विषमित्यभिधीयते ॥
ततः सृष्ट्वा प्रजाः शेषं तदा तं क्रोधमीश्वरः ।
विन्यस्तवान् स भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में जो कोप रूप पुरुष (विशेष बल, शक्ति Force) विष रूप में उत्पन्न हुआ था उसको ब्रह्मा ने स्थावर और जंगम दो योनियों (स्थानों) में रक्खा। विस्तार के लिये 'जल्प कल्पतरु' में देखिये।

वृश्चिक (बिच्छू), गृहगोधिका (छिपकली), जलौका (जोंक), मछलियां, मण्डूक, शलभ, सर्प, कण्टक, कुत्ता, सिंह, व्याघ्र, गीदड़, तरक्षु (बघेरा, चीता), नकुल (नेवला) आदि दंष्ट्री अर्थात् दाढ़वाले जानवर हैं। इनके दंष्ट्रा (दांतों वा दाढ़ों) में से उत्पन्न विष को 'जंगम विष' कहते हैं।

[जंगम विष की १६ प्रकार की योनि सुश्रुत (कल्पस्थान अ० ३) में बताई हैं। जैसे—

जंगमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश।
समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते॥

दृष्टि, निश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्त्तव, मुख, सन्दंश, विशर्धित (अपान वायु), गुदा, अस्थि, पित्त, शूक और शव ये सोलह स्थान हैं। इनके उदाहरण—दिव्य सर्पों की दृष्टि और निःश्वास में विष होता है। भौम सर्पों की दाढ़ों में विष होता है। बिल्ली, घोड़ा, बन्दर, मकर, मेंढ़क, मत्स्य, गोह, छिपकली और चार पांव वाले कीटों में दंष्ट्रा (दाढ़) और नखों में विष होता है। कीड़े, कौण्डिल्यक, छिपकली आदि के मल, मूत्र में विष है। चूहों के शुक्र में विष होता है। मकड़ियों के लार, मूत्र, मल, मुख के आगे लगे चमटों, नख, शुक्र और आर्त्तव में विष है। बिच्छू, विषखपरा आदि के थूक में विष है। चित्रशिर, शारिका मुख इनके मुखसन्दंश, विशर्धित (अपान वायु) और मूत्र, मल में विष है। विष से मरे जीव की अस्थि में और सांप और मछली इनकी अस्थि में भी विष है। शकुली मत्स्य, राजी मत्स्य इनके पित्त में विष है। मक्खी, ततैया, भ्रमर इनके डंक (शूक और तुण्ड) में विष है। कीट, सर्प आदि के मरे हुए देहों में विष हैं।]

मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चं वत्सनाभं बलाहकम्।
कर्कटं कालकूटं च करवीरकसंज्ञकम्॥ ११॥
पालकेन्द्रायुधं तैलं मेचकं कुशपुष्पकम्।
रोहिषं पुण्डरीकं च लाङ्गलक्यञ्जनाभकम्॥ १२॥

सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा ।
एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ॥ १३ ॥

स्थावर विष—मुस्तक, पुष्पक, क्रौञ्च, वत्सनाभ, बलाहक, कर्कट, कालकूट, करवीरक, पालक, इन्द्रायुध, तैल, मेचक, कुशपुष्पक, रोहिष, पुण्डरीक, लांगलक, अञ्जनाभक, संकोच, मर्कट, शृंगीविष और हालाहल इसी प्रकार के अन्य मूलज विषों को 'स्थावर विष' कहते हैं ।

[सुश्रुत में स्थावर विष दस प्रकार के बताये हैं । जैसे—

स्थावरं जंगमञ्चैव द्विविधं विषमुच्यते ।
दशाधिष्ठानमाद्यन्तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥

दस अधिष्ठान जैसे—मूल, पत्र, फल, पुष्प, त्वचा, क्षीर, सार, निर्य्यास, धातु और कन्द ये दस विषों के अधिष्ठान हैं । इनके उदाहरण— क्लीतक, अश्वमार, गुंजा, सुगन्ध आदि मूल विष हैं । विष-पत्रिका, महा करम्भ, करम्भ आदि पत्र विष हैं । कुमुद्वती, रेणुका, करम्भ, महा करम्भ, कर्कोटक आदि फल विष हैं । वेत्र, कादम्ब, बल्वज, करम्भ, महा करम्भ ये पुष्प विष हैं । अन्त्रपाचक, कर्त्तरीय, सौरीयक, करघाट ये त्वक् विष, सार विष और निर्य्यास विष हैं । कुमुद, घी स्नुही (घी तैलाग्रज) क्षीर विष हैं । फेनाश्म, भस्म और हरिताल धातु विष हैं । कालकूट, वत्सनाभ, सर्प, कपालक, कर्दमक, शृंगी विष ये कन्द विष हैं ।]

परं संयोगजं चान्यद् गरसंज्ञं गदप्रदम् ।
कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून् ॥ १४ ॥

इन स्थावर और जंगम विषों के अतिरिक्त एक तीसरा भी विष है, जिसको 'गर' कहते हैं । यह संयोग जन्य (अविष वस्तुओं के मिलने से उत्पन्न) होता है । यह गर विष कालान्तर में पकता है, इसलिये प्राणों को शीघ्र नष्ट नहीं करता । ❀

❀ संयोगजन्य विष भी दो प्रकार का है, एक विषरहित पदार्थों के

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम् ।
शोफं चैवातिसारं च जनयेज्जङ्गमं विषम् ॥ १५ ॥
स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम् ।
फेनवम्यरुचिश्वासमूर्च्छाश्च जनयेद् भृशम् ॥ १६ ॥

जंगम विष के लक्षण—निद्रा, तन्द्रा, क्लम (विना परिश्रम के भी थकान), दाह, अपक्ति, शरीर में रोमांचता, शोथ और अतिसार जंगम विष इन लक्षणों को प्रकट करता है ।

स्थावर विष के सामान्य कार्य—स्थावर विष ज्वर, हिचकी, दन्त हर्ष (दांतों में जड़ता), गलग्रह (गले का अवरोध), मुख में झाग, वमन, अरुचि, प्यास और अतिशय मूर्च्छा को उत्पन्न करता है ।

जङ्गमं स्यादूर्ध्वभागमधोभागं तु मूलजम् ।
तस्माद्दंष्ट्रिविषं मौलं हन्ति मौलं च दंष्ट्रिजम् ॥ १७ ॥

गति भेद—जंगम विष मुखादि ऊर्ध्व भाग से प्रवृत्त होता है और मूलज (स्थावर) विष गुदा आदि अधो भाग से प्रवृत्त होता है । इसलिये दंष्ट्रा विष मूल विष को नष्ट करता है और मूल विष दंष्ट्रा विष को नष्ट करता है ।

[कविराज श्री गंगाधर सेन का कहना है कि केवल दंष्ट्रा-विष (लालादि विष नहीं), केवल मूल विष को (पत्र पुष्पादि को नहीं) नष्ट करता है और इसी प्रकार से केवल मूल विष ही अकेले दंष्ट्रा विष को नष्ट करता है । परन्तु सुश्रुत में 'स्थावरं जंगमेन तु' इस वचन से

मिश्रण से बना 'गर' संज्ञक विष, दूसरा विषयुक्त पदार्थों के मिश्रण से तैयार किया 'कृत्रिम विष' । जैसा कि कहा है—

संयोगजन्यं द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते ।
गरं संयोगादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् ॥

इसीलिये रसायनीय अध्याय में कहा है—

'दंष्ट्राविषे, मूलविषे, सगरे कृत्रिमे विषे ।'

स्पष्ट कह दिया है कि स्थावर विष, जंगमविष को और जंगम विष स्थावर विष को नष्ट करता है । *

विष ही विष को परस्पर विरुद्ध गति होने से प्रभाव के कारण नष्ट कर सकता है । मदन फलादि ऊर्ध्वगामी द्रव्य मूलज विष को नष्ट नहीं कर सकते । इसी प्रकार से त्रिवृत् आदि अधोगामि द्रव्य दंष्ट्रा विष को नष्ट नहीं कर सकते] ।

तृण्मोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्लमा भवन्त्याद्ये ।
वेगे रसप्रदोषादसृक्प्रदोषाद् द्वितीये च ॥ १८ ॥
वैवर्ण्यं भ्रमवेपथुमूर्च्छाजृम्भाङ्गचिमिचिमातमकाः ।
दुष्टपिशितात्तृतीये मण्डलकण्डूश्वयथुकोठाः ॥ १९ ॥
वातादिजाश्चतुर्थे छर्दिर्दाहाङ्गशूलमूर्च्छाद्याः ।
नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमवेगे च ॥ २० ॥
षष्ठे हिक्का भङ्गः स्कन्धे स्यात्तु सप्तमे ऽष्टमे मरणम् ।
नृणाम्—

स्थावर विष के आठ वेग—(१) विष के प्रथम वेग में रस के दूषित होने से तृषा, मोह, दन्तहर्ष, लालास्राव, वमन और क्लम (थकान) होता है । (२) विष के द्वितीय वेग में रक्त के दूषित हो जाने से शरीर में विवर्णता, भ्रम, कम्पन, जम्भाई आना, मूर्च्छा, अंगों में वेदना, चिमचिमाहट अर्थात् शरीर पर राई या सरसों के लेप लगाने के समान सुइयां चुभने की सी प्रतीति होती है । (३) विष के तृतीय वेग में मांस के दूषित होने से मण्डल तथा कण्डूयुक्त कोठ होते हैं । (४) विष के चतुर्थ वेग में वात, पित्त और कफ के दूषित होने पर दाह, वमन, अंगों में वेदना और मूर्च्छा आदि होते हैं । (५) विष के पंचम वेग में नीला वर्ण आदि रंगों का दर्शन तथा अन्धकार का दर्शन

* इस बात के स्पष्टीकरण के लिये लेखक के शल्यतंत्र में महाभारत प्रकरण देखिये ।

होता है । (६) विष के छठे वेग में हिक्का, (७) सातवें में स्कन्ध-धंग अर्थात् कन्धों का गिर जाना, गर्दन का सीधा न रख सकना या बैठ न सकना और (८) आठवें वेग में रोगी का मरण हो जाता है । ※

चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः ॥ २१ ॥

गाय आदि चोपायों में विष के चार ही वेग होते हैं और पक्षियों में विष के तीन वेग होते हैं ।

सीदत्याद्ये भ्रमति च चतुष्पदो वेपते ततः शूनः ।
मन्दाहारो म्रियते श्वासेन चतुर्थवेगे तु ॥ २२ ॥

पशु जाति में स्थावर विष के चार वेग—विष के प्रथम वेग में पशु बैठ जाता है, शरीर शिथिल पड़ता है और वह घूमने लगता है, उसे चक्कर आता है । द्वितीय वेग में वह कांपता है, शरीर में शोफ़ प्रकट हो जाता है, तीसरे वेग में खाना-पीना त्याग देता है और चौथे वेग में श्वास कष्ट के कारण मर जाता है ।

ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे प्रभ्राम्यति द्वितीये तु ।
स्रस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम् ॥ २३ ॥

पक्षि जाति में स्थावर विष के तीन वेग—विष के प्रथम वेग में पक्षी ध्यानमग्न सा हो जाता है, द्वितीय वेग में उसको चक्कर आने लगते हैं, विष के तृतीय वेग में अंगों के शिथिल होने पर वह मर जाता है ।

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च ।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञैः ॥ २४ ॥

※ सुश्रुत में विष के सात ही वेग बताये हैं । सातवें वेग की चरमावस्था को ही चरक में अष्टम वेग के नाम से कहा है । जैसे—स्कन्धपृष्ठकटीभंगाद्सिरोधश्च सप्तमे । यहां पर एक एक कला के अतिक्रमण में सात वेग सुश्रुत ने कहे हैं । अष्टम वेग में सातवीं कला के व्यतीत होने पर मारक वेग हो जाता है, इसलिये उसको सुश्रुत में नहीं गिना है ।

विष के दस गुण—लघु, रूक्ष, आशु (शीघ्रकारि), विशद, व्यवायी (सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर जिसका परिपाक होता है), तीक्ष्ण, विकासी (जो शरीर के सब सन्धि बन्धनों को ढीला कर देता है), सूक्ष्म, उष्ण तथा अनिर्देश्य रस (अस्पष्ट रस) ये दश गुण विष में होते हैं ।

रौक्ष्याद् वातमशैत्यात्पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति ।
कफमव्यक्तरसत्वादनुरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम् ॥ २५ ॥
शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम् ।
तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात् ॥ २६ ॥
दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यात्स्यादसक्तगतिदोषम् ।

रूक्ष होने से विष वायु को कुपित करता है, उष्ण होने से पित्त को, सूक्ष्म होने से रक्त को, अव्यक्त रस होने से कफ को कुपित करता है, तथा अनुरसों का अनुसरण करता है । (विषयोगवाही है इस लिये रस और मांस के साथ मिल कर सब स्थानों पर पहुंच जाता है) । शीघ्रकारी और व्यवायी (पानी में पड़े तैल-बिन्दु के समान सर्वत्र फैलने वाला) होने से जल्दी से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है । तीक्ष्ण गुण होने से मर्म (हृदय) का नाश करता है, विकासी होने से विष प्राणनाशक है । विष के विशद (पिच्छा भाग रहित) गुण होने और प्रकुपित दोषों तक की गति स्थिर न होने और विष के लघु (शीघ्रकारी) होने के कारण चिकित्सा के अयोग्य होता है । *

दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति ॥ २७ ॥

---

* सुश्रुत ने विष के जो दस लक्षण पढ़े हैं, उनमें 'अविपाकी' लक्षण अधिक है । जैसे—

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्माशु व्यवायि च ।
विकासि विशदञ्चैव लघ्वविपाकि च तत् स्मृतम् ॥

यह अविपाकी लक्षण दूषीविष के लिये कहा है, आशुविष के विषय में इसकी आवश्यकता न होने से यहां नहीं कहा ।

स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्तु ।
तृण्मूर्च्छारतिमोहगलग्रहच्छर्दिफेनादि ॥ २८ ॥
पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य कफवातयोर्विषं तद्वत ।
तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोतिसारादि ॥ २९ ॥
कफदेशगतं कफाधिकस्य वातपित्तयोश्च दर्शयति ।
लिङ्गं श्वासगलग्रहकण्डूलालावमथ्वादि ॥ ३० ॥

विष दोष (वातादि) के स्थान और दोष की प्रकृतियों में पहुंच कर किसी एक को प्रकुपित कर देता है । वात-प्रकृति पुरुष में जब वात-प्रकृति विष, (दर्वीकर सर्पों का विष) वात के स्थान (पक्वाशय) में पहुंच जाता है, तब कफ और पित्त के किंचित् लक्षणों को तथा तृषा, मूर्च्छा, बेचैनी, मोह, गलग्रह, वमन, झाग आदि को उत्पन्न करता है। पित्त-प्रकृति पुरुष में जब पित्त-प्रकृति विष (मण्डली सर्पों का विष) पित्त के स्थान (पित्ताशय) में पहुंच जाता है, तब कफ और वात के किंचित् लक्षणों को तथा प्यास, कास, ज्वर, वमन, क्लम, दाह, अन्धकार और अतिसार इनको उत्पन्न करता है । कफ-प्रकृति पुरुष में जब कफ-प्रकृति-विष (राजि सर्पों का विष) कफ के स्थान (आमाशय) में पहुंच जाता है तब वात, पित्त के लक्षणों को तथा श्वास, गलग्रह, कण्डू, लालास्राव, वमन आदि को उत्पन्न करता है ।

दूषीविषं तु शोणितदुष्टमरुःकिटिभकोठलिङ्गं[1] च ।
विषमेकैकं दोषं संदूष्य हरत्यसूनेवम् ॥ ३१ ॥
हरति विषतेजसाऽसृक् तत्खानि निरुध्य मारयति जन्तुम् ।
पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्धयोर्दंशदेशे स्यात् ॥ ३२ ॥

दूषीविष—स्थावर, जंगम या कृत्रिम विष जब विषनाशक ओषधि आदि से हतवीर्य होकर, शरीर में बाहर न निकलकर देर तक शरीर में रहता है, तब इसको 'दूषीविष' कहते हैं । यह दूषीविष रक्त को दूषित

१. 'दुष्टकिटिभकोठादिरक्त' इति पा० ।

करके व्रण, किटिभ और कोठ को उत्पन्न करता है, वह इस प्रकार एक एकदोष को दूषित करके प्राणों को नष्ट करता है।*

नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः।
शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी च ॥ ३३ ॥
क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि।

विष के तेज से रक्त बहता है, यह विष गला, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों के छिद्रों को रोक कर प्राणी को मारता है। पिया हुआ विष मृत व्यक्ति के हृदय में जा बैठता है, दष्ट (काटे) हुए स्थान में, विद्ध स्थान में, विष दंश-स्थान में रहता है।

विष से मृत पुरुष के लक्षण—ओठ और दंशस्थान नीले पड़ जाते हैं, दांत ढीले हो जाते हैं, बाल गिरने लगते हैं, अङ्ग टूटते हैं, अङ्गों में विक्षेप होता है, शीतल जल या शीतल वस्तुओं से भी शरीर में रोमांच नहीं होता, इस प्रकार कोड़े, रस्सी आदि से मारने पर भी निशान नहीं पड़ते। क्षतजन्य व्रण से रक्त नहीं आता, ये मृत्यु के चिह्न कह दिये हैं।

विष-चिकित्सा

एभ्योऽन्यथा चिकित्स्यास्तेषां चोपक्रमाञ्छृणु मे ॥ ३४ ॥
मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः।
अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि ॥ ३५ ॥
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रधमनानि।

---

* दूषीविष का लक्षण सुश्रुत में स्पष्ट कर दिया है—
यत् स्थावरं जंगमं कृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत् तत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि।
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धवैरस्ययुतः पिपासी। सुश्रुते ॥

प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः ॥ ३६ ॥
मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः ।
स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र योज्याः शृणु तथा तान् ॥ ३७ ॥

नीले ओठ आदि मृत लक्षणों से भिन्न अन्य व्यक्तियों की चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये विशेष उपक्रमों को सुनो—

मंत्र*, अरिष्ट, उत्कर्त्तन, निष्पीड़न, चूषण, अग्नि से जलाना, परिषेक, अवगाहन, रक्तमोक्षण, वमन, विरेचन, उपधान (मस्तक या सिर में औषध लगाना), हृदय का आवरण (हृदयरक्षक औषध) अंजन, नस्य, धूम, अवलेह, प्रधमन, औषध, प्रतिसारण, प्रतिविष (Antidotes), संज्ञा-स्थापन, लेप, मृत-संजीवनकारक भेषज ये चौबीस उपक्रम अर्थात् चिकित्सा विधियां हैं । इनको कहां कहां पर किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये सो यथाविधि सुनो ।

दंशात्तु विषं दष्टस्य विसृतं वेणिकां भिषग् बुद्ध्वा ।
निष्पीडयेद् भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ॥ ३८ ॥

(१) यदि शाखा आदि स्थानों पर सांप ने काटा हो तो दंश के कारण निकले हुए विष को जानकर वैद्य को चाहिये कि दंश के स्थान से चार अंगुल ऊपर अरिष्टा† (रस्सी) को तुरन्त कसकर बांधकर दबा देवे । और यदि सर्प ने ऐसे स्थान पर काटा हो जहां पर अरिष्टा बांधी न जा सके वहां पर दंशस्थान में चीरकर विष को बाहर निकाल देना चाहिये ।‡

---

* विषहर प्रयोगों में मन्त्र का प्रयोग सर्वोपरि श्रेष्ठ है ।

विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः ।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः ॥ सुश्रुते ॥

† अरिष्टाएं दो प्रकार की कही हैं एक मन्त्र से बांधी जाती हैं, दूसरी रस्सी से बांधी जाती हैं । चक्र० ॥

‡ अरिष्टाबन्धन के विषय में सुश्रुत ने कुछ नियम दिये हैं । यथा—

सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः ।

तं दंशं वा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन ।

(२) यदि इस प्रकार से भी विष निकालना सम्भव न हो तो मुख में जौ का आटा या रेत व धूल भर कर दंशस्थान से विष को चूसना चाहिये ।

प्रच्छन्वेधजलौकःशृङ्गैः स्राव्यं ततो रक्तम् ॥ ३९ ॥
रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत्प्रकृतिस्ततस्त्यजेत्प्राणान् ।

(३) दंशस्थान पर शस्त्र से प्रच्छन (खिनना Scorification) करके सींग से रक्त चूसना चाहिये, अथवा जौंक से रक्त चुसाना चाहिये, या शिरावेध से रक्त निकालना चाहिये । क्योंकि विष से दूषित रक्त से प्रकृति भी दूषित हो जाती है और प्रकृति के दूषित होने से रोगी प्राणों को छोड़ देता है । इसलिये—

तस्मात्प्रघर्षणैरसृग्वर्तमानं प्रवर्त्यं स्यात् ॥ ४० ॥
त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणाः सवार्ताकाः ।
घर्षणमतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलैर्लेपः ॥ ४१ ॥
रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत् ।
शीतैः स्कन्दति तस्मिन् स्कन्ने व्यपयाति विषवेगः ॥ ४२ ॥

(४) यदि दूषित रक्त न बहे तो व्रण आदि के प्रघर्षण से रक्त बहाना चाहिये । * घर्षण के लिये-सोंठ, मरिच, पिप्पली, गृहधूम,

---

देशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरंगुले ।
प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनान्यतमेन च ।
न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥
दहेद् देशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते ।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः ॥
प्रतिपूर्य्य मुखं वस्त्रैः हितमाचूषणं भवेत् ।

* रक्त के निकालने की उपयोगिता के विषय में—
समन्ततः सिरा दंशाद् विध्येत् तु कुशलो भिषक् ।

हल्दी पांचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, सौवर्चल, विड्, उद्भिद्) और बैंगन इनके चूर्णों से घर्षण करना चाहिये। यदि प्रच्छन आदि से रक्त अधिक बहने लगे तब बरगद, गूलर आदि शीतल छालों से लेप करना चाहिये। जिस प्रकार अग्नि का आश्रय स्थान वायु होता है, उसी प्रकार रक्त ही विष का आश्रय स्थान है। शीतल प्रलेपों और शीतल परिषेकों से रक्त स्कन्द अर्थात् गाढ़ा, घट्ट हो जाता है। इस रक्त के घट्ट होने पर विष का वेग नष्ट हो जाता है।

विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृद्यद्रवाः प्रवर्तन्ते।
शीतैर्निर्वर्तयेत्तान् न वीज्यैश्च लोमहर्षः स्यात् ॥ ४३ ॥

(५) विष के वेग से मद, मूर्च्छा, विषाद, हृदय में द्रव अर्थात् जलीय भाग फेफड़ों में एकत्र न होना ये विकार उत्पन्न हो जाते हैं। शीतल उपचारों से इनको शान्त करना चाहिये, रोगी को इतना ही पंखा करना चाहिये जिससे उसको लोमहर्ष (रोमांच) न होने लगे। रोमांच होने लगे तो पंखा बन्द कर देना चाहिये।

तरुरिव मूलच्छेदाद्दंशाच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम्।
आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः ॥ ४४ ॥

(६) जिस प्रकार मूल के कटने से वृक्ष नहीं बढ़ता, उसी प्रकार दंश के छेदन (उत्कर्त्तन) से विष नहीं बढ़ता। चूषण से विष निकल आता है, जिस प्रकार बहते हुए जल को सेतु (बांध) रोक देता है, उसी प्रकार से अरिष्टा के बांधने से विष की गति रुक जाती है। [सुश्रुत में अरिष्टा को मंत्र पूर्वक बांधने के लिये भी कहा है। *]

रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृच्छ्रं निर्ह्रियते विषम्।
तस्माद् विस्रावयेद् रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया ॥ सु० ॥

* अरिष्टामपि मंत्रैश्च बध्नीयान्मंत्रकोविदः।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता ॥
देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मंत्राः सत्यतपोमयाः।

त्वङ्मांसगतो दाहो दहति विषं स्रावणं रक्तात् ।
पीतं वमनैः सद्यो हरेद्—

(७) त्वचा और मांस में स्थित विष को अग्नि का दाह नष्ट करता है । रक्त का स्राव रक्त में स्थित विष को बाहर निकाल देता है । पिये हुए विष को तुरन्त वमनों से निकालना चाहिये ।

विरेकैः द्वितीये तु ॥ ४५ ॥
आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम् ।
मज्जानं मधुघृतगैरिकमथ गोमयरसं वा ॥ ४६ ॥
इक्षुं सुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं बल्यम् ।
छागादीनां वाऽसृग्भस्म मृदं वा पिबेदाशु ॥ ४७ ॥

(८) विष के द्वितीय वेग में विरेचन से विष को निकालना चाहिये । विषपीत व्यक्ति के हृदय की रक्षा सब से प्रथम करनी चाहिये । इस हृदय के आवरण अर्थात् रक्षा के लिये निम्नलिखित पदार्थों में से जो भी मिल सके वह पीना चाहिये—मधु, घृत, मज्जा, गेरू, गोबर का रस, गन्ने का रस, कौवे को भली प्रकार पकाकर उसको दबाकर निकाला हुआ मांस रस, आंवले का रस, अथवा बकरी आदि के रक्त को या मिट्टी को घोलकर जल्दी से जो मिल सके उसी को पीना चाहिये । *

भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम् ॥
विषं तेजोमयैः मंत्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः ।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः ॥
मंत्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमद्यवर्जिना ।
जिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना ॥
गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः ।
पूजयेन्मंत्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः ॥

* सुश्रुत में शीतल लेप और आचूषण विधि आदि निम्न रूप में दी है—

क्षारोऽगदस्तृतीये शोफहरैर्लेखनं समध्वम्बु ।

विष के तृतीय वेग में क्षार अगद तथा जल में मधु मिला कर शोथ-नाशक वमन देना चाहिये ।

गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुसर्पिर्भिः ॥ ४८ ॥

विष के चतुर्थ वेग में गोबर के रस में कैथ का चूर्ण, मधु और घृत मिला कर देना चाहिये ।

काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्च्योतनाञ्जने नस्यम् ।

स्यात्पञ्चमे—

विष के पंचम वेग में काकाण्ड (कृष्ण शिम्बी) और शिरीष के स्वरस से आंखों में आश्च्योतन और अंजन करना चाहिये, तथा इनके ही स्वरस से नस्य लेना चाहिये ।

अथ षष्ठे संज्ञायाः स्थापनं कार्यम् ॥ ४९ ॥

गोपित्तयुता रजनी मञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम् ।

विष के षष्ठ वेग में [हिंगु, कैटर्य्यं, वचा, चोरक, वयस्था, गोलोमी जटिला, पलंकषा, अशोक, रोहिणी ओषधियों से] संज्ञा स्थापन करनी चाहिये । अथवा गोपित्त (गाय का पित्त), हल्दी, मंजिष्ठा, मरिच और पिप्पली इनका कल्क या कषाय पीना चाहिये ।

समन्तादगदैर्दंशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत् ।
चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत् ॥
पाययेदगदांस्तांस्तान् क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः ।
तदलाभे हितम् वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका ॥
कोविदारशिरीषार्क कटभीर्वापि भक्षयेत् ।
न पिबेत् तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि च ॥
द्रवमन्यत् तु यत् किञ्चित् पीत्वा पीत्वा समुद्वमेत् ।
प्रायो हि वमनेनैव सुखं निर्ह्रियते विषम् ।
फणिनां विषवेगे तु प्रथमं शोणितं हरेत् ॥ सुश्रुते ॥

विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते ॥ ५० ॥

सर्प से काटा होने पर मौल (मूलज) अर्थात् स्थावर विष को पीना चाहिये और स्थावर विष पीने पर अन्तिम अवस्था (शेप सातवें वेग) में दंष्ट्रा विष से कटवाना चाहिये ।

शिखिपित्तार्धयुतं स्यात्पलाशबीजमगदो मृतेषु वरः ।
वार्ताकुफाणितागारधूमगोपित्तनिम्बं वा ॥ ५१ ॥
गोपित्तयुतैर्गुलिकाः सुरसाग्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैः ।
शस्ताऽमृतेन तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डकरसैर्वा ॥ ५२ ॥
काकाण्डसुरसगवाक्षीपुनर्नवावायसीशिरीषफलैः ।
उद्बन्धविषजलमृते लेपौषधनस्यपानानि ॥ ५३ ॥

(९) विष के पीने पर जब रोगी मृत के समान प्रतीत होता हो तब (१) मोर का पित्त एक भाग और ढाक के बीज दो भाग मिला कर इनका पान या लेप करना श्रेष्ठ अगद (विष नाशक भेषज) है । इसी प्रकार से (२) वार्त्ताक (बैंगन), फाणित (राब), आगार धूम (गृह धूम), गाय का पित्त और नीम की छाल इनका कल्क रूप में पान या लेप करना श्रेष्ठ औषध है । (३) सुरसा (तुलसी), उग्रा (वच), हल्दी, दारु हल्दी, मुलहठी और कूठ इन छः वस्तुओं के चूर्ण को गाय के पित्त में मिला कर गोलियां बनानी चाहियें । ये गोलियां मृततुल्य पुरुष के लिये उत्तम हैं । अथवा (४) तुलसी, वच, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी और कूठ इन छः वस्तुओं के चूर्ण को शिरस के पुष्पों के रस में और काकाण्ड (कृष्ण शिम्बी) के रसों में गोली बना कर मृत तुल्य व्यक्ति को देनी चाहिये । (५) काकाण्ड (कृष्ण शिम्बी), सुरस (तुलसी), गवाक्षी (इन्द्रायण), पुनर्नवा, वायसी (काकमाची, मकोय), शिरीष फल इनसे बनी गुटिकायें, उद्बन्ध (गला घोटने) से मरे, जल में डूब कर मरे और विष से मरे व्यक्ति के लिये लेपन, औषध, नस्य और पान में बरतनी चाहिये ।

स्पृक्काप्लवस्थौरोयकाकाङ्क्षीशैलेयरोचनातगरम् ।
ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रैलालकुष्ठघ्नम् ॥ ५४ ॥
बृहती शिरीषपुष्पं श्रीवेष्टकपद्मचारटिविशालाः ।
सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनःशिलाकौन्त्यः ॥ ५५ ॥
जात्यर्कपुष्परसरजनीद्वयहिङ्गुपिप्पलीलाक्षाः ।
जलमुद्गपर्णीचन्दनमधूकमदनसिन्धुवाराश्च ॥ ५६ ॥
शम्पाकलोध्रमयूरकगन्धफलीनाकुलीविडङ्गाश्च ।
पुष्ये संहृत्य समं पिष्ट्वा गुलिका विधेयाः स्युः ॥ ५७ ॥
सर्वविषघ्नो जयकृद्विषमृतसंजीवनो ज्वरनिहन्ता ।
घ्रेयविलेपनधारणधूमग्रहणैर्गृहस्थश्च ॥ २८ ॥
भूतविषजन्त्वलक्ष्मीकार्मणमन्त्राग्न्यशन्यरीन्हन्यात् ।
दुःस्वप्नस्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम् ॥ ५९ ॥
धनधान्यकार्यसिद्धिः श्रीपुष्ट्यायुर्विवर्धनो धन्यः ।
मृतसंजीवन एष प्रागमृताद् ब्रह्मणा विहितः ॥ ६० ॥

इति मृतसंजीवनोऽगदः ।

(१०) मृत संजीवन अगद—पृक्क (स्पृक्का, सुगन्धित द्रव्य पिङ्ग), स्थौणेयक (ग्रन्थिपर्ण), प्लव (केवड़ी मोथा), कांक्षी (सौराष्ट्रमृत्तिका या फिटकरी), शैलेय (शिलारस), गोरोचना (गोरोचन), तगर, ध्यामक (गन्धतृण), कुंकुम (केशर), मांसी (जटामांसी), सुरसाग्र (तुलसी की मंजरी या निर्गुण्डी की मंजरी), एला (बड़ी इलायची); आल (हरिताल), कुष्ठघ्न (पनवाड़ अथवा खैर), बृहती (बड़ी कटेरी), शिरीष पुष्प, श्रीवेष्ट (धूप, नवनीत खोटी), पद्मचारटी (कुम्भाड़ लता), देवदारु, पद्मकेसर (कमल का केसर), सावरक (धवल लोध्र), मैनसिल, कौन्ती (रेणुका), जाती पुष्प का रस (चमेली का फूल), आक के पुष्प का रस, हल्दी और दारुहल्दी, हींग, पिप्पली, लाख, जल (बालक), मूंगपर्णी, चन्दन,

मदन (मैनफल), मधुक (मुलहठी), सिन्धुवार (निर्गुण्डी), शम्पाक (अमलतास), लोध (लाल लोध), मयूरक (अपामार्ग), गन्धफली (प्रियंगु), नाकुली (रास्ना) और वायबिडंग इन सब वस्तुओं को पुष्य नक्षत्र में संग्रह करके समान भाग में लेकर जल के साथ पीस कर गोलियां बनानी चाहियें।

यह मृतसंजीवन अगद सब प्रकार के विषों को नष्ट करता है। विष को जीतता है, ज्वर को दूर करता है। घर में रहने वाले व्यक्तियों को इसको नस्य लेने वा सूंघने में, लेपन में, शरीर पर धारण करने में तथा धूम्रपान में प्रयोग करना चाहिये। यह अगद, भूत बाधा, विष, जन्तु भय, अलक्ष्मी (दौर्भाग्य), कार्म्मण (पर द्रोहोपाय-मंत्र), मंत्र (अभिचार मंत्र), अग्निभय, बिजली का भय और शत्रुओं को भी नष्ट करता है। इससे बुरे स्वप्न, स्त्री-दोष अर्थात् स्त्री द्वारा दिये कृत्रिम संयोगज विष आदि दोष, अकाल मृत्यु, जल का भय और चोर का भय नष्ट होता है। यह अगद धनधान्य की वृद्धि करता है, कार्य्य में सफलता देता है, श्री (लक्ष्मी और कान्ति) को बढ़ाता है, आयु को बढ़ाता है, इससे यह अगद धन्य है। इस मृत-संजीवन अगद को ब्रह्मा ने अमृत से भी पूर्व उत्पन्न किया था।

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽपामार्जनं कार्यमात्मरक्षा च।
दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात्तं जयेत्पूर्वम् ॥ ६१ ॥

(११) अरिष्टा-बन्धन विधि—विष आगे न फैल सके इसके लिये दंश स्थान से चार अंगुल ऊपर मंत्रपूर्वक अरिष्टा द्वारा धमनी को बांध देना चाहिये। सिद्ध विषनाशक मंत्रों से तथा अपामार्जन मंत्रों से अरिष्टा बन्धन तथा अपनी रक्षा (भूत-बाधा न हो सके) वैद्य को करनी चाहिये। जिस दोष के स्थान में विष पहुंचा हो, उसी दोष को प्रथम शान्त करना (जीतना) चाहिये।

वातस्थाने स्वेदो दध्नो नतकुष्ठकल्कपानं च।

(१२) विष यदि वातस्थान (पक्वाशय) में पहुंचा हो तो स्वेद देना चाहिये और नत (तगर) और कुष्ठ के कल्क को दही के साथ पीना चाहिये।

घृतमधुपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे ॥ ६२ ॥

(१३) विष यदि पित्तस्थान में पहुंच जाये तो घृत, मधु, दूध, जल का पान, पानी में अवगाहन तथा शीतल परिषेक करना चाहिये।

क्षारोऽगदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिराव्यधनम्।
दूषीविषेऽथ रक्तस्थिते विज्ञाय कर्म पञ्चविधम् ॥ ६३ ॥
भेषजमेवं कल्प्यं भिषजा सर्वदा सर्वम्।
स्थानं जयेच्च पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च ॥ ६४ ॥

(१४) विष यदि कफस्थान में पहुंच जाये तो क्षार अगद * स्वेद तथा सिरावेध करना चाहिये। दूषीविष रक्त में स्थित हो तो पांच प्रकार की सिराओं का वेधन करना चाहिये और दूषित रक्त पर्य्याप्त मात्रा में निकाल देना चाहिये। वैद्य को चाहिये कि इस विधि से सब कुछ परीक्षा करके सम्पूर्ण औषध-विधि बरतनी चाहिये। सबसे प्रथम विष के स्थान को जीतना चाहिये, उस स्थान में स्थित दोष के अविरुद्ध कार्य करना चाहिये।

विषदूषितकफमार्गः स्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु।
मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च ॥ ६५ ॥
चर्मकषायाः कल्कं बिल्वसमं मूर्ध्नि काकपदमस्य।
कृत्वा दद्यात्।

(१५) विष के कारण दूषित कफ से वायु गतिस्रोतों (फेफड़ों)

---

* क्षार-अगद सुश्रुत में दिया है। जैसे—
"धवाश्वकर्णतिनिशपलाशपिचुमर्दपाटलिपारिभद्रम्। इत्यादि से लेकर ततः क्षारवदागतपाकमवताार्य्य लौहकुम्भे निदध्यात्। अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् एष क्षारोऽगदो नाम शर्करास्वश्मरीषु च ॥" सु० कल्प० अ० ७॥

के रुक जाने से, वायु के रुक जाने पर मनुष्य मरणासन्न रोगी के समान श्वास लेता है। इस रोगी में विष के असाध्य लक्षण नीले ओष्ठ होना आदि भी उत्पन्न नहीं होते। इस अवस्था में रोगी के सिर पर काकपद (त्रिरेखाकार चिह्न) बना कर चर्म्मकषा (चर्म्मचिटिका वेऊंची) को पीसकर उसके कल्क की बिल्वसम (पल परिमाण) मात्रा काकपद स्थान पर लगानी चाहिये।

कटभीकटुककटफलप्रधमनं च ॥ ६६ ॥

(१६) नस्य—कटभी, कटु (त्रिकटु या कडुवी तुरई), कटफल (कायफल) इनको समान भाग लेकर इनके चूर्ण से प्रधमन नस्य देना चाहिये।

छागैणगव्यमाहिषाविककौक्कुटाजमांसं च।
दद्यात्काकपदोपरि मत्ते विषेणैव सहसा ॥ ६७ ॥

(१७) विष के कारण सहसा मत्त (पागल के समान) हो जाने पर शिर पर काकपद बना कर बकरी, गाय, भैंस, भेड़, कुक्कुट अथवा जलचर प्राणियों के मांस को टुकड़े टुकड़े करके काकपद के ऊपर लगाना चाहिये।

घ्राणाक्षिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात्।
वार्ताकबीजपूरकज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः ॥ ६८ ॥
अञ्जनमक्ष्युपरोधे कर्तव्यं बस्तमूत्रपिष्टैस्तु।
दारुव्योषहरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु ॥ ६९ ॥

(१७) विष से दूषित कफ के कारण यदि नासिका, आंख, कान, जिह्वा और गले का अवरोध हो जाय तब वार्त्ताक (बैंगन), बीजपूरक (बिजौरिया निम्बू), और ज्योतिष्मती (मालकंगनी) आदि (षड्विरेचन शताश्रितीय प्रकरणमें कहे) शिरोविरेचन द्रव्यों से नस्य देना चाहिये। विष के कारण आंख का अवरोध होने पर दारुहल्दी, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), हल्दी, करवीर (कनेर), करंज, नीम और सुरसा (तुलसी) इन को बकरे के मूत्र में पीसकर इससे अंजन करना चाहिये।

श्वेता वचाऽश्वगन्धा हिङ्ग्वमृता कुष्ठसैन्धवे लशुनम् ।
सर्षपकपित्थमध्यं टुण्टुकमूलकरञ्जबीजानि ॥ ७० ॥
व्योषं शिरीषपुष्पं द्वे च निशे वंशलोचनं च समम् ।
पिष्ट्वाऽथ बस्तमूत्रेण गोश्च पित्तेन* सप्ताहम् ॥ ७१ ॥
व्यत्यासभावितोऽयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम् ।
सर्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्ति ॥ ७२ ॥
उन्मादापस्मारौ काचपटलनीलिकाशिरोदोषान् ।
शुष्काक्षिपाकपिल्लार्बुदार्मकण्डूतमोदोषान् ॥ ७३ ॥
क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डुगदांश्चाञ्जनात्तथा मोहान् ।
लेपाद्दिग्धक्षतलीढदष्टविद्धपीतविषघाती ॥ ७४ ॥
अर्शस्वारुद्धेषु च गुदलेपो योनिलेपनं स्त्रीणाम् ।
मूढे गर्भे, दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये ॥ ७५ ॥
वृद्धौ किटिभे कुष्ठे श्वित्रविचर्चिकादिषु लेपः ।
गज इव तरून् विषगदान्निहन्त्यगदो गन्धहस्त्येषः ॥ ७६ ॥
इति गन्धहस्तीनामाऽगदः ।

(१८) गन्धहस्ती नाम अगद—श्वेता (कोयल), वच, असगन्ध, हींग, अमृता (गिलोय), कूठ, सैन्धानमक, लशुन, सरसों, कैथ का गूदा, टुण्टुक (श्योनाक), करंज के बीज, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), शिरस के फूल, हल्दी, दारु हल्दी और वंशलोचन इनको परस्पर समान भाग लेकर पीस लेना चाहिये, फिर बकरे के मूत्र की भावना देनी चाहिये और अगले दिन गाय के पित्त की भावना देनी चाहिये। * इस प्रकार से बने इस अगद का अंजन या लेप करने से शिर में स्थित विष शीघ्रता से नष्ट हो जाता है।

यह अगद सब प्रकार के ज्वरों को, भूत बाधाओं को, विसूचिका,

* कहीं २ पर 'गोऽश्वपित्तेन' यह पाठ है। तदनुसार गाय के पित्त की भावना के पीछे अश्व के पित्त से भावना देनी चाहिये।

अजीर्ण, मूर्च्छा की पीड़ा को, उन्माद, अपस्मार, काचरोग, पटल रोग, नीलिका, शिरोरोग, शुष्काक्षिपाक, पिल्ल, अर्बुद, अर्म्म, कण्डू, तम-दोषों को, क्षय, दुर्बलता, मदात्यय और पाण्डुरोगों को एवं मूर्च्छा को अंजन रूप में प्रयोग करने से नष्ट करता है। दिग्ध (शरीरादि में लिप्त), क्षत लीढ़ दष्ट, पीत, विष, दूषी विष और गर इन आठ रूपों में प्रयुक्त विष को यह अगद नष्ट करता है। अवरुद्ध अर्शों में गुदा में इसका लेप करना चाहिये, स्त्रियों की मूढ़ गर्भ की अवस्था में योनि के अन्दर लेप करना चाहिये। दूषित प्रतिश्याय में माथे पर लेप करना चाहिये। वृद्धिरोग में किटिभ कुष्ठ में, श्वित्र में, विचर्चिका आदि में इस अगद का लेप करना चाहिये। यह गन्धहस्ती नाम का अगद हाथी के समान तरुण (नूतन), विष रोगों को नष्ट कर देता है।

पत्रागुरुमुस्तैला निर्यासः पञ्च चन्दनं स्पृक्का ।
त्वङ्नलदोत्पलबालकहरेणुकोशीरव्याघ्रनखाः ॥ ७७ ॥
सुरदारुकनककुङ्कुमध्यामककुष्ठप्रियङ्गवस्तगरम् ।
पञ्चाङ्गानि शिरीषाद्व्योषाल[1]मनःशिलाजाज्यः ॥ ७८ ॥
श्वेता कटभी करञ्जो रक्षोघ्नः सिन्धुवारिका रजनी ।
सुरसरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बपत्रनिर्यासाः ॥ ७९ ॥
वंशत्वगश्वगन्धा हिङ्गु दधित्थाम्लवेतसं लाक्षा ।
मधुमधूकसोमराजीवचारुहारोचनातगरम् ॥ ८० ॥
अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्ठ्यङ्गः ।
अप्रतिहतप्रभावः ख्यातो महागन्धहस्तीति ॥ ८१ ॥

(२०) महागन्धहस्ती नाम अगद—पत्र (तेजपत्र), अगरु, मुस्ता, इलायची बड़ी, पांच निर्य्यास (सर्जरस, गुग्गुल, अफीम, शिला-रस और लोबान), चन्दन, पृक्का (स्पृक्का, पिङ्गशाक), त्वक् (दाल-चीनी, नलद (जटामांसी), उत्पल (कमल), बालक (ह्रीबेर), हरेणुका

1. 'व्योषेला' इति पा० ।

(गोल मटरा), उशीर (खस), व्याघ्र नख (हिंस्रा या नखी), देव-दारु, कनक (नागकेसर), कुंकुम (केसर), श्यामक (गन्धतृण), कूठ, प्रियंगु, तगर, शिरीष के पचांग (मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प और फल), व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), आल (हरिताल) मैनसिल, अजाजी (जीरा), श्वेता (अपराजिता कोयल), कटभी (छोटा शिरीष), करंज रक्षोघ्न (सरसों), सिन्धुवारिका (निर्गुण्डी), रजनी (हल्दी), सुरसा (तुलसी), अंजन (रसांजन), गैरिक (गेरू), मंजीठ, नीम के पत्ते और नीम की गोंद, वंशत्वक् (बांस की छाल), असगन्ध, हींग, दधित्थ कपित्थ, कैथ), अम्लवेतस, वृक्ष, (राजवृक्ष), मधु, मधुक (मुलहठी), सोमराजी (बावची), वच, रूह (दूर्वा), रोचना, तगर (पीला तगर), इन साठ अंगों वाले अगद को त्र्यम्बक (महादेव) ने वैश्रवण (कुबेर) को उपदेश किया था। इस अगद का नाम 'महागन्ध हस्ती' है, इस अगद का प्रभाव कभी किसी प्रकार नहीं रुकता।

पित्तेन गवां पेष्या गुलिकाः कार्यास्तु पुष्ययोगेन।
पानाञ्जनप्रलेपैः प्रसाधयेत्सर्वकर्माणि ॥ ८२ ॥
पिल्लं[1] कण्डूं तिमिरं रात्र्यन्ध्यं काचमर्बुदं पटलम्।
हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम् ॥ ८३ ॥
विषमज्वरानजीर्णान्दद्रुकण्डूविसूचिकापामाः।
कुष्ठं किटिभं श्वित्रं विचर्चिकां चोपहन्ति नृणाम्।
विषं मूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानां च।
आशुविषं नाशयति मूलजमथ कन्दजं सर्वम् ॥ ८४ ॥
एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम्।
कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः ॥ ८५ ॥
आनद्धे गुदलेपो योनौ लेपश्च मूढगर्भाणाम्।
मूर्च्छार्तिषु च ललाटे लेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥ ८६ ॥

१. 'पैल्ल्यं' इति पा०।

पुष्य नक्षत्र में इन साठ दवाइयों को गाय के पित्त के साथ पीसकर गोलियां बनानी चाहिये। ये गोलियां कार्य्यसाधक होती हैं। यह अगद पान, अंजन और लेप से सब कार्यों को सिद्ध करता है। हितकारी तथा पथ्य भोजन करने वाले पुरुष के पिल्ल, कण्डू, तिमिर, रात्रि में न दीखना, काच, अर्बुद, पटल ये सब रोग निरन्तर इसका अंजन करने से नष्ट होते हैं। यह अगद पुरुषों के विषमज्वर, अजीर्ण, दद्रु, कण्डु, विसूचिका, पामा कुष्ठ, किटिभ, श्वित्र, विचर्चिका को नष्ट करता है। यह अगद चूहे और मकड़ियों के विष को तथा सब प्रकार के सर्पों के विष को, मूलजन्य और कफजन्य सब विषों को शीघ्र नष्ट कर देता है। इस अगद का शरीर पर लेप करके मनुष्य सांपों को हाथ से धारण कर सकता है, सब प्रकार का विष खा सकता है, उसको कुछ हानि नहीं होती। मृत्यु से आक्रान्त (मरणासन्न) रोगी भी रोगरहित होकर जीवित रहता है। अर्श से गुदा का अवरोध होने पर इस अगद का लेप करना चाहिये। स्त्रियों के मूढ गर्भ में योनि के अन्दर इसका लेप करना चाहिये, मूर्च्छा आदि में मुख्य रूप में इन अगद का लेप माथे पर करना चाहिये।

भेरीमृदङ्गपटहान् छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः।
लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै प्रध्वनयेद्दर्शयेन्मतिमान् ॥ ८७ ॥
यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि।
न च कार्मणवेताला भजन्ति नाथर्वणा मन्त्राः ॥ ८८ ॥
सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः।
लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति ॥ ८९ ॥

बुद्धिमान वैद्य को चाहिये कि सर्पविष की निवृत्ति के लिये इस अगद का भेरी, ढोल, नगारा आदि पर लेप करके इनको बजाये, छतरी, ध्वजा, पताका आदि पर इसका लेप करके सर्प विष से दष्ट रोगी को ये वस्तुएं दिखावे। जिस स्थान पर या जिसके पास यह अगद होता है, उस के पास, या वहां पर स्कन्दादि बालग्रह या राक्षस (मांसाहारी रोगाणु)

नहीं आते, कार्म्मण मंत्र (पर-द्रोह उपाय के लिये कुमंत्र) तथा वेताल आदि मानसरोग तथा आथर्वण मंत्र (आभिचारिक मंत्र) प्रभाव नहीं करते। जहां पर यह महागन्धहस्ती अगद होता है, वहां पर ग्रह, अग्नि, शस्त्र, राजा और चोर कोई भी हानि नहीं पहुंचा सकते, वहां पर लक्ष्मी का निवास होता है।

पिष्यमाणे इमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत्।
मम माता जया नाम विजयो नाम मे पिता ॥ ९० ॥
सोऽहं जयो जयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च।
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ॥ ९१ ॥
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च।
तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ॥ ९२ ॥
यथाहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम्।
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ॥ ९३ ॥
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम्।
हिलिहिलिमिलिमिलिसंसृष्टे रक्ष सर्वं भेषजोत्तम स्वाहा ॥९४॥

इति महागन्धहस्ती नामाऽगदः।

इस अगद को पीसते समय निम्न सिद्ध मंत्र का उच्चारण करना चाहिये–'मेरी माता का नाम जया है और पिता का नाम जय है, मैं जया और जय का पुत्र हूं, मेरा नाम विजय है, इसलिये मैं जीत रहा हूं। विश्व के कर्त्ता, श्रेष्ठ पुरुष विष्णु के लिये नमस्कार है, कल्याण के लिये, ऐश्वर्य्य के लिये सनातन (जन्म मृत्यु के बन्धन से रहित) कृष्ण के लिये नमस्कार है। जिस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव की पराजय कभी भी नहीं जानी, माता का पाणिग्रहण कभी भी नहीं सुना, समुद्र का सूखना कभी भी नहीं सुना, इसी प्रकार से इस अगद की निष्फलता भी कभी नहीं सुनी। त्रिकाल में इसकी निष्फलता असम्भव है इस सत्य वाक्य से यह अगद सफल हो।'

हिलि-हिलि, मिलि-मिलि, संसृष्टे हे उत्तम भेषज, सब की रक्षा कर यह कहते हुए 'नमः पुरुषसिंहाय' आदि पूर्वोक्त चार मंत्रों से स्वाहा द्वारा आहुति करनी चाहिये ।

ऋषभकजीवकभार्गीमधुकोत्पलधान्यकेशराजाज्यः ।
ससितगिरिकोलमध्याः पेयाः श्वासज्वरादिहराः ॥ ९५ ॥
हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमुग्रलवणं च ।
समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिक्काश्वासकासघ्नौ ॥ ९६ ॥
लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजोत्पलमधुघृतैर्वम्याम् ।
बृहतीद्वयाढकीपत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी ॥ ९७ ॥
शिखिबर्हिबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम् ॥
धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत् ॥ ९८ ॥
घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च ।
धूमोऽगदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वयथुहृच्च ॥ ९९ ॥
जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुभपुष्पसर्जरसाः ।
श्वेता धूमा उरगाखुकीटवस्त्रक्रिमिहराः स्युः ॥ १०० ॥

(२०) विषोपद्रव-नाशक ७ योग—(१) ऋषभक, जीवक, मुलहठी, उत्पल (कमल), धान्य (धनिया), केसर (नागकेसर) और अजाजी (जीरा), सितगिरि (श्वेत अपराजिता या पर्वत की श्वेत मिट्टी) और बेर की मज्जा के साथ पीस कर पीने से विष जनित श्वास, ज्वरादि नष्ट होते हैं ।

(२) कृष्णा (पिप्पली) से मिले हुए हींग को मधु और मिश्री के साथ पीने और कैथ के रस के साथ उग्र लवण (सौवर्चल) को मिला कर मधु और मिश्री के साथ पीने से श्वास, ज्वर और हिक्का रोग नष्ट होता है ।

(३) बेर की गुठली, अंजन (रसांजन), लाजा और उत्पल (कमल) इनके चूर्ण को घृत में मिला कर चाटने से विष जनित वमन नष्ट होती है ।

(४) दोनों बृहती (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी) और अरहर के पत्ते इन तीनों के पत्तों को पीस कर वर्त्ति बनानी चाहिये। इस वर्त्ति का धूम्र पान करने से हिक्का नष्ट होती है।

(५) शिखि-बर्ह (मोर की पिच्छा), बलाका पक्षि की अस्थियां सरसों और चन्दन इनको पीस कर घृत में मिला कर घर, बिस्तर, आसन, वस्त्रादि में धूम देने से विष नष्ट होता है।

(६) नत (तगर) और कूठ को घृत में मिला कर धूम देने से भुजगपतिशिर (दर्वीकर आदि और दुमोहे सांपों के शिर) को सुखाकर और शिरीष के फूलों के साथ धूम देने से सब विषों तथा विषजन्य शोथों का नाश होता है।

(७) जतु (लाक्षा), सेव्य (उशीर), पत्र (तेजपत्र), गुग्गुलु, भिलावा, ककुभ पुष्प (अर्जुन वृक्ष के फूल), सर्जरस (राल), श्वेत (अपराजिता) इनको पीस कर पृथक् पृथक् वस्तु से धूम देना चाहिये। इनके धूंए से सांप, चूहे, कीड़े, वस्त्रों के कृमि (जूं आदि) नष्ट हो जाते हैं।

तरुणपलाशक्षारं स्रुतं पचेच्चूर्णितैः सह समांशैः।
लोहितमृद्रजनीद्वयशुक्लसुरसमञ्जरीमधुकैः ॥ १०१ ॥
लाक्षासैन्धवमांसीहरेणुहिङ्गुद्विसारिवाकुष्ठैः।
सव्योषैर्बाह्लीकैर्दर्वीलेपेन घट्टयेद्यावत् ॥ १०२ ॥
सर्वविषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीह्नः।
शोथापस्मारक्रिमिभूतस्वरभेदकण्ठपाण्डुगदान् ॥ १०३ ॥
मन्दाग्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम्।
गुलिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः ॥ १०४ ॥
इति क्षारोऽगदः।

(२१) क्षार-गुटिका—पलाश (ढाक) के तरुण वृक्ष को काट

कर उसको फाड़ कर सुखा लेना चाहिये। इसको जला कर भस्म बना लेनी चाहिये। इस भस्म को चतुर्गुण या छः गुण जल में मिला कर इक्कीस वार छान लेना चाहिये। इस जल में लोहित मृदु (गेरू), दोनों रजनी (हल्दी, दारुहल्दी), मधुक (मुलहठी) और सुरस (श्वेत तुलसी या सम्भालू वा शुक्ल निर्गुण्डी) की मंजरी लाक्षा, सैन्धव नमक, जटामांसी, हरेणु (गोल मटरा), हींग, दोनों सारिवा (कृष्ण और श्वेत दोनों अनन्त मूल), कूठ, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), बाह्लीक (हींग) ये सब एक एक भाग, हींग दो भाग मिला कर चतुर्गुण जल में पकाना चाहिये। जब पकाते पकाते यह लेह इतना गाढ़ा हो जाये कि कड़छी के साथ लगने लगे तब इसको उतार लेना चाहिये। इस क्षार से कोल (बेर) परिमित गुटिकायें बना कर छाया में शुष्क कर लेनी चाहिये। ये गुटिकायें भली प्रकार से प्रयोग करने पर सब विषों को नष्ट करती हैं। तथा शोथ, गुल्म, त्वचा रोग, अर्श, भगन्दर, प्लीहा, शोथ, अपस्मार, कृमि रोग, स्वर भेद, कण्डु और पाण्डु रोग मन्दाग्नि, कास और उन्माद को नष्ट करती हैं।

पीतविषदष्टविद्धेष्वेतद्दिग्धे च वाच्यमुद्दिष्टम् ।
सामान्यतः पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृणु यथावत् ॥ १०५ ॥

विष के पीने पर, दष्ट (सर्प आदि के दंश में) और विष से विद्ध होने पर जो क्रिया सामान्य रूप में बरतनी चाहिये, उसको पूर्व कह दिया है, इसके आगे पृथक्-पृथक् निर्देशों को भली प्रकार से सुनो—

राज-कार्य्य के सम्बन्ध में निर्देश

रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः ।
आहारविहारगतं तस्मात्प्रेष्यान् परीक्षेत ॥ १०६ ॥

राजा को शत्रुओं से मिले अपने ही पुरुषों वा शत्रुओं से तथा विशेष सौभाग्य-सम्पदा की कामना करने वाली अपनी स्त्रियों से भी विष का

भय रहता है। * भृत्य लोग आहार विहार के द्रव्यों में विष मिला कर दे देते हैं, इसलिये नौकरों की परीक्षा करके उन्हें रखना चाहिये।

अत्यर्थशङ्कितः स्याद् बहुवागथवाल्पवाग् विगतलक्ष्मीः।
प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः॥ १०७॥

विष देने वाले व्यक्ति के लक्षण—विष देने वाला मनुष्य सदा अति शंकित रहता है, बहुत बातें बनाता है, अथवा पूछने पर चुप हो जाता है या बहुत थोड़ा बोलता है। उसकी कान्ति (मुख की दमक) नष्ट हो जाती है। मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव या चेष्टा) विकृत हो जाती है, इन लक्षणों से विषदाता व्यक्ति को जान लेना चाहिये। ॐ

[पूछने पर जवाब नहीं देता, बोलना चाहता हुआ भी भूल सा जाता है, उलटा सुलटा, व्यर्थ भी बहुत कुछ कह देता है, अपनी

---

* जैसा कि सुश्रुत में कहा है—

स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित् सुभगेच्छया।
विषकन्योपयोगाद् वा क्षणाजह्यादसून् नरः॥
तस्माद् वैद्येन सततं विषाद् रक्ष्यो नराधिपः॥ कल्प० अ० २॥

ॐ सुश्रुत में विषदाता रोगी के लक्षण विस्तार से दिये हैं—

इंगितज्ञो मनुष्याणां वाक्-चेष्टामुखवैकृतः।
विद्याद् विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च।
अपार्थं बहुसंकीर्णं भाषते चापि मूढवत्॥
स्फोटयत्यंगुलीर्भूमिमकस्माद् विलिखेद्धसेत्।
वेपथु र्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते॥
क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि।
आलभेतासकृद् दीनः करेण च शिरोरुहान्॥
निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः।
वर्त्तते विपरीतस्तु विषदाता विचेतनः॥ कल्प० अ० २॥

अंगुलियां तोड़ता है, भूमि को विना कारण नखों से कुरेदता है, निष्प्रयोजन हंसता है, देह में कंपकपी होती है, भय खाता और एक दूसरे को देखता है, नखों से तिनके तोड़ता है, बार २ दीन होकर शिर के बाल छूता है, खिड़की आदि से निकल भागने की ताका करता है, भले नोकर भी विष देनेवाले होकर राजा के भय से जल्दबाज़ी करते और काम बिगाड़ने लगते हैं। सुश्रुत ॥]

दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं, नश्येत्तदन्नमग्नौ तु।
सविषं हि प्राप्यान्नं बहून्विकारान् भजत्यग्निः ॥ १०८ ॥
शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णः सरूक्षकुणपगन्धश्च।
स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि[1] स्यात् ॥१०९॥

इस प्रकार देख कर राजा को चाहिये कि अन्न वा भोजन के पदार्थ को सहसा न खाये, खाने से पहिले उसकी अग्नि में परीक्षा करनी चाहिये। विषयुक्त अन्न को अग्नि में डालने से नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। अग्नि का वर्ण मोरपंख के समान नाना वर्ण का हो जाता है, उसमें से रूखी, मुर्दे की सी तीक्ष्ण गन्ध आती है। शब्द के साथ अग्नि में धड़ाका होता है वा अग्नि की लपट एक-आवर्त्त (चक्कर) में घूमती वा बुझ भी जाती है। *

---

१. 'सशब्दमशब्दमेकावर्तो विहितार्चि-' इति क्वचित् पा०।

* सुश्रुत (क० २) में कहा है—

नृपभक्ताद् बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकाः वायसादयः ॥
हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते।
मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च नचिराच्चोपशाम्यति।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी विषयुक्त भोजन की परीक्षा विस्तार से दी है।

पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकाश्च मारयति ।
क्षामस्वरांश्च काकान्कुर्याद्विरजेच्चकोराक्षि ॥ ११० ॥

जिस पात्र में विषयुक्त भोजन रक्खा होता है, उस पात्र का रंग बदल जाता है, वह विषयुक्त भोजन मक्खियों को मार डालता है । कौआ विषयुक्त भोजन को देख कर क्षाम (दीन) शब्द करता है, चकोर की आंख रागरहित हो जाती है (चकोर उस अन्न को देखना भी नहीं चाहता ।) *

[विषयुक्त अन्न से जीव-जीवक पक्षी मर जाते हैं । कोयल का स्वर बिगड़ जाता है, क्रौञ्च को मद हो जाता है, मयूर उद्विग्न हो पुलका जाता है, तोता मैंना चिल्लाने लगते हैं, हंस बिलबिलाते हैं, भौंरा कूँजता है, मृग आंसू बहाते हैं, वानर पाखाना कर देता है । सुश्रुत ॥]

पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वां च नेक्षते छायाम् ।
विकृतामथवा पश्यति लवणाक्ते फेनमाला स्यात् ॥ १११ ॥

पान करने योग्य द्रव्य के विषयुक्त होने पर उस में नीली रेखायें दिखाई देती हैं, विवर्णता आ जाती है, रंग बदल जाता है, उस द्रव्य में पुरुष अपनी छाया को नहीं देखता और यदि देखता है, तो विकृत (छिद्र आदि युक्त) छाया को देखता है। लवण युक्त द्रव्य में विष से झाग की पंक्तियां दिखाई देती हैं ।

पानान्नयोः सविषयोर्गन्धेन शिरोरुजा हृदि च मूर्च्छा ।

---

* चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु ।
दृष्ट्वान्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः ॥
कोकिलः स्वरवैकल्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति ।
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके ॥
सन्निकृष्टस्ततः कुर्याद् राज्ञस्तान् गृहपक्षिणः ।
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा ॥ सु० कल्प० २ ॥

स्पर्शेन पाणिशोथः[1] सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदाः॥ ११२ ॥
मुखताल्वोष्ठचिमिचिमा जिह्वा शूना जडा विवर्णा च ।
द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः ॥ ११३ ॥

विषयुक्त खानपान का स्वाद बिगड़ जाता है, उसकी गन्ध से शिर में वेदना, हृदय में दर्द तथा मूर्च्छा हो जाती है । विषयुक्त खानपान के स्पर्श से मुख और हाथ में शोथ, हाथों की अंगुली सो-सी जाती हैं, सुन्न हो जाती हैं, अंगुलियों में जलन, तोद (चुभने के समान वेदना) होती है और नख टूटने लगते हैं । विषयुक्त द्रव्य से जिह्वा चिर या छिल जाती है, वा कार करने से अथवा खानपान से मुख, तालु और होठों में चिमचिमाहट होती है, जीभ सूज जाती है, वह जड़ (संज्ञारहित) तथा विवर्ण हो जाती है । दांतों में हर्ष, हनुस्तम्भ (जबाड़ों का जकड़ना), मुख में जलन तथा अधिक लार आना आदि गले में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं ।*

आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः ।
दृष्टिहृदयोपरोधो बिन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥ ११४ ॥

विष-भक्षण के लक्षण—विषयुक्त अन्न के खा लेने पर जब विष आमाशय में प्रविष्ट हो जाता है तो शरीर में विवर्णता, पसीना, सदन (पीड़ा), उत्क्लेद (जी मचलाना या वमन), दृष्टि-उपरोध (आंख से कम दीखना), हृदय-उपरोध (हृदय का रुक जाना) होता तथा शरीर में हज़ारों बिन्दु-बिन्दु (छोटी छोटी फुन्सियां या चिटकने) निकल आते हैं ।

---

1. 'गन्धने रुक् हृदि च मूर्च्छाऽस्यपाणिशोथः' इति पा० ।

* सुश्रुत में इन सब की चिकित्सा विस्तार से दे रक्खी है । जैसे—
अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः ।
सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्त्तव्यं प्रतिसारणं ॥ इत्यादि ॥
विस्तार के भय से यहां नहीं लिखी वहां देखिये ।

पक्वाशयं तु यातेमूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः ।
तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात् ॥ ११५ ॥

विष जब पक्वाशय में जाता है, तब मूर्च्छा, मद, दाह, मोह और बल का नाश हो जाता है। जिस समय विष उदर (सूक्ष्मांत्र) में पहुंचता है तब रोगी को तन्द्रा, कृशता और पाण्डु रोग हो जाता है।

दन्तपवनस्य कूर्चो विशीर्यते दन्तौष्ठमांसशोफश्च ।

दांत साफ़ करने के दातुन या ब्रुश या दन्तमंजन, पाउडर आदि दन्त-पवन में विष होने से दांतों के मसूड़ों में और ओठों पर शोथ आ जाती है, दातुन या ब्रुश (कूंची) के फूसड़े, बाल या रेशे गिर जाते हैं।

केशच्युतिः शिरोग्रन्थयश्च सविषे शिरोऽभ्यङ्गे ॥ ११६ ॥

यदि शिर पर लगाने के तैल आदि में विष हो तो बाल गिरने लगते हैं, सिर पर गांठे २ उठती हैं।

दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहः स्रावोऽत्युप[1]देहशोथरागाश्च ।

अंजन के विष से दूषित होने पर आंख में जलन, आंख से स्राव, (जल का बहना), आंखों में उपदेह (लिप्तता, आंखें चिपटी रहना), आंखों में शोथ और लालिमा होती है।

आद्यै[2]रादौ कोष्ठः स्पृश्यैस्त्वगदह्यते दुष्टैः ॥ ११७ ॥
स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः ।
कण्ड्वर्तिलोमहर्षाः कोठपिडकाचिमिचिमाः शोथाः ॥ ११८ ॥
एते च करचरणदाहतोदक्लमा विपाकाश्च[3] ।
भूपादुकाश्वगजचर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ॥ ११९ ॥
माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजा[4]लोमहर्षकरम् ।

यदि खाद्य पदार्थ विष से दूषित हों तो उनके खाने से प्रारम्भ में कोष्ठ (पेट) के अन्दर विकार उत्पन्न होता है। विष से यदि स्पर्श द्रव्य

१. 'स्रावाद्युप०' इति पा० । २. 'खाद्यै०' इति पा० ।
३. 'क्लमाङ्गविपाकाश्च' इति पा० । ४. 'शिरसो रुजा' इति पा० ।

दूषित हो तो उनके स्पर्श से प्रथम त्वचा दूषित होती है । विष से यदि स्नानादि के उपकरण, अभ्यंग (तैलादि), उत्सादन (उबटन आदि), वस्त्र, अलंकार (आभूषण आदि) वस्तुएं दूषित हों तो इनके उपयोग से शरीर में कण्डू (खाज), पीड़ा, कोठ (Rashes लाल २ चकत्ते), पिडिकायें, रोमांच, चिमिचिमाहट (राई या सरसों के लेप के समान), तथा सूजन हो जाती है । विष के कारण भूमि, खड़ाऊं या जूता, घोड़े की पीठ या काठी, हाथी की पीठ, ध्वजा, बिस्तर और आसन दूषित हों तो इन के उपयोग से खाज, पीड़ा, कोठ, पिडकायें, रोमांच, चिमचिमाहट, शोथ, हाथ पांव में चुभने की सी दर्द, जलन, क्लम (थकान) और विपाक (जगह २ फोड़े का सा पाक) होता है । विष से यदि माला दूषित हो तो उसकी गन्ध नष्ट हो जाती है, वह मुरझा जाती है, उसके धारण करने से शिर में दर्द और रोमांच होता है ।

स्तम्भयति खानि नासामुपहन्ति दर्शने धूमः[1] ॥ १२० ॥
कूपतडागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णं च ।
पीतं श्वयथुं कोठान्पिडकांश्च करोति मरणं च ॥ १२१ ॥

विष से दूषित धूम को नाक से लेने पर नाक, कान आदि के छेद जड़ हो जाते हैं, नाक की सूंघने की शक्ति नष्ट हो जाती है और दोनों आंखों के देखने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है । यदि कूप, सरोवर आदि के जल को विष से दूषित किया हो तो इस जल में दुर्गन्ध, मैलापन, मलिनता, विवर्णता (रंग का परिवर्तन), आ जाता है । इस जल के पीने से शोथ, कोठ, पिडकायें हो जाती हैं और मृत्यु तक हो जाती हैं । ॐ

---

१. 'खानि दर्शनमुपहन्ति च नासिकां धूमः' इति पा० ।

ॐ सुश्रुत के सूत्रस्थान (अ० ४) में स्पष्ट कर दिया है कि—

युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषतः ।
भिषजा रक्षणं कार्य्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥
रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ।

आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि ।
कुर्याद्भिषक् चिकित्सां दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ॥ १२२ ॥
इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः शृणु जङ्गमस्यातः ।

इस विष-मिश्रित जल के पीने से विष के आमाशय में पहुंचने पर वैद्य को चाहिये कि सबसे प्रथम दोष और बल को देख कर वमन देकर चिकित्सा करे । यदि विष त्वचा में स्थित हो तो प्रदेह, सेक आदि (लेप और जल-सेचनादि) से चिकित्सा करनी चाहिये ।

इस प्रकार से विशेष मूल विष कह दिये हैं, इसके आगे जंगम विषों का उपदेश करते हैं, सुनो ।

सर्पविष-चिकित्सा

सविशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम् ॥१२३॥

इनमें प्रथम सर्पों की विशेष चिकित्सा कहते हैं ।

दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च[1] ।
सर्पा यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ॥ १२४ ॥
दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः ।
बिन्दुलेखो विचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान् ॥ १२५ ॥

सर्प तीन जाति के होते हैं । (१) दर्वीकर, ये वायु को प्रकुपित करते हैं । (२) मण्डली ये पित्त को प्रकुपित करते हैं । (३) राजिमान्, ये कफ को कुपित करते हैं । इनमें दर्वीकर सांपों में फण होता है, ये सर्प अति शीघ्रगामी होते हैं । मण्डली सर्पों का फण मण्डलाकार होता है, ये मन्दगामी और मोटे होते हैं । जो सांप बिन्दु-बिन्दु से चिते हुए तथा चित्र-विचित्र शरीर के होते हैं । उनको 'राजिमान्' सांप कहते हैं ये कफ को प्रकुपित करते हैं ।

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम् ।
दूषयन्त्यरयो यस्माद् जानीयाच्छोधयेत्तथा ॥

१. 'इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमान्' इति पा० ।

विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादु शीतलम् ।
विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद्वातादिकोपनम् ॥ १२६ ॥

इन सर्पों से दर्वीकर सर्पों का विष कटु और रूक्ष होने से वायु को प्रकुपित करता है । मण्डली सर्पों का विष अम्ल और उष्ण होने से पित्त को प्रकुपित करता है, राजिमान् सर्पों का विष स्वादु और शीतल होने से कफ को कुपित करता है ।

दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः ।
निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः ॥ १२७ ॥
पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिभिः कृतः ।
पीताभः पीतरक्तश्च सर्वपित्तविकारकृत् ॥ १२८ ॥
कृतो राजिमता दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत् ।
स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक् श्लेष्मव्याधिसमीरणः ॥ १२९ ॥

सर्पों के दंश का लक्षण—दर्वीकर सर्पों का दंश (दंष्ट्राचिह्न) सूक्ष्म (बारीक), असित (काला) होता है, रक्त रुका रहता है, यह कछुए के समान ऊपर को उठा रहता है, तथा वातरोग को उत्पन्न करता है । मण्डली सर्पों का दंश (दंष्ट्राचिह्न) गहरा काटा हुआ, शोथयुक्त, पीतवर्ण, पीतरक्त वर्ण तथा पित्त-रक्त के विकारों को करता है । राजिमान् सर्पों का दंश (दंष्ट्राचिह्न) पिच्छिल, स्थिर शोफ को करता है, यह स्निग्ध, पाण्डुवर्ण, घने रक्तवाला तथा कफजन्य रोगों को उत्पन्न करता है ।

वृत्तभोगो महाकायः श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान् ।
स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद्विपर्ययात् ॥ १३० ॥
क्लीबः स्रस्तस्त्वधोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते ।
स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुंसा नरो मतः ॥ १३१ ॥
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीबदष्टं नरं वदेत् ।
इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंक्लीबनिदर्शनम् ॥ १३२ ॥

जो सांप वृत्तभोग अर्थात् गोल फणवाला, बड़े लम्बे शरीर वाला, तीव्र या

ज़ोर से श्वास लेता हो), ऊर्ध्व ईक्षण अर्थात् ऊपर को देखता है, समान अंगों वाला, मोटे सिर वाला होता है, उसको पुरुष सर्प समझना चाहिये और मादीन सर्पिणी इससे विपरीत, लम्बे फण की, स्वल्प शरीरवाली, नीचे देखने वाली, छोटे २ श्वास लेने वाली, असमान अंगों वाली और पतले शिर वाली होती है। इन पुरुष और स्त्री लिंग के दोनों के लक्षणों से रहित सर्प नपुंसक जाति के होते हैं।

इनमें स्त्री-सर्पों से दष्ट व्यक्ति स्रस्त (भ्रष्टगति, लड़खड़ाता चलता है), नीचे की ओर देखने वाला, हीन स्वर, तथा कांपता है। * इन लक्षणों से विपरीत नर-सर्प से काटा हुआ समझना चाहिये। सर्प से काटे हुए जिस पुरुष में दोनों के लक्षण मिलते हों, जो रोगी ऊपर को देखे तथा हीनस्वर हो तो उसको नपुंसक सर्प से काटा हुआ समझना चाहिये।

इस प्रकार से मादीन (स्त्री) सर्प, नर सर्प और नपुंसक सर्पों का दिग्दर्शन करा दिया है।

पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः।
जृम्भाक्रोधोपजिह्वार्तः सूतया रक्तमूत्रवान् ॥ १३३ ॥
सर्पो गोधेरको नाम गोधया स्याच्चतुष्पदः।
कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः॥ १३४ ॥

गर्भिणी सर्पिणी से दष्ट व्यक्ति पीले चेहरे वाला, शोथयुक्त ओष्ठ वाला, काली आंख वाला होता है। प्रसूता सर्पिणी से काटे हुए व्यक्ति को जंभाई, क्रोध और उपजिह्वा (Tongu-tie) रोग हो जाता है, रोगी को रक्तमिश्रित मूत्र आता है। गोधा (गोह) से

---

* स्त्रिसर्पों का काटना बहुत ही भयानक होता है, इसी से उसके लक्षण कहे हैं। कहा भी है—

सावित्रे पच्यते रात्रौ स्त्रियस्तीव्रविषाः सदा।
स्त्रीदष्टो भिषजा कार्य्यः सूपचारस्त्वनारम्भे ॥ चक्र० ॥

उत्पन्न चार पैरों वाला गोधेरक नाम सर्प होता है। यह गौधेरक सर्प कृष्ण सर्प के समान होता है। इन सर्पों की मिश्र जातियां नाना प्रकार की हैं।

गूढसंपादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम्।
सर्पितं च भृशाबाधं दंशा येऽन्ये न ते भृशा ॥ १३५ ॥

जो दंश गूढ अर्थात् गहरे रूप में सम्पादित होते हैं, वे बहुत पीड़ा देते हैं, जो दंश गोल होता है, या जो दंश लम्बाकार रूप में होता है, या जो दंश पीड़ित (दबा हुआ) होता है, अथवा जो दंश, सर्पित (फैला हुआ) होता है ये सब अति कष्टदायक होते हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य दंश होते हैं, वे इतनी अधिक पीड़ा नहीं करते।

तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा।
राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः ॥ १३६ ॥

कृष्ण सर्प (दर्वीकर सर्प) वा जो युवा अवस्था में आशीविष (घोर विष) के समान होता है। गोनस (मण्डली) सर्प, स्थविर (बुढ़ापे) अवस्था में भी आशीविष के समान होते हैं। राजिमान् सर्प मध्य आयु में (उत्तमवयस्क अवस्था में, बुढ़ापे से पूर्व) घोर आशीविष के समान होते हैं। (आशीविष के दृष्टि, निश्वास आदि में विष होने से सर्पों को आशीविष (आशु व्यापी विष वाला) कहते हैं।

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधरा सिता।
पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा ॥ १३७ ॥
यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात्सलिलोद्धृतात्।
वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहेर्विषम् ॥ १३८ ॥
एकद्वित्रिचतुर्वृद्धिर्विषभागोत्तरोत्तराः।
सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः ॥ १३९ ॥

सांपों की चार दाढ़ (कांटेदार दांत) काटने के होती हैं। इनमें बाईं ओर की नीचे की दाढ़ काले रंग की होती है और ऊपर की पीली होती है।

दाईं नीचे की रक्तवर्ण तथा ऊपर की दाईं श्याव (सांवली वा काली-लाल-सी) होती है। गाय की पूंछ के बाल को जल में भिगो कर बाहर निकालने से जितनी बड़ी बूंद बाल से गिरती है, उतनी विष की मात्रा सांप की निचली बाईं दाढ़ में होती है। अर्थात् निचली बाईं दाढ़ में विष की एक बूंद, ऊपर की बाईं दाढ़ में विष की दो बूंद, निचली दाईं दाढ़ में विष की तीन बूंदें और ऊपर की दाईं दाढ़ में विष की चार बूंदे होती हैं। सांप जिन दांतों से डंसता है, उनके वर्ण के समान कटे हुए स्थान का वर्ण हो जाता है, पीत वर्ण की दंष्ट्रा से दंश स्थान पीत वर्ण होता है। उत्तरोत्तर क्रम से दाढ़ों से कटे दंश में विष भी अधिक मात्रा में होता है और अधिक कष्टसाध्य और विकट होता है। अर्थात् नीचे की वाम दंष्ट्रा की अपेक्षा ऊपर की वाम दंष्ट्रा का विष अधिक तथा भयानक होता है, इसी प्रकार ऊपर की वाम दंष्ट्रा की अपेक्षा नीचे की दाईं दाढ़ का काटा (दंश) अधिक भयानक होता है और नीचे की दाईं दंष्ट्रा से ऊपर की दाईं दंष्ट्रा के दंश में विष की अधिक मात्रा रहती है। *

सर्पाणामेव विण्मूत्रात्कीटाः स्युः कीटसंमताः।
दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः ॥ १४० ॥

सांपों के मल मूत्र से जो कीट उत्पन्न होते हैं, वे भी कीट वा सर्प के समान ही होते हैं। ये कीट संक्षेप में दो प्रकार के हैं। जैसे—दूषी

---

* सांपों के अन्दर विष कहीं एकत्र नहीं रहता। जैसे मैथुनेच्छा होने पर शरीर से शुक्र बाहर आ जाता है उसी प्रकार सर्प के कुपित होने पर उसके शरीर से विष-ग्रन्थियों से उत्पन्न होकर विष-थैलियों में भर जाता है। इन थैलियों में नलिकामय तीव्र दांत होते हैं। यह दांत अन्य दांतों से ज़रा पीछे हटे और बड़े होते हैं। जब सांप क्रोध से काटता है तब ही वह इन दांतों का उपयोग करता है और इनसे विष देह में पहुंच जाता है। जब वह इन दांतों का उपयोग नहीं करता तब काटने पर भी विष नहीं चढ़ता।

विष कीट और प्राणहर कीट। [मलमूत्र के अतिरिक्त सापों के मृत शव, सड़े अण्डों और वीर्य से भी अनेक प्रकार के कीड़े उत्पन्न होते हैं। वे भिन्न २ प्रकृति के विषैले होते हैं। उनके चार प्रकार होते हैं। (१) कुम्भीनस आदि १८ जाति, (२) कौण्डिल्यक आदि २४ जातियें, (३) विश्वंभर आदि १३ जाति, (४) तुङ्गीनासादि १२ जातियें। उनके काटने से भी सर्प के समान ही विष शरीर में फैलता और विष के दुर्विकार उत्पन्न होते हैं। ये ६७ जातियां हैं। सुश्रुत, कल्पस्थान अ० ८॥] *

गात्रे रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम्।
सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात्कुथितं तथा॥ १४१॥

दूषीविष कीटों के दंश का लक्षण—शरीर पर जहां ये कीड़े काटते हैं वह स्थान रक्त वर्ण, श्वेत, कृष्ण वर्ण, श्याव वर्ण तथा पिड़काओं से युक्त हो जाता है। दंश स्थान में कण्डू, लालिमा और वीसर्प होता है, दंशस्थान पक जाता है तथा कुथित हो जाता अर्थात् गल सा जाता है।

कीटैर्दूषीविषैर्दष्टे लिङ्गं प्राणहरं शृणु।
सर्पदष्टे तथा शोथे वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक्॥ १४२॥

प्राणहर कीटों के दंश के लक्षण सुनो—सर्पों के काटने पर जैसा शोथ होता है, वैसा ही शोथ प्राणहर कीटों के काटने पर होता है, उग्र गन्ध व रक्त बढ़ जाता है (रक्त का प्रकोप हो जाता है)।

दंशेऽक्षिगौरवं मूर्च्छा सरुगार्तः श्वसित्यपि।
तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद्दूषीविषार्दितः॥ १४३॥

दूषीविष से पीड़ित व्यक्ति की आंखों में भारीपन, मूर्च्छा, पीड़ा, श्वास, प्यास और अरुचि होती है।

दंशस्य मध्ये यत्कृष्णं श्यावं वा जालकान्वितम्।
दग्धाकृति भृशं पाकक्लेदशोथज्वरान्वितम्॥ १४४॥

* सर्पाणां शुक्र-विष-मूत्र-शव-पूत्यण्ड-सम्भवाः।
वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः॥ सुश्रुते कल्प० ८॥

दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत् ।

दूषीविष कीटों के दंशों के विशेष लक्षण—जिस पुरुष के दंश-स्थान के बीच में काला या श्याव (लाल-काला) वर्ण हो, जाले से ढका हुआ हो, दंश का रूप जाले के समान हो, बहुत अधिक पके, उस दंश में क्लेद (आर्द्रता, रस वाला), कोथ (गलना) हो, रोगी को उसके कारण ज्वर हो जाय तो इस दंश को दूषीविष वाली लूताओं (मकड़ी) से काटा समझना चाहिये ।

[सुश्रुत में सोलह प्रकार की लूतायें (मकड़ी) बतलाई हैं । जिनमें आठ (त्रिमण्डला, श्वेता, कपिला, पीतिका, आलविषा, मूत्रविषा, रक्ता और कसना) कृच्छ्रसाध्य हैं इन्हीं को चरक में दूषीविष शब्द से कहा है । शेष आठ सौवर्णीकी, लाजवर्णा, जालिनी, एणीपदी, कृष्णा, अग्निवर्णा, काकाण्डा और मालागुणा, ये असाध्य हैं आचार्य ने इनको प्राणहरा कहा है] ।

सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते ॥ १४५ ॥
शोफाः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः ।
प्राणान्तको[1] भवेद्दाहो श्वासहिक्काशिरोग्रहाः ॥ १४६ ॥

इन समस्त प्राणहर लूताओं के दंश के लक्षण कहते हैं । प्राणान्तक लूताओं के काटने पर दंश-स्थान में शोफ तथा श्वेत, काली, लाल या पीली पिड़कायें होती हैं । रोगी का प्राणनाशक श्वास चलता और दाह हिंचकी तथा शिरोवेदना और शिर में जकड़ाव उत्पन्न होता है ।

[कण्टक, वृश्चिक, मण्डूक, मत्स्य, जलौका, शतपदी, मशक, मक्षिका आदि के विस्तार से लक्षण सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ८ में देखने चाहियें] ।

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥ १४७ ॥

1. 'प्राणान्तिको भवेच्छ्वासोदाह-' इति पा० ।

मूषिकविष—चूहे के दंश के कारण सम्पूर्ण शरीर में रक्त पीले रंग का हो जाता है। शरीर पर मण्डल (चकत्ते २) पैदा हो जाते हैं, रोगी को ज्वर और अन्न में अरुचि रहती है। रोगी के शरीर में रोमांच और जलन होती है। ये लक्षण दूषीविष मूषक के काटे के हैं।

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः॥ १४८॥

प्राणहर मूषिक दंश के लक्षण—मूर्च्छा, अंग में शोथ, विवर्णता, क्लेद, कानों में बहरापन, ज्वर, शिर में भारीपन, लार एवं रक्त का वमन ये लक्षण असाध्य-मूषिक दंश के होते हैं।

[सुश्रुत में मूषिकों के लालन, पुत्रक आदि १८ भेद कहे हैं। इनके शुक्र (वीर्य) में विष होता है।]

श्यावत्वमथ कार्ष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा।
मोहः पुरीषभेदो वा दष्टे स्यात् कृकलासकैः॥ १४९॥

कृकलासक (छिपकली या गिरगट) का दंश—कृष्णवर्ण, श्याववर्ण अथवा नाना प्रकार के वर्ण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी को मोह (मूर्च्छा), तथा पतला मल (अतिसार) आता है।

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति॥ १५०॥

वृश्चिक दंश के लक्षण—बिच्छू के काटने पर विष प्रथम एकदम से जलता है, और फिर जल्दी से विदीर्ण करता हुआ विष ऊपर की ओर चढ़ता प्रतीत होता है और अन्त में विष दंशस्थान में रह जाता है, वहीं आ जाता है।

दष्टोऽसाध्यस्तु हृग्घ्राणरसनोपहतो नरः।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून्॥ १५१॥

असाध्य (प्राणहर) बिच्छू के काटने पर—जिस बिच्छू के काटने पर रोगी के हृदय का उपघात (हृदय-अवरोध), घ्राण-उपघात (नासिका

की घ्राणशक्ति का नाश), रसना-उपघात अर्थात् जिह्वा की रसग्रहण शक्ति का नाश हो जाता है और रोगी का मांस गल २ कर गिरने लगता है, उसको अति पीड़ा होती है और अन्त में रोगी प्राण त्याग देता है ।

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि वा ।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते ॥ १५२ ॥

कणभ (ततैया या भ्रमर विशेष) के दंश में—वीसर्प, शोथ, शूल, ज्वर, वमन होता है और काटने पर दंशस्थान में ही विशीर्ण अर्थात् शान्त हो जाता है ।

हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान् ।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥ १५३ ॥

उच्चिटिंग के दंश के कारण रोगी में रोमांच होता है, शिश्न में दृढ़ता हो जाती है, अति पीड़ा अनुभव करता है, रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि अंग-प्रत्यंग शीतल जल से भीगे हुए हैं ।

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुक् स्यात्पीतकः सतृट् ।
छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम् ॥ १५४ ॥

विषयुक्त मण्डूकों के दंश का लक्षण—मण्डूक की एक दंष्ट्रा (एक ही दंष्ट्रा) से किया हुआ दंश शोथयुक्त, पीतवर्ण तथा पीड़ाकारक होता है। रोगी को वमन और निद्रा आती है ।

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहशोफरुजस्तथा ।

विषैली मछलियां यदि काटें तो दाह, शोथ और पीड़ा होती है ।

कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥ १५५ ॥

विषयुक्त जलौका (जोंक) के काटने पर—कण्डू (खुजली), शोथ, ज्वर, मूर्च्छा होती है ।

विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं तु गृहगोधिका[1] ।
दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥ १५६ ॥

---

१. दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गलगोडिका इति पा० ।

गृहगोधिका (छिपकली)—के काटने पर विदाह, शोथ, चुभने की सी पीड़ा और पसीना आता है ।

शतपदी (कानखजूरा) का विष दंशस्थान में स्वेद पीड़ा और जलन करता है ।

कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः ।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥ १५७ ॥

मच्छर के काटने पर पुरुष में खुजली होती है और थोड़ा सा शोथ भी आजाता है । असाध्य मशक का क्षत, असाध्य कीट के समान होता है । मच्छर पांच प्रकार के हैं, सामुद्र, परिमण्डल, हस्तिमशक, कृष्ण और पर्वतीय । इनमें पर्वतीय मच्छर असाध्य हैं ।

सद्यः प्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता ।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ १५८ ॥

मक्षिकादंश—[मक्षिकायें छः प्रकार की हैं (कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गलिका, मधूलिका, काषायी और स्थगिका)] इनमें स्थगिका मक्खी को छोड़ कर शेष पांच मक्खियों का दंश सद्यः स्रावकारक, श्याव वर्ण, दाह, मूर्च्छा और ज्वरयुक्त पिडिकायें दंशस्थान में हो जाती है । स्थगिका मक्षिका का दंश प्राण-नाशक होता है ।

श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये ।
पक्षसन्धिषु मध्यान्हेष्वर्धरात्रे ऽष्टमीषु च ॥ १५९ ॥
न सिद्धयन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च ।
दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैराशीविषैस्तथा ॥ १६० ॥
विनश्यन्त्याशु संप्राप्ता दष्टाः सर्वेषु मर्मसु ।
(येन केनापि सर्पेण संभवः सर्व एव च ॥ १६१ ॥)

श्मशान, चैत्य, वल्मीक, यज्ञ, आश्रम, देव मन्दिर, पक्ष, सन्ध्याकाल, मध्याह्न, आधीरात में, अष्टमी में तथा पाषण्डायतन (कापालिक वेशधारी

लोगों के मठों) में यदि सर्प काटे तो रोगी नहीं बचता। जिन सर्पों की दृष्टि, श्वास, मल या स्पर्श में विष होता है ऐसे आशीविष (आशु घातकारी) सर्पों के काटने पर भी रोगी नहीं बचता। प्रायः सभी मर्म-स्थानों में दंश होने पर किसी भी प्रकार के दंश में रोगी नहीं बचता।

भीतमत्ताबलोष्णक्षुत्तृषार्ते वर्धते भृशम्।
विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ प्राप्याल्पमन्यथा ॥ १६२ ॥

डरने पर, मत्त (शराब आदि पिये) होने पर, निर्बल होने पर, गरमी से पीड़ित होने पर, भूख या प्यास से पीड़ित होने पर यदि विष की प्रकृति और काल समान हो तो वेग बहुत बढ़ जाता है। अन्यथा विष का बल अल्प होता है, उस समय यह अधिक नहीं बढ़ता।

वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः।
वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः ॥ १६३ ॥

जल की अधिकता से पीड़ित व्याधि या आहारादि से क्षीण, विरोधी पक्षी वा वनाग्नि आदि से भीत, नकुल से हारे, केंचुली से निकले, वृद्ध और बाल सर्प मन्द विष वाले होते हैं।

सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद्विषं सर्पो विमुञ्चति।
तदेवाहारहेतोर्वा भयाद्वा न प्रमुञ्चति ॥ १६४ ॥

शुक्र के समान ही विष भी सर्पों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। क्रोध के कारण जब विष स्वयं दंष्ट्रा में आ जाता है तब दंश-स्थान में सांप विष को छोड़ता है। इसी विष को आहार या भय के कारण सांप नहीं छोड़ता।

वातोल्बणविषाः प्रायः उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः।
वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभादयः ॥ १६५ ॥

उच्चिटिङ्ग और बिच्छू प्रायः वातोल्बण विष वाले होते हैं, कीट प्रायः वातपित्तोल्बण होते हैं और कणभ आदि कीट श्लैष्मिक होते हैं।

यस्य यस्य हि दोषस्य लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत् ।
तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥ १६६ ॥

जिस जिस सर्प आदि के दंश में जिस जिस दोष के लक्षणों की अधिकता दिखाई देवे उसी उसी दोष के विपरीत गुणों वाली ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्वरुक् ।
घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे ॥ १६७ ॥

वातिक आदि विष के लक्षण—वातोल्बण उच्चिटिंग आदि के विष में हृत्पीड़ा, वायु की ऊर्ध्व गति, शरीर में स्तब्धता (जकड़ाव), सिराओं में आयाम (फैलाव), अस्थियों तथा छोटी छोटी सन्धियों में दर्द होता है । घूर्णन (घूरना, आंखों में निद्रा का सा अनुभव), उद्वेष्टन, शरीर में श्याव (लाल-काला) वर्ण का होना, यह वातिक विष में होता है ।

संज्ञानाशोष्णनिःश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता ।
दंशावदरणं शोथो रक्तपीतश्च पैत्तिके ॥ १६८ ॥

पैत्तिक (वात-पित्तोल्बण कीट आदि के) विष में संज्ञानाश, गरम निःश्वास, हृदय में जलन, मुख में कटु रस, दंशस्थान का फटना, शोथ और रक्त-पित्त होता है ।

वम्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशगौरवैः ।
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम् ॥ १६९ ॥

श्लेष्म-प्रधान विष (कणभ आदि के काटे) में वमन, अरोचकता, जी मचलाना, लाला या कफ का प्रसेक, उत्क्लेश (वमन की अभिरुचि), शरीर में भारीपन, शरीर में ठण्ड लगना, मुख में मधुरता का होना कफोल्बण विष के लक्षण हैं ।

खण्डेन च व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके ।
स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥ १७० ॥

क्रिया-विधि—(१) वातोल्बण विष में—खण्ड (गुड में स्वयं

उत्पन्न खांड का दाना या रस से बनी खाण्ड) से व्रण पर लेप, तेल का अभ्यंग, नाड़ी (कूष्मांण्ड नालिका आदि) तथा पुलाक (तुच्छ धान्य या पुराली) से स्वेद, तथा बृंहण-विधि करनी चाहिये।

सुशीतैः स्तम्भयेत्सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम्।

(२) पैत्तिक (पित्तोल्बण) विष में—शीतल परिषेक, शीतल प्रदेहों से पित्तोल्बण विष को रोकना चाहिये।

लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥ १७१ ॥

कफोल्बण विष को लेखन (Scarification), छेदन, स्वेदन और वमनों द्वारा जीतना चाहिये।

विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च।
अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः ॥ १७२ ॥

(३) वृश्चिक (बिच्छू) और उच्चिटिङ्ग के विषों को छोड़ कर शेष सब विषों में, विष के उष्ण और तीक्ष्ण होने से, सब स्थानों में पहुंचे होने पर प्रायः शीतल उपचार करना चाहिये।

वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च।
सेकांश्चोष्णान्प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः ॥ १७३ ॥
एतदेवोच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांशुभिः।
उद्वर्तनं सुखाम्बूष्णैस्तथाऽवाच्छादनं घनैः ॥ १७४ ॥

(४) वृश्चिक और उच्चिटिङ्ग विष के वातोल्बण होने से वृश्चिक विष में घृत और लवण से स्वेद तथा अभ्यंग करना चाहिये। उष्ण परिषेक (उष्ण जल से सेचन), उष्णभोजन तथा घृत का पान कराना चाहिये। उच्चिटिङ्ग के विष में भी घृत और नमक से स्वेद और अभ्यंग, उष्ण परिषेक, उष्ण भोजन और घृत-पान कराना चाहिये, पांशु (धूलि) से प्रतिलोम उद्-वर्त्तन करना चाहिये। गरम सह्य पानी से गरम किये घने (कम्बल आदि घट्ट) आच्छादनों से दंशस्थान को ढांप देना चाहिये।

श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्।

शिरोभितापलालास्राव्यधोवक्त्रकृदेव च[1] ॥ १७५ ॥
अन्येप्यगंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः ।
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः ॥ १७६ ॥

कुक्कुर-विष—श्वा (कुत्ते) के विष से तीनों दोषों का प्रकोप होता है। * धातु-विपर्यय अर्थात् शरीर में धातु गुण के विपरीत होने से, शिर में अभिताप (पीड़ा), लार का स्राव और नीचे को मुख हो जाता है। कुत्ते की भांति अन्य श्रृगाल, चीता आदि व्याल अर्थात् मांसाहारी प्राणियों के विष भी कफ और वात को प्रकुपित कर देते हैं। तथा हृदय-रोग, शिरो रोग, ज्वर, स्तब्धता, तृष्णा और मूर्च्छा को उत्पन्न करते हैं। [कुत्ते, सियार, लोमड़ी, चीता आदि मांसाहारी जन्तुओं के हड़कने से उनके मुख आदि में जो तीव्र विष उत्पन्न होता है वह अंग्रेजी में रेबीज़ (Rabies) कहाता है। इस विष से दूषित और पागल हुआ रोगी अधिक काल तक जीवित नहीं रहता। यह विष दो प्रकार का होता है। एक में पशु अधिक भौंकता और दूसरे में मूक रहता है। दोनों विष अन्तः-श्लेष्मिक त्वचाओं में शोथ उत्पन्न करते हैं, रोगी अन्त में अर्दित वात से पीड़ित होकर मर जाते हैं। भौंकने वाले रोगी में वात-प्रधान रहता है और मूक में कफ प्रधान। कफ प्रधान रोगी में अन्त में जबाड़ा शिथिल होता है। चरक के इस लेख का विशद अध्ययन करने के लिये Hydrophobia और Rabies रोगों का अनुशीलन करना चाहिये। (सम्पा०)] ❀

---

१. 'स्यात्त्रिदोष······· लालास्राव्यथावक्रकृदेव च' इति पा० ।

* कविराज श्री गंगाधरसेन ने 'श्वा त्रिदोष' के स्थान पर 'स्यात् त्रिदोष' पाठ करके शिर में अभिताप आदि लक्षण उच्चिटिंग के विष के माने हैं। परन्तु चक्रपाणि ने ये लक्षण पागल कुत्ते के विष के माने हैं। श्री गंगाधर का पक्ष चिन्तनीय है।

❀ सुश्रुत में श्रृगाल, सिंह, कुत्ता आदि जानवरों के काटने के लक्षण

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्।
विदाहरागरुक्पाकाः शोफाः ग्रन्थिनिकुञ्चनम् ॥ १७७ ॥
दंशावदारणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च।
ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे ॥ १७८ ॥

सविष प्राणी के लक्षण—शरीर या दंश स्थान में खुजली, पीड़ायें, विवर्णता, सुप्ति (संज्ञा, स्पर्श-ज्ञान का अभाव), क्लेद (क्लिन्नता या आर्द्रता) का सूखना, विदाह (जलन), राग (ललाई आदि), रुक् (पीड़ा), पाक, शोथ, ग्रन्थि-निकुंचन (ग्रन्थियों का संकोच, ग्रन्थियों का स्राव पैदा न करना), कर देते हैं। दंश स्थान का फटना, चिरना, वहां छाले या फुन्सियां हो जाना, कर्णिका (दंश स्थान में डंक का रह जाना) मण्डल

भी दिये हैं। इनके लक्षणों में एक लक्षण जलत्रास (Hydrophobia) है। इस रोग में रोगी पानी को देखकर डरता है। यथा--

दंष्ट्रिणा येन दृष्टश्च तद्रूपं यदि पश्यति।
अप्सु वा यदि वादर्शे रिष्टं तस्य विनिर्दिशेत् ॥
त्रस्यत्यकस्माद् योऽभीक्ष्णं श्रुत्वा दृष्ट्वापि वा जलम्।
जलत्रासन्तु तं विद्यात् रिष्टं तदपि कीर्त्तितम् ॥
अदष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिध्यति।
विस्राव्य दंशं तैर्दष्टे सर्पिषा परिदाहितम् ॥
प्रतिदद्यागदैः सर्पिः पुराणं वापि पाययेत्।
अर्कक्षीरयुतञ्चापि दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥ इत्यादि।

आजकल प्रति-कुक्कुरविषोपचार (Anti-Rebic Treatment) के लिये कसौली भेजना ही उत्तम है।

(१) चक्रपाणिः—"श्वा त्रिदोषेत्यादि सविषकुक्कुरादि लक्षणम्। अत्रैव च शुनस्त्रिदोषप्रकोपो भवति। केचित्तु शिरोभितापत्वादि यथोक्त कुक्कुरे तद्दष्टे च भवतीति वदन्ति। विस्तरश्चास्य सुश्रुत एव।"

(चकत्ते २) और ज्वर, विषयुक्त प्राणी के काटने पर ये लक्षण प्रकट होते हैं, निर्विष प्राणी के काटने पर इनसे विपरीत लक्षण होते हैं।

विशेष चिकित्सा-योग

तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः ।
पूर्वोक्तं विधिमन्यं च यथावद् ब्रुवतः शृणु ॥ १७९ ॥

सब प्रकार के विषयुक्त प्राणियों के काटने पर दोषानुसार पूर्वोक्त चौबीस उपक्रमों में से जो जो उपक्रम योग्य हों उस उस का प्रयोग करना चाहिये। पूर्वोक्त विधि के अतिरिक्त अन्य विधि को भी यथाविधि कहते हुए मुझ से सुनो।

हृद्विदाहे प्रसके वा विरेकवमनं भृशम् ।
यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥ १८० ॥

(१) यदि रोगी को हृदय में दाह और मुख से कफ-प्रसेक होता हो तो वमन और विरेचन अधिक देना चाहिये। वमन, विरेचन से शोधन हो जाने पर अवस्थानुसार संसर्जन क्रम (पेयादि से पथ्य क्रम) करना चाहिये।

शिरोगते विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान् ।
बन्धुजीवस्य भार्ग्याश्च सुरसस्यासितस्य च ॥ १८१ ॥

(२) विष के शिर में पहुंच जाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति को बन्धुजीव भार्गी अथवा काली तुलसी इनमें से किसी की मूल से नस्य देना चाहिये।

दक्षकाकमयूराणां मांसासृक् मस्तके क्षते ।
मूर्ध्नि देयमधो दष्ट[1]स्योर्ध्वंदष्टस्य पादयोः ॥ १८२ ॥

(३) कुत्ते आदि हिंस्र पशु से मस्तक पर क्षत होने से दक्ष (मुर्गी), कौआ या मोर इनका मांस और रक्त शिर पर लगाना चाहिये। पांव (जंघा) के निचले भाग पर काटने पर भी रोगी के शिर पर

१. 'अथो दष्टस्य' इति च पाठः।

मुर्गा, कौआ, मोर इनका मांस और रक्त लगाना चाहिये । [चक्रपाणि के अनुसार—नीचे के भाग में काटे तो मुर्गा, काक, मयूर आदि का रक्त शिर में क्षत करके उसमें लगावे । यदि ऊपर के भाग में काटे तो पैरों में क्षत करके उक्त औषध लगावे । सं० ॥] *

पिप्पलीमरिचक्षारवचासैन्धवशिग्रुकाः ।
पिष्ट्वा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगतमञ्जनात् ॥ १८३ ॥

(४) पिप्पली, मरिच, यवक्षार, वच, सैन्धा नमक, शोभांजन के बीज इनको चूर्ण करके रोहित मत्स्य के पित्त से पीस कर अंजन करने पर अक्षिगत विष नष्ट होता है ।

कपित्थमामं ससितक्षौद्रं कण्ठगते विषे ।
लिह्यादामाशयगते ताभ्यां चूर्णपलं नतात् ॥ १८४ ॥

(५) विष के कण्ठ में पहुंच जाने पर कच्चे कैथ को मिश्री और शहद के साथ खाना चाहिये । आमाशय में विष के पहुंच जाने पर नत (तगर) के एक पल चूर्ण को मिश्री और शहद के साथ मिला कर खाना चाहिये ।

विषे पक्वाशयप्राप्ते पिप्पली रजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठा च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन नरः पिबेत् ॥ १८५ ॥

(६) विष के पित्ताशय में पहुंच जाने पर पिप्पली, हल्दी, दारु हल्दी और मंजीठ इनको परस्पर समान भाग लेकर गाय के पित्त के साथ पीस कर पीना चाहिये ।

मांसं रक्तं च गोधायाः शुष्कं चूर्णीकृतं हितम् ।
विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम् ॥ १८६ ॥

(७) विष के रस धातु में पहुंचने पर गोधा (गोह) के रक्त और

* ऊर्ध्वदष्टस्य पादयोरित्यत्रापि क्षतयोरेव पादयोः
विशेषेण संक्रमणार्थं मांसासृक्दानं देयम् । इति चक्रः ॥

मांस को सुखा कर चूर्ण बना लेना चाहिये । इस चूर्ण को कपित्थ के रस में मिला कर पीना हितकारी है ।

शेलोर्मूल[1]त्वगग्राणि बादरौदुम्बराणि च ।
कटभ्याश्च पिबेद्रक्तगते,

(८) विष के रक्त धातु में पहुंचने पर शेलु (लसूड़ा) वृक्ष की मूल की छाल, बेर तथा गूलर और कटभी के अग्र भागों को जल के साथ पीस कर पीना चाहिये ।

मांसगते पिबेत् ॥ १८७ ॥
सक्षौद्रं खदिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा ।

(९) विष के मांस धातु में पहुंच जाने पर खादिरारिष्ट को मधु के साथ मिला कर अथवा कुटज (कूड़ा) वृक्ष की मूल को जल के साथ पीस कर पीना चाहिये ।

सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम् ॥ १८८ ॥

(१०) जिस समय विष सब धातुओं में पहुंच जाये, उस समय बला, अतिबला, महुआ, मुलहठी, नत (तगर) इनको पानी में पीस कर पीना चाहिये ।

पिप्पलीं नागरं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् ।
कफे भिषगुदीर्णे तु विदध्यात्प्रतिसारणम् ॥ १८९ ॥

(११) कफ के बढ़े होने पर पिप्पली, मरिच, यवक्षार इनको मक्खन में मिला कर घर्षण करना चाहिये ।

मांसीकुङ्कुमपत्रत्वग्रजनीनतचन्दनैः ।
मनःशिलाव्याघ्रनखसुरसैरम्बुपेषितैः ॥ १९० ॥
पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः ।

(१२) मांसी (जटामांसी), कुंकुम (नागकेशर या केसर), पत्र (तेजपात), त्वक् (दालचीनी), रजनी (हल्दी), नत (तगर),

1. 'शेलुमूल' इति पा० ।

चन्दन, मैनसिल, व्याघ्रनख (नखी), सुरस (तुलसी या निर्गुण्डी) इनको पानी के साथ पीस कर इनका पान, नस्य, अंजन, लेप करने से सब प्रकार के शोथ नष्ट होते हैं।

चन्दनं तगरं कुष्ठं हरिद्रे द्वे त्वगेव च ॥ १९१ ॥
मनःशिला तमालश्च रसः केशर एव च।
शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना ॥ १९२ ॥
हन्ति सर्वविषाण्येव वज्रिवज्रमिवासुरान्।

(१३) चन्दन, तगर, कूठ, दोनों हल्दी, दालचीनी, मैनसिल, तमालपत्र, केशर का रस, शार्दूल (सिंह, बाघ) का नख इनको चावल के धोवन जल से पीस कर लगावे तो वह असुरों को इन्द्र के वज्र के समान समस्त विषों को नष्ट करता है।

रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम् ॥ १९३ ॥
भावितं सर्पदष्टानां नस्यं पानाञ्जने हितम्।

(१४) श्वेत मरिच (शोभांजन के बीज) को एक सप्ताह तक शिरीष के पुष्पों के रस से भावना देनी चाहिये। इसको नस्य करने से, इसके पान से और इसका अंजन करने से, सर्पों का विष नष्ट होता है। [यह सब प्रकार के सर्प विष में हितकारी है।]

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम्।
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत्सुखप्रदम् ॥ १९४ ॥

(१५) नत (तगर) एक पल, कुष्ठ (कूठ) एक पल, घृत दो पल, मधु दो पल इस प्रकार से चार पल लेकर पीना चाहिये। यह औषध तक्षक सर्प से काटे गये रोगियों के लिये भी सुखदायक है, शेष सर्पों की क्या बात, उनसे दष्ट रोगियों को तो अवश्य सुख देता ही है।

सिन्धुवारस्य मूलं त्वक् श्वेता च गिरिकर्णिका।
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधुपाकलम्[1] ॥ १९५ ॥

---

१. 'मधु सपाकलम्' इति पा० ॥

(१६) सिन्दुवार (निर्गुण्डी) की मूल तथा श्वेत गिरिकर्णिका (कोयल, अपराजिता) की मूल इनको पानी से पीस कर पीना दर्व्वीकर सर्पों से काटे रोगी के लिये हितकारी है। पाकल (कुष्ठ, कूठ) के चूर्ण को मधु में मिला कर नस्य देना चाहिये।

मञ्जिष्ठा मधुयष्ट्याह्वा जीवकर्षभकौ सिता।
काश्मर्यं वटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे ॥ १९६ ॥

(१७) मंजीठ, मधुयष्ठी (मुलहठी), जीवक, ऋषभक, सिता (दूर्वा या मिश्री), काश्मरी (गम्भारी) और वट के शुंगों (फुनगियों) को समान भाग लेकर जल के साथ पीस कर पीना मण्डली सर्पों के विषों के लिये हितकारी है।

व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका।
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम् ॥ १९७ ॥

(१८) व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), अतीस, कूठ, गृहधूम, हरेणु, कुटकी, तगर और मधु इन दस द्रव्यों को पानी के साथ पीस कर पीना राजिमान् सर्पों के विष में हितकारी है।

गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम्।
अपि वासुकिना दष्टः पिबेद् दधिघृताप्लुतम् ॥ १९८ ॥

(१९) गृहधूम (घर का धुंवासा), हल्दी, दारुहल्दी, तण्डुलीयक (चौलाई) को मूल सहित लेकर पीस लेना चाहिये। इनको दही और घृत में मिला कर वासुकी सर्प तथा अन्य सर्पों के दंश में भी पीना चाहिये।

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः।
मुक्तालेपो वरः शोथदाहतोदज्वरापहः ॥ १९९ ॥

(२०) कीट-विष की निवृत्ति के लिये वमन, विरेचन से देह को शुद्ध करके क्षीरी वृक्ष (बड़, गूलर आदि) की त्वचाओं का लेप दंश-स्थान पर करना चाहिये। मुक्ता (मोती) को पीस कर जल में मिला कर किया

लेप शोथ, दाह, पीड़ा और ज्वर को नष्ट करने के लिये श्रेष्ठ है।

चन्दनं पद्मकोशीरं शिरीषः[1] सिन्धुवारिका।
क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठं सारिवो[2]दीच्यपाटलाः॥ २००॥
शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकार्मिकः।
यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीक्ष्यालेपनादिषु।[3]

(२१) चन्दन, पद्माख, उशीर (खस), शिरीष, सिन्धुवार, क्षीरशुक्ला (विदारी), नत (तगर), कूठ, सारिवा, उदीच्य (नेत्रबाला), पाटला इनको समान भाग लेकर शेलु (लसूड़े) के स्वरस में पीसकर लूता (मकड़ी) के दंश में सब कार्यों (पान, नस्य, अभ्यंजन, लेपादि) में उचित रूप से प्रयोग करना चाहिये।

मधूकं मधुकं कुष्ठं शिरीषोदीच्यपाटलाः[4] ॥ २०१॥
सनिम्बसारिवाक्षौद्रं पानं लूताविषापहम्।

(२२) मधूक (महुआ), मुलहठी, कूठ, सारिवा, उदीच्य (नेत्रबाला), पाटला, नीम की छाल, सारिवा (कृष्ण सारिवा) इनको जल में पीस कर, घोल कर शहद में मिला कर पीने से सब लूताओं का विष नष्ट होता है।

कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट्।
दन्ती त्रिवृत्सैन्धवैले कर्णिकापातनं तयोः॥ २०२॥

(२३) कुसुम्भ पुष्प (धनिये का फूल), गाय का दांत, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), कबूतर की विष्ठा, दन्ती (जमालगोटा), निशोथ, सैन्धा नमक, बड़ी इलायची इनको जल में पीस कर दंश स्थान में लेप करने से कीट और लूता का डंक (जो दंशस्थान में रह जाता है) गिर पड़ता है।

१. 'पाटलिः' इति पा०। २. 'शिरीषोदीच्यपाटलाः' इति पा०।
३. 'एतत् श्लोकार्धं क्वचित् न पठ्यते।
४. 'सारिवोदीच्यपाटलैः' इति पा०।

कटभ्यर्जुनशैरीषशेलुक्षीरीद्रुमत्वचः ।
कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः ॥ २०३ ॥

(२४) कटभी, अर्जुन, शिरीष, शेलु (लसूड़े) की छाल, क्षीरी वृक्षों (बरगद, गूलर, पीपल आदि) की छाल इनको कषाय-विधि से क्वाथ करके या पानी से पीस करके कल्क रूप में अथवा चूर्ण रूप में सेवन करने से कीट, और लूता का व्रण नष्ट होता है।

त्वचं च नागरं चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम् ।
पेयमुष्णाम्बुना सर्वमूषिकाणां विषापहम् ॥ २०४ ॥

(२५) त्वग् (दालचीनी) और सोंठ को परस्पर समान भाग लेकर, बारीक पीस कर गरम पानी से पीना चाहिये, इससे सब प्रकार के मूषिकों (चूहों) का विष नष्ट होता है।

कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी ।
तिक्तेक्ष्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रधमनादिभिः ॥ २०५ ॥
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषापहः ।
सनानो ह्यमृतेनायं गराजीर्णं च नाशयेत् ॥ २०६ ॥

(२६) कूड़े का फल (इन्द्र जौ), तगर, जालमालिनी (जालनी, जालवाली, काली तुरई), तिक्त इक्ष्वाकु (कड़ुई तुरई) इनको पानी के साथ पीस कर पान, प्रधमन, नस्य और लेप में इसका उपयोग करना चाहिये। इसके उपयोग से बिच्छू, चूहा, लूता (मकड़ी) तथा सर्पों का विष नष्ट हो जाता है। यह योग अमृत के समान है, यह गर विष (संयोग जन्य विष) की अजीर्णता को भी नष्ट करता है।

सर्वेऽगदा यथादोषं प्रयोज्याः स्युस्त्रिकण्टके ।

(२७) त्रिकण्टक मत्स्य के कण्टक से विद्ध होने पर सब अगदों को यथाविधि प्रयोग करना चाहिये।

कपोतविट् मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद्रसः ॥ २०७ ॥
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्शिचके ।

(२८) कबूतर की विष्ठा, गलगल का रस, सिरस के फूलों का स्वरस, शंखपुष्पी, आक का दूध, सोंठ और करंज इनको पीस कर शहद में मिला कर बिच्छू के विष में लगाना हितकारी है।

शिरीषस्य फलं पिष्टं स्नुहीक्षीरेण दार्दुरे ॥ २०८ ॥
मूलानि श्वेतभण्डीनां व्योषं सर्पिश्च[1] मत्स्यजे ।

(२९) सिरस के फल को स्नुही (थोर) के दूध में पीस कर लगाना मेंडक के विष में हितकारी है। श्वेत भण्डि (अपराजिता, कोयल) के मूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली और घृत इनको पीस कर मछली के दंश में लगाना चाहिये।

कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम् ॥ २०९ ॥

(३०) कीट-दष्ट की जो जो चिकित्सा है, वह सब चिकित्सा जलौका (जोंक) के दंश में करनी चाहिये।

वातपित्तहरीप्राया क्रिया प्रायः प्रशस्यते ।
वार्श्चिकस्योच्चिटिङ्गस्य कणभस्योन्दु[2]रोऽगदः ॥ २१० ॥

(३१) बिच्छू, उच्चिटिङ्ग और कणभ (भ्रमर विशेष) इनके दंश में प्रायः करके वात-पित्त नाशक क्रिया श्रेष्ठ होती है। उन्दुर (चूहे) के विष में कणभ-विष के लिये कहा अगद उत्तम है।

वचां वंशत्वचं पाठां नतं सुरसमञ्जरीम् ।
द्वे बले नाकुली कुष्ठं शिरीषं रजनीद्वयम् ॥ २११ ॥
गुहामतिगुहां श्वेतामजगन्धां शिलाजतु ।
कत्तृणं कटभीं क्षारं गृहधूमं मनःशिलाम् ॥ २१२ ॥
रोहीतकस्य पित्तेन पिष्ट्वा तु परमोऽगदः ।
नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु ॥ २१३ ॥

इतिपरमोऽगदः ।

---

१. 'व्योषसर्पिश्च' इति पा० । २. 'शलभस्येन्दुरो' इति चक्रः ।

(३२) परम अगद—वच, वंशत्वच (बांस का छिलका), पाठा, नत (तगर), सुरसमञ्जरी (तुलसी की मंजरी), बला, अतिबला, नाकुली (रास्ना), कूठ, सिरस, हल्दी, दारुहल्दी, गुहा (पृश्निपर्णी), अतिगुहा (शालपर्णी), श्वेता (अपराजिता), अजगन्धा (अजवायन), शिलाजतु, कत्तृण (ध्यामक), कटभी, क्षार (यवक्षार), गृहधूम, मैनसिल इनको रोहित मछली के पित्त से पीसना चाहिये। इस परम अगद का विश्वम्भर आदि सुश्रुतोक्त श्लेष्म-प्रकोपक कीट आदि के विषों में नस्य, अञ्जन आदि कार्यों में प्रयोग करना चाहिये।

स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः सुरसोऽथाक्षिपीडकः ।
मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतपदीविषे ॥ २१४ ॥

(३३) शतपदी (कानखजूरा) के विष में स्वर्जिका (सर्जक्षार), अजा-शकृत् (बकरी की मींगनी) को जला कर बनाया हुआ क्षार, सुरस (तुलसी) इनको तथा अक्षिपीडक (श्वेतशिम्बी) ※ इनको मदिरा के मण्ड (उपरितन स्वच्छ भाग) के साथ मिला कर लेप करना हितकारी है।

कपित्थमक्षिपीडोऽर्कबीजं त्रिकटुकं तथा ।
करञ्जो द्वे हरिद्रे च गृहगोधाविषं[1] जयेत् ॥ २१५ ॥

※ कविराज श्री गंगाधरसेन ने अक्षिपीड़क शब्द से "यद् रसो अक्षिण दीयते सोऽवपीडोऽक्षिपीड़कः" यह अर्थ किया है। आंखों में दिया जाने वाला रस अवपीड़क 'अक्षिपीड़क' है। इस दृष्टि से सर्जक्षार, अजा-शकृत् क्षार और सुरस इनको दबा कर रस निकाल कर आंख में डालना चाहिये, मदिरामण्ड का लेप करना चाहिये। आगे भी इसी प्रकार से भिन्न भिन्न योग माने हैं। जैसे—कैथ को दबा कर रस लेकर आंख में डालने से गृहगोधा का विष नष्ट होता है, आक का बीज, त्रिकटु इनका रस डालना चाहिये। करंज, हल्दी, दारुहल्दी इनका रस डालना चाहिये। चक्रपाणि ने अक्षिपीड़क से श्वेत-पीत शिम्बी भेद लिया है।

१. 'गलगोध्या विषं' इति पा०।

(३४) गृहगोधा के विष के लिये कैथ, अक्षिपीड़क (श्वेत-पीत शिम्बी), आक के बीज, सोंठ, मरिच, पिप्पली, करंज, हल्दी, दारु हल्दी इनको पीस कर मदिरा-मण्ड के साथ मिला कर लेप करने से गृह-गोधा का विष नष्ट होता है ।

काकाण्डरससंयुक्तो विषाणां तण्डुलीयकः ।
सर्वेषां बर्हिपित्तेन तद्वद्वायसपीलुकः ॥ २१६ ॥

(३५) काकाण्ड (कृष्ण शिम्बी) से युक्त तण्डुलीयक (चौलाई) सब विषों की प्रधान औषध है । इसी प्रकार वायस और पीलुक (काकजंघा अथवा वायसी, काकमाची या मकोय और पीलु)* को मोर के पित्त में मिलाकर लेप करना सब विषों की प्रधान औषध है ।

शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्घृतैः ।
श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे ॥ २१७ ॥
इति पञ्चशिरीषोऽगदः ।

(३६) पञ्च-शिरीष अगद—शिरीष के फल, शिरीष की मूल, शिरीष की छाल, शिरीष के पुष्प और शिरीष के पत्ते तथा घृत इनको परस्पर समान भाग लेकर पीस लेना चाहिये । यह पंच-शिरीष अगद सब प्रकार के विषों को नष्ट करने में श्रेष्ठ है ।

चतुष्पाद्भिर्द्विपाद्भिर्वा नखदन्तक्षतं तु यत् ।
शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ २१८ ॥

(३७) चतुष्पाद (भेड़िया, सिंह आदि), द्विपद (वनमानुष, बन्दर आदि) पशुओं के नख और दांत के विष में जिससे कि दंश सूज जाता है, पक जाता है या स्रवित होता है अथवा जिसके कारण रोगी को ज्वर आता है उनमें यह अगद उत्तम है ।

सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्यपि ।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥ २१९ ॥

* वायसपीलुक को एक शब्द मान कर ही श्री गंगाधर ने काकजंघा अर्थ किया है । चक्रपाणि ने वायस शब्द से मकोय ली है ।

(३८) सोमवल्क (श्वेत खदिर या कायफल), अश्वकर्ण (सर्जभेद), गोजिह्वा (गाजवां), हंसपदी (हंसराज), हल्दी, दारुहल्दी और गेरू इनको पीस कर लेप करने से नखों और दांतों का विष नष्ट होता है।

दुरन्धकारे दष्टस्य केनचिद्विषशङ्कया ।
विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥ २२० ॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाऽप्येतच्छङ्काविषं मतम् ।

(३९) शंका-विष—दुरन्धकार अर्थात् घोर अन्धकार में जब कोई निर्विष प्राणी भी काटता है, तब विष की आशंका (भय) से, विष की कल्पना की बेचैनी से ज्वर, वमन, मूर्च्छा अथवा जलन हो जाती है, रोगी को ग्लानि, मोह तथा अतिसार हो जाता है। इसको 'शंका-विष' कहते हैं।

चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासनं बुधः ॥ २२१ ॥
सितां वैगन्धिकां द्राक्षां पयस्यां मधुकं मधु ।
पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वनं तथा[1] ॥ २२२ ॥

चिकित्सा—बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि रोगी को सान्त्वना देवे। सिता (मिश्री), वैगन्धिक (शोधित गन्धक या कोदा), मुनक्का, पयस्या (विदारी), मुलहठी और मधु इनको पिलावे। मंत्र से पवित्र किये जल से प्रोक्षण करे, मनोज्ञ वचनों से हर्षण तथा आश्वासन देवे।

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः ।
भोजनार्थं प्रशस्यन्ते लवणार्थे च सैन्धवम् ॥ २२३ ॥
तण्डुलीयकजीवन्तीवार्ताकुसुनिषण्णकाः ।
चुच्चूमण्डूकपर्णी च शाकं च कुलकं हितम् ॥ २२४ ॥
धात्री दाडिममम्लार्थे यूषा मुद्गहरेणुभिः ।
रसाश्चैणाश्च शिखिनां[2] लावतैत्तिरपार्षताः ॥ २२५ ॥
विषघ्नौषधसंयुक्ता रसा यूषाश्च संस्कृताः ।
अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानां भिषग्जितम् ॥ २२६ ॥

१. 'सान्त्वहर्षणं' इति पा० । २. 'रसाश्चैणशिखिश्चापि' (?) इति पा० ।

विषार्त्त रोगी के लिये पथ्य—शालि (हेमन्त धान्य), षाष्टिक धान्य, कोरदूष (कोदों), प्रियंगु ये वस्तुएं भोजन के लिये उत्तम हैं। लवण के लिये सैन्धा नमक बरतना चाहिये। विषार्त्त रोगी के शाक के लिये तण्डुलीयक (चौलाई), जीवन्ती, वार्त्ताक (बैंगन), सुनिषण्णक (सुषवा), मण्डूकपर्णी, कुलक (करेला), चुञ्चु (एरण्ड के पत्ते), इनको शाक के रूप में बरतना चाहिये। यूष के लिये हरेणु (गोल मटरा) और मूंग देना चाहिये, अम्ल, खटाई के लिये आंवला और अनार देना चाहिये। ऐण (मृग), मोर, बटेर, तीतर, पार्षत इनका मांसरस बरतना चाहिये। संक्षेप में सब प्रकार के अविदाही अन्न विषार्त्त रोगियों के लिये औषध रूप हैं।

विरुद्धाध्यशनक्रोधक्षुद्भयायासमैथुनम्।
वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः॥ २२७॥

विष से मुक्त होने पर भी विष-रोगी को विरुद्ध भोजन, अध्यशन, क्रोध, भूख, भय, परिश्रम, मैथुन तथा खास कर दिन में सोना छोड़ देना चाहिये।

चतुष्पाद्-विष-चिकित्सा

मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः स्रस्तौष्ठकर्णता।
ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनम्॥ २२८॥
रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः।
चतुष्पदां भवत्येतद् दष्टानामिह लक्षणम्॥ २२९॥

चतुष्पादों अर्थात् गाय, भैंस आदि ग्राम्य पशुओं को जब सांप आदि काट लेते हैं, तो उनमें निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

पशु बार बार शिर को मारता है, फेंकता है, सूजन होती है, ओठ और गला शुष्क हो जाता है, पशु को ज्वर, अंगों में दर्द, आंखों में स्तब्धता (पलक का न लगना), शरीर में जड़ता, जबाड़ों का कम्पन, बालों का गिर जाना, ग्लानि, बेचैनी, कम्पन होते और चक्कर आते हैं।

देवदारु हरिद्रे द्वे सरलं चन्दनागुरु ।
रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुल्विक्षुरसो नतम् ॥ २३० ॥
चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम् ।
चतुष्पदानां दष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ॥ २३१ ॥

सांप आदि से काटे गये पशुओं के लिये देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सुरस (तुलसी), चन्दन, अगरु, रास्ना, गोरोचन, अजाजी (जीरा), गुग्गुलु, गन्ने का रस, नत (तगर) इनको परस्पर सम भाग लेकर इसका चूर्ण बना लेना चाहिये । इस चूर्ण में सेन्धा नमक, अनन्त (शारिवा), गाय का पित्त और मधु मिला कर इस अगद को पान, लेपन, सेचन आदि सब कार्यों में प्रयोग करना चाहिये ।

स्त्रीदोष, गरदोष

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोनानाङ्गजान्[1] मलान् ।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान्प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥ २३२ ॥
तैः स्यात्पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाऽऽध्मानं श्वयथुर्हस्तपादयोः[2] ॥ २३३ ॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः[3] ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

मन्दबुद्धि स्त्रियें अपने सौभाग्य या सम्पत्ति प्राप्त करने और पुरुषों को वश करने की इच्छा से स्वेद, रज (आर्त्तव) और भिन्न भिन्न अंगों से उत्पन्न मलों तथा शत्रु से दिये हुए विषों को खान पान की वस्तुओं में मिला कर पुरुषों को दे देती हैं । इन वस्तुओं के खाने से पुरुष को पाण्डु रोग, कृशता, मन्दाग्नि, गर अर्थात् संयोगज विष के लक्षण, मर्म

१. 'लालाङ्गजान्' इति पा० ।
२. 'ध्मानहस्तपच्छोथलक्षणाः' इति पा० ।
३. 'ग्रहणीदोषं यक्ष्माणं श्वयथुं क्षयम्' इति पा० ।

(हृदय) का प्रमथन (धड़कना), आध्मान (पेट में अफारा), हाथ, पांव में शोथ, उदर रोग, ग्रहणी रोग, यक्ष्मा, गुल्म, क्षय और ज्वर हो जाता है तथा अन्य इसी प्रकार के किसी अन्य रोग के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं ।

स्वप्ने मार्जारगोमायुव्यालान् सनकुलान् कपीन् ।
प्रायः पश्यति नद्यादीञ्छुष्कांश्च सवनस्पतीन् ॥ २३५ ॥
कालश्च गौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम् ।
विकर्णनासिकं वापि पश्येदविहतेन्द्रियः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार का रोगी स्वप्न में बिल्ली, गोमायु (श्रृगाल), व्याल (सर्प), नकुल (नेवला), बंदर आदि, सूखे नदी, तालाब और सूखे वनस्पतियों को देखता है । काले वर्ण का व्यक्ति स्वप्न में अपने आप को गौर और गौरवर्ण का व्यक्ति अपने को कृष्णवर्ण का समझता है । इसी प्रकार स्वस्थ, सम्पूर्ण इन्द्रियों वाला व्यक्ति भी स्वप्न में अपने को कान या नासिका से हीन समझता है ।

गर-चिकित्सा

तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत्किं कैः कदा सह ।
जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद्वमनं भिषक् ॥ २३७ ॥
सूक्ष्मताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ।
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ॥ २३८ ॥
हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति ।
न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्[1] ॥ २३९ ॥

(१) रोगी को देख कर उससे वैद्य पूछे—"तुमने कब किनके साथ क्या खाया था ?" यह जान कर शीघ्रता से, सबसे प्रथम रोगी को वमन देवे । वमन के उपरान्त हृदय का शोधन करने के लिये सूक्ष्म ताम्रभस्म

१. 'हेमपस्य सजत्यङ्गे नहि पद्मेऽम्बुवद् विषम्' इति पा० ।

को मधु के साथ देवे । इस ताम्रभस्म के देने से जब हृदय का शोधन हो जावे तब स्वर्णभस्म की एक शाण मात्रा (वर्त्तमान काल में ५ रत्ती) मधु के साथ देवे । क्योंकि स्वर्ण सब प्रकार के विषों तथा गरविषों को शीघ्रता से नष्ट कर देता है । जैसे कमल के पत्र पर पानी प्रभाव नहीं करता उसी प्रकार स्वर्ण को खाने वाले व्यक्ति के अंगों में विष असर नहीं करता ।

नागदन्ती त्रिवृद्दन्ती द्रवन्ती स्नुक्पयःफलैः ।
साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम् ॥ २४० ॥
सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये ।

(२) घृत—भैंस का पुरातन घृत १ प्रस्थ, गोमूत्र एक आढ़क, कल्कार्थ—नागदन्ती (दीर्घमूला), त्रिवृत् दन्ती (ह्रस्वमूला), द्रवन्ती (ह्रस्वमूला, क्षुद्रवृक्ष), स्नुक् (थोर)का दूध और फल (मैनफल) ये मिलित घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत सर्प और कीटों के विषों से पीड़ित रोगियों की शान्ति के लिये औषध है ।

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफला चन्दनोत्पले ।
द्वे बले शारिवाऽऽस्फोता सुरभीनिम्बपाटलाः ॥ २४१ ॥
बन्धुजीवाढकीमूर्वावासासुरसवत्सकान् ।
पाठां कोठाश्वगन्धार्कमूलयष्ट्याह्वपद्मकान् ॥ २४२ ॥
विशालां बृहतीं लाक्षां कोविदारं शतावरीम् ।
कटभीदन्त्यपामार्गान् पृश्निपर्णीं रसाञ्जनम् ॥ २४३ ॥
श्वेतभण्डाश्वखुरकौ कुष्ठदारुप्रियङ्गुकान् ।
विदारीं मधुकं सारं करञ्जस्य फलं वचाम् ॥ २४४ ॥
रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम् ।
तुल्याम्बुच्छागगोमूत्रत्र्याढके तद्विषापहम्[1] ॥ २४५ ॥
अपस्मारज्वरोन्मादभूतग्रहगरोदरम ।

१. 'गोमूत्राढके तनु विषापहम्' इति पा० ।

पाण्डुरोगान्क्रिमीन् गुल्मान्प्लीहोरुस्तम्भकामलाः ॥ २४६ ॥
हनुस्कन्धग्रहादींश्च पानाभ्यञ्जननावनैः ।
हन्यात्संजीवयेच्चापि विषोद्वेगमृतान्नरान् ।
नाम्नेदममृतं सर्वविषाणां स्याद् घृतोत्तमम् ॥ २४७ ॥

इत्यमृतघृतम् ।

(३) अमृत घृत—कल्कार्थं—शिरीष की छाल, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), चन्दन, उत्पल (कमल), बला, अतिबला, श्वेत सारिवा, कृष्ण अनन्तमूल, श्वेता (श्वेत अपराजिता), सुरभि (सुगन्धा, सुगन्ध रास्ना), नीम की छाल, पाटला, बन्धुजीवक (जीयापोता), आढ़की (अरहर), मूर्व्वा, वासा, सुरस (तुलसी या निर्गुण्डी), वत्सक (इन्द्रजौ), पाठा, अंकोठ, अश्वगन्धा, आक की जड़, यष्टि (मुलहठी), पद्माख, विशाला (इन्द्रवारुणी), बृहती (बड़ी कटेरी), मुनक्का, कोविदार (कचनार भेद), शतावरी, कटभी, दन्ती, अपामार्ग (चिरचिटा), पृश्निपर्णी, रसांजन (रसौत), श्वेत (श्वेतवर्ण के) बालाश्व-खुरक (घोड़े के बच्चे के दो खुर) अथवा खुरक (स्यन्दन वृक्ष या तिनिश), कूठ, देवदारु, प्रियंगु, विदारी, महुवे का सार भूतकाष्ठ, करंज का फल, करंज की त्वचा, हल्दी, दारुहल्दी, लोध्र प्रत्येक वस्तु एक एक अक्ष लेकर पीस लेना चाहिये, घृत एक आढ़क (सोलह शराव), जल एक आढ़क, बकरी का मूत्र १॥ आढ़क (२४ शराव), गाय का मूत्र १॥ आढ़क लेकर इसमें घृतपाक विधि से घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत अपस्मार, विष, ज्वर, उन्माद, भूतग्रह (बाधा), गर रोग, उदर रोग, पाण्डुरोग, कृमि, गुल्म, प्लीहा, उरुस्तम्भ, कामला, हनुस्तम्भ, ग्रहों (स्कन्द ग्रह आदि) को पान, अभ्यंजन, नस्य में प्रयोग करने से नष्ट करता है । विष-वेग से मृत पुरुषों को यह घृत-पान, अभ्यंजन और नस्य में प्रयोग करने पर शीघ्रता से जीवित कर देता है । सब विषों के लिये यह अमृत रूप है, यह 'अमृत-घृत' सब घृतों में श्रेष्ठ है ।

प्रत्युपाय-निर्देश

भवन्ति चात्र[1] । छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ तथा दिवा ।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगाः ॥ २४८ ॥

(१) पुरुष को दिन में सदा हाथ में छाता लेकर तथा रात में झर्झर शब्द करने वाली कोई लकड़ी आदि लेकर चलना चाहिये। क्योंकि यदि सांप आदि रास्ते में या अदृश्य स्थानों में हों तो वे छाया तथा शब्द से डरकर दूर भाग जाते हैं, काटते नहीं ।

दष्टमात्रं दशेदाशु तं सर्पम् ।

(२) यदि सांप काट खाये तब पुरुष को चाहिये कि उसी सर्प को तुरन्त पकड़ कर काट ले ।

लोष्टमेव वा ।

(३) यदि पुरुष सांप को पकड़ने का साहस न कर सके तो उसी समय वह लोष्ट (मिट्टी के ढेले) को काट ले ।

उपर्यरिष्टां बध्नीयाद्दंशं छिद्याद्दहेत्तथा[2] ॥ २४९ ॥

(४) दंश से चार अंगुल ऊपर अरिष्टा बांधनी चाहिये वा दंशस्थान को चाकू से काट कर लोह आदि से जला देना चाहिये ।

वज्रं मरकतं सारं पिचुकी विषमुष्टिका[3] ।
कर्कोटकमणिः सर्पाद् वैदूर्यगजमौक्तिकम् ॥ २५० ॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः ।

(५) विषनाशक मणि आदि—विषों से बचने के लिये पुरुष को वज्र (हीरा), मरकत, सार (वज्र), पिचुक मणि, विषमुष्टिका (विष-मणि या कुचला), कर्कोटक (पद्मराग), सर्पमणि, वैदूर्य्यमणि, हाथी के मस्तक का मोती, तथा अन्य श्रेष्ठ विषहर मणियों और विषनाशक

---

१. 'तत्र श्लोकाः' इति पा० ।
२. 'छिन्द्याद् वाहेत् तथा' इति पा० ।
३. 'विषभूषिका' इति पा० । 'विषभूषिका विषमणिः' इति चक्रः ॥

श्रेष्ठ ओषधियों (अक्षीरा, जलपिप्पली, अजरुहा आदि) को शरीर पर धारण करना चाहिये ।

खगाश्च शारिकाक्रौञ्चशिखिहंसशुकादयः ॥ २५१ ॥

(६) विषयुक्त अन्न की परीक्षा तथा घर की शोभा के लिये सारिका (मैना), क्रौञ्च, मोर, हंस, तोते आदि पक्षियों को समीप (घर) में रखना चाहिये ।

तत्र श्लोकः। इतीदमुक्तं द्विविधस्य विस्तरैर्बहुप्रकारं विषरोगभेषजम् ।
अधीत्य विज्ञाय तथा प्रयोजयेद् व्रजेद्विषाणामविषह्यतां बुधः॥२५२॥

उपसंहार—इस प्रकार से संक्षेप में दो प्रकार के (स्थावर और जंगम) विष तथा विस्तार में बहुत प्रकार के विष-रोगों की ओषधियों का उपदेश कर दिया है । जो मनुष्य भली प्रकार से इसको पढ़ कर इसका प्रयोग करता है वह विषों पर विजय पा जाता है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रातिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः



अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'मदात्यय रोग की चिकित्सा' का वर्णन करते हैं । ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश दिया है ।

सुरैः सुरेशसहितैर्या पुरा परिपूजिता ।
सौत्रामण्यां हूयते या कर्मभिर्या प्रतिष्ठिता ॥ ३ ॥
यज्ञे हि या च शक्रस्य सोमोऽतिपतितो यया ।
नीरजस्तमसाविष्टस्तस्माद् दुर्गात्समुद्धृतः ॥ ४ ॥

विधिभिर्वेदविहितैर्या यजद्भिर्महात्मभिः ।
दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च यज्ञिया यज्ञसिद्धये ॥ ५ ॥
योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या ।
भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात् ॥ ६ ॥
या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या ।
सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युंक्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ॥ ७ ॥
आश्विनं या महत्तेजो वीर्यं सारस्वतं च या ।
बलमैन्द्रं च या सिद्धा सोमे सौत्रामणौ च या[1] ॥ ८ ॥
शोकारतिभयोद्वेगनाशिनी या महाबला ।
या प्रीतिर्या रतिर्या वाक् पुष्टिर्या या च निर्वृतिः[2] ॥ ९ ॥
या सुरा सुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः ।
रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ॥ १० ॥

जिस सुरा की पूजा (आदर) इन्द्र समेत देवताओं ने पूर्वकाल में की थी, सौत्रामणि यज्ञ में जिस सुरा की आहुति दी जाती है, वैदिक कर्म्मों द्वारा जिस सुरा की प्रतिष्ठा है, जिस सुरा की इन्द्र के यज्ञ में प्रतिष्ठा हुई है, शुक्र-क्षय के कारण घोर अन्धकार में पड़े चन्द्रमा वा सोम का जिस सुरा के द्वारा उद्धार हुआ था, जिस सुरा के द्वारा महात्मा लोग वेदवर्णित विधियों से यज्ञ करते हैं, यज्ञ की सिद्धि के लिये यज्ञकर्त्ता महात्मा लोग जिस सुरा को बनाते, देखते और स्पर्श करते हैं, योनि (धान्य, फल, पुष्प, काण्ड, पत्र, त्वचा, मूल, सार, शर्करा इन सूत्रस्थानोक्त कारण) भेद से, बहुत प्रकार के संस्कार भेद से, सुरा, सीधु, मधु, मैरेय आदि नाम भेद से जो सुरा बहुत प्रकार की होकर भी 'मद' (विशेष हर्ष, नशा) रूप लक्षण की समानता से एक प्रकार की है, जो सुरा देवताओं के लिये अमृत रूप

१. 'या सोमे सौत्रामण्यां च या मता' इति पा० ।
२. 'निर्वृतिः' इति पा० ।

पितरों के लिये स्वधा रूप और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन द्विजातियों के लिये सोम रूप होकर, देवताओं, पितरों और द्विजातियों को उत्तम कल्याणों से युक्त करती है, जो सुरा अश्वियों का बड़ा तेज रूप है, जो सुरा सरस्वती का वीर्य्य रूप है, जो सुरा सोम यज्ञ तथा सौत्रामणि यज्ञ में इन्द्र का बल रूप है, जो सुरा शोक, बेचैनी, भय और उद्वेग को नष्ट करती है, जो सुरा महाबलवती है, जिस सुरा से प्रीति, रति (आनन्द), पुष्टि और निर्वृति (परम शान्ति) मिलती है, जिसे सुर और असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और मनुष्यों के लिये सुखपूर्वक रति अर्थात् आनन्द देने से 'सुरा' नाम से कहा उस सुरा को विधि पूर्वक पीना चाहिये ।

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान् ।
प्रावृतो निर्मलैर्वस्त्रैर्यथर्तूद्दामगन्धिभिः ॥ ११ ॥
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः ।
देवद्विजातीन्संपूज्य स्पृष्ट्वा[1] मङ्गलमुत्तमम् ॥ १२ ॥
देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते ।
संवाससंमते मुख्ये धूपसंमोदबोधिते ॥ १३ ॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने ।
उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ॥ १४ ॥
सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि ।
भाजनैर्विविधैश्चित्रैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥ १५ ॥

मद्यपान की विधि—स्नानादि से शरीर के बाह्य संस्कार, प्रकृति आदि की अपेक्षा से स्निग्ध, उष्णादि वस्तुओं से शरीर का अन्तःसंस्कार करके, पवित्र और श्रेष्ठ गन्धों से युक्त, निर्मल, तीव्र मोहक गन्ध वाले वस्त्रों को धारण करके, नाना प्रकार की सुन्दर मालाओं को पहिन कर, रत्न, आभूषण धारण करके, देव, ब्राह्मणों की पूजा (आदर-सत्कार) करके,

१. 'स्मृत्वा' इति पा० ।

उत्तम मंगल वस्तु का स्पर्श करके, ऋतु और देश के अनुसार फूलों से सजे प्रशस्त स्थान में, रहने के मुख्य घर में, धूप के आमोद से सुगन्धित गृह में, अच्छी प्रकार से, विना सलवट के बिछे स्वच्छ-सुन्दर बिस्तर पर तकिया लगा कर बैठे हुए अथवा शरीर को आराम से ज़रा तिरछा किये हुए स्वर्ण, चांदी अथवा मणि से बने नाना प्रकार के चित्र-विचित्र बनावट वाले सुन्दर पात्रों में सुरा पीनी चाहिये।

रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः।
वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः॥ १६॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः।
संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम्॥ १७॥

रूप और यौवन से मत्त, विशेष रूप से शिक्षित, ऋतु के अनुसार वस्त्र, भूषणों और मालाओं से शोभित, स्वच्छता और प्रेम रखने वाली, प्रिय, इधर-उधर मुट्ठियां भरती हुई, सेवा शुश्रूषा करती हुई, मन के अनुकूल स्त्रियों के साथ अति उत्तम मद्य पीनी चाहिये। [अष्टांगसंग्रह में यह विधि विस्तार से दी है।]

पिबेन्मद्यानुकूलैर्वा फलैर्हरितकैः शुभैः।
लवणैर्गन्धपिशुनैरवदंशैर्यथर्तुकैः॥ १८॥
भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैर्भूजलाम्बरचारिणाम्।
पौरोगवैश्च विहितै[1]र्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः॥ १९॥
पिबेत्संपूज्य विबुधानाशिषः संप्रयुज्य च[2]।
प्रदाय सजलं मद्यमादितो वसुधातले॥ २०॥

मद्य के अनुकूल हरित फलों से, शुभकारक हरे शाकों के साथ ज़मीन के पशु, जलचर प्राणी तथा पक्षियों के नाना प्रकार के भुने हुए मांसों के साथ, भृत्य वर्ग से बनाये नाना प्रकार के भक्ष्यों के साथ, देवों, विद्वानों

१. 'पौरोगवर्गविहितैः' इति पा०।
२. 'पूजयित्वा सुरान् पूर्वमाशिषः संप्रयुज्य च' इति पा०।

की पूजा कर तथा आशीष ग्रहण करके, भूमि पर जल सहित कुछ मद्यांश डाल कर मद्य पीना चाहिये।

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूपानुलेपनैः।
स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैर्वातिको मद्यमाचरेत् ॥ २१ ॥

वातप्रकृति व्यक्ति को चाहिये कि स्निग्ध, उष्ण, अभ्यंग (मालिश), उत्सादन (उबटन), स्नान करके, वस्त्रों को धारण करके, शरीर पर धूप और उष्ण अनुलेप करके, अन्य स्निग्ध उष्ण भक्ष्य पदार्थों को खाकर मद्य पिये।

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः।
पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति ॥ २२ ॥

पित्तप्रकृति का पुरुष मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, नाना प्रकार के शीतल उपचार (अभ्यंग, स्नान, लेपन आदि) करके, अन्य पित्तनाशक शीत, मधुर, स्निग्ध भक्ष्यों का सेवन करके मद्य पीये, इस प्रकार करने से उसको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत्।
श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मरिचकैः सह ॥ २३ ॥

कफप्रकृति व्यक्ति को चाहिये कि अशिशिर (उष्ण) और रूक्ष अभ्यंग, स्नानादि उपचार करके, जौ गेहूं का भोजन करते हुए, अनेक मरिचों सहित धन्वज (जांगल) मांसों के साथ मद्य पिये।

विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्विभवाश्च ये।
यथोपपत्तिकैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥ २४ ॥

जो लोग सम्पत्तिशाली हैं, तथा जिनके पास सम्पत्ति आने वाली है, उनके लिये यह उपरोक्त विधि है।

परन्तु वर्त्तमान अवस्था में जैसी सम्पत्ति हो उसके अनुसार ही मात्रा में हितकारी मद्य पीना चाहिये।

वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम्।

वातप्रकृति मनुष्य के लिये प्रायः गौडिक या पैष्टिक मद्य हितकारी होता है। इन दोनों प्रकार के मद्यों की गुण दोषों सहित विवेचना करनी चाहिये।※

कफपित्ताधिकेभ्यस्तु फालमाधवशार्करम् ॥ २५ ॥
गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते।
बहुद्रवं बहुगुणं बहुकर्मप्रदात्मकम् ॥ २६ ॥

पित्तप्रकृति वालों के लिये मार्द्वीक मद्य और कफप्रकृति वालों के लिये माधव मद्य उत्तम है। * इसमें बहुत सा पानी मिलाकर पीना चाहिये। यह मद्य पुष्टि, रति आदि अनेक गुण करता तथा मत्तता पैदा करता है।

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो[1] यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥ २७ ॥

जो मनुष्य विधिपूर्वक, मात्रा में, मद्यपान के उचित समय पर हितकारी (गौडिक और पैष्टिक मद्य के अविरोधी) अन्नों के साथ, बल के अनुसार, प्रसन्नता से मद्य को पीता है, उसके लिये मद्य अमृत के समान है।

यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते।
रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत् ॥ २८ ॥

जो मनुष्य नित्यप्रति रूक्ष वस्तुओं का सेवन करता और व्यायाम करता है और जैसा और जब भी मद्य मिल जाय वैसा और तभी

※ कफप्रकृति को भोजन से पूर्व, पित्तप्रकृति को भोजन के पीछे, वातप्रकृति को भोजन के मध्य में मद्य पीना चाहिये।

* श्री गंगाधर ने 'माध्वीक' का पाठ दिया है, परन्तु अष्टांगसंग्रह में 'मार्द्वीक' पाठ है। 'पित्ते सारम्भो मधुकफे मार्द्वीकारिष्टमाधवम्।' मधु से बना मद्य 'माधव'।

1. 'प्रहृष्टो' इति पा०।

प्रसंगवश (विना समय आदि देखे) पी लेता है, उसके लिये यह मद्य विष के समान होता है।

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्।
दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ २९॥

मद्य का मदजनक प्रकार—मद्य हृदय में पहुंचकर अपने दस गुणों द्वारा ओज के दस गुणों को क्षुब्ध (विचलित) करके चित्त को विकृत चेष्टाओं वाला कर देता है।

लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च।
रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ ३०॥

मद्य के दस गुण—लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी (सम्पूर्ण देश में व्याप्त होकर फिर पाक होता है), आशुगामी, रूक्ष, विकाशी, विशद ये मद्य के दस गुण हैं। *

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ ३१॥

ओज के दश गुण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, बहल, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल और श्लक्ष्ण ये ओज के दस गुण हैं।

गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यं चौष्ण्यादम्लस्वभावतः।
माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात्प्रसादं चाशुभावनात्॥ ३२॥
रौक्ष्यात्स्नेहं व्यवायित्वात्स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि।
विकासिभावात्पैच्छिल्यं वैशद्यात्सान्द्रतां तथा॥ ३३॥
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्।

गुणों का परस्पर नाश—मद्य लघु होने से ओज के गुरु गुण को, उष्ण होने से शीतगुण को, अम्लस्वभाव होने से मधुर गुण को, तीक्ष्ण होने से मृदु गुण को, आशुगामी होने से ओज के प्रसाद को, रूक्ष होने से

* विष में भी मद्यवाले ये दस गुण हैं, परन्तु विष में उत्कर्षवृत्ति होने से ये मारक होते हैं।

स्नेह को, व्यवायी (व्यापनशील) होने से स्थिर तथा श्लक्ष्ण गुण को, विकाषी होने से पिच्छिलता को, विशद तथा सूक्ष्म होने से सान्द्रता गुण को नष्ट करता है, इस प्रकार मद्य अपने दस गुणों से ओज के दस गुणों को नष्ट कर देता है ।

सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम् ॥ ३४ ॥

मद्य सत्त्व और सत्त्व के आश्रयस्थान मन को जल्दी से विक्षुब्ध (विचलित) करके मद को उत्पन्न करता है ।

रसवाता[1]दिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् ।
प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ ३५ ॥
अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत् ।
हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥ ३६ ॥

रसवहा तथा धातुवहा (अथवा वातादिवहा) धमनियों, सत्त्व, बुद्धि, इन्द्रिय और आत्मा का, तथा ओज का प्रधान स्थान हृदय है । मद्य अधिक पीने से और ओज के नष्ट होने पर हृदय और उसमें आश्रित धातुएं भी विकार को प्राप्त होती हैं । धातुओं के स्थान हृदय को संक्षोभित करके मद्य मद को उत्पन्न करता है ।

ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते ।
मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो मदः ॥ ३७ ॥

तीन मद—(१) मद्य के बहुत अधिक न पीने पर, ओज के विघात न होने से, हृदय तथा इसमें स्थित धातुओं का विकास होता है और हृदय में स्थित बुद्धि आदि जागृत होती हैं । यह पूर्व अर्थात् प्रथम कोटि का मद होता है । (२) ओज के अल्प नष्ट होने पर तथा बुद्धि आदि के मध्यम रूप में जागृत रहने से मध्यम मद होता है और (३) ओज का विशेष रूप से विघात होने पर उत्तम मद होता है ।

नैवं विघातं जनयेन्मद्यं पैष्टिकमोजसः ।

1. 'धात्वादि' इति पा० ।

विकाशि[1]रूक्षविशदा गुणास्तत्र हि नोल्बणाः ॥ ३८ ॥

पैष्टिक मद्य ओज का अधिक विघात नहीं करता । क्योंकि इस पैष्टिक मद्य में विकाशी, रूक्ष और विशद गुण अधिक प्रबल नहीं होते ।

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् ।
विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ॥ ३९ ॥
जायन्ते मोहनिद्रार्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
स मद्यविभ्रमो नाम्ना मद इत्यभिधीयते ॥ ४० ॥

मद्य के अति सेवन करने से हृदय में मद्य के गुण आ जाते हैं तब हर्ष, तर्ष, रति (आनन्द) और सुख उत्पन्न होते हैं । मन की सात्त्विक आदि रचना के अनुसार राजस और तामस नाना प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् सात्त्विक मन में सात्त्विक मद-विकार, राजस मन में राजस मद-विकार और तामसिक मन में तामस मद-विकार उत्पन्न होते हैं । मद्य के अति सेवन से लोगों को मोह (मूर्च्छा, अचेतना) नींद आती है, मधु के द्वारा हुए इस मति-विभ्रम को 'मद' के नाम से कहा जाता है ।

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः ।
प्रथमो मध्यमोऽन्त्यश्च लक्षणैस्तान्प्रवक्ष्यते ॥ ४१ ॥

मद की तीन अवस्थाएं—पिये हुए मद की तीन अवस्थाएं होती हैं तदनुसार मद को भी तीन प्रकार का जानना चाहिये । (१) प्रथम, (२) मध्यम और (३) अल्प । इनका लक्षणों से आगे स्पष्ट वर्णन करते हैं ।

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः ।
वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः ॥ ४२ ॥
न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः ।
सुखनिद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः ॥ ४३ ॥

---

१. 'विकाश' इति पा० ।

प्रथम मद—प्रहर्षक (आनन्ददायक), प्रीतिकारक, खाई या पी हुई वस्तुओं के गुणों को प्रकट करता है, उनको छिपाता नहीं, पाठ, गीत, वक्तृता तथा कथाओं को प्रवृत्त कराता है, बुद्धि और स्मृति का लोप नहीं करता, बाह्य विषयों के ग्रहण में असमर्थ नहीं करता, मनुष्य को सुख से नींद आती है और शान्ति से जाग जाता है, यह प्रथम मद सुखदायक होता है।

मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहो व्यक्ताऽव्यक्ता च वाङ् मुहुः।
युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रपलायनमेव च ॥ ४४ ॥
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजनाः सविपर्ययाः।
लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ॥ ४५ ॥

मध्यम मद—कभी स्मृति हो जाती है और कभी नहीं, कभी तो वाणी स्पष्ट होती है और कभी स्पष्ट नहीं होती, कभी युक्त (युक्ति-संगत) बोलता है और कभी अयुक्त (अयुक्ति-संगत) बोलता है, रोगी प्रपलायन-स्थिति अर्थात् घूर्णित दशा में, नशे में रहता है। स्थान, पान, अन्न और कथा (परस्पर वार्तालाप) कभी ठीक प्रकार से होती है, कभी ठीक प्रकार से नहीं होती। मध्यम मद से आक्रान्त होने पर ये लक्षण प्रकट होते हैं।

मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्।
न किंचिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥ ४६ ॥
को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम्।
गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ॥ ४७ ॥

मध्यम और उत्तम मद की सन्धि के लक्षण—राजस और तामसिक प्रकृति के मनुष्य मध्यम मद का अतिक्रमण करके तृतीय उत्तम मद के समीप पहुंच कर क्या अशुभ कार्य नहीं करते, अर्थात् बुरे से बुरा काम करने से भी संकोच नहीं करते। उन्माद के समान दारुण इस अशुभ कार्यकारी मद को कोई मनुष्य भी पसन्द नहीं करता और कौन पथिक

बहुत दोषों से पूर्ण मार्ग पर यात्रा करेगा ? [राजस और तामस प्रकृति के मनुष्यों में ही यह मद-सन्धि होती है, सात्त्विक प्रकृति वालों में नहीं]। *

तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
बहुमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥ ४८ ॥
रमणीयान्स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम् ।
यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ॥ ४९ ॥
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम् ।
यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः ॥ ५० ॥
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाग्राह्य एव च ।
व्यसनित्वादुदर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते ॥ ५१ ॥

तृतीय मद के लक्षण—तृतीय मद में पहुंच कर मनुष्य टूटे या कटे हुए वृक्ष के समान निष्क्रिय होकर गिर पड़ता है। बहुत अधिक मद वा मोह से मन के आवृत होने पर वह जीता हुआ भी मुर्दे के समान होता है। न तो वह रमणीय विषयों को पहिचानता है, न मित्रों को पहिचानता है, जिस सुख के लिये वह मद्य पीता है, उस का भी वह अनुभव नहीं करता। जिस अवस्था में मनुष्य कार्य्य और अकार्य्य, सुख और दुःख, लोक में हित और अहित को भी नहीं पहिचानता, कौन बुद्धि-

* कहीं कहीं इस लक्षण को तृतीय मद के लक्षण कहे हैं। यथा—
गच्छेदगम्यां न गुरूँश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषो ऽस्वतन्त्रः ॥
सुश्रुत में सन्धि-मद नहीं कहा। यथा—
त्र्यवस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः ।
पूर्वं वीर्य्य-रति-प्रीति-हर्ष-भाष्यादिवर्धनम् ॥
प्रलापो मध्यमे हर्षो युक्तायुक्ता क्रिया तथा ।
विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्म-क्रिया-गुणः ॥

मान् ऐसी अवस्था में जाना चाहेगा ? कोई भी नहीं । इस अवस्था में पहुंचा मनुष्य सब दोषों से युक्त तथा सब प्राणियों में निन्दनीय, असह्य (तिरस्कृत) होता है । परिणाम में पुरुष दुःख रूप व्याधि से ग्रस्त हो जाता है, क्योंकि यह तृतीय मद ही रोगोत्पादक और अति कष्टदायी होता है ।

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम् ।
मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥ ५२ ॥

मरण के अनन्तर परलोक और इस लोक में और मोक्ष में जो अति श्रेय (कल्याण) है, वह सब मनुष्यों के मन की समाधि अर्थात् एकाग्रता वा स्वस्थता पर ही निर्भर है ।

मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान् ।
महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः ॥ ५३ ॥
मद्यप्रसङ्गं तं ज्ञात्वा[1] महादोषं महागदम् ।
सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः ॥ ५४ ॥
मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ताः सात्त्विकैर्गुणैः ।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मद्यलालसाः ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार नदी के किनारे पर स्थित वृक्ष को आंधी के झोंके से बड़ा विक्षोभ होता है उसी प्रकार मद्यपान करने से पीने वाले मनुष्य के मन में बड़ा क्षोभ (उद्वेग) उत्पन्न होता है । इस मद्य की आसक्ति को महारोग-कारक बहुत दोष पूर्ण न समझते हुए, रज और मोह के वशीभूत हुए लोग इस में सुख मान कर इस स्थिति को पहुंचते हैं । सात्त्विक गुणों से रहित रज और मोह के वशीभूत, मद्य से ज्ञानशून्य, अन्धे बने, मदान्ध व्यक्ति मद की लालसा में कल्याण से अलग हो जाते हैं, उनको श्रेय नहीं मिलता ।

मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः ।

१. 'प्रसङ्गमज्ञात्वा' इति पा० ।

सोन्मादमदमूर्च्छाद्याः सापस्मारापतानकाः ॥ ५६ ॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत् ।
इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं गर्हन्ति तत्वतः[1] ॥ ५७ ॥

मद्य में मोह, भय, शोक, क्रोध, मृत्यु, उन्माद, मद, मूर्च्छा, अपस्मार, अपतानक ये समस्त रोग विद्यमान हैं। जिस पदार्थ में अकेली स्मृति बिगड़ जाती हो, वह सब पदार्थ निन्दनीय समझने चाहिये। इस प्रकार से मद्य के दोषों को समझने वाले जन यत्नपूर्वक मद्य की निन्दा करते हैं।

सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः ।
अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम् ॥ ५८ ॥

सचमुच मद्य के ये उपरोक्त बड़े २ दोष ठीक ही कहे गये हैं। जो आदमी, अति अधिक मात्रा में, विधि के विना, अहित रूप में पीता है, उसमें ये विकार-दोष उत्पन्न होते हैं।

किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥ ५९ ॥

किन्तु मद्य स्वभाव से अन्न के ही सदृश है। अयुक्तियुक्त मद्य रोग को उत्पन्न करता है और युक्तियुक्त मद्य अमृत के समान गुणकारी है।

प्राणः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून् ।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ ६० ॥

प्राणधारियों के अन्न ही प्राण हैं, परन्तु वही अन्न अयुक्तिपूर्वक सेवन करने से प्राणों का नाश करता है। विष प्राणनाशक है, वही विष युक्ति से प्रयोग किया रसायन हो जाता है।

हर्षमूर्जो मदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम् ।
युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मदसुखावहम् ॥ ६१ ॥

---

१. 'यत्नतः' इति पा० ।

युक्ति से पीया हुआ मद्य हर्ष, ऊर्ज (स्फूर्ति), मुद (आनन्द), पुष्टि, आरोग्यता, पौरुष, बल, मद और सुख प्रदान करता है।

रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्।
प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम्॥ ६२॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनम्।
बोधनं चातिनिद्राणां विबद्धानां विबन्धनुत्॥ ६३॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्।
मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम्॥ ६४॥

मद्य रोचक, अग्नि दीपक, हृदय के लिये प्रिय, स्वर और वर्ण की प्रसन्नता (निर्मलता) करने वाला, प्रीणन, बृंहण, बलकारक, भय, शोक, श्रम को नष्ट करने वाला, चिन्ता आदि के कारण से जिनको नींद नहीं आती, इनको नींद लाने वाला, मूक लोगों की वाणी को जगाने वाला, जिन लोगों को बहुत नींद आती है उनको जागृत करने वाला और विबन्ध (देह में जकड़े हुए) रोगियों के विबन्ध (जकड़) को दूर करता है, मद्य से उत्पन्न रोगों को मद्य ही शान्त करता है।

रतिविषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनम्।
अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम्॥ ६५॥

प्रवयस * (युवा) व्यक्तियों के लिये मद्य ही, रति-विषय के मिश्रण में प्रीति तथा सम्भोग को बढ़ाता है। युवा व्यक्तियों के लिये मद्य उत्सव (उत्सुकता), और आमोद (हर्ष) को उत्पन्न करता है।

पञ्चस्वर्थेषु काम्येषु[1] या रतिः प्रथमे मदे।
यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि॥ ६६॥
बहुदुःखक्षतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च।
विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम्॥ ६७॥

* प्रवयसां वृद्धानाम् इति चक्रः। सं०।
1. 'कान्तेषु' इति पा०।

पांच प्रकार के इच्छा योग्य पदार्थों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में युवा व्यक्ति तथा वृद्धों को प्रथम मद में जो रति, आनन्द वा सुख होता है, उस की उपमा इस धरातल पर नहीं है। युक्तिपूर्वक सेवित मद्य ही बहुत दुःखों के कारण विक्षत-चित्त तथा शोक से पीड़ित व्यक्ति के लिये विश्राम रूप (शान्तिदायक) होता है।

युक्ति—मद्य के पीने की इच्छा वाले मनुष्य को चाहिये कि वह आठ प्रकार त्रिकों को जान कर मद्य पीवे। इन आठ त्रिकों की योजना को 'युक्ति' कहते हैं।

अन्नपानवयोव्याधिबलकालत्रिकाणि षट्।
त्रीन्दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत्सदा ॥ ६८ ॥
तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते।
यया[1] युक्त्या पिबन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते ॥ ६९ ॥
मद्यस्य च गुणान्सर्वान्यथोक्तान्स समश्नुते।
धर्मार्थयोरपीडायै नरः[2] सत्वगुणोच्छ्रितः ॥ ७० ॥

आठ त्रिक—तीन अन्न—अशित, खादित और लीढ; पार्थिव, जलीय, तैजस; गुरु, लघु, मिश्र; शीत, उष्ण और मिश्रित। तीन पान—पार्थिव (गन्ने का रस आदि), जलीय (दूध, जल आदि) तैजस (घृतादि)। तीन वय—प्रथम, मध्यम और वार्धक्य। तीन रोग—वात, पित्त और कफजन्य। तीन बल—प्रवर, मध्यम, अवर। तीन काल—शीत, उष्ण, वर्षा। तीन दोष—वात, पित्त, कफ अथवा सत्त्व, रज, तम। तीन सत्त्व—सात्त्विक, राजस और तामस। इन आठ त्रिकों की योजना ही 'युक्ति' है। इस युक्ति से मद्य को पीने वाला सत्त्व गुण से युक्त पुरुष मद्यपान के दोषों से युक्त नहीं होता। युक्तिपूर्वक पीने वाला सत्त्वगुणी पुरुष मद्य के सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त करता है, वह धर्म और अर्थ का बाधक भी नहीं होता।

सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे।

१. 'यथा' इति पा०। २. '-पीड़ार्थैर्नरः' इति पा०।

द्वितीये व्यक्ततां यान्ति मदे चोत्तममध्ययोः ॥ ७१ ॥

प्रथम मद में प्रायः सत्त्व (मन), जागृत होते हैं, द्वितीय, मध्यम मद में सत्त्व ईषद् व्यक्त होते हैं। उत्तम मद और मध्यम मद की सन्धि में तथा शेष मद में सत्त्व व्यक्त हो जाते हैं। उत्तम मद में फिर अव्यक्त हो जाते हैं।

सत्त्वसंबोधकं हर्षमोहप्रकृतिदर्शकम्।
हुताशः सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम् ॥ ७२ ॥
प्रधानावरमध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः।
यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥ ७३ ॥

सब प्राणियों में मद्य, सत्त्व (सात्त्विक आदि मन) को जागृत करता है, हर्ष, मोह, प्रकृति को स्पष्ट करके दिखाता है, जिसप्रकार अग्नि, स्वर्ण के उत्तम, मध्यम, अवर या निकृष्ट भेद को दिखा देता है, अग्नि में तपाने से जैसे स्वर्ण का खोटापन, खरापन जांचा जाता है, इसी प्रकार मद्य के पीने से मन का सत्त्व, रज या तमोगुण स्पष्ट हो जाता है, इसी प्रकार से मद्य पुरुष की प्रकृति को दिखा देता है।

सुगन्धिमाल्यगन्धैर्वा सुप्रणीतमनाकुलम्।
मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसंकथम् ॥ ७४ ॥
सुखप्रमाणं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्धनम्।
स्वर्तु सात्त्विकमापानं न चोत्तममदप्रदम् ॥ ७५ ॥
वैगुण्यं सहसा यान्ति मद्यदोषैर्न सात्त्विकाः।
सहसा नच गृह्णाति मदः सत्त्वबलाधिकम्।
मद्यं हि बलवत्सत्त्वं गृह्णाति सहसा न तु ॥ ७६ ॥

सात्त्विक मद—सुगन्धित माला से और गन्धों से युक्त, सुप्रणीत (मंत्र से संस्कृत या विधिपूर्वक भली प्रकार से बना), अनाकुल (स्वच्छ या शान्त), मधुर अन्न-पान से विशद (निर्मल), परस्पर मधुर, मनोज्ञ आलापों के साथ सुखपूर्वक पिया हुआ, अच्छा, मदकारक, हर्ष और प्रीति

को बढ़ाने वाला, ऋतु के अनुकूल पिया हुआ (जिस ऋतु में जैसा मद पीना चाहिये, वैसे पिया हुआ) जो उत्तम अर्थात् तृतीय अवस्था में न पहुंचावे, ऐसा मद सात्त्विक होता है। सात्त्विक प्रकृति के मनुष्य मद्य के दोषों से एक दम बहुत शील-उत्पथगामी नहीं होते। क्योंकि सत्त्व की अधिकता से मद्य से उत्पन्न होने वाले विकार उनमें सहसा उत्पन्न नहीं होते। मद्य उनके बलवान् चित्त को अपने वश नहीं करता।

सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं क्षणात्।
चित्रं राजसमापानं[1] प्रायेणास्वन्तमाकुलम्॥ ७७॥
हर्षप्रीतिकथोपेतमदुष्टं पानभोजने।

राजस मद—एक क्षण में सौम्य कथा (भली बातें) और दूसरे क्षण में असौम्य कथा (भद्दी बातें), क्षण में विशद (निर्मल प्रसन्न मन, बुद्धि) और क्षण में अविशद (अप्रसन्न), चित्र विचित्र नाना प्रकार का जल्दी जल्दी श्वास लेने वाला, आकुल (बेचैन, अस्वच्छ), हर्ष, प्रीति, कथा (वातचीत) से युक्त, पान और भोजन में दोषरहित ये राजस प्रकृति के मद के लक्षण हैं।

संमोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम्॥ ७८॥

तामस मद—तामस मद्यपान के पश्चात् सम्मोह, क्रोध और निद्रा होती है, या तो मद्यप मूर्च्छित हो जाता है या नींद में पड़ जाता है या क्रोध से पागल हो जाता है।

आपाने सात्त्विकान् बुद्ध्वा तथा राजसतामसान्।
जह्यात्सहायान्यैः पीत्वा सह दोषानुपाश्नुते॥ ७९॥

मद्यपान में सात्त्विक, राजस और तामस मद्यपान के प्रकारों को जान कर वा सात्त्विक, राजस तथा तामस प्रकृति के मनुष्यों को जान कर उन सहयोगी पुरुषों का त्याग करे जिनके साथ पीकर वह दोषों को ग्रहण करता हो। [अपने से भिन्न, निकृष्ट प्रकृति वालों के साथ मद्य

---

1. 'राजसमापन्नं' इति पा०।

पीने से मद्यजन्य दोष उत्पन्न होते हैं। सात्त्विक प्रकृति राजस प्रकृति के साथ या तामसिक प्रकृति के साथ मद्य को पीकर मद्य के अनेक निन्दनीय दोषों को प्राप्त करता है।]

सुखशीलाः सुसंभाषाः सुमुखाः संमताः सताम्।
कलासु वाक्यविशदा[1] विषयप्रवणाश्च ये ॥ ८० ॥
परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया।
प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्धयन्ति ये ॥ ८१ ॥
उत्सवादुत्सवतरं येषामन्योन्यदर्शनम्।
ते सहायाः सुखाः पाने तैः पिबन्सह मोदते ॥ ८२ ॥

सुख प्रकृति के, सभ्य भाषा बोलने वाले, सुन्दर मुख वाले सज्जनों से सम्मत (सम्मानित), नृत्य, गीत आदि कलाओं में और बातचीत करने में जो चतुर हों, विलास के शौकीन हों, जो एक दूसरे की सदा सहायता करने और बात मानने वाले, तथा जो मित्रता से एक हों, जो हर्ष, प्रीति और मधुरता से आपान-सुख को बढ़ाते हैं। जिनका परस्पर एक दूसरे का दर्शन ही उत्सव (उल्लास) से अधिक उत्तम अर्थात् प्रसन्नता देने वाला हो, वे मित्रगण पान में सुखदायक होते हैं और उन मित्रों के साथ ही मद्य का पान करते हुए पुरुष आनन्द प्राप्त करता है।

रूपगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चापि मनोरमैः।
पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः ॥ ८३ ॥

जो मनुष्य मनोहर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से युक्त, भले सहायकों के साथ मद्य का पान करते हैं वे अच्छा कर्म करने वाले पुण्यात्मा लोगों के समान हैं।

पञ्चभिर्विषयैरिष्टैरुपेतैर्मनसः प्रियैः।
देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ८४ ॥

१. 'कलास्ववाक्यविषया' इति पा०।

उचित देश में उचित काल में अन्तरात्मा (मन) के प्रसन्न होने पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के इच्छानुकूल होने पर ही मद्य का पान करना चाहिये।

स्थिरसत्त्वशरीरा ये पुराणा मद्यपान्वयाः ।
बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न ते ॥ ८५ ॥

जिन लोगों के सत्त्व (मन) और शरीर स्थिर (सारभूत) तथा जो देर के मद्य (हाला) के पीने वाले होते हैं तथा जिनको अभ्यास के कारण मद प्राप्त करने के लिये मद्य की भी बहुत अधिक मात्रा चाहिये, वे मद्य से सहसा मत्त नहीं होते।

क्षुत्पिपासापरीताश्च[1] दुर्बला वातपैत्तिकाः ।
रूक्षाल्पप्रमिताहारा विस्तब्धाः सत्त्वदुर्बलाः ॥ ८६ ॥
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः परिश्रान्ता मदक्षताः ।
स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः ॥ ८७ ॥

जो मनुष्य भूख या प्यास से पीड़ित, निर्बल, वात-पित्त प्रकृति, रूक्ष, अल्प तथा प्रमित (परिमित) आहार करने वाले, विश्रब्ध, निर्बल मन वाले, क्रोधी, अति क्षीण, थके हुए, मद के कारण पीड़ित हों वे मनुष्य थोड़े से भी मद्य से मद को प्राप्त हो जाते हैं।

ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः संभवं स्वस्वलक्षणम् ।
अग्निवेश चिकित्सां च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

हे अग्निवेश ! मदात्यय की उत्पत्ति आदि इसके पृथक् २ लक्षण और चिकित्सा का यथाक्रम उपदेश करता हूं।

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्षितः ।
रूक्षाल्पप्रमिताशी वा यः पिबत्यतिमात्रया ॥ ८९ ॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च ।
करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ॥ ९० ॥

---

१. 'प्राङ् मद्यात् क्षुत्पिपासात्ता' इति पा० ।

मदात्यय की उत्पत्ति और भेद—(१) वात-बहुल—जो व्यक्ति स्त्री-संग, शोक, भय से, भार से वा लम्बा मार्ग चलने से अति कृश हो, जो रूक्ष, अल्पभोजन, परिमित भोजन करने वाला हो वह यदि मद्य को अधिक मात्रा में सेवन करता है उस पुरुष में रूक्ष, परिणत होकर (पचा कर बदला हुआ) मद्य रात्रि में निद्रा को नष्ट करके, शीघ्रता से वात-बहुल मदात्यय को उत्पन्न कर देता है।

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः ।
विद्याद् बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ ९१ ॥

लक्षण—हिक्का (हिचकी) श्वास, शिर में कम्पन, पार्श्वशूल, रात में नींद न आना, तथा बकवाद का बहुत होना, ये वात-बहुल मदात्यय के लक्षण हैं।

तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लं वा योऽतिमात्रं निषेवते ।
अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्न्यातपप्रियः ॥ ९२ ॥
तस्योपजायते पित्ताद्विशेषेण मदात्ययः ।
लक्षणानि भवन्त्यस्य यानि तानि निबोध मे[1] ॥ ९३ ॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥ ९४ ॥
तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा ।

(२) पित्त-बहुल मदात्यय—अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण पदार्थों को खाने वाला, क्रोधी, अग्नि तथा धूप का सेवन करने वाला व्यक्ति जब तीक्ष्ण, उष्ण और अम्ल मद्य अति मात्रा में पीता है, तो उसमें पित्त-बहुल मदात्यय उत्पन्न होता है।

रोगी को तृष्णा, दाह, ज्वर, स्वेद, मोह, अतिसार, विभ्रम (चक्कर) आता, रोगी का वर्ण हरा सा हो जाता है, इसको पित्त-बहुल मदात्यय समझना चाहिये।

---

१. 'स तु वातोल्बणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा' इति पा०।

मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥ ९५ ॥
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः ।
मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति ॥ ९६ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासस्तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥ ९७ ॥

(३) कफ-बहुल मदात्यय—जो व्यक्ति मधुर, स्निग्ध और गुरुः पदार्थों का सेवन करता है, व्यायाम नहीं करता, दिन में सोता है, शय्या (बिस्तर) और आसन में सुख मानता है, वह जब अति मात्रा में तरुण, मधुर-बहुल गुड से बने या पिट्टी से बने मद्य को पीता है, तब उसमें कफ-बहुल मदात्यय रोग उत्पन्न होता है ।

लक्षण—रोगी को वमन, अरुचि, हृल्लास, तन्द्रा, स्तिमितता (अंगों का गीले वस्त्र से ढंपा सा प्रतीत होना), भारीपन तथा शरीर में शीत का अनुभव होना ये कफ-बहुल मदात्यय के लक्षण हैं ।

विषस्य ये गुणा दृष्टा सन्निपातप्रकोपणाः ।
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥ ९८ ॥
हन्त्याशु हि विषं किंचित् किंचिद्रोगाय कल्पते ।
यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः ॥ ९९ ॥
तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये ।
दृश्यते रूपवैशेष्यात्पृथक्त्वं चास्य लक्ष्यते ॥ १०० ॥

विष में जो दश गुण सन्निपात (तीनों दोषों) को कुपित करने वाले देखे जाते हैं वे दसों गुण मद्य में भी होते हैं, परन्तु विष में मद्य की अपेक्षा अधिक बलवान् होते हैं । इसलिये कुछ विष प्राणनाशक हैं और कुछ विष रोग को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अन्तिम मद (तृतीयावस्था) में आशु घातक होता है । इसलिये मदात्यय में सन्निपात के लक्षण सर्वत्र दिखाई देते हैं, रूप की विशेषता तथा दोष की प्रधानता से दोषों के लक्षण पृथक्-पृथक् भी दिखाई देते हैं ।

शरीरदुःखं बलवत्संमोहो हृदयव्यथा।
अरुचिः प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः ॥ १०१ ॥
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां विद्युत-तुल्या च वेदना।
जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः ॥ १०२ ॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः।
शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः ॥ १०३ ॥
छर्द्यतीसरहृल्लासा[1] वातपित्तकफात्मकाः।
भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम् ॥ १०४ ॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम्।
प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते ॥ १०५ ॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च।
मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत् ॥ १०६ ॥

मदात्यय के सामान्य लक्षण—शरीर में पीड़ा, बलवान् मूर्च्छा (संज्ञानाश), हृदय में पीड़ा, भोजन में रुचि न होना, निरन्तर तीव्र तृष्णा (प्यास), क्षण में शीत और क्षण में उष्णता के लक्षणों वाला (सन्निपात) ज्वर, शिर में, पार्श्वों में, अस्थि में और सन्धियों में बिजली के समान तीव्र चीरती वेदनाएं होती हैं, प्रबल जम्भाइयां, स्फुरण (धमनियों में धड़कन), वेपन (कम्पन), शरीर में थकान, छाती में रुकावट, कास, श्वास, हिचकी, रात्रि में नींद का न आना, शरीर में कम्पन, कान के रोग, मुख के रोग, आंख के रोग, त्रिकग्रह (कटी में जकड़), वमन, अतिसार, उत्क्लेश (जी मचलाना), सूखी उबकाई, वात, पित्त, कफ तीनों के लक्षणों वाला होता है, मदात्यय के रोगी को भ्रम, प्रलाप, असत् (मिथ्या) रूप दिखाई देते हैं, वह भ्रान्त चित्त होकर स्वप्न में तृण, राख, लता, पत्ते, पांशु (धूलि) से ढंपा हुआ मानता है, अपने को पक्षियों से तिरस्कृत हुआ जानता है।

१. '-सारमुत्क्लेशो' इति पा०।

वह व्याकुल करने वाले निन्दित स्वप्नों को देखता है, ये सब मदात्यय के लक्षण समझने चाहिये ।

सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम्[1] ।
दोषं मदात्यये पश्येत् तमादौ प्रतिकारयेत् ॥ १०७ ॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा क्रिया कार्या मदात्यये ।
पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः ॥ १०८ ॥

सब प्रकार का मदात्यय त्रिदोषजन्य समझना चाहिये । मदात्यय में जिस दोष की प्रधानता हो उसी दोष को सब से प्रथम शान्त करना चाहिये । अथवा मदात्यय में कफस्थान से प्रारम्भ करके फिर पित्त, वायु पर समाप्त होने वाली चिकित्सा करनी चाहिये । [क्योंकि प्रायः करके मदात्यय में कफ की प्रधानता और अन्त में पित्त और वायु प्रबल रहते हैं, इसलिये कफ की चिकित्सा प्रथम करनी चाहिये ।]

मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते ।
समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥ १०९ ॥
जीर्णान्ने मद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत् ।
प्रकाङ्क्षालाघवे जाते मद्यमस्मै[2] हितं भवेत् ॥ ११० ॥
सौवर्चलानुसंविद्धं शीतं सबिडसैन्धवम् ।
मातुलुङ्गार्द्रकोपेतं जलयुक्तं प्रमाणवत् ॥ १११ ॥

मद्य के मिथ्यापान से, अतिपान या हीन पान से जो व्याधि उत्पन्न होती है, वह मद्य के सम्यक् प्रकार से पीने पर उसी मद से शान्त हो जाती है । * मद्य-दोष की शान्ति के लिये अन्न के जीर्ण होने पर आकांक्षा तथा शरीर में लघुता उत्पन्न हो जाने पर मद्य ही देना चाहिये। इस मद्य में सौवर्चल नमक, बिड् नमक, सैन्धा नमक, गलगल का रस,

१. 'यद्' इति पा० ।
२. 'यद् यदस्मै' इति पा० ।
* 'समपीतेन तेनैव' इत्यष्टांगसंग्रहे पाठः ।

आर्द्रक का रस (या सोंठ) तथा मात्रा में शीतल जल मिला कर देना चाहिये।

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना।
मद्येनान्नरसक्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः॥ ११२॥
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम्
जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रदापयेत्॥ ११३॥
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्र[1]मम्लोपसंहितः।

तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल, विदाही गुण वाले मद्य के बहुत अधिक मात्रा में पीने से अन्न रस, उत्क्लेदित तथा विदग्ध होकर क्षार रस बन जाता है। अन्न रस क्षार होने से शीघ्र ही अन्दर जलन, ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, विभ्रम, मद उत्पन्न करता है। इसकी शान्ति के लिये मद्य ही देना चाहिये। क्योंकि क्षार बना हुआ अन्न रस, अम्ल मद्य के द्वारा पुनः मधुर और शीतल हो जाता है, अम्लों में मद्य ही अम्ल श्रेष्ठ है।

श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु॥ ११४॥

जिन गुणों से मद्य श्रेष्ठ है, उन गुणों को कहते हैं। सुनो—

मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः।
मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च॥ ११५॥
गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः।
सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति॥ ११६॥

मद्य के गुण—अम्ल स्वभाव के मद्य में लवण को छोड़ कर मधुर कषाय, तिक्त और कटु ये चार अनुरस कहे हैं। मद्य में पूर्वोक्त तीक्ष्ण आदि दस गुण तथा लघु, उष्ण, दीपक और दोषों का विष्यन्दन कारक ये चार गुण और अधिक होने से मिलित चौदह गुणों के कारण मद्य सब अम्लों से ऊपर है अर्थात् वह सब से अधिक श्रेष्ठ है, शेष अम्लों में इतने गुण नहीं हैं।

---

1. 'शीतमम्लोपसंस्कृतः' इति पा०।

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण क्रुद्धः[1] स्रोतःसु मारुतः ।
करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥ ११७ ॥
दोषविष्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः ।
व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्लेषु सत्स्वपि ॥ ११८॥

मद्य के उत्क्लेशित दोष के कारण स्रोतों में कुपित वायु शिर, अस्थि और सन्धियों में तीव्र वेदना उत्पन्न करता है । स्रोतों में स्थित मद्य से उत्क्लेशित दोष को द्रवीभूत करके स्रवित करने के लिये मद्य ही देना चाहिये । क्योंकि मद्य में व्यवायी, तीक्ष्ण और उष्ण गुण हैं इसलिये अन्य अम्ल होने पर भी विशेषकर यही देना चाहिये ।

स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम् ।
रोचनं दीपनं चाग्नेरभ्यासात्सात्म्यमेव च ॥ ११९ ॥
रसस्रोतःस्वरुद्धेषु मारुते चानुलोमिते ।
निवर्तन्ते विकाराश्च शाम्यत्यस्य मदोदयः ॥ १२० ॥

मद्य स्रोतों के विबन्ध (रुकावट) को तोड़ता है, वायु का अनुलोमक है, रोचक है, बार-बार सेवन से अग्नि का दीपक है, बार-बार पीने से आदत हो जाने पर सात्म्य (अनुकूल) हो जाता है । अतः स्रोतों के शुद्ध होने पर वायु का अनुलोमन होने से मद्य से उत्पन्न विकार शान्त हो जाते हैं, तथा मद्य का मद भी उतर जाता है और सात्म्य हो जाता है ।

बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम् ।
यमानीहपुषाजाजीशृङ्गवेरावचूर्णितम् ॥ १२१ ॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमवदंशैश्चिरोत्थितम् ।
दद्यात्सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये ॥ १२२ ॥

दोष-भेद से मद्य का प्रयोग—वात की शान्ति के लिये बीजपूरक (बिजौरा), वृक्षाम्ल (समगदाना), बेर, अनारदाना, अजवायन,

1. 'रुद्धः' इति पा० ।

हबुषा, अजाजी (जीरा), शृंगवेर (सोंठ) तथा लवण (सैन्धा नमक) से मिश्रित पुरातन मद्य को स्नेहयुक्त सत्तुओं को खाकर ऊपर से पीना चाहिये ।

दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत् ।
लावतित्तिरदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि ॥ १२३ ॥
पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां च संस्कृतैः ।
भूशयप्रसहानां च रसैः शाल्योदनेन च ॥ १२४ ॥

वात के प्रबल लक्षणों को देख कर वात-मदात्यय रोगी की मांस-रसों से चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये बटेर, तीतर, मुर्गा, मोर, पक्षियों, मृगों, मछलियों तथा आनूप प्राणियों के संस्कृत (घृतादि से संस्कृत) तथा अम्ल और स्निग्ध मांस-रसों से, भूशय (बिलेशय) और प्रसह जन्तुओं के स्निग्ध अम्ल मांस-रसों से, शालि भात से चिकित्सा करनी चाहिये, ये पदार्थ खाने को देने चाहियें ।

स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः ।
स्निग्धैर्गोधूमिकैश्चान्नैर्वारुणीमण्डसंयुतैः ॥ १२५ ॥
पिशितार्द्रकगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूप[1]वर्तिभिः ।
माषपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत् ॥ १२६ ॥

मुख के लिये स्वादु, स्निग्ध, अम्ल, लवण तथा उष्ण वेशवार बना कर देने चाहियें । वारुणी मण्ड से मिश्रित सिता (मिश्री) और आर्द्रक को बीच में रख कर गेहूं से बनाई स्निग्ध पूप और वर्त्तियां तथा उड़द की बनी कचौरियां वात-प्रकृति को देनी चाहिये ।

नातिस्निग्धं न चाम्लेन युक्तं समरिचार्द्रकम् ।
मेध्यं प्रागुदितं मांसं दाडिमस्वरसेन वा ॥ १२७ ॥
पृथक्त्रिजातकोपेतसधान्यमरिचार्द्रकम् ।
रसप्रलेह[2]यूषैश्च सुखोष्णैः संप्रदापयेत् ॥ १२८ ॥

१. 'प्रलेपि' इति पा० । २. 'धूप' इति पा० ।

न तो अति स्निग्ध, न अम्ल से सिद्ध व्यक्त मेध्य (मांस बकरी आदि का या मेदुर) मांस देना चाहिये। अथवा अनार के अम्ल रस से मेध्य मांस को खट्टा करके देना चाहिये। त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात) तथा धनिया, मरिच और सोंठ से पृथक् २ मेध्य मांस देना चाहिये। सुखोष्ण मांस रस, प्रलेह, यूष आदि के साथ मेध्य मांस देना चाहिये।

भक्तेन वारुणीमण्डं दद्यात्पातुं पिपासवे।
दाडिमस्य रसं वापि जलं वा पाञ्चमूलिकम्॥ १२९॥
धान्यनागरतोयं वा दधिमण्डमथापि वा।
अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा॥ १३०॥
कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति।
मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्धते॥ १३१॥

प्यास लगने पर पीने के लिये भात के साथ वारुणी मण्ड (वारुणी का स्वच्छ भाग) देना चाहिये, अथवा अनार का रस या कनीय पंचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरु) का क्काथ देना चाहिये अथवा धनिया और सोंठ का क्काथ देना चाहिये, अथवा दधि मण्ड (दधि-मस्तु) देनी चाहिये। अथवा अम्लीभूत कांजी का उपरितन स्वच्छ भाग देना चाहिये, अथवा शुक्तोदक देना चाहिये। मात्रा काल के अनुसार विधिपूर्वक उपचार करने से वात-मदात्यय विकार शान्त होता है, रोगी का बल और वर्ण बढ़ता है।

रागषाडवसंयोगैर्विविधैर्भक्तरोचनैः।
पिशितैः शाक[1]पिष्टान्नैर्यवगोधूमशालिभिः॥ १३२॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः।
घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः॥ १३३॥
नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः।

१. 'बहु' इति पा०।

श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः ॥ १३४ ॥
शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्मैर्[१]श्चान्तर्गृहैः सुखैः ।
मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ॥ १३५ ॥

खाने में रुचिकारक राग-षाडव आदि नाना प्रकार की वस्तुओं, मांस, शाक, गेहूं, चावल आदि से बनी वस्तुओं, पिष्टान्न (पिसान) सहित बने मांसों से उष्ण अभ्यंग (तैल मालिश), उष्ण उत्सादन (उबटन), उष्ण स्नान, घने (मोटे, गरम, प्रावरण, कम्बल आदि) से, अगरु के घने लेप से, अगरु के घने धूमों से, यौवन की उष्णिमा से, गरम स्त्रियों की श्रोणियों (नितम्ब), ऊरु तथा स्तनभारों से उष्णिमा के अवरोध होने पर स्त्रियों के निर्दयपूर्वक गाढ़ आलिंगन करने से और उष्ण विस्तरों, उष्ण आच्छादनों से, उष्ण अन्तर्गृहों से वातप्रबल मदात्यय शीघ्र शान्त होता है ।

मद्यं खर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम् ।
सदाडिमरसं शीतं सक्तुभिः स्ववचूर्णितम् ॥ १३६ ॥
सशर्करं शार्करं वा माध्वीकमथवाऽपरम् ।
दद्याद् बहूदकं काले पातुं पित्तमदात्यये ॥ १३७ ॥

पित्त-मदात्यय की चिकित्सा—(१) खजूर, मृद्वीका (द्राक्षा, दाख), फालसा इनके रसों से युक्त शीतल पैष्टिक मद्य देना चाहिये । अनार के रस से मिश्रित मद्य में सत्तुओं को घोल कर पित्त-मदात्यय में देना चाहिये । शर्करा मिश्रित मद्य देना चाहिये । किसी अन्य मद्य में माध्वीक मद्य मिला कर देना चाहिये । पित्त मदात्यय में प्यास लगने पर बहुत पानी मिला मद्य पीने के लिये देना चाहिये ।

शशान् कपिञ्जलानेणान् लावानसितपुच्छकान् ।
मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान् ॥ १३८ ॥
पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद्रसम् ।

---

२. 'रूक्षैः' इति पा० ।

सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम् ॥ १३९ ॥
द्राक्षामलकखर्जूरपरूषकरसेन वा ।
कल्पयेत्तर्पणान् यूषान् रसांश्च विविधात्मकान् ॥ १४० ॥

(२) भोजन के लिये शशक, कपिंजल पक्षी, एण (मृग), बटेर और कालपुच्छ मृगों के मांस को मधुर अम्ल बना कर भोजन में देना चाहिये। भोजन में शालि, सांठी के चावल देने चाहियें। बकरे के मांसरस में पक्क पटोल का द्रव (रस) मिला कर देना चाहिये। अथवा पटोल का यूष मिला कर देना चाहिये। अथवा बकरी के मांसरस में सतीन (मटर) और मूंग का यूष मिला कर इसको अनार के रस और आंवले के रस से खट्टा करके देना चाहिये। द्राक्षा, आंवला, खर्जूर और फालसा इनके रसों से नाना प्रकार के पेया आदि तर्पण, यूष और मांसरस बना कर देने चाहियें।

आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये ।
विज्ञाय बहुदोषस्य तृड्विदाहान्वितस्य च[1] ॥ १४१ ॥
मद्यं द्राक्षारसं तोयं दत्त्वा तर्पणमेव वा ।
निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद्विमुच्यते ॥ १४२ ॥

(३) मदात्यय में तीनों दोष कुपित होते हैं, परन्तु जब रोगी में दोषों की अधिकता हो तथा प्यास और विदाह होता हो तो आमाशय में स्थित कफ-पित्त कुपित समझने चाहियें, इसके लिये रोगी को जल में मद्य या द्राक्षा रस मिला कर अथवा सक्तु आदि से तर्पण करके सम्पूर्ण रूप में वमन कराना चाहिये। इस प्रकार से रोगी शीघ्र पित्त-मदात्यय से मुक्त हो जाता है।

काले पुनस्तर्पणाढ्यं क्रमं कुर्यात्प्रकाङ्क्षिते ।
तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः ॥ १४३ ॥

१. 'दह्यमानस्य तृष्यतः' इति पा० ।

वमन के पीछे भूख लगने पर, आहार की आकांक्षा होने पर, आहार के समय पर तर्पण क्रम (पेया-मण्ड विधि) बरतना चाहिये। इससे शेष दोष तथा अन्न को पकाने वाली अग्नि प्रदीप्त होती है।

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च[1]।
तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि ॥ १४४ ॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक्।
रसं सनागरं दद्यात्तित्तिरैः[2] प्रतिभोजनम् ॥ १४५ ॥

(४) रोगी को कास, रक्तमिश्रित थूक आने पर, पार्श्वशूल, स्तनशूल होने और प्यास लगने पर, हृदय तथा छाती में विदाह या उत्क्लेश होने पर, गिलोय, भद्रमोथा का क्वाथ, अथवा पटोल पत्र के रस में सोंठ का चूर्ण मिला कर देना चाहिये। इनके जीर्ण होने पर तीतर के मांसरस से भोजन देना चाहिये।

तृष्यते चातिबलवद्वातपित्ते समुद्धते।
दद्याद् द्राक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम् ॥ १४६ ॥
जीर्णे समधुराम्लेन छागमांसरसेन तम्।
भोजनं भोजयेन्मद्यमनुतर्षे च पाययेत् ॥ १४७ ॥
अनुतर्षस्य मात्रा सा यया नो हन्यते मनः।
तृष्यते मद्यमल्पाल्पं प्रदेयं स्याद् बहूदकम् ॥ १४८ ॥
तृष्णा येन च संशाम्येन्मदं येन च नाप्नुयात्।

(५) यदि अति बलवान् वात-पित्त के कारण मदात्यय उत्पन्न हुआ हो और रोगी को प्यास लगती हो तो शीतल द्राक्षारस पीने के लिये देना चाहिये। इससे दोषों का अनुलोमन होता है। इस द्राक्षारस के जीर्ण होने पर बकरी के मधुर अम्ल मांसरस के साथ रोगी को भोजन कराना चाहिये। इसके पीछे प्यास लगने पर मद्य देना चाहिये। अनुतर्ष अर्थात् भोजन के पीछे लगी प्यास में मद्य की इतनी मात्रा देनी चाहिये जिस

१. '-रुजोस्तथा' इति पा०। २. '-तित्तिरि' इति पा०।

मात्रा से रोगी का मन पीड़ित न हो। रोगी को प्यास लगने पर मद्य को अम्ल से खट्टा करके, बहुत सा पानी मिला कर थोड़ा थोड़ा करके ऐसे देना चाहिये जिससे तृष्णा की शान्ति हो और रोगी को मद नहीं चढ़े।

परूषकाणां पीलूनां रसं शीतमथाम्बु[1] वा ॥ १४९ ॥
पर्णिनीनां चतसृणां पिबेद्वा शिशिरं जलम्।
मुस्तदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेद्रसम् ॥ १५० ॥
कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः।
पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥ १५१ ॥

(६) फालसों का शीतल स्वरस अथवा अर्द्धश्रृत क्वाथ, पीलु का अर्धश्रृत क्वाथ या मूंगपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी और पृश्निपर्णी इन चारों पर्णिनियों के मिलित शीतल अर्धश्रृत जल देने चाहियें। मूंग, अनार और लाजा इनका अर्धश्रृत तृष्णानाशक क्वाथ पीना चाहिये। कोल (बेर), अनार, वृक्षाम्ल (इमली या समगदाना), चुक्रीका (अम्ललोटक), और चुक्रिका (चांगेरी) का स्वरस इन पंचाम्ल का मुख में लेप करना चाहिये, इससे तृष्णा शीघ्र शान्त होती है।

शीतलान्यन्नपानानि शीतशय्यासनानि च।
शीतवातजलस्पर्शः शीतान्युपवनानि च ॥ १५२ ॥
क्षौमपद्मोत्पलानां च मणीनां मौक्तिकस्य च।
चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः ॥ १५३ ॥
हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः।
पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहताः ॥ १५४ ॥
संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणां नारीणां च समारुताः।
चन्दनानां च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये ॥ १५५ ॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत्सर्वं विनियोजयेत्।

(७) शीतल खान पान, शीतल बिस्तर, शीतल आसन, शीतल वायु

1. '-मथापि वा' इति पा०।

का स्पर्श, शीतल जल का स्पर्श, शीतल बाग़-बगीचे, क्षौम (रेशम), पद्म, उत्पल, मणि, मोती, चन्दन से शीतल जल का स्पर्श, चन्द्रमा की शीतल किरणों का स्पर्श, शीतल पानी से भरे स्वर्ण, रजत या कांसी के पात्रों का स्पर्श, शीतल जल या बर्फ से भरी इति (मोटे वस्त्र या रबर की मशकों वा थैलियों) का स्पर्श, शीतल पवन के झोंके, चन्दन के लेप से लिप्त, स्त्रियों के अंगों का स्पर्श, शीतल वायु के स्पर्श, चन्दनों के लेप ये पित्त-जन्य मदात्यय में हितकारी हैं, इसी प्रकार से अन्य जो भी शीतल-क्रियायें हों उनका पित्तजन्य मदात्यय में प्रयोग करना चाहिये।

कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना।
हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते ॥ १५६ ॥

(८) इसी प्रकार मद्य से उत्पन्न दाह में चन्दन के पानी से तर कुमुद-पत्र या कमल के पत्तों का मनोनुकूल स्पर्श हितकारी है।

कथाश्च विविधाः शस्ताः शब्दाश्च शिखिनां शिवाः।
तोयदानां च संशब्दाः शमयन्ति मदात्ययम् ॥ १५७ ॥

(९) नाना प्रकार की विचित्र कथायें, पक्षियों का कल्याणकारी कल-रव और पानी का मनोहर शब्द मदात्यय को नष्ट करता है।

जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहाणि च।
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च ॥ १५८ ॥

(१०) दाह को शान्त करने के लिये वैद्य को ऐसे धारागृह बनाने चाहियें, जिनमें जल यन्त्रों (फौवारों) से चारों ओर जल बरसे, वात-यन्त्रों (कलादार पंखों Mechanical fans) से चारों ओर से शीतल वायु बहे।

फलिनीसेव्यलोध्राम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम्।
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ॥ १५९ ॥

(११) फलिनी (प्रियंगु), लोध, सेव्य (उशीर), अम्बु (ह्रीवेर), हेमपुष्प (नाग केसर), कुटन्नट (केवड़ी मोथा) इनको कालीयक-

काष्ठ के स्वरस के साथ पीस कर नूतन मिट्टी के पात्र में रख कर लेप करना चाहिये। यह लेप दाह (जलन) शान्त करने में उत्तम है।

[अष्टांगसंग्रह में कालीयक काष्ठ का स्वरस न लेकर इसको भी अन्य वस्तुओं की भांति जल से पीसने का आदेश है।] *

बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवाः।
फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं शुभम् ॥ १६० ॥

(१२) बेर के पत्तों अथवा नीम के पत्तों या फेनवाली ओषधियों को जल में मथ कर फेन बना, इस का शरीर पर लेप करने से दाह शान्त हो जाता है।

सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु।
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः ॥ १६१ ॥

(१३) मण्ड मिश्रित सुरा, दही का खट्टा पानी, मातुंलुग (बिजौरे) के रस में मधु मिला कर और अम्लकांजी इनका परिसेचन और प्रलेप करना चाहिये, ये दाह को नष्ट करते हैं।

परिषेकावगाहेषु व्यञ्जनानां च सेवने।
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये ॥ १६२ ॥

(१४) परिषेक-कार्य में अवगाहन अर्थात् स्नान कार्य मे और पंखों के सेचन (गीला करने) तथा तृष्णा और दाह की शान्ति के लिये स्वतः शीतल जल ही उत्तम है।

मात्राकालप्रयुक्तेन कर्मणाऽनेन शाम्यति।
धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः ॥ १६३ ॥

बुद्धिमान् और वैद्य के आज्ञाकारी रोगी का पित्त-मदात्यय विकार इस सिद्ध (परीक्षित) कर्म द्वारा शीघ्र शान्त हो जाता है।

---

* अष्टांगसंग्रह में 'नागपुष्प' का पाठ है। 'हेमपत्र' के स्थान पर 'हेमपुष्प' पाठ उचित है।

[अष्टांगसंग्रह में—दाह को शान्त करने के लिये रोहिणी शिरा के वेध का भी विधान है] । ❀

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत्कफमदात्ययम् ।
तृष्यते सलिलं चास्मै दद्याद् ह्रीवेरसाधितम् ॥ १६४ ॥
बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम् ।
सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम् ॥ १६५ ॥

कफमदात्यय-चिकित्सा—(१) उल्लेखन (वमन) और उपवास के द्वारा वैद्य को कफ-मदात्यय रोगों को शान्त करना चाहिये । रोगी को प्यास लगने पर ह्रीबेर (नेत्रबाला) बला, पृश्निपर्णी अथवा कण्टकारी इनमें से किसी एक से अथवा सब के साथ पके शीतल जल में सोंठ मिला कर पीने के लिये देना चाहिये ।

दुःस्पर्शेन[1] समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा ।
जलं मुस्तैः शृतं वापि दद्याद्दोषविपाचनम् ॥ १६६ ॥
एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये ।
निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम् ॥ १६७ ॥

(२) दुःस्पर्श (दुरालभा) और मुस्ता से शृत जल को अथवा पित्त-पापड़े से शृत जल को अथवा केवल मुस्ता (मोथा) से शृत जल को षडंगविधि से सिद्ध करके देना चाहिये, यह जल दोषों के पाचक हैं । ये पानी सब प्रकार के मदात्यय में खूब पीये जाकर पिपासा और ज्वर को नाश करने वाले हैं ।

निरामं काङ्क्षितं काले पाययेद् बहुमाक्षिकम् ।
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं शीधुमेव वा ॥ १६८ ॥

(३) इस दोष-पाचक जल से आम का पाचन होने पर, भूख लगने पर,

❀ अशाम्यत्यथवा दाहे रसैस्तद्वस्य जांगलैः ।
शाखाश्रयां यथान्यायं रोहिणीं व्यधयेत् सिराम् ॥ अ० सं० ॥

१. 'दुःस्पर्शितेन' इति पा० ।

भोजन के समय में बहुत मधु मिला जल वा शर्करा मिश्रित जल अथवा मधु (माधव मद्य) अथवा अरिष्ट या सीधु पिलाना चाहिये। [माक्षिक और मधु आठ प्रकार के शहदों में भिन्न २ हैं। अथवा दूसरी वार के मधु से पुराना मधु लेना चाहिये।]

रूक्षं तर्पणसंयुक्तं यमानीनागरान्वितम् ।
यवगोधूमिकं चान्नं रूक्षं यूषेण भोजयेत् ॥ १६९ ॥
कुलत्थानां सुशुष्काणां मूलकानां रसेन वा ।
तनुनाऽल्पेन लघुना कट्वम्लेनाल्पसर्पिषा ॥ १७० ॥
व्योषयूषमथाम्लं वा सिद्धं वा साम्लवेतसम् ।

(४) भोजन की इच्छा होने पर रूक्ष तर्पण से युक्त जौ और गेहूं का अन्न विना घृतादि स्नेह पदार्थ के रस से तर्पण देना चाहिये। जौ या गेहूं के रूक्ष अन्न को कुलत्थी के यूष के साथ अथवा शुष्क मूली के रस के साथ देना चाहिये। व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली) से साधित यूष, या अम्ल, कटु (मरिच आदि) से साधित और (अनार के रस या आंवले से) वा मुद्गादि के यूष में अम्लवेतस (अमलबेद) मिला कर देना चाहिये।

छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम् ॥ १७१ ॥
स्थाल्यां वाथ कपाले वा भृष्टं निर्द्रववर्तितम् ।
कट्वम्ललवणं मांसं भक्षयन्वृणुयान्मधु ॥ १७२ ॥

(५) घृतादि से रहित रूक्ष बकरी के मांसरस, जांगल पशु-पक्षियों के अम्ल मांसरस वा कड़ाहे में या मिट्टी के खपरे में भूने द्रवरहित नीरस मांस में कटु, अम्ल और लवण मिला कर रोगी को खाने के लिये देना चाहिये। इस मांस को खाते समय रोगी को मधु पीना चाहिये।

व्यक्तमारीचकं मांसं मातुलुङ्गरसान्वितम् ।
प्रभूतकटुसंयुक्तं यमानीनागरान्वितम्[1] ।

---

१. इत्यधिकः पाठः, क्वचित् न दृश्यते।

(६) बकरी या जांगल पशु-पक्षियों के मांस को पका कर इसमें मरिच चूर्ण मिला कर, गलगल के रस में तर करके, इसमें बहुत सा तिक्त पदार्थ, अजवायन और सोंठ मिला कर खाना चाहिये, इसको खाते समय मधु पीना चाहिये।

भृष्टं दाडिमपञ्चाम्लमुद्गयूषं यवाष्टमम्[1] ॥ १७३ ॥
यथाग्नि भक्षयेत्काले प्रभूतार्द्रकपेषितम् ।
पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये ॥ १७४ ॥

(७) अनार की छाल, बेर, अनार, इमली, चुक्रीका (अम्ललोटक), चुक्रिका (चांगरी) ये पांच अम्ल, मूंग का यूप और जौ इन आठों को भून कर इसमें पीसा हुआ बहुत सा अदरक मिला लेना चाहिये। भोजन के समय इसको खाकर कफजन्य मदात्यय में मद्य को यथेच्छ पीना चाहिये।

सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् ।
त्वगेलामरिचार्धांशं शर्कराभागयोजितम् ॥ १७५ ॥
एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसंदीपनं परम् ।
मदात्यये कफप्राये दद्यात्स्रोतोविशोधनम् ॥ १७६ ॥

(८) अष्टांग-लवण—सौवर्चल लवण एक तोला, अजाजी (जीरा) एक तोला, वृक्षाम्ल (इमली) एक तोला, अम्लवेतस एक तोला, दालचीनी आधा तोला, मरिच आधा तोला, बड़ी इलायची आधा तोला, शर्करा एक तोला मिला लेनी चाहिये। यह 'अष्टांग-लवण' खूब अग्नि दीपक है। यह कफजन्य मदात्यय में स्रोतों का शोधन करता है।

एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम् ।
गोधूमान्नयवान्नानां मांसानां चातिरोचनम् ॥ १७७ ॥

इसी अष्टांग लवण को युक्तिपूर्वक मधुर द्रव्यों तथा अम्ल द्रव्यों से (अनार के रस आदि से) द्रवीभूत करके खाने से गेहूं का भोजन, जौ का अन्न तथा मांस अति रोचक हो जाते हैं।

१. 'साराम्लमुद्ग' इति पा०।

पेषयेत्कटुकैर्युक्तां श्वेतां बीजविवर्जिताम् ।
मृद्वीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ॥ १७८ ॥
सौवर्चलैलामरिचैरजाजीभृङ्गदीप्यकैः ।
सरागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो रोचनदीपनः ॥ १७९ ॥

(९) श्वेता (मृद्वीका, मुनक्का) के बीज निकाल कर इसमें मरिच आदि कटु-स्कन्ध की वस्तुओं को यथापरिमाण मिला कर गलगल के रस के साथ अथवा अनार के रस के साथ पीसना चाहिये। इसमें सौवर्चल नमक, बड़ी इलायची, मरिच, जीरा, हींग और दीप्यक (अजवायन) उचित मात्रा में मिला कर तथा शहद का योग करके 'राग' बनाना चाहिये। यह राग रोचक और अग्निदीपक है।

मृद्वीकाया[1] विधानेन कारयेत्कारवीमपि ।
शुक्तमत्स्यण्डिकोपेतं रागं दीपनपाचनम् ॥ १८० ॥

(१०) मृद्वीका के अनुसार कारवी (छोटी काली दाख अथवा क्षुद्र कृष्ण जीरी) से भी राग तैय्यार करना चाहिये। मत्स्यण्डिका (राव) से मिश्रित शुक्त सन्धान से राग बनाना चाहिये।

आम्रामलकपेशीनां रागान्कुर्यात् पृथक् पृथक् ।
धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान् ॥ १८१ ॥
गुडेन मधुशुक्तेन[2] व्यक्ताम्ललवणीकृतान् ।
तैरन्नं रोचते दिग्धं सम्यग्भुक्तं च जीर्यति ॥ १८२ ॥

(११) आम की पेशी (मज्जा, गुद्दा) अथवा आंवले की पेशी से पृथक् २ राग बना कर इसमें धनिया, सौवर्चल नमक, जीरा, काली जीरी और मरिच, गुड़ अथवा मधुशुक्त मिला कर खट्टे, मीठे राग तैय्यार करने चाहियें, इससे आहार द्रव्य, अन्न, शाकादि खाने में स्वादिष्ट लगते हैं, इसी लिये इसको 'राग' कहते हैं। [साधारण भाषा में इसको 'अचार'

१. '-कानां' इति पा० । २. 'मधुयुक्तेन' इति पा० ।

कहते हैं।] इन रागों से मिश्रित अन्न रुचिकर होता तथा खाने पर भली प्रकार से जीर्ण हो जाता है।

रूक्षोष्णेनाम्लपानेन स्नानेनाशिशिरेण च।
व्यायामलङ्घनाभ्यां च युक्ताभ्यां जागरेण तु ॥ १८३ ॥
कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च।
प्राणवर्णकराणां च प्रघर्षाणां च सेवया[1] ॥ १८४ ॥
सेवया वसनानां च गुरूणामगुरोरपि[2]।
सकामोष्णसुखाङ्गीनामङ्गनानां च सेवया ॥ १८५ ॥
सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च।
मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रमेवोपशाम्यति ॥ १८६ ॥

(१२) रूक्ष और अम्ल खानपान से, उष्ण (गरम) या शीतल स्पर्श से, व्यायाम से, लंघन से, युक्तिपूर्वक जागने से (दिन में न सोने से), समय पर रूक्ष स्नान और रूक्ष उद्वर्त्तन (उबटन) करने से, प्राणकारक, वर्णकारक तथा आनन्ददायक बातों के सेवन से, भारी वस्त्रों के धारण करने से, अगरु का गाढ़ा लेप करने से, संकोच के कारण उष्ण तथा सुखदायक अंगों वाली स्त्रियों के सेवन से, हाथ पांव अदि के मसलने में जिन स्त्रियों के हाथ शिक्षित हैं उनके द्वारा शरीर के मर्दन होने से कफजन्य मदात्यय शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति।
सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा ॥ १८७ ॥

एक एक दोष की प्रधानता से जो-जो चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा शेष द्वि-दोषज (हीन, मध्य, अधिक दोष भेद से छः प्रकार के) तथा सम-त्रिदोषज वा सन्निपातजन्य दश प्रकार के मदात्यय में दोष के न्यून, अधिक वा मध्य की परीक्षा करके दोषानुसार करनी चाहिये।

---

१. २. स्नानवर्णकवासानां प्रहर्षाणां च सेवया।
प्राणवर्णकराणां च गुरूणामगुरोरपि ॥ इति पा० ॥

यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित् ।
स साध्यान्साधयेद् व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित् ॥१८८॥

दोष भेदों, ओषधि भेदों तथा साध्य और असाध्य के लक्षणों को पृथक् २ समझने वाला वैद्य ही साध्य रोगों की चिकित्सा कर सकता है ।

सामान्य उपचार

वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः ।
विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥ १८९ ॥
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च ।
गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठयश्च हृदयप्रियाः ॥ १९० ॥
संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः ।
प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥ १९१ ॥

रमणीय वन, कमलिनी से भरे जलाशय, स्वच्छ और उत्तम खान-पान, आनन्दित करने वाले सहायक, मालायें, नाना प्रकार के सुगन्ध योग, नाना प्रकार के स्वच्छ वस्त्र, गायकों की मनोहर संगीत-ध्वनियां, मनोज्ञ तथा हृदय को प्रिय गोष्ठियां, कथाएं (आख्यायिकायें), गाना-बजाना, हास्य, निर्मल आनन्ददायक मजलिसें (पिकनिक्स) अपने अनुकूल प्रिय स्त्रियां ये सब साधन मदात्यय को नाश कर देते हैं ।

नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमवहत्य च ।
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया ॥ १९२ ॥
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः ।
न चेन्मद्यविधिं हित्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत् ॥ १९३ ॥

क्योंकि मद्य मन को विना विक्षोभित किये तथा विना शरीर का नाश किये मदात्यय रोग को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये हर्षकारक क्रियायें अवश्य करनी चाहियें । इन उपरोक्त सिद्ध, फलदायक क्रियाओं से यदि मदात्यय शान्त न हो तो मद्य-विधि को छोड़ कर दूध का प्रयोग करना चाहिये ।

लङ्घनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि ।
विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे ॥ १९४ ॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य वा ।
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ॥ १९५ ॥
पयसाऽभिहते रोगे बले जाते निवर्तयेत् ।
क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ॥ १९६ ॥

दुग्धोपचार—लंघन, पाचन, दोषों के शोधन, शमन क्रिया से कफ के क्षीण हो जाने पर तथा शरीर में दुर्बलता और हल्कापन आ जाने पर और इस मद्य से विदग्ध पुरुष में वात-पित्त की अधिकता होने पर दूध देना, गरमी से जले वृक्ष के लिये बरसात के समान होता है। मदात्यय रोग में दूध देने पर जब रोगी में बल आ जाये तब दूध के प्रयोग को बन्द करके थोड़ा-थोड़ा मद्य क्रमशः देना आरम्भ करना चाहिये। दूध का प्रयोग भी शनैः-शनैः क्रमशः कम करना चाहिये। इस प्रकार से जितनी कमी दूध में करें उतनी ही मद्य में बढ़ती करते जाना चाहिये।

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते ।
ध्वंसो विक्षेपकश्चैव[1] रोगस्तस्योपजायते ॥ १९७ ॥
व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ मतौ ।
तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च यथावदुपदेक्ष्यते ॥ १९८ ॥

ध्वंसक और विक्षेपक रोगों की उत्पत्ति—जो मनुष्य दूध के प्रयोग से मद्य का विच्छेद होने पर सहसा पुनः अति मात्रा में मद्य को पीता है उस को ध्वंसक और विक्षेप नामक दो रोग हो जाते हैं। रोग के कारण क्षीण शरीर वाले व्यक्ति में ये दोनों रोग कष्टसाध्य होते हैं। इन रोगों के लक्षण और चिकित्सा का यथाविधि आगे उपदेश करते हैं।

---

१. 'विट्क्षयश्चैव' इति पा० ।

श्लेष्मप्रसेकः[1] कण्ठस्य शोषः शब्दासहिष्णुता।
तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥ १९९॥

ध्वंसक रोग के लक्षण—मुख और नासिका से कफ का स्राव, गले और मुख में शुष्कता, शब्द का न सहना, मूर्च्छा, अति तन्द्रा और नींद का आना ये 'ध्वंसक' रोग के लक्षण हैं।

हृत्कण्ठरोगः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः।
तृष्णा कासः शिरश्शूलमेतद्विक्षेप[2]लक्षणम्॥ २००॥

विक्षेप रोग के लक्षण—हृदय, कण्ठ और छाती में पीड़ा, व्यामोह (मूर्च्छा), वमन, अंगों में पीड़ा, ज्वर, प्यास, कास और शिर में दर्द ये विक्षेप रोग के लक्षण हैं। [सुश्रुत में भी—मद्य को एक वार छोड़ने वाला व्यक्ति जब पुनः सहसा मद्य पीता है, तब उसमें इन दोनों रोगों के केवल लक्षण उत्पन्न होने का उल्लेख किया है परन्तु वहां पर विशेष रोग के नाम-रूप नहीं लिखे।

सुश्रुत में—परमद, पानाजीर्ण और पानविभ्रम ये तीन रोग पानात्यय से उत्पन्न होते बतलाये हैं। चरक में उनका वर्णन नहीं है। सुश्रुत में—वात, पित्त, कफ और सन्निपातज पानात्यय के लक्षण कहे हैं। वहां पर द्व्युल्बण, हीन, मध्य, अधिक, सम दोष वाले दस प्रकार के सन्निपातों के लक्षण समझने चाहियें। वातपित्तोल्बण सन्निपात को 'पानाजीर्ण', कफवातोल्बण सन्निपात को 'परमद' और पित्तकफोल्बण सन्निपात को 'पानविभ्रम' रोग समझना चाहिये।

मद्य के अति सेवन से उत्पन्न रोग को सुश्रुत में 'मद्य-विभ्रम' नाम से कहा है। जैसे—

जायन्ते मोहनिद्रार्त्ता मद्यस्यातिनिषेवणात्।
स मद्यविभ्रमो नाम्ना 'मद' इत्यभिधीयते॥]

---

१. '-प्रकोपः' इति पा०। २. 'विट्क्षय-' इति पा०।

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये ।
तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायते दुर्बलस्य वै ॥ २०१ ॥
बस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगः क्षीरसर्पिषोः ।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातनुत् ॥ २०२ ॥
विक्षेपको ध्वंसकश्च[1] कर्मणाऽनेन शाम्यति ।

चिकित्सा—वातिक मदात्यय में जो चिकित्सा विधि बताई है, वही चिकित्सा ध्वंसक और विक्षेप रोगों में भी बरतनी चाहिये । वे दोनों रोग निर्बल और क्षीण शरीर वाले रोगियों को हो जाते हैं उनको बृंहण बस्तियां, घृत-पान, क्षीर, सर्पि-प्रयोग तथा वातनाशक अभ्यंग, उद्वर्त्तन, स्नान और अनुपान करना वातनाशक है इससे ध्वंसक और विक्षेप दोनों रोग शान्त हो जाते हैं ।

युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ॥ २०३ ॥

सम्यक् प्रकार से मद्य का प्रयोग करने वाले को मद्यजन्य रोग उत्पन्न नहीं होते ।

निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यः स्याज्जितेन्द्रियः ।
शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥ २०४ ॥

सब प्रकार के (युक्त तथा अयुक्त) मद्य से निवृत्त तथा जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् मनुष्य को शारीरिक और मानसिक विकार (रोग) नहीं लगते ।

तत्र श्लोकाः । यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा ।
यद्-द्रव्या यस्य या चेष्टा योगं चापेक्षते यथा ॥ २०५ ॥
यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा ।
यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥ २०६ ॥
ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः ।
यच्च त्रिविधमापानं यथासत्वं च लक्षणम् ॥ २०७ ॥

1. 'ध्वंसको विट्क्षयश्चैव' इति पा० ।

ये सहायाः सुखाः पानेऽभिरक्षिप्रमदा नराः ।
मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणं च यथायथम् ॥ २०८ ॥
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः ।
सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते ॥ २०९ ॥

उपसंहार—यह भगवती सुरा जिससे उत्पन्न हुई, जिस प्रकार से इसको पीना चाहिये, जिस द्रव्य से बनती है, जिसकी जैसी चेष्टा, जिस प्रकार से मद उत्पन्न करती है, जिन उत्तम गुणों से युक्त है, जो मद तथा जो २ मद के भेद हैं और अपने अपने लक्षणों के जो तीन २ मद हैं, जो मद्यजन्य दोष तथा मद्य से उत्पन्न होने वाले गुण, जो तीन प्रकार का आपान, सत्त्व (चित्त) के अनुसार उसका लक्षण, जो सुखदायक सहायक, रक्षक वा स्त्रियां हैं, मदात्यय के कारण, मदात्यय के लक्षण, मद्य, जिस प्रकार मद्य से उत्पन्न रोगों को नष्ट करता है, जो मदात्यय की चिकित्सा का क्रियाक्रम (चिकित्सा विधि) है, इन सब विषयों का सम्पूर्ण रूप में इस 'मदात्यय-चिकित्सा-विज्ञान' में उपदेश कर दिया है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
मदात्ययचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'द्विव्रणीय-चिकित्सित' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

परावरज्ञमात्रेयं गतमानमदव्यथम् ।

अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमब्रवीत्[1] ॥ ३ ॥
भगवन् पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे ।
तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च वक्तुमर्हसि शर्मद ॥ ४ ॥

परावरज्ञ (सर्वज्ञ), मान, मद और व्यथा से रहित गुरु आत्रेय के प्रति अग्निवेश ने विनय से यह निवेदन किया—भगवन् ! 'रोग-संग्रह' नाम अष्टोदरीय (सू० अ० १९) अध्याय में दो प्रकार के व्रण बतलाये हैं। हे समस्त प्राणियों को सुख देने हारे ! अब आपको इन व्रणों के लक्षण और चिकित्सा कहनी चाहिये ।

इत्यग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् ।
यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥ ५ ॥
श्रूयतां विधिवत्सौम्य तयोर्लिङ्गं च भेषजम् ।

अग्निवेश का वचन सुनकर भगवान् आत्रेय बोले—निज और आगन्तु रूप से जो दो प्रकार के व्रण प्रथम कहे हैं हे सौम्य ! इनके शास्त्रानुसार लक्षण और चिकित्सा सुनो ।

निजः शरीरदोषोत्थः आगन्तुर्बाह्यहेतुजः ॥ ६ ॥

निज—शरीरस्थ दोष, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न व्रण 'निज' और बाह्य हेतु से उत्पन्न व्रण 'आगन्तु' कहाते हैं ।

वधबन्धप्रतनादंष्ट्रादन्तनखक्षतात् ।
आगन्तवो व्रणास्तद्वद्विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ॥ ७ ॥
मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते ।
लिङ्गैकदेशैर्निर्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणाः ॥ ८ ॥

बाह्य व्रण के कारण—वध से, बन्धन से, गिरने से, दंष्ट्रा के क्षत से, दांत और नख के क्षत से, विष के स्पर्श से, अग्नि से और शस्त्र से 'आगन्तु' व्रण उत्पन्न होते हैं । ये आगन्तु व्रण मंत्र, अगद और प्रलेपों से शान्त होते हैं, लक्षण सहित एक देश में रहते हैं, (आगन्तु व्रण

1. '-मुक्तवान्' इति पा० ।

प्रथम एक देश में उत्पन्न होते हैं, पीछे से वात आदि दोषों से युक्त होते हैं) तथा कारण से 'निज' व्रणों से विपरीत होते हैं।

व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम्[1]।
कुर्याद्दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथा ॥ ९ ॥

निज (शरीर दोष से उत्पन्न) व्रण आगन्तु व्रणों के कारणों से विपरीत कारणों से उत्पन्न होते हैं। निज और आगन्तु व्रग जो मंत्रादि से शान्त नहीं होते, उनकी निज व्रणों की भांति दोष और बल की अपेक्षा से औषध करनी चाहिये।

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम्।
बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान्व्रणान् ॥ १० ॥

अपने २ बाह्य कारणों (व्यायाम आदि) से वात, पित्त और कफ दूषित होकर बहिर्भाग का आश्रय लेकर शरीर में निज व्रणों को उत्पन्न करते हैं।

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ ११ ॥

वातजन्य व्रण के लक्षण—वातजन्य व्रण स्तब्ध, स्पर्श में कठोर, थोड़ा और धीमे स्राव वाला, अति वेदना से युक्त होता है, इसमें चुभने के समान वेदना होती है, स्फुरण होता है, व्रण का रंग श्याव (लाल-काला) होता है।

संपूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः।
प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत् ॥ १२ ॥

वात-व्रण की चिकित्सा—सम्पूरण अर्थात् वातहर द्रव द्रव्यों से, स्नेह-पानों से, स्निग्ध (चिकने), स्वेदकारक उपनाहों (पुलटिसों) से, स्निग्ध प्रलेपों और स्निग्ध परिषेकों द्वारा वात-व्रण की चिकित्सा करनी चाहिये।

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्य[2]वदारणैः।

---

१. 'असाध्यताम्' इति पा०। २. 'दुष्टावदा-' इति पा०।

व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रावैश्च[1] पूतिकैः ॥ १३ ॥

पित्तजन्य व्रण के लक्षण—तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा, ज्वर, क्लेद (स्राव), जलन, दुष्टि, अवदारण (फटने चिरने की सी प्रतीति), अति दुर्गंध युक्त पीप और सड़ी गन्ध ये पैत्तिक व्रण के लक्षण हैं।

शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः प्रदेहपरिषेचनैः ।
सर्पिःपानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम् ॥ १४ ॥

पैत्तिक व्रण की चिकित्सा—शीतल, मधुर और स्निग्ध लेप शीतल, मधुर और स्निग्ध परिषेचन और घृत के पान और विरेचनों द्वारा पैत्तिक व्रण को शान्त करना चाहिये ।

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥ १५ ॥

कफजन्य व्रण के लक्षण—बहुत पिच्छिल, गुरु, स्निग्ध, स्तिमित (गीला सा प्रतीत हो) तथा मन्द २ वेदना वाला, पाण्डु वर्ण, थोड़ी सी क्लिन्नता (आर्द्रता) से युक्त, देर में पकता और देर में ही शान्त होता है।

कषायकटुरूक्षोष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः ।
कफव्रणं प्रशमयेत्तथा लङ्घनपाचनैः ॥ १६ ॥

इसके लिये कसैले, कटु, रूखे, उष्ण प्रलेपों, कषाय कटु, रूक्ष उष्ण परिषेचनों तथा रोगी को लंघन और शोधन (वमन, विरेचन आदि) कराके कफ-व्रणों की चिकित्सा करनी चाहिये । *

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ताः विंशतिर्व्रणाः ।
तेषां परीक्षा त्रिविधा प्रदुष्टा द्वादश स्मृताः ॥ १७ ॥
स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः परिस्रावाश्चतुर्दश ।
षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा ॥ १८ ॥

---

१. 'गन्धस्रावैश्च' इति पा० ।

* अष्टांग-संग्रह में रक्त को भी मिला कर विशेष रूप से व्रण पन्द्रह प्रकार के कहे हैं ।

तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत्समुदाहृताः ।
विभज्यमानान् शृणु मे[1] सर्वानेतान् यथोदितान् ॥ १९ ॥

व्रण दो प्रकार के हैं, तो भी अनेकानेक भेद होने से वे बीस प्रकार के कहे जाते हैं । इनकी परीक्षा तीन प्रकार की है । दूषित व्रण बारह हैं, व्रणों के स्थान आठ हैं, व्रणों की गन्ध आठ प्रकार की होती है, व्रणों के स्राव १४ प्रकार के होते हैं, व्रणों के उपद्रव सोलह और व्रणों के दोष चौबीस, सिद्ध उपक्रम ३६ प्रकार के जाने और कहे हैं । इन सब का पृथक् २ उपदेश करता हूं, सुनो—

कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टस्तथा मर्मस्थितोऽनवः ।
संवृतो दारुणोत्सन्नः[2] सविषो विषमस्थितः ॥ २० ॥
अस्राव्युत्सङ्ग्यथैवैषां[3] व्रणान् विद्याद्विपर्ययात् ।
इति नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः ॥ २१ ॥

बीस प्रकार के व्रण—(१) कृत्य (सुखपूर्वक छेदन मात्र से अच्छे होने वाले), इसके विपरीत (२) अकृत्य (विरोपणीय), दुःख से क्रिया साध्य (३) उत्कृत्य (असाध्य) इसके विपरीत (४) अनुत्कृत्य याप्य, (५) दुष्ट, इसके विपरीत (६) अदुष्ट, (७) मर्म स्थित, इसके विपरीत (८) अमर्मस्थित, (९) नव, इसके विपरीत (१०) पुरातन, (११) संवृत (ढका हुआ, बन्द), इसके विपरीत (१२) असंवृत (न ढका हुआ), (१३) दारुणोत्सन्न, इसके विपरीत (१४) अदारुणोत्सन्न, (१५) सविष, इसके विपरीत (१६) निर्विष, (१७) विषम स्थित, इसके विपरीत (१८) समस्थित, (१९) अस्रावि-उत्संगी इसके विपरीत (२०) स्रावि-उत्संगी; इस प्रकार से कृत्य आदि दस व्रणों के विपर्यय से शेष दस व्रणों को भी समझना चाहिये, इस प्रकार से कुल बीस प्रकार के व्रण हो जाते हैं ।

१. 'विभाज्यमानाः शृणु तान्' इति पा० । २. 'दारुणः स्रावी' इति पा० ।
३. 'स्ववसङ्ग्युत्सन्न' इति पा० ।

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता ।
वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात् ॥ २२ ॥
हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः ।
स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये ॥ २३ ॥

व्रण-परीक्षा—व्रणों की परीक्षा तीन प्रकार की है। (१) दर्शन से अर्थात् चक्षु इन्द्रिय द्वारा (२) प्रश्न से अर्थात् रोगी से पूछ कर और (३) स्पर्श से ।

इनमें (१) दर्शन-परीक्षा—रोगी की आयु, शरीर की अवस्था तथा इन्द्रियों की परीक्षा आंख से देख कर की जाती है। (२) रोगी से पूछ कर—हेतु अर्थात् रोग की उत्पत्ति का कारण, क्या पदार्थ पीड़ाजनक और क्या सात्म्य अर्थात् आराम देने वाले हैं तथा अग्नि-बल अर्थात् भोजन पचने न पचने की बात, यह रोगी से पूछ कर जाननी चाहिये। (३) मृदुता शीतलता, कठोरता या उष्णिमा की परीक्षा स्पर्श द्वारा करनी चाहिये ।

श्वेतोऽवसन्नचर्म्मा[1]ऽतिस्थूलचर्म्मा[1]ऽतिपिञ्जरः ।
नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः ॥ २४ ॥
रौप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टाः द्वादश व्रणाः ।
कल्पेनानेन दोषाणां चतुर्विंशतिरुच्यते ॥ २५ ॥

बारह प्रकार के प्रदुष्ट व्रण—(१) श्वेत, (२) अवसन्न-चर्म्मा, (३) अतिस्थूल-चर्मा, (४) अति पिञ्जर, (५) नील, (६) श्याव, (७) अतिपीड़क, (८) रक्त, (९) कृष्ण, (१०) अतिपूतिक, (११) रौप्य * (१२) कुम्भीमुख ये बारह प्रकार के प्रदुष्ट व्रण होते हैं। ये ही प्रदुष्ट व्रण, कारण-भेद से २४ प्रकार के हो जाते हैं।

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः ।

* रौप्य का लक्षण—रूढाः व्रणाः प्रकुप्यन्ति ह्यन्तर्दोषा पुनः पुनः ।
बहिर्दुष्टा भवन्त्येव रौप्यास्ते हि प्रकीर्तिताः ॥

१. 'वर्त्मा' इति पा० ।

व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे ॥ २६ ॥

व्रण के आठ स्थान—(१) त्वचा, (२) सिरा, (३) मांस, (४) मेद, (५) अस्थि, (६) स्नायु, (७) मर्म, (८) अन्तर (आभ्यन्तर) ये व्रणों के आठ आश्रय अर्थात् स्थान संक्षेप में कहे हैं।

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः ।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः ॥ २७ ॥

व्रण के आठ प्रकार के गन्ध—(१) घृतगन्ध, (२) तैल-गन्ध, (३) वसागन्ध, (४) पूयगन्ध, (५) रक्तगन्ध, (६) श्याव गन्ध (दही के खटास के समान गन्ध, अथवा स्राव गन्ध, शव के समान सड़ी गन्ध), (७) अम्लगन्ध, (८) पूतिगन्ध, व्रण की यह आठ प्रकार की गन्ध व्रण-गन्धज्ञ विद्वानों ने बतलाई हैं।

लसीकाजलपूयासृग्घरिद्रा[१]रुणपिञ्जराः ।
कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः ॥ २८ ॥
इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश ।

व्रणों के चौदह प्रकार के स्राव—(१) लसीका स्राव, (२) जलस्राव, (३) पूयस्राव, (४) रक्तस्राव, (५) हरिद्रास्राव, (६) अरुणस्राव, (७) पिंजर (धूसर) स्राव, (८) कषाय स्राव, (९) नील स्राव, (१०) हरित स्राव, (११) स्निग्ध स्राव, (१२) रूक्ष स्राव, (१३) सित स्राव, (१४) असित स्राव इस प्रकार से व्रणों के चौदह स्राव हैं।

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ॥ २९ ॥
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ।
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ॥३०॥
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ताः व्रणानां व्रणचिन्तकैः ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण च ।

१. 'ग्घरिता' इति पा० ।

व्रणों के सोलह उपद्रव—(१) विसर्प, (२) पक्षवात, (३) शिरःस्तम्भ, (४) अपतानक, (५) मोह, (६) उन्माद, (७) व्रण में पीड़ा, (८) ज्वर, (९) तृष्णा, (१०) हनुग्रह, (११) कास, (१२) छर्दि, (१३) अतिसार, (१४) हिक्का, (१५) श्वास और (१६) कम्पन, व्रणों का विचार करने वाले विद्वानों ने ये सोलह उपद्रव व्रण के कहे हैं।

स्नायुक्लेदात्सिराक्लेदाद् गाम्भीर्यात्कृमिभक्षणात् ॥ ३१ ॥
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात् सविषत्वादतर्कणात्[१] ।
नखकाष्ठावबाधाच्च[२] चर्मलोमाभिघट्टनात् ॥ ३२ ॥
मिथ्याबन्धादतिस्नेहादतिभैषज्यकर्षणात् ।
अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात् ॥ ३३ ॥
शोकात्क्रोधाद्दिवास्वप्राद्व्यायामान्मैथुनात्तथा ।
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥ ३४ ॥

आरोग्य न होने में व्रणों के चौबीस दोष—(१) स्नायु-क्लेद से, (२) शिरा-क्लेद से, (३) गम्भीरता (व्रण की गहराई) से, (४) कृमिभक्षण से, (५) अस्थिभेद से, (६) व्रण में शल्य रहने से, (७) व्रण में विष का संसर्ग रहने से, (८) अतर्कण (पता न लगने से वा 'असर्पण' मल न बहने से), (९) नख की पीड़ा से (खुजाने आदि से), (१०) काष्ठ (लकड़ी आदि) की पीड़ा पहुंचने से, (११) मर्म के अभिघट्टन (चोट लगने) से, (१२) लोम के अभिघट्टन से, (१३) मिथ्या बन्धन से, (१४) अति स्नेहन से, (१६) अतिभैषज्य (अति सौहित्य) होने पर भी शरीर में कर्षण होने से, (१६) अजीर्ण से, (१७) अतिभोजन से, (१८) विरुद्ध भोजन से, (१९) असात्म्य भोजन से, (२०) शोक से, (२१)

१. '-दसर्पणात्, -त्वाच्च सर्पणात्' इति पा० ।
२. 'काष्ठप्रभेदाच्च' इति पा० ।

क्रोध से, (२२) दिन में सोने से, (२३) मैथुन के कारण क्षोभ (विक्षोभ) होने से और (२४) प्राणियों के निष्क्रिय होने से इन चौबीस कारणों से व्रण शान्त नहीं होते ।

परिस्रवाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह ।
व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते ॥ ३५ ॥

परिस्राव के कारण से, गन्ध के कारण से, दोष के कारण से और उपद्रवों से, बहुत दोषों वाले व्रण कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं ।

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ।
धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः ॥ ३६ ॥

त्वचा या मांस में उत्पन्न सुख देश अर्थात् जहां पर व्रण होने से अधिक कष्ट न हो और दवाई आदि सुखपूर्वक रक्खी जा सके, जैसे—गुदा, नितम्ब, त्रिक, ललाट (माथा), ओष्ठ, पेट आदि अवयवों में, तरुण (युवा व्यक्ति), उपद्रव रहित, बुद्धिमान् व्यक्ति के नूतन व्रण काल में (हेमन्त या शिशिर काल में) सुखसाध्य होते हैं ।

गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ।
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥ ३७ ॥

सुखसाध्य व्रण के गुणों अर्थात् लक्षणों में से बहुत से लक्षणों से हीन व्रण कष्टसाध्य होता है, तथा सब गुणों से हीन व्रण को असाध्य व्रण समझना चाहिये । यह असाध्य व्रण चिकित्सा के अयोग्य है ।

व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम् ।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्बस्तिभिरेव च ॥ ३८ ॥
सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः ।
यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान् ॥ ३९ ॥

व्रणों के ३६ उपक्रम—पुरुष के बल के अनुरूप व्रण-रोगी पुरुषों को ऊर्ध्वभागों से वा अधोभागों से शोधन तथा शस्त्र या बस्ति द्वारा शोधन करना चाहिये । क्योंकि शुद्ध शरीर वाले पुरुषों के व्रण शीघ्र ही

शान्त हो जाते हैं। इसके आगे क्रम से सम्पूर्ण (३६) उपक्रमों का श्रवण करो।

शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्मावपीडनम्।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणा[1] ॥ ४० ॥
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ।
द्वे तैले च घृते पत्रं छादने[2] द्वे च बन्धने ॥ ४१ ॥
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः।
कठिन्यमार्दवकरे धूपने लेपने शुभे ॥ ४२ ॥
व्रणावचूर्णनं व्रण्यं लेपनं लोमरोपणम्।
इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टाः व्रणानां समुपक्रमाः ॥ ४३ ॥

(१) शोफनाशक छः कर्म, (२–७) ६ प्रकार का शस्त्र-कर्म, (८) अवपीड़न, (९) निर्वापण, (१०) संधान, (११) स्वेदन, (१२) शमन, (१३) एषणा, (१४) शोधन कषाय, (१५) रोपण कषाय, (१६) शोधन प्रलेप, (१७) रोपण प्रलेप, (१८) शोधन तैल, (१९) रोपण तैल, (२०) शोधन घृत, (२१) रोपण घृत, (२२) पत्र छादन, (२३–२४) दो प्रकार का बन्धन (बायां और दायां), (२५) भोज्य, (२६) उत्सादन, (२७–२८) दो प्रकार का दाह, क्षार से और शलाका से, (२९) अवसादन, (३०) काठिन्यकर धूपन, (३१) मार्दवकर धूपन, (३२) काठिन्यकर लेपन (३३) मार्दवकर लेपन, (३४) व्रणावचूर्णन, (३५) व्रण्य लेपन और (३६) लोमरोपण, व्रणों के ये ३६ प्रकार के उपक्रम अर्थात् उपचार हैं। ❀ [सुश्रुत में व्रणों के साठ उपक्रम बतलाये हैं।]

---

१. '-मेव च' इति पा०।

२. 'द्वौ स्नेहौ तद्गुणौ पत्रच्छेदने' इति पा०।

❀ शोथघ्न छः क्रियाएं—रक्तावसेचन, संशोधन, लंघन, कषाय, सर्पि, निर्वापण और पाचन ये छः शोथघ्न क्रिया हैं।

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः ।
रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥ ४४ ॥
शोधयेद् बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत् ।

व्रणों के पूर्वरूप—व्रण में शोथ आदि देख कर वैद्य को सब से प्रथम व्रण बनने के पूर्व उसकी शान्ति के लिये, प्रारम्भ में ही (जलौकादि से) रक्तमोक्षण करना चाहिये। बहुत दोष वाले व्रणों का ऊर्ध्व-शोधन और अधः-शोधन करना चाहिये, अल्प दोष वालों को लंघन कराना चाहिये।

पूर्वं कषायैः सर्पिर्भिर्जयेद्वा मारुतोत्तरम् ॥ ४५ ॥
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।
ससर्पिष्कः प्रलेपः स्याच्छोफनिर्वापणः परः ॥ ४६ ॥

शोफघ्न उपक्रम—(१) वात-प्रधान व्रणशोथ में रक्तावसेचन और लंघन के अतिरिक्त कषायों या घृतों से चिकित्सा करनी चाहिये।

गूलर, बरगद, पीपल, पिलखन, अम्लवेतस इनकी छालों को जल के साथ पीस कर घृत में मिला कर लेप करना चाहिये, यह लेप अति उत्तम शोथनिवारक है। *

विजया मधुकं वीरा बिसग्रन्थिः शतावरी ।
नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात्सचन्दनः ॥ ४७ ॥

(२) विजया (शक्रासनपत्र अथवा भांग), मुलहठी, वीरा (शतावरी या पृश्निपर्णी), बिस ग्रन्थि, शतावरी, नीला कमल, नागकेशर और चन्दन इनको जल में पीस कर घृत में मिला कर लेप करना चाहिये।

सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात्सशर्करः।

---

* प्रलेप दस प्रकार के हैं—स्नैहिक, निर्वापण, प्रसादन, स्तम्भन विलायन, पाचन, पीड़न, शोधन, रोपण और सवर्णीकर। अ० सं० अ० ३०।

अविदाहीनि चान्नानि शोफे भेषजमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

(३) जौ के सत्तू, मुलहठी, घृत तथा शर्करा इनका लेप करना और अविदाही खानपान का सेवन ये आम-शोथ की शान्ति के लिये औषधियां हैं।

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत् ।
तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥ ४९ ॥

उपनाह द्वारा पाटन—यदि आम व्रणशोथ इस उपरोक्त चिकित्सा करने से शान्त न हो तो इसको उपनाहों द्वारा पकाना चाहिये। पकने पर इसका पाटन करना हितकारी है। उपनाह के कारण अविदग्ध शोथ शान्त हो जाता है और विदग्ध शोथ पक जाता है।

तैलेन सर्पिषा वापि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका ।
सुखोष्णा शोथपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥ ५० ॥

पाचन उपनाह—(१) यवादि के सत्तुओं को जल में पका कर तिल तैल और घृत अथवा केवल तैल या घृत मिला कर बनाई पिण्डिका की सुहाती हुई गरम-गरम पुलटिस व्रण शोथ पर बांधनी चाहिये, यह व्रण को पकाने के लिये उत्तम है।

सतिला सातसीबीजदध्यम्ला सक्तुपिण्डिका ।
सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने ॥ ५१ ॥

(२) कृष्ण तिल, अलसी, सुरा का किण्व, कूठ, सैन्धव से युक्त जौ आदि के सत्तुओं की पिण्डिका को दधि के अम्ल से खट्टा करके उपनाहन के रूप में व्रण-शोथ को पकाने के लिये बांधना उत्तम है।

रुग्दाहरागतोदैश्च विदग्धं शोफमादिशेत् ।

पच्यमान शोथ—जिस समय व्रण शोथ में वेदना, जलन, राग (लालिमा) और तोद (चिऊंटियों के दंश के समान वेदना) हो तो शोफ की विदग्ध अवस्था समझनी चाहिये।

जलबस्तिसमस्पर्शं संपक्वं पीडितोन्नतम् ॥ ५२ ॥

पक्व शोथ—जब शोथ में जलवस्ति (जल से भरी थैली) के समान स्पर्श हो, एक स्थान पर दबाने से दूसरे स्थान पर उभार आ जाये अर्थात् शोथ में तरंग-गति (Flactuation) प्रतीत हो तो पक्व शोथ समझना चाहिये । *

उमाऽथो गुग्गुलुः सौधं पयो दक्षकपोतयोः ।
विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मकूलकः ॥ ५३ ॥
इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोधनभेदनः ।

पाटन के लिये शस्त्र-कर्म—इनमें सुकुमार प्रकृति वालों के लिये पाटन विधि—उमा (अलसी), गुग्गुलु, सौध पय (स्नुही का दूध) मुर्गे की बीठ, कबूतर की बीठ, ढाक के तरुण वृक्ष से बना क्षार, सत्यानाशी, मकूलक (दन्ती) इनमें से किसी एक वस्तु का लेप पक्व शोथ में मुख करने योग्य स्थान पर करना चाहिये, यह लेप प्रभेदक है ।

सुकुमारस्य कष्टस्य शस्त्रं तु परमुच्यते ॥ ५४ ॥

[सुकुमार, अन्य रोग से कृश हुए शस्त्रभीरु बालक आदि के लिये वह भेषज गण उत्तम शस्त्र हैं ।]

पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा ।
प्रच्छनं[1] सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥ ५५ ॥

छः प्रकार का शस्त्रकर्म—(१) पाटन, (२) व्यधन, (३) छेदन, (४) लेखन, (५) प्रच्छन और (६) सीवन ये छः प्रकार के शस्त्रकर्म हैं ।

नाडिव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम् ।
अन्तःशल्याश्च ये देशाः पाट्यास्ते तद्विधाश्च ये ॥ ५६ ॥

(१) पाटन योग्य व्रण—नाड़ी, व्रण, पक्व शोथ, क्षतोदर, गुदो-

---

* सुश्रुत में आम, पच्यमान और पक्व के लक्षण विस्तार से दिये हैं । देखो सुश्रुत चि० । अ० १ ।

१. 'प्रोच्छनं' इति पा० ।

दर, अन्तःशल्य युक्त शोथ, तथा अन्य इसी प्रकार के शोथ पाटन के योग्य हैं ।

दकोदराणि संपक्का गुल्मा ये ये च रक्तजाः ।
व्यध्याः शोणितरोगाश्च विसर्पपिडकादयः ॥ ५७ ॥

(२) व्यधन योग्य—दकोदर (जलोदर), पके हुए गुल्म और रक्तजन्य विसर्प और पिड़का आदि रक्त रोग ये व्यधन के योग्य हैं ।

अर्शःप्रभृत्यधोमांसं छेदनेनोपपादयेत् ।

(३) छेदन योग्य—अर्श आदि और अल्पमूल वाले अर्बुद आदि छेदन के योग्य हैं ।

उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान् ॥ ५८ ॥
किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान् ।

(४) लेखन योग्य—अर्श आदि गोल, किनारों से मोटे, ऊपर को उठे, कठिन व्रणों को, किलासादि कुष्ठों को, लेखन करना (तीक्ष्ण शस्त्र से थोड़ा थोड़ा छील कर उतारना) चाहिये ।

वातासृग्ग्रन्थिपिडकाः सकोठा रक्तमण्डलम् ॥ ५९ ॥
कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथांश्च प्रच्छयेद्भिषक्[२] ।

(५) प्रच्छन योग्य—वातरक्त, ग्रन्थि, पिड़का, कोठ, रक्त, मण्डल, कुष्ठ, जो रक्त अंग से बाहर न निकला हो, अन्दर ही रुका हो तथा शोफ में प्रच्छन कर्म करना चाहिये ।

सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम ॥ ६० ॥
इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः ।

(६) सीव्य कर्म—कुक्षि, उदर आदि जो कि गहरे चीरे जाते हैं, उनको फिर सीना चाहिये । इस प्रकार से बुद्धिमानों ने यह छः प्रकार का शस्त्र-कर्म कहा है ।

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान् प्रपीडयेत् ॥ ६१ ॥

२. 'प्रच्छादयेद् भिषक्' इति पा० ।

अवपीड़न—जिन व्रणों का मुख सूक्ष्म हो और भीतर कोष (Cavity) हो, वे पीडन करने योग्य हैं इनको प्रलेपों से अवपीडन करना चाहिये ।

कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः ।
कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निस्नेहा व्रणपीडने ॥ ६२ ॥

(७) अवपीडन द्रव्य—कलाय (मटर), मसूर, गेहुं, हरेणु (गोल मटरा) इनको पानी के साथ पीस कर घृत आदि स्नेह के विना ही व्रण के मुख को छोड़ कर व्रण पर लेप कर देना चाहिये ।

शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवाः ।
न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा ॥ ६३ ॥
आलेपनं निर्वपणं तद्विधान्यैश्चसेचनम् ।

(८) आलेपनादि योग—सिम्बल की छाल, बलामूल, बरगद के कोमल पत्ते, न्यग्रोधादि (बड़, गूलर, पीपल आदि पीछे कहे) गण तथा आगे कही जाने वाली, बला, गिलोय, पृश्निपर्णी आदि तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं से आलेपन, निर्वापण और अवसेचन करना चाहिये ।

सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥ ६४ ॥
निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान् ।

(९) निर्वापण—शतधौत घृत से अकेले या शीतल दूध से अथवा मुलहठी के शीतल क्वाथ से रक्त पित्तजन्य व्रणों का निर्वापण करना चाहिये ।

लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ॥ ६५ ॥
संदधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् ।

(१०) संधान—जो मांस व्रण में लटक रहे हों उनको व्रण के समान करके, उनपर मधु और घृत का लेप करके संधान करना चाहिये और उनको बन्धनों (Bandages) से बांध देना चाहिये ।

तान समान् सुस्थिताञ्ज्ञात्वा फलिनीलोध्रकट्फलैः ॥ ६६ ॥
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत् ।

(११) अवचूर्णन—जिस समय लम्बे लटकते मांस व्रण के साथ जुड़ कर ठीक २ बैठ जांय तब उन पर फलिनी (प्रियंगु), लोध, कट्फल, समंगा (मजीठ), धाय के फूल इनके चूर्णों से अवचूर्णन (Dusting) करना चाहिये ।

पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः ॥ ६७ ॥
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः ।

अथवा शुक्ति (सीप) चूर्ण से मिले पंचवल्कल (बरगद, पीपल, गूगल, पिलखन और अम्लवेतस इनके छिलकों) के चूर्णों से अवचूर्णन करना चाहिये । या धाय के फूल और लोध के चूर्ण से अवचूर्णन करना चाहिये, इस प्रकार करने से व्रण शीघ्र भर जाते हैं । [अष्टांगसंग्रह में पंचवल्कल के चूर्ण को मधु और शुक्त के साथ मिला कर लगाने का विधान है ।]

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः ॥ ६८ ॥
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः ।
स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम् ॥ ६९ ॥
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुखम् ।

(१२) अस्थिसंधान—टूटी हुई हड्डी को वा अपने स्थान से च्युत (विश्लिष्ट उखड़ी हुई) सन्धि को समान (बराबर) करके जोड़ना चाहिये । जो अस्थि टूटी हो या जो सन्धि उखड़ गई हो तो उसको समान (अंग के बराबर) करके रूई की कवलिका तथा कुशिकाओं (गदेलियों और चफ़तियों Splints) से खूब स्थिर करके, पट्टी को घृत से खूब तर करके ऐसे बांध देना चाहिये जिससे रोगी को कष्ट न हो और टूटी हुई या उखड़ी हुई हड्डी अचल (स्थिर) रहे । *

* अस्थि-भंग के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण सुश्रुत (निदान० १५) और अष्टांगसंग्रह में दिया है ।

अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत् ॥ ७० ॥
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका ।
विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादानुपद्रवान् ॥ ७१ ॥
उपक्रमेद्यथाकालं कालज्ञः स्वचिकित्सितात् ।

पिष्टकृत (पिट्ठी के बने) और अविदाही अन्न (अस्थिभंग या सन्धिभंग के) रोगी को देने चाहिये। क्योंकि इस रोग में ग्लानि उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिये, ग्लानि के उत्पन्न होने से सन्धि का विश्लेष हो जाता है। *

विच्युत सन्धि के रोगियों में या अंगों में चोट खाये रोगियों में यदि विसर्प आदि उपद्रव हो जायें तो उनकी चिकित्सा अवसरज्ञ वैद्य यथासमय विसर्प की अपनी विशेष चिकित्सा विधि से करे।

शुष्का महारुजः स्तब्धा ये व्रणा मारुतोत्तराः ॥ ७२ ॥
स्वेद्याः सङ्करकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः ।
ग्राम्यवैलाम्बुजानूपवेशवारैश्च संस्कृतैः ॥ ७३ ॥
उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्याद् व्रणितस्तथा ।

(१३) स्वेदन—(१) जो व्रण शुष्क, अति पीड़ा युक्त, स्तब्ध (कठोर) तथा वातप्रधान हों, उनको संकरस्वेद विधि (सू० अ० १४, सूत्र ४१ में कहे) से स्वेद देना चाहिये। इसके लिये कृशरा (तिल कल्क) और पायस (खीर) से स्वेद देना चाहिये। अथवा (२) ग्राम्य, बिलेशय, आनूप वा औदक मांस से बने वेशवारों को सुसंस्कृत करके उनसे स्वेद देना चाहिये। अथवा (३) जौ आदि से बनी

कुशिका का अर्थ कुशायें या कुशा संज्ञक (Splint) है। जैसे—
सुश्लक्ष्णैः सप्रतिष्टम्भैर्वल्कलैः शकलैरपि ।
कुशाह्वयैः समं बन्धं पट्टस्योपरि योजयेत् ॥

* अपथ्य—लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम् ।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षं च भेषजम् ॥

गरम उत्कारिकाओं से स्वेद देना चाहिये, इस प्रकार करने से व्रण-रोगी को सुख मिलता है।

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः ॥ ७४ ॥
तेषां तिलानुमां चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान् ।
तेनैव पयसा पिष्ट्वा कुर्यादालेपनं भिषक् ॥ ७५ ॥

(१४) शमन—(१) जिन व्रणों में जलन और वेदना हो तथा वायु की प्रधानता हो उनमें तिल और अलसी को भून कर दूध में बुझाना चाहिये। इस दूध के साथ ही इनको पीस कर इनका लेप व्रणों पर करना चाहिये। इससे दाह आदि की शान्ति होती है।

बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी ।
जीवन्तीशर्कराक्षीरं तैलमत्स्यवसाघृतम् ॥ ७६ ॥

(२) बला, गिलोय, मुलहठी, पृश्निपर्णी, शतावरी, जीवन्ती, शर्करा, गाय का दूध, तिल का तैल, रोहित मत्स्य की वसा (चर्बी), गाय का घृत और मोम इनसे सिद्ध स्नेह शर्करा को नष्ट करती है।

[तैल, घृत, वसा ये तीनों समान भाग, दूध स्नेह से चतुर्गुण, बला आदि का कल्क स्नेह से चतुर्थांश लेकर पाक करना चाहिये। जब स्नेह सिद्ध हो जावे तो इसे छान कर गरम अवस्था में ही उसमें स्नेह-शर्करा अर्थात् स्नेह से अष्टमांश मोम और मोम के बराबर शर्करा मिलानी चाहिये। अष्टांगसंग्रह में इनसे शूल हर उत्कारिका बनाने का विधान है।]

द्विपञ्चमूलक्वथितेनाम्भसापयसाऽथवा ।
सर्पिषा वा सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत् ॥ ७७ ॥

(३) दशमूल के कवोष्ण क्वाथ में तैल और घृत मिला कर, अथवा कवोष्ण मस्तु (या दूध में) तैल, घृत मिला कर अथवा कवोष्ण तैल या घृत से दाह-वेदनायुक्त वातबहुल व्रणों में परिषेचन करना चाहिये।*

* 'दशमूलसिद्धेन सुखोष्णेनाम्भसा पयसा वा' इत्यष्टांगसंग्रह-चक्रपाणिसंमतः पाठः। 'मस्तु' इति गंगाधराभिमतः पाठः।

यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा ।
दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥ ७८ ॥

(४) जलन और शूल की शान्ति के लिये जौ के चूर्ण, मुलहठी, काले तिल और घृत इनको मिला कर थोड़ा सा गरम करके लेप करना चाहिये ।

उपनाहश्च कर्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः ।
रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेवं विधिः स्मृतः ॥ ७९ ॥

(५) काले तिल और मूंग दोनों को समान भाग लेकर दूध में पका कर खीर बना लेनी चाहिये । इस पायस से उपनाह करने पर पीड़ा और जलन शान्त होती है ।

सूक्ष्माननना बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः ।
न च मर्माश्रितास्तेषामेषणां हितमुच्यते ॥ ८० ॥
द्विविधामेषणां[1] विद्यान्मृद्वीं च कठिनामपि ।
औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया ॥ ८१ ॥
गम्भीरं मांसले देशे पाट्यं लौहशलाकया ।
एष्यं विद्याद् व्रणं, नालैर्विपरीतमतो भिषक् ॥ ८२ ॥

(१५) एषणा—जिन व्रणों का मुख सूक्ष्म हो, जिनसे बहुत स्राव बहता हो, जिन व्रणों में कोष (गुहा) हो, तथा जो व्रण मर्म-स्थान में स्थित न हों उनकी एषणा (जांच) करना चाहिये ।

यह एषणा (जांच) दो प्रकार की है । (१) मृदु और (२) कठिन । औद्भिद् (वानस्पतिक) मृदु नालों से मृद्वी एषणा होती है और लोहे की शलाकाओं से कठिन एषणा होती है । गम्भीर और मांसल प्रदेश में कठिन लोह-शलाकाओं से अन्वेषण करके पाटन करना चाहिये । उथले और कम मांसल स्थानों में मृदु नालों से अन्वेषण करके पाटन करना चाहिये ।

१. 'मेषणीं' इति पा० ।

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च बहुस्रावान्महारुजः।
व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् ॥ ८३ ॥

(१६) शोधन—जिन व्रणों में से दुर्गन्ध आती हो, जो व्रण वर्णरहित हों, जिनमें बहुत स्राव बहता हो, ऐसे अत्यन्त वेदनायुक्त व्रणों को अशुद्ध समझ कर शोधन वस्तुओं से चिकित्सा करनी चाहिये।

त्रिफला खदिरो दार्वी न्यग्रोधादिर्बला कुशः।
निम्बकोलकपत्राणि कषायाः शोधना मताः ॥ ८४ ॥

शोधन द्रव्य—(१) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), खैर, दारुहल्दी, न्यग्रोध, गूलर, पिलखन आदि, बला, कुश, नीम के पत्ते, कूलक (पटोल) के पत्ते इनमें से किसी एक वस्तु का कषाय व्रण-शोधन के लिये हितकारी है।

तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद् घृतम्।
मधुकं निम्बपत्राणि प्रलेपो व्रणशोधनः ॥ ८५ ॥

(२) तिलकल्क, लवण (सैन्धा नमक), हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, घृत, मुलहठी, नीम के पत्ते इन आठ वस्तुओं का मिलित (तिलाष्टक) लेप व्रण का शोधक है। [लेप में घृत को न पढ़ कर अष्टांगसंग्रह में पटोल और दन्ती अधिक पढ़े हैं]।

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्।
न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥ ८६ ॥

(१७) रोपण—जो व्रण बहुत लाल न हो, न बहुत पाण्डु वर्ण हो, न बहुत श्याव (लाल-नीला) वर्ण हो, न बहुत वेदना युक्त हो, न ऊपर को उठा हो और न चारों दिशाओं में फैला हो इस प्रकार का व्रण शुद्ध होता है, इसका रोपण करना चाहिये।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकदम्बप्लक्षवेतसाः।
करवीरार्ककुटजाः कषाया व्रणरोपणाः ॥ ८७ ॥

रोपण कषाय (१)—बरगद, गूलर, पीपल, कदम्ब, पिलखन,

अम्लवेतस, करवीर (कनेर), आक, कूड़ा इनके कषाय से रोपण कार्य के लिये व्रण का प्रक्षालन (धोना) करना चहिये ।

चन्दनं पद्मकिञ्जल्कं दार्वीत्वङ्नीलमुत्पलम् ।
मेदा मूर्वा समङ्गा च यष्ट्याह्वा व्रणरोपणम् ॥ ८८ ॥

(२) चन्दन, कमल का केसर, दारुहल्दी की छाल, नील कमल, मेदा, महामेदा, मूली, मंजीठ और मुलहठी इनको जल से पीस कर इनका लेप व्रण के रोपण के लिये करना चाहिये ।

प्रपौण्डरीकं जीवन्तीं गांजिह्वां धातकीं बलाम् ।
रोपणं सतिलं दद्यात्प्रलेपं सघृतं व्रणे ॥ ८९ ॥

(३) पुण्डरीक काष्ठ, जीवन्ती, गाज़वां, धातकी (धाय), बला, कृष्ण तिल और घृत इनको पीस कर इनका लेप (मरहम) व्रण में रोपण के लिये लगाना चाहिये ।

कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम् ।
पटोलं पिचुमर्दं च लोध्रं मुस्तं प्रियङ्गुकम् ॥ ९० ॥
खादिरं धातकीं सर्जमेलामगुरुचन्दनं ।
पिष्ट्वा साध्यं भवेत् तैलं तत्परं व्रणशोधनम् ॥ ९१ ॥

रोपण-शोधन तैल—(१) कमीला, वायविडंग, इन्द्रजौ, त्रिफला, बला, पटोल, नीम के पत्ते, लोध, मोथा, प्रियंगु, धाय के फूल, खैर, सर्जरस, इलायची, अगर, चन्दन इन सब वस्तुओं का कल्क (तैल से चतुर्थांश), जल (तैल से) चतुर्गुण लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये । यह तैल बहुत व्रण-रोपण करने वाला है ।

प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे च चन्दने ।
सिद्धमेतैः समैस्तैलं परं स्याद् व्रणरोपणम् ॥ ९२ ॥

(२) पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, काकोली, क्षीरकाकोली, चन्दन, लाल चन्दन इनके कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध तैल व्रणों का रोपण करता है ।

दूर्वास्वरससिद्धं वा तलं कम्पिल्लकेन वा ।
दार्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम् ॥ ९३ ॥

(३) चतुर्गुण दूर्वा-स्वरस में सिद्ध किया तैल व्रणरोपण करता है।

(४) कम्पिल्ल के कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध तैल व्रण रोपण है।

(५) दारुहल्दी की छाल के कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध तैल व्रण रोपक है।

येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत् ।
रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा रोपणीयं व्रणं भिषक् ॥ ९४ ॥

जिस विधि से तैल सिद्ध किया, उसी प्रकार से घृत सिद्ध करना चाहिये। अर्थात् प्रपौण्डरीकादि कल्क से चतुर्गुण जल में घृत सिद्ध करना चाहिये। दूर्वा स्वरस से घृत सिद्ध करना चाहिये। कम्पिल्लक के कल्क से चतुर्गुण जल में घृत सिद्ध करना चाहिये। दार्वीत्वक् कल्क से चतुर्गुण जल में घृत सिद्ध करना चाहिये।

रक्त-पित्त प्रधान व्रणों में रोपण के लिये घृत बरतना चाहिये और वात-कफ प्रधान व्रणों में रोपण के लिये तैल लगाना चाहिये।

कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च ।
व्रणप्रच्छादने विद्वान्पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ॥ ९५ ॥

(१८) व्रण-प्रच्छादन—कदम्ब, अर्जुन, जामुन, पाटला, पिप्पल और आक इन वृक्षों के पत्ते व्रण के आच्छादन करने के लिये उत्तम हैं।

राङ्कोऽथ बादरश्चैव पट्टो व्रणहितः स्मृतः ।
बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः ॥ ९६ ॥

(१९) पट्ट-बन्धन—राङ्क और बादर ये दो प्रकार की पट्टी व्रण के लिये हितकारी हैं। वाम अथवा अवाम (दक्षिण) ये दो प्रकार के पट्टियों के बन्धन व्रण के लिये हितकारी हैं। सव्य बन्ध, दक्षिण बन्ध दोनों ही उत्तम हैं। [सुश्रुतोक्त १४ बन्धन भी इसी के अन्तर्गत समझने चाहिये।]

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च ।
वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च ॥ ९७ ॥
नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम् ।
अन्नपानं व्रणहितं हितं चास्वपनं दिवा ॥ ९८ ॥

(२०) भोज्य—लवण, अम्ल, कटु, उष्ण खानपान, विदाही और गुरु भाजन तथा मैथुन ये व्रण रोगी के लिये अहितकर हैं। न तो बहुत शीतल, न बहुत गुरु, न बहुत स्निग्ध, अविदाही भोजन, दिन में न सोना ये व्रण रोगी के लिये उत्तम है।

स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च ।
उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत् ॥ ९९ ॥

(२१) उत्सादन— षड्-विरेचनशताश्रितीय' अध्याय में वर्णित स्तन्यजनक जीवनीय गण और बृंहणीय गण की दस दस ओषधियों से, निम्न (नीचे को दबे) व्रणों में उत्सादन करना चाहिये।

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु छिन्ने छेद्येऽधिमांसके ।
कफग्रन्थिषु गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु ॥ १०० ॥
गूढपूयलसीकेषू गम्भीरेषु स्थिरेषु च ।
क्लिन्नेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्नेः संप्रशस्यते ॥ १०१ ॥
मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जक्षौद्रवसाघृतैः ।
तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित् ॥ १०२ ॥
रूक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान् ।
दहेत् स्नेहैर्मधूच्छिष्टै लौहैः क्षौद्रैस्ततोऽन्यथा[1] ॥ १०३ ॥

(२२) दाह वा अग्नि कर्म—रक्त के अति स्राव में, भेदन करने योग्य, छेदन करने योग्य, अधिमांस में, कफ ग्रन्थियों में, गण्ड रोगों में, वातस्तम्भ में, पीड़ाओं में, पूय और लसीका के गूढ़ होने पर, व्रणों के

1. 'ततो घृतै' इति पा० ।

गम्भीर होने पर और जिन अंगों में सुप्ति (स्पर्श ज्ञान का अभाव) हो, उनमें अग्निकर्म करना चाहिये ।

इसके लिये बिन्दु, वलय आदि दाह-रूप को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि गरम मोम से, गरम तैल से, गरम मज्जा से, गरम मधु से, गरम वसा (चर्वी) से, गरम घृत से अथवा गरम भिन्न भिन्न लोहों से दाहकर्म करे ।

रूक्ष, सुकुमार प्रकृति व्यक्तियों में, गम्भीर, वात-प्रबल व्रणों को, तैल, मोम या वसा से जलाना चाहिये, अन्य व्रणों को लोह, मधु तथा घृत से जलाना चाहिये ।

बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् ।
तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम् ॥ १०४ ॥
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च ।
सविषेषु सशल्येषु नेत्रकुष्ठव्रणेषु च ॥ १०५ ॥
रोगदोषबलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः ।
शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् ॥ १०६ ॥

निम्न अवस्थाओं में दाहकर्म नहीं करना चाहिये—बालक, निर्बल, वृद्ध, गर्भिणी, रक्तपित्त रोगी, तृष्णा या ज्वर से पीड़ित, स्त्रियों में, विषादियों (शोकातुर) में, स्नायु व्रण में, मर्म व्रणों में, विषयुक्त व्रणों में, शल्ययुक्त व्रणों में, नेत्र-व्रणों में और कोष्ठ-व्रणों में अग्नि कर्म नहीं करना चाहिये ।

रोग, दोष, बल की अपेक्षा करके मात्रा, काल और अग्नि को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि जहां पर शस्त्र-कर्म या अग्नि-कर्म करना हो वहां पर क्षारकर्म का भी प्रयोग करे ।

[काय-चिकित्सा ग्रन्थ होने से क्षारविधि इसमें नहीं दी, उसे सुश्रुत के सूत्रस्थान में देखना चाहिये ।]

भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमधोभागानि गुग्गुलुः ।

व्रणावसादनं तद्वत्कलविङ्ककपोतविट् ॥ १०७ ॥

(२३) व्रण में अवसादन—भूर्ज ग्रन्थि (भोजपत्र की गांठें), अश्म कासीस (धातु कासीस) और गुग्गुलु सब को बराबर लेप कर अवसादन करना चाहिये । इसी प्रकार से कलविङ्क (चटक) की बीठ, और कबूतर की बीठ का लेप अवसादन के लिये करना चाहिये ।

[अवसादन के लिये—सैन्धव, कासीस, मुमन, मुकुल, गुग्गुलु, चित्रक, अग्निमन्थ, दन्ती, शिरीष, करंजफल, भूर्जग्रन्थि, काकाण्ड त्वक, कपोत, कलविङ्क पुरीष, नेपाली हरिताल चूर्ण और क्षौद्र इतने द्रव्य अष्टांगसंग्रह में अधिक पढ़े हैं ।]

कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धसारैश्च धूपिताः ।

(२४) काठिन्यकारक धूप—गन्धसार आदि (चन्दनादि गन्ध द्रव्यों र, मांसी आदि द्रव्यों) से धूप देने पर मृदु व्रण कठिन हो जाते हैं।

सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ॥ १०८ ॥

(२५) मृदुकारक धूप—घृत, तैल, वसा और मज्जा इनके द्वारा धूप देने पर कठिन व्रण मृदु हो जाते हैं ।

रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः ।
शैथिल्यं मार्दवं वापि धूपनेनोपशाम्यति ॥ १०९ ॥

(२६) धूपन—धूपन से पीड़ा, स्राव और दुर्गन्ध तथा व्रण के कृमि नष्ट हो जाते हैं ।

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि खदिरस्त्रिफलाघृतम् ।
प्रलेपः व्रणशैथिल्यसौकुमार्यप्रसाधकः ॥ ११० ॥
सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्रावाश्च ये व्रणाः ।
यवचूर्णैः ससर्पिष्कैर्बहुशस्तान् प्रलेपयेत् ॥ १११ ॥
मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम् ।
सघृतैर्जानीयैर्वा तर्पयेत्तानभीक्ष्णशः ॥ ११२ ॥

(२७) लेपन—लोध, बरगद के शुंग, खैर, त्रिफला और घृत इनके प्रलेप से व्रण की शिथिलता तथा सुकुमारता नष्ट होती है।

जिन व्रणों में दर्द हो, जो व्रण कठोर हों, स्तब्ध (जड़) हों तथा जिन में किसी प्रकार का स्राव न हो उन व्रणों को (१) घृत मिश्रित जौ के चूर्ण से बार बार लेप करना चाहिये। अथवा (२) मूंग, साठी के चावल या हेमन्त धान्य के चावलों से बनी पायस (खीर) से व्रणों का तर्पण (लेपन) करना चाहिये, या घृतमिश्रित जीवनीय गण की दस औषधियों से व्रणों का तर्पण करना चाहिये। इससे व्रण कोमल, वेदनारहित हो जाते हैं।

ककुभोदुम्बराश्वत्थलोध्रजाम्बवकट्फलैः।
त्वचमाश्वेव गृह्णन्तित्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः ॥ ११३॥

(२८) अवचूर्णन—(१) ककुभ (अर्जुन), गूलर, पिपल, लोध, कायफल और जामुन इन वृक्षों की छाल का सूक्ष्म चूर्ण करके व्रणों पर छिड़कना चाहिये, इससे व्रण जल्दी से त्वचा को निश्चित रूप में पकड़ लेते हैं। वे त्वचा रूप बन जाते हैं और शीघ्र शुष्क हो जाते हैं।

मनःशिलैला मञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम्।
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परः ॥ ११४ ॥

(२९) वर्ण्य लेपन (१)—मैनसिल, आल (हरताल), मंजीठ, लाक्षा (लाख), हल्दी, दारुहल्दी इनके चूर्ण को घृत और मधु के साथ मिलाकर लगाने से त्वचा का शोधन होता है, यह लेप वर्णकारक है। मांस की सवर्णता करता है। [कहीं 'शताह्वा' पाठ है अष्टांगसंग्रह में शताह्वा के स्थान में लाक्षा पाठ है। यही पाठ ठीक भी लगता है।]

अयोरजः सकासीसं त्रिफला कुसुमानि च।
करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि ॥ ११५ ॥

(२) अयोरज (सूक्ष्म लोह भस्म), कासीस हरड़ के फूल,

बहेड़ा के फूल, आंवले के फूल इन का लेप नूतन त्वचा में शरीर के समान वर्ण वा, कृष्णता को उत्पन्न करता है ।

कालीयकनताम्रास्थिहेमकालायसोत्तमैः ।
लेपः सगोमयरसैः सवर्णीकरणः परः ॥ ११६ ॥

(३) कालीयक काष्ठ, नत (तगर), आम की गुठली, हेम (नागकेसर), काल (काला अगर), रसोत्तम (पारद वा घी) इनको गोबर के रस के साथ मिला कर लेप करने से त्वचा के समान वर्ण हो जाता है । [अष्टांगसंग्रह में 'नत' के स्थान पर 'लता' पाठ है, जिसका अर्थ दूर्वा किया है और हेम शब्द से प्रियंगु ग्रहण किया है ।]

ध्यामकाश्वत्थनिचुलं लाक्षया सह गैरिका[1] ।
सहेम सामृतासङ्गं कासीसं चेति वर्णकृत ॥ ११७ ॥

(४) ध्यामक (कत्तृण) अश्वत्थ (पीपल), निचुल (वंजुल) की जड़, लाक्षा, गेरू, हेम (नागकेसर), अमृतासंग (कौंच या तुत्थ) और कासीस इनका लेप, त्वचा के समान वर्ण करता है ।

[अष्टांगसंग्रह में 'लाक्षाल' पाठ है । जिसमें आल से हरिताल लिया है । अमृतासंग का अर्थ गिलोय श्री गंगाधर ने किया है । जैज्जट ने अमृता (गिलोय) और आंसग से रसांजन लिया है ।]

चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः ॥ ११८ ॥
षोडशापद्रवा ये च व्रणानां परिकीर्तिताः ।
तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते ॥ ११९ ॥

(३०) लोम-रोपण—चौपाये गाय, भैंस आदि पशुओं की त्वचा, रोम, खुर, सींग, अस्थि को जला कर भस्म कर लेना चाहिये । इस भस्म को तैल में मिला कर व्रण पर घिसने में या चूर्ण देने से त्वचा में पुनः बाल निकल आते हैं ।

1. 'निचुलमूलं लाक्षा सगैरिका' इति पा० ।

व्रणों के जो सोलह उपद्रव कहे हैं, उनकी चिकित्सा, उन रोगों के अपने अपने स्थान में कह दी है।

तत्र श्लोकौ। द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च।
स्थानानि गन्धाः स्रावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्च याः ॥१२०॥
व्रणाधिकारे सप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान्।
मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धीमते ॥ १२१ ॥

उपसंहार—इस व्रणाधिकार में प्रश्नानुसार बुद्धिमान् अग्निवेश के प्रति आत्रेय मुनि ने प्रथम संक्षेप में और फिर विस्तार से दो प्रकार के व्रण, व्रण के भेद, परीक्षा, दूषित व्रण, स्थान, गन्ध, स्राव, उपद्रव और चिकित्सा विधि का उपदेश कर दिया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम पंचविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है।

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेभ्यः।
मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ३ ॥
प्राणाशयांस्तान्परिपीडयन्ति वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति।
तत्संश्रितानामनुपालनार्थं महागदानां शृणु सौम्य रक्षाम् ॥ ४ ॥

शरीरसंख्या नाम शारीर अध्याय में एक सौ सात (१०७) मर्म कहे हैं, इन में से शरीरमर्मज्ञ जन तीन मर्म को ही प्रधान भूत कहते हैं। ये तीन मर्म—बस्ति, हृदय और शिर हैं। ये तीनों मर्म प्राणों

के आशय हैं, इसलिये प्रधान हैं। बस्ति, हृदय और शिर इनको पीड़ित करते हुए वात आदि दोष प्राणों को भी पीड़ित करते हैं, इसलिये हे सौम्य प्राणों की रक्षा के लिये त्रिमर्म-आश्रित महारोगों से प्राण रक्षा के विषय में सुनो।

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः संधारणोदीरण[1]मैथुनैश्च।
पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा ॥ ५ ॥
करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम्।

कषाय, तिक्त, उषण (कटु रस) और रूक्ष भोजनों के सेवन से, मल, मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने और अति मैथुन से, अपान वायु यदि पक्वाशय में कुपित हो जाये तो वह बलवान् अपान वायु अधोगामी स्रोतों को बन्द करके मल, वायु और मूत्र का अवरोध तथा घोर उदावर्त्त रोग उत्पन्न कर देता है।

रुग्बस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् ॥ ६ ॥
आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च तोदो विपाकश्च सबस्तिशोथः।
वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वं च वायुर्विहतो गुदे स्यात् ॥७॥

उदावर्त्त के लक्षण—बस्ति, हृदय, कुक्षि और उदर में बार बार (रह रह कर) तीव्र दर्द होती है, पृष्ठ में तीव्र शूल, पार्श्वशूल, आध्मान (अफ़ारा), हृल्लास (मुंह में पानी बार बार आना, वमन की इच्छा), विकर्त्तिका (गुदा में कटने की सी पीड़ा), तोद, अविपाक, बस्ति में सूजन होती है। उदर में मल प्रवृत्त नहीं होता (मल उदर में रुक जाता है), वायु के ऊर्ध्वगामी होने पर पक्वाशय में गण्ड हो जाते हैं। गुदा में वायु रुका पड़ा रहता है, शुष्क मल कठिनाई से, देर में आता है। यह मल मात्रा में थोड़ा तथा कर्कश, रूक्ष और शीतल होता है। *

1. 'संधारणाभोजन-' इति पा०।

* कुपित अपान वायु अपान वायु का स्वयं अवरोध इस प्रकार करता है जैसे मन स्वयं मन का निग्रह करता है।

कृच्छ्रेण शुक्रस्य चिरात्प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात्खररूक्षशीता ।
ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्र-प्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः ॥ ८ ॥
वम्यान्ध्यबाधिर्यशिरोऽभितापा वातोदराष्ठीलमनोविकाराः ।
तृष्णास्रपित्तारुचिगुल्मकासश्वासप्रतिश्यार्दितपार्श्वरोगाः ॥ ९ ॥
अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः ।
चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश ॥ १० ॥

उदावर्त से अन्य रोग—मल के इस प्रकार प्रवृत्त होने पर ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, हृदयरोग, ग्रहणीरोग, छर्दिरोग, आन्ध्य रोग (अन्धत्व या नेत्र रोग, बधिरता, शिर में पीड़ा, वातजन्य उदर रोग अष्ठीला, मानसिक विकार, तृष्णा, रक्तपित्त, अरुचि, गुल्म, कास, श्वास, प्रतिश्याय, अर्दित, पार्श्वशूल तथा अन्य बहुत से कठिन रोग उदावर्त्त के कारण उत्पन्न हो जाते हैं । हे अग्निवेश! इस उदावर्त्त रोग की चिकित्सा यथाविधि कही जाती है उसको सुनो । 'न वेगान् धारणीय' (सू० ७) अध्याय में साधारण चिकित्सा कही है और यहां पर कषाय आदि सर्व-हेतुजन्य उदावर्त्त की चिकित्सा कहते हैं ।

तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम् ।
उपाचरेद्वर्तिनिरूहबस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः ॥ ११ ॥

उदावर्त्त चिकित्सा—(१) उदावर्त्त रोगी को शीतज्वर नाशक अगुर्व्वादि तैल से स्निग्ध करके स्वेदन देना चाहिये । स्नेहन और स्वेदन से जब दोष विलीन होजायें तब वर्त्ति (फलवर्त्ति), निरूह बस्ति, स्नेहन बस्ति, विरेचन तथा वात के अनुलोमक अन्नों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम् ।
सनीलिकां द्विलवणां गुडेन वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात ॥ १२ ॥

(२) फलवर्त्ति—श्यामा (अरुण मूल की निशोथ), त्रिवृत (श्वेत मूल की निशोथ), पिप्पली, नीली, दन्तीमूल प्रत्येक वस्तु दस

मासा, लवण बीस मासा लेकर गोमूत्र के साथ बहुत बारीक पीस कर उचित मात्रा में गुड़ मिलाकर हाथ के अंगुष्ठ के समान मोटी वर्त्ति बनानी चाहिये । घृत से स्निग्ध गुदा में इस वर्त्ति को प्रविष्ट कर देना चाहिये ।

पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः ।

(३) पिण्याक (तिलकल्क) खल, सौवर्चल, हींग, सरसों, त्र्यूषण(सोंठ, मरिच पिप्पली) यावशूक (यवक्षार) इनको गोमूत्र के साथ बारीक पीस कर गुड़ के साथ वर्त्ति बनानी चाहिये । यह वर्त्ति गुदा में लगानी चाहिये ।

क्रिमिघ्नकम्पिल्लकशङ्खिनीभिः सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः ॥ १३ ॥

(४) कृमिघ्न (वाय विडंग], कमाला शांखनी (शंख पुष्पी], सुधाक्षीर (स्नुही का दूध), आक का दूध और गुड़ इनको पीस कर वर्त्ति बनानी चाहिये ।

स्यात्पिप्पलीसर्षपराठवेश्मधूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः ।

(५)पिप्पली, सरसों, राठ (मैनफल के चावल), गृह-धूम इनको गोमूत्र के साथ पीस कर गुड़ मिला कर वर्त्ति करनी चाहिये ।

श्यामाफलालाबुक[1]पिप्पलीनां नाड्याऽथवा तत्प्रधमेत् तु चूर्णम् ।१४।
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णाचूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा ।

(६) श्यामा (निशोथ), फल (मैनफल), इक्ष्वाकु (कडुवी तुम्बी), पिप्पली इनके चूर्ण को नलिका में रखकर नलिका के अग्रभाग को घृत से स्निग्ध गुदा में प्रविष्ट कर के फूत्कार द्वारा इस चूर्ण को उदर में प्रधमन करना चाहिये ।

(७) इसी प्रकार से रक्षोघ्न (सरसों), तुम्बी, करहाट (मैनफल), पिप्पली, जीमूतक (जीयापोता) और सैंधा नमक इनके चूर्ण को नाली के द्वारा उदर में फूक देना चाहिये ।

स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥ १५ ॥
तेषां विघाते तु भिषग् विदध्यात्स्वभ्यक्त सुस्विन्नतनोर्निरूहम् ।

१. 'फलेक्ष्वाकु' इति पा० ।

ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैलक्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥ १६ ॥

(८) घृतादि से स्निग्ध गुदा में दिये गये वर्त्ति और चूर्ण आदि पदार्थ मल, वायु और मूत्र का अनुलोमन करते हैं। वे उनको उचित मार्ग से निकालने में सहायक होते हैं।

यदि वर्त्ति और चूर्ण के प्रयोग से कारणवश वायु का शमन न हो तो रोगी को स्नेहन और स्वेदन कराके उर्ध्व और अधो अनुलोमक (वमन एवं विरेचन) औषधियों से मूत्र, तैल से, क्षार अम्ल से युक्त, तीक्ष्ण, वातनाशक निरूह देना चाहिये।

वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम्।
समूत्रवर्चोनिलसङ्गमाशु गदं शिराश्च प्रगुणीकरोति ॥ १७ ॥

(९) वात की प्रधानता में अम्ल, लवण, तैल युक्त निरूह, पित्त की अधिकता में दूध से निरूह, कफ की अधिकता में मूत्रयुक्त आनुलोमिक कफघ्न द्रव्यों से निरूह करना चाहिये। यह निरूह मूत्र, मल और वायु के अवरोध को, गुदा तथा सिरा के अवरोध को शीघ्रता से दूर करता है।

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाकग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम्।
अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात्प्रसन्नागुडशीधुपायी ॥ १८ ॥
भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्विरेच्यो मूत्रप्रसन्नादधिमण्डयुक्ता।
स्वस्थं तु पश्चादनुवासयेत्तं रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत् ॥१९॥

भोजनपथ्य—त्रिवृत्, थोर के पत्ते, तिलादि के शाक के साथ ग्राम्य-औदक या आनूप मांस रस के साथ, मल मूत्र और वायु को प्रवृत्त करने वाले अन्य आहार द्रव्यों के साथ यवान्न खाना चाहिये। पीछे से प्रसन्ना (मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग), गुड़-सीधु (गुड़ से बना सीधु) पीना चाहिये। इस प्रकार करने पर यदि फिर भी वायु की रुकावट हो तो गोमूत्र, प्रसन्ना, दधिमण्ड, शुक्त से विरेचन देना चाहिये, विरेचन के देने से यदि उदावर्त्त रोगी स्वस्थ हो जाये तो सात दिन पीछे इसको स्नेहन के लिये

अनुवासन वर्त्ति देना चाहिये क्योंकि स्नेहन न देने पर रूक्षता के कारण वायु और मल का फिर अवरोध हो जाता है ।

द्विरुत्तरं हिङ्गुवचाग्निकुष्ठं सुवर्चिका चैव विडङ्गचूर्णम् ।
सुखाम्बुनाऽऽनाहविसूचिकार्तिहृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥ २० ॥

आनाह चिकित्सा—(१) हींग १ भाग, बच २ भाग, पिप्पली ४ भाग, सुवर्चिका (सर्जक्षार) ८ भाग, वायविडंग १६ भाग, इनके चूर्ण को गरम पानी से पीना चाहिये । इससे विषूचिका रोग, हृदयरोग गुल्म तथा वायु की ऊर्ध्वगति नष्ट होती है ।

वचाभयाचित्रकयावशूकान्सपिप्पलीकातिविषान्सकुष्ठान् ।
उष्णाम्बुनानाहविमूढवातान्पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी ॥ २१ ॥

(२) वच, हरड़ चित्रक, यावशूक (यवक्षार) पिप्पली, अतिविषा, कूठ इनको परस्पर समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को गरम पानी से पीना चाहिये, इससे आनाह और विमूढवात शीघ्र नष्ट होती है, रोगी को मांसरस के साथ भात खाना चाहिये ।

हिङ्गूग्रगन्धाविडशुण्ठ्यजाजीहरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम् ।
यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत्प्लीहोदराजीर्णविसूचिकासु ॥ २२ ॥

(३) हींग १ भाग, उग्रगन्धा (बच) २ भाग, विड नमक ३ भाग, शुण्ठी ४ भाग, अजाजी (जीरा) ५ भाग, हरड़ ६ भाग, पुष्कर मूल ७ भाग और कूठ ८ भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को गरम पानी से प्लीहोदर, अजीर्ण, और विसूचिका में पीना चाहिये ।

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः श्यामाकपूतीककरञ्जयोश्च ।
सिद्धः कषाये द्विपलांशिकानां प्रस्थो घृतात्स्यात्प्रतिरुद्धवाते ॥ २३ ॥

(४) स्थिरादि वर्ग (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), पुनर्नवा, श्यामाक (अमलतास), पूतीक और करंज इन आठ द्रव्यों

में प्रत्येक दो पल लेकर सोलह शराव जल में क्राथ करना चाहिये । जब चतुर्थांश, एक प्रस्थ रह जाये तब इससे एक प्रस्थ घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत वात के विबन्ध में हितकारी है ।

फलं च मूलं च विरेचनोक्तं हिंस्रार्कमूलं दशमूलमग्र्यम् ।
स्नुक्चित्रकौ चैव पुनर्नवा च तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च ॥ २४ ॥
स्नेहैः समूत्रैः सह जर्जराणि शरावसन्धौ विपचेत्सुलिप्ते ।
पक्वं सुपिष्टं लवणं तदन्नैः पानैस्तथाऽऽनाहरुजाघ्नमद्यात् ॥ २५ ॥

(५) 'दीर्घंजीवितीय' (सू० १) अध्याय में वर्णित विरेचक मूल तथा विरेचकफल, हिंस्रामूल, अर्कमूल, दशमूल, स्नुक् (थोर), चित्रक और पुनर्नवा तथा पांचों नमक (सैन्धव, सांभर, बिड्, सौवर्चल और औद्भिद) इनको परस्पर समान भाग लेकर कूट लेना चाहिये । फिर वसा, घृत, तैल और मज्जा तथा आठों मूत्रों से जो स्नेह तथा मूत्र मिल सकें उनके साथ मिला कर एक शराव में इस चूर्ण को रख देना चाहिये । ऊपर से दूसरा शराव ढांपकर सन्धि को भली प्रकार से बन्द करके जिससे धुंवा बाहर न आये, इनको पकाना चाहिये । जब लवण पक जाये तब इसको निकाल कर पीस लेना चाहिये । इस नमक को खान-पान में प्रयोग करना चाहिये, इससे आनाह रोग की पीड़ा नष्ट होती है ।

हृत्स्तम्भमूर्धामयगौरवार्तें चोद्गारसङ्गेन सपीनसेन ।
आनाहमामप्रभवं जयेत् तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च ॥ २६ ॥

(६) आमजन्य आनाह की चिकित्सा—जिस आनाह में हृदय स्तम्भ, शिरोरोग, भारीपन, डकार का आना, पीनस हो उसको आमजन्य आनाह समझना चाहिये । इसके लिये रोगी को वमन, लंघन तथा पाचन औषध देनी चाहिये । [जिस उदावर्त में प्यास, शूल हों और वमन में भी मल आवे वह रोगी असाध्य है ।]

गुल्मोदरब्रध्नार्शःप्लीहोदावर्तयोनिशुक्रगदे ।
भेदः कफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च ॥ २७ ॥

गृध्रसिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु ।
वाते विबद्धमार्गे मेदःकफपित्तरक्तेन ॥ २८ ॥
पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिराभिः ।
दोषानुबन्धयोगात्प्रशस्तमैरण्डजं तैलम् ॥ २९ ॥
तद्धातनुत्स्वभावात्संयोगवशाद्विरेचनाच्च जयेत् ।
मेदासृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित्तस्यात् ॥ ३० ॥
बलकोष्ठव्याधिवशादापञ्चपला भवेन्मात्रा ।
मृदुकोष्ठबलानां सहभोज्यं तत्प्रयोज्यं स्यात् ॥ ३१ ॥

इत्युदावर्तचिकित्सा ।

गुल्म, उदर ब्रध्न, अर्श, प्लीहा, उदावर्त्त, योनिरोग और शुक्ररोग में, मेदस् और कफ से युक्त वातरक्त, गृध्रसी, पक्षाघात आदि से विरेचन योग्य वातरोगों में और मेद, कफ, पित्त और रक्त से वायु का मार्ग रुक जाने पर दूध से, मांसरसों से, त्रिफला के रस, यूष, गोमूत्र और मदिरा से चिकित्सा करे । दोष के अनुसार सबसे उत्तम रेंडी का तैल है । वह वात का नाशक होने और संयोगवश विरेचक होने से भी वात का नाश करता है। वही मेद, रक्त, पित्त और कफ से मिले वातरोग को भी शान्त करता है । रोगी के बल और कोष्ठ की व्याधि के अनुसार इसकी मात्रा ५ पल तक होनी चाहिये । कोमल कोष्ठबल के रोगियों को तो यह तैल भोजन योग्य पदार्थों के साथ भी दिया जा सकता है ।

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥३२॥
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ ३३ ॥

मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—व्यायाम से तीक्ष्ण औषध से, रूक्ष मद्य के सेवन से, नित्यप्रति घोड़े आदि शीघ्रगामी वस्तुओं पर सवारी करने से, आनूप मांस के सेवन से, अध्यशन से, अजीर्ण से आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र

रोग उत्पन्न होते हैं । मूत्र कठिनाई से पीड़ा के साथ रुक२ कर आता है।*

अपने अपने कारणों से पृथक् २ रूप में कुपित हुए तीनों वातादि दोष तथा तीनों दोष एक साथ में कुपित होकर बस्ति में पहुंचकर मूत्र के मार्ग को पीड़ित करते हैं, जिससे कि रोगी सदा कठिनाई के साथ (पीड़ा के साथ) मूत्र त्याग करता है ।

तीव्रा हि रुग्वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३४ ॥
बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे ।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं तु कृच्छ्रम् ॥३५॥

वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में—वंक्षण बस्ति और शिश्न में तीव्र वेदना तथा बारबार थोड़ा थोड़ा मूत्र आता है । पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में—पीला, रक्त-मिश्रित, पीड़ा तथा दर्द के साथ कठिनाई से बारबार मूत्र आता है। कफजफन्य मूत्रकृच्छ्र में—बस्ति और शिश्न में शोथ तथा भारीपन होता है, मूत्र में चिकनापन रहता है । सन्निपातजन्य मूत्रकृच्छ्र में—सब दोषों के लक्षण रहते हैं, तथा मूत्र में अति कृच्छ्र (अति पीड़ा) रहता है ।

विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥ ३६ ॥
कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या श्लक्ष्णा त्रिपुट्यप्यथवाऽपि मृद्वी ।
मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा मूत्रं रुजं तस्य करोति बस्तौ ॥ ३७ ॥
ससीवनीमेहनबस्तिशूलं विशीर्णधारं च करोति मूत्रम् ।
मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहतं च ॥ ३८ ॥
क्षोभात्क्षते मूत्रयतीह सासृक् तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात् ।

* मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र ये दो पृथग् रोग हैं । यहां पर दोनों का एक ही में अन्तर्भाव है ।

यहां पर शकृत्प्रतिघात से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र को गिना है, शुक्रप्रतिघात से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र को नहीं गिना ।

एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात्क्षरन्ती ॥ ३९ ॥
रेतोभिघाताभिहतस्य पुंसः प्रवर्तते तस्य तु मूत्रकृच्छ्रम् ।
स्याद्वेदना वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते ॥ ४० ॥
शुक्रेण संरुद्धगतिः प्रवाहो मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह ।
तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति रेतोऽभिघातात्प्रवदन्ति कृच्छ्रम् ॥

अश्मरी-मूत्रकृच्छ्र अश्मरी की उत्पत्ति और भेद—जिस समय मैथुनेच्छुक पुरुष में मैथुन के विघात से अथवा मैथुन क्रिया से वायु बस्ति (शुक्राशय) में पहुंच शुक्र को वा पित्त को वा कफ को शुष्क कर देता है तब वाताश्मरी हो जाती है और जब वायु से मिश्रित मूत्र और कफ को वायु शुष्क कर देता है तब कफाश्मरी होती है । जिस प्रकार गाय के पित्ताशय में पित्त के शुष्क होने से 'रोचना' बन जाती है उसी प्रकार से शरीर में धीरे धीरे शुक्र, पित्त, कफ आदि सूखकर अश्मरी बन जाती है । इस प्रकार से अश्मरी चार प्रकार की होती है (१) शुक्रजा, (२) वातजा, (३) पित्तजा, (४) कफजा । इनमें से—कोई तो अश्मरी (पथरी) कदम्ब के पुष्प के आकार की होती है, कोई पत्थर के समान कड़ी, कोई चिकनी, कोई त्रिपुटी (त्रिकोण), अथवा कोई कोमल, कोई किसी और आकार की होती है । * वात के कारण कदम्ब पुष्प के समान और

* डाक्टरी के मत से पथरियां तीन प्रकार की मिलती हैं (१) कैलसीयम से बनी, श्वेत वर्ण की, ये कड़ी होती है । (२) औक्ज़ीलेट की बनी, जामुन के रंग की, काली सी, ये बहुत ही सख़्त होता है, (३) फौस्फेट की ये बनी, धूसर वर्ण, यह बहुत कड़ी नहीं होती ।

सुश्रुत में पथरी चार प्रकार की कही हैं (१) श्वेत, चिकनी, मुर्गी के अण्डे के समान और महुए के फूल के से रंग की, वह श्लेष्मजन्य होती है, (२) लाल, पीली, काली, भिलावे के से रंग की वा शहद के रंग की, पित्तजन्य होती है, (३) सांवली, कठोर, खर्दरी, कदम्ब के डोडे के समान उभरे दानों वाली वातजन्य है । (४) शुक्राश्मरी, कोमल होती है, दबा देने से बिला जाती है ॥ सं० ॥

त्रिपुटी, पित्त के कारण चिकनी और पत्थर के समान, कफ के कारण से और शुक्र से कोमल अश्मरी होती है।

यह अश्मरी जब मूत्रमार्ग में आ जाती है, तब बस्ति (मूत्राशय) में मूत्र को बन्द करके पीड़ा उत्पन्न करती है। इसके कारण पुरुष पीड़ा से व्याकुल होकर शिश्न (लिंग) को बारबार मलता है, बारबार छोड़ता है (मल त्याग करता है), कांपता है, सेवनी में मेढू (लिंग) में, और बस्ति में वेदना होती है, मूत्र की धारा विच्छिन्न (टूटी हुई) होती है।

जब अश्मरी (पथरी) लिंग के अन्दर मूत्रमार्ग में रुक जाती है, तब इसके विक्षोभ से लिंग के मध्य में क्षत हो जाते हैं। इसके कारण रक्त मिश्रित मूत्र कठिनाई से बाहर आता है। इसके हट जाने से रोगी सुख से मूत्र करता है। यही अश्मरी (पथरी) से दो, तीन, चार छोटे २ टुकड़ों में विभक्त होकर शर्करा रूप में मूत्रमार्ग से बाहर आती है।

शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग्वा मूत्राशयस्थाः प्रतिवारयन्ति।
तद् व्याहतं मेहनबस्तिशूलं मूत्रं सशुक्रं हि करोति बद्धम् ॥ ४२ ॥
स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च तुद्येत बस्तिर्वृषणौ च तस्य।

शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र—वीर्य के अवरोध से पीड़ित पुरुष का वीर्य ही मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न करता है। शुक्र, मल, वात आदि दोष पृथक् पृथक् अथवा समस्त रूप में मूत्राशय (शुक्राशय) में स्थित होकर शुक्रमार्ग को पीड़ित करते हैं, तब रोगी को शुक्र मिश्रित मूत्र कठिनाई से रुक रुककर आता है और वंक्षणों में, लिंग तथा बस्ति में वेदना होती है। रोगी की बस्ति तथा अण्डकोश स्तब्ध होजाते हैं, सूख जाते हैं, तथा इनमें अतिवेदना और पीड़ा होती है। [सुश्रुतमें शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र को नहीं पढ़ा, अश्मरी-जन्य मूत्रकृच्छ्र में ही इसका अन्तर्भाव किया है।]

क्षताभिघातात्क्षतजं क्षयाद्वा प्रकोपितं बस्तिगतं विबद्धम् ॥ ४३ ॥
तीव्रार्तिमूत्रेण सहाल्पमल्पमायाति तस्मिन्नति सञ्चितं च।
आध्माततां विन्दति गौरवं च बस्तेर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन् ॥ ४४ ॥
इति मूत्रकृच्छ्र निदानम्।

आगन्तु मूत्रकृच्छ्र—शल्य आदि के क्षत से, दण्डे आदि के अभिघात के कारण उत्पन्न क्षतजन्य रक्त, अथवा शुक्र आदि के क्षय से प्रकुपित रक्त * बस्ति में पहुंचकर बहुत अधिक मात्रा में संचित होकर रुक जाता है, तब मूत्र के साथ मिलकर अश्मरी (पथरी) बन जाता है। इस से अति पीड़ा होती है, बस्ति में आध्मान (फुलाव) और बस्ति में भारीपन हो जाता है। अश्मरी रूप बना रक्त जब बस्ति से बाहर होजाता है तो बस्ति में लघुता आ जाती है।

मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा

अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहबस्तिस्नेहोपनाहोत्तरबस्तिसेकान्।
स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान्दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥ ४५ ॥

वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में—(१) अभ्यंजन, वातहर तैल से स्नेहन, निरूहबस्ति, स्वेद (पिण्ड स्वेदादि), उपनाह तथा उत्तर बस्ति एवं परिषेक करना चाहिये। स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, गोखरू) तथा अन्य वातहर (बला, एरण्ड आदि) द्रव्यों से सिद्ध मांसरसों को खाना चाहिये।

पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः।
द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोलयवैश्च तोयोत्क्वथिते कषाये ॥ ४६ ॥
तैलं वराहर्क्षवसा घृतं च तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम्।
तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम् ॥४७॥

(२) चार योग—(१) पुनर्नवा, एरण्डमूल और शतावरी इनके स्नेह से चतुर्गुण कषाय में इन्हींके कल्क से तथा पांचों लवणों से (विड्, सैन्धव, सांभर, सौवर्चल, ओद्भिद) से चतुर्थांश तैल सिद्ध करना चाहिये, इसी प्रकार वराह वसा (सूअर की चर्बी) ऋक्ष की वसा (हरिण या रीछ की चर्बी), तथा गव्य घृत को सिद्ध करना चाहिये। (२) पत्तूर

* अतिमैथुन से शुक्र क्षय होकर फिर रक्त का आना सुश्रुत में लिखा है—
'प्रसेके चाल्पदर्शनं रक्तस्य शुक्रस्य वा।'

(शालिञ्च) वृश्चीर (बिच्छू बूटी), बला, अश्मभिद् (पाषाण भेद) इन चार वस्तुओं के चतुर्गुण कषाय में इन्हीं चारों के कल्क तथा पांचों लवणों से चतुर्थांश तैल सिद्ध करना चाहिये। इनके कषाय में तैल की भांति, गव्यघृत, वराह-वसा, ऋक्ष-वसा पृथक् पृथक् सिद्ध करनी चाहिये (३) द्विपंचमूल (बेल की छाल, अग्निमन्थ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी और गोखरू) इनके कषाय में इन्हीं के कल्क और पांचों लवणों से घृत, तैल, वराहवसा, ऋक्षवसा पृथक् पृथक् सिद्ध करनी चाहिये। (४) कुलथी, बेर, जौ इनको अष्टगुण जल में क्वाथ करके चतुर्थांश रहने पर चतुर्गुण कषाय में इनके कल्क तथा पांचों नमकों के साथ चतुर्थांश तैल, घृत, वराहवसा, ऋक्षवसा पृथक् पृथक् सिद्ध करनी चाहिये। इन तैल, घृत, वराहवसा, ऋक्षवसा को मात्रा में पाने से शूलयुक्त वातजन्य मूत्रकृच्छ्र शीघ्र शान्त होता है।

[अष्टांग संग्रह में इन चारों योगों को एक ही मानकर एक ही साथ घृत, तैल, वराहवसा और ऋक्षवसा को सिद्ध करने का विधान है।]

एतानि चान्यानि वरौषधानि सर्वाणि शस्तान्यपि चोपनाहे।
स्युर्लाभतस्तैलफलानि चैव स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ॥ ४८ ॥

पुनर्नवादि, पञ्चमूलादि, दशमूलादि, कुलथ्यादि ये वस्तुएं तथा तंत्रोक्त अन्य श्रेष्ठ औषधियां जो मिल सकें उनको पीसकर उपनाह करना चाहिये। तैलफलों (तिल, अलसी आदि) को तैल, घृतादि एवं इमली आदि अम्ल वस्तुओं के साथ पीसकर सुहाता सुहाता गरम गरम उपनाह नाभि से नीचे (पेडू पर) बांधना चाहिये।

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्बस्तिपयोविरेकाः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥ ४९ ॥

पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्रों में शीतल परिषेचन, शीतल अवगाहन, शीतल प्रलेप और 'तस्याशितीय' अध्याय में वर्णित ग्रीष्म-ऋतुचर्या का पालन, द्राक्षा, विदारी, गन्ने का रस

इनसे बस्ति देना वा इनसे सिद्ध दूध, घृतों का सेवन और इनके रसों से विरेचन देना चाहिये ।

शतावरीकाशकुशाश्वदंष्ट्राविदारिशालीक्षुकशेरुकाणाम् ।
क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री ॥ ५० ॥
पिबेत्कषायं कमलोत्पलानां शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः ।
दण्डोत्पलानामथवापि मूलं पूर्वेण कल्पेन तथा सुशीतम् ॥ ५१ ॥
एर्वारुबीजं त्रपुषात्कुसुम्भात्सकुङ्कुमः स्याद्वृषकश्च पेयः ।
द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः ॥ ५२ ॥
एर्वारुबीजं मधुकं सदारु पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन ।
दार्वीं तथैवामलकीरसेन समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे ॥ ५३ ॥

पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में—(१) शतावरी, काश की मूल, कुशा की मूल, गोखरू, विदारीकन्द, शालिमूल, इक्षुमूल, कशेरु इनके क्वाथ को शीतल करके मधु और शर्करा के साथ पीना चाहिये । (२) कमल, नील कमल, सिंघाड़ा और विदारीकन्द इनके कषाय को मधुशर्करा के साथ पीना चाहिये । अथवा (३) दण्डोत्पल (अश्म) के मूल का कषाय करके मधु और शर्करा के साथ पीना चाहिये । अथवा (४) शीतल जल मे मधु और शर्करा मिला कर पीना चाहिये । (५) एर्वारू (ककड़ी) के बीजों को द्राक्षा रस के साथ पीस कर पीना चाहिये, (६) त्रपुस (खीरा या तरबूज) के बीजों को द्राक्षा रस के साथ पीस कर पीना चाहिये । (७) कुसुम्भ अर्थात कुसम्भी जिसे हिन्दी में करड़ कहते हैं के बीजों को द्राक्षा रस के साथ पीसकर पीना चाहिये । (८) वृषक (वासा) को कुंकुम (केसर) के साथ पीस कर द्राक्षा रस के साथ पीना चाहिये । ये सब योग अश्मरीजन्य, शर्कराजन्य तथा अन्य सब मूत्रकृच्छ्रों में उत्तम हैं । (९) पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में एर्वारू (ककड़ी) के बीज, मुलहठी और दारुहल्दी इन तीनों को चावल के धोवन से पीस कर पीना चाहिये । (१०) दार्वी (दारुहल्दी) को आंवले के रस के

साथ पीस कर इसमें मधु मिला कर पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में पीना चाहिये ।

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः ।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥ ५४ ॥
व्योषं श्वदंष्ट्रा त्रुटि सारसास्थि कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम् ।
पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैटर्यरसेन वापि ॥ ५५ ॥
तक्रेण युक्तं शितिवारकस्य बीजं पिबेत्कृच्छ्रविघातहेतोः ।
पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥ ५६ ॥
सप्तच्छदारग्वधकेबुकैलाधवं करञ्जं कुटजं गुडूचीम् ।
पक्त्वा जले तेन पिबेद्यवागूं सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा ॥ ५७ ॥

कफजन्य मूत्रकृच्छ्र-चिकित्सा—(१) क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण, उषण (कटु) खानपान, स्वेद, यवान्न, वमन, निरूह बस्तियां और तक्र, तिक्त औषधियों से सिद्ध तैल से अभ्यंग (मालिश) करना चाहिये और तिक्त औषधियों से सिद्ध तैल का ही पान भी कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिये । (२) व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), गोखरू, त्रुटि (इलायची छोटी) और सारस पक्षी की अस्थियां इनको कोल परिमित (आठ मासा) लेकर पीस लेना चाहिये फिर मधु और मूत्र के साथ मिलाकर खाना चाहिये । * (३) त्रुटि (छोटी इलायची) के चूर्ण को मधु में मिलाकर केले की मूल के रस के साथ और कैटर्य (पर्वतीय निम्ब अथवा केवड़ी मोथा के क्वाथ) के साथ पीना चाहिये । [अष्टांगसंग्रह के मत से आंवले के रस के साथ भी पीया जा सकता है। (४) शितिमारक (कुरूटक, करड़ या शालिञ्च) के बीजों को तक्र के साथ पीने से मूत्र कृच्छ्र नष्ट होता है। अथवा (५) कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में—

* 'कृमिसाररसास्थि कोलप्रमाणम्' इति श्री गंगाधरसेनसम्मतः पाठः । क्रिमिसार (वडंग), सास्थि कोल (मज्जायुक्त बेर) है । परन्तु अष्टांग संग्रह में भी 'त्रुटिसारसास्थि' ही पाठ है ।

प्रवाल पिष्टी को चावलों के धोवन के साथ पीना चाहिये । (६) सप्तच्छद, आरग्वध (अमलतास) वेवुक, एला (बड़ी इलायची), धव, कुटज, करंज और गिलोय इनमें प्रत्येक औषध एक कर्ष मात्र लेकर एक प्रस्थ जल में सिद्ध करे । जब आधा शेष रह जाये तब छानकर इसके साथ यवागू सिद्ध करे । इस यवागू को पीना चाहिये । अथवा (६) सप्तच्छदादि ओषधियों को अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये, चतुर्थांश रहने पर छानकर मधु मिलाकर पीना चाहिये ।

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम् ।
त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात्पित्ते विरेकः पवने तु बस्तिः ॥ ५८ ॥

सन्निपातजन्य मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—त्रिदोषजन्य मूत्रकृच्छ्र में—वायु के स्थान को आनुपूर्वी रूप में देखकर वातादि सब दोषों की चिकित्सा को सम्मिलित रूप में करना चाहिये । यदि तीनों दोषों के मध्य में कफ की अधिकता हो तो प्रथम वमन, पित्त की अधिकता हो तो विरेचन और वायु की अधिकता हो तो बस्ति देनी चाहिये ।

क्रिया हिता त्वश्मरिशर्कराभ्यां कृच्छ्रं यथैवेह कफानिलाभ्याम् ।
कार्याश्मरीभेदनपातनाय विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम् ॥ ५९ ॥

अश्मरी-शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—कफजन्य, वातजन्य मूत्रकृच्छ्र की जो चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा अश्मरीजन्य, शर्करा-जन्य मूत्रकृच्छ्र में हितकारी होती है । अश्मरी (पथरी) के भेदन या पातन के लिये विशेष चिकित्सा सुनो—

पाषाणभेदं वृषकं श्वदंष्ट्रा पाठाभयाव्योषशठीनिकुम्भाः ।
हिंस्राखराश्वाशितिमारकाणामेर्वारुकाणां त्रपुषस्य बीजम् ॥ ६० ॥
उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं स्याद् द्वे बृहत्यौ हवुषा वचा च ।
चूर्णं पिबेदश्मरिभिद्विपक्वं सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः ॥ ६१ ॥

(१) पाषाण भेद, वृषक (वांसा) गोखरू, पाठा, हरड़, सोंठ, मरिच, पिप्पली, शटी (कचूर) निकुम्भ (दन्ती), हिंस्रा के बीज, खराह्वा

(अजवायन), शितिमार (शालिञ्च) के बीज, एर्वारुक (ककड़ी) के बीज, त्रपुष (खीरे) के बीज, उपकुञ्चिका (काला जीरा), हींग, अम्ल वेतस, दोनों बृहती (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी), हवुषा (उन्नाव) और वच इनको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये, यह चूर्ण पथरी का भेदक है। पाषाणभेद आदि के कल्क से चतुर्गुण गोमूत्र में घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत अश्मरी-नाशक है।

मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरकोरुबूकात्क्षीरेण पिष्टं बृहतीद्वयं च।
आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय ॥ ६२ ॥

(२) गोखरू, इक्षुरक (तालमखाना), उरुबूक (एरण्ड) की मूल इनको दूध के साथ पीस कर सात दिन तक पीना चाहिये इस से अश्मरी गिर जाती है। छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी के मूल को मधुर दधि के साथ पीसकर इसी दधि में घोल कर सात दिन पीने से अश्मरी नष्ट होती है।

पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्राफल्गुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः।
क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः सुपिष्टं पेयं भवेदश्मरिशर्करासु ॥ ६३ ॥

(३) पुनर्नवा, अयोरज (लोह भस्म), रजनी (हल्दी) श्वदंष्ट्रा (गोखरू), फल्गु (काष्ठोदुम्बरिका, कठमूला), प्रवाल पिष्टि, दर्भपुष्प इनको दूध के साथ या जल के साथ, अथवा मद्य के साथ या गन्ने के रस के साथ पीसकर पीना चाहिये। इससे अश्मरी और शर्करा का भेदन हो जाता है।

त्रुटिं शताह्वां लवणानि[1] पञ्च यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदौ।
कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीजमेर्वारुबीजं त्रपुषस्य बीजम् ॥ ६४ ॥
चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गुमांसीयवानितुल्यं त्रिफलाद्विभागम्।
अम्लैः सशुक्तै रसमद्ययूषैः पेयं हि गुल्माश्मरिभेदनार्थम् ॥ ६५ ॥

(४) एला (बड़ी इलायची), शताह्वा (सौंफ), पांचों नमक (सैन्धव, सौवर्चल, बिड्, औद्भिद, सांभर), कमीला, गोखरू, जवाखार, कुन्दरू, अश्मभेद (पाषाण भेद), एर्वारुक (ककड़ी के बीज), त्रपुष (खीरे के

१. 'सुराह्वां' इति पा०।

बीज) इनको परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये, इस चूर्ण के बराबर चित्रक, हींग, जटामांसी और अजवायन चारों का मिलित चूर्ण (परस्पर चारों समान भाग) मिलाना चाहिये । इस चूर्ण में एला से लेकर त्रपुस तक की वस्तुओं के चूर्ण से दुगुना त्रिफला का चूर्ण मिला देना चाहिये । इस चूर्ण को मात्रा में अम्ल अनुष्ण कांजी या मांसरस, मद्य या यूष के साथ पीना चाहिये । यह चूर्ण गुल्म और अश्मरी को भेदन करता है ।

यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्काद् बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टः ।
शीतोऽश्मभित्स्याद्दधिमण्डयुक्तः पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः ॥ ६६ ॥
जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः शीतो हितश्चाश्मरिशर्कराभ्याम् ।

(५) शिग्रुमूल (शोभांजन की मूल) का कल्क एक कर्ष, मूंग, मसूर आदि एक प्रस्थ, जल १४ प्रस्थ लेकर पकाना चाहिये ! जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब इस यूष को मिलित घृत-तैल यमक में भून लेना चाहिये । इस यूष में से एक प० इच्छानुसार नमक, दधिमस्तु मिलाकर पीना चाहिये । अथवा (६) शोभांजन के मूल के शीतकल्क को जल से पं सकर पीना चाहिये ।

सितोपला वा समयावशूकाः कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि भेषजं स्यात् ॥६७॥

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में —(१) यावशूक (यवक्षार) के बराबर मिश्री मिलाकर जल से पीना चाहिये ।

पीत्वा च मद्यं निगदं रथेन हयेन वा शीघ्रजवेन यायात् ।
तैः शर्करा प्रच्यवते ऽश्मरी तु शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत्ताम् ॥६८॥

(२) निगद नामक मद्य अथवा निर्दोष मद्य को मांसरस के साथ पी कर घोड़े की सवारी अथवा शीघ्रगामी यान से जाना चाहिये । इस प्रकार करने से अश्मरी और शर्करा गिर पड़ती है । यदि इस प्रकार से शर्करा या अश्मरी न गिरे तो शल्यशास्त्र का वेत्ता वैद्य इसको शस्त्र द्वारा बाहर करे । *

* शस्त्रकर्म विधि सुश्रुत में विस्तार से देखो चिकित्सित० अ० ७ ॥

रेतोऽभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात् ।
कार्पासमूलं वृषकाश्मभेदौ बला स्थिरादीनि गवेधुका च ॥ ६९ ॥
वृश्चीर ऐन्द्री च पुनर्नवा च शतावरी मध्वशनाखुपर्ण्यौ ।
तत्क्वाथसिद्धं पवने नरस्य पित्तेऽधिके क्षीरमथापि सर्पिः ॥ ७० ॥
कफे च यूषादिकमन्नपानं संसर्गजे सर्वहितः क्रमः स्यात् ।

शुक्रविघातजन्य मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—(१) शुक्रविघातजन्य मूत्रकृच्छ्र में दोष (वात आदि) को देखकर चिकित्सा करे। कार्पासमूल, वसुक (वकुल), अश्मभेद (पाषाणभेद), बला, स्थिरा आदि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कटेरी और गोखरू), गवेधुका, वृश्चीर (बिच्छू बूटी), ऐन्द्री (इन्द्रायणी), पुनर्नवा, शतावरी, मधुपर्णी (गिलोय), अशनपर्णी (अपराजिता), आखुपर्णी (मूषिकपर्णी) इनके क्वाथ में सिद्ध दूध को अथवा इनके क्वाथ से सिद्ध घृत को पित्ताधिक अथवा वातप्रबल मे देना चाहिये। कफ प्रबल में इन वस्तुओं के क्वाथ में सिद्ध यूष, व्यंजन आदि यवागू अन्नपान देना चाहिये । संसर्गज वात आदि तीनों दोषों में जो क्रम बताया है वह करना चाहिये ।

एवं न चेच्छाम्यति तस्य युञ्ज्यात्सुरां पुराणं मधुकासवं वा ॥७१॥
विहङ्गमांसानि च बृंहणाय बस्तींश्च शुक्राशयशोधनार्थम् ।
शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥ ७२ ॥

(२) यदि इस प्रकार से भी शुक्र-विघातजन्य मूत्रकृच्छ्र शान्त न हो तो रोगी को पुरातन सुरा देनी चाहिये । अथवा (३) पुरातन मधु, पुरातन माध्वीक देनी चाहिये । बृंहण के लिये पक्षियों का मांस देना चाहिये, इससे रोगी जब तृप्त हो जाये तब शुक्राशय के शोधन के लिये उत्तरबस्तियां देनी चाहियें। पक्षियों के मांस से तृप्त तथा बस्ति के शुद्ध होने पर वाजीकरणोक्त वृष्ययोग देने चाहियें तथा प्रिय अनुकूल स्त्रियों की आयोजना करनी चाहिये । *

* शुक्राशय शोधन के लिये उत्तरबस्ति अष्टांगसंग्रह में दी है । यथा—

रक्तोद्भवे तूत्पलनालतालकासेक्षुबालेक्षुकशेरुकाणि ।
पिबेत्सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं विदारीं त्रपुषाणि चैव ॥ ७३ ॥

रक्तमूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा—(१)शल्यादि से आघात होने पर या क्षय के कारण रक्तजन्य मूत्रकृच्छ्र होने पर उत्पल-नाल (कमलनाल), ताल, काश, इक्षुबालिका, इक्षुमूल, कशेरू इनको समान भाग में पीस कर सिता और शहद के साथ पीना चाहिये। (२) गन्ने को चूसना चाहिये । (३) विदारीमूल और खीरे को खाना चाहिये ।

घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं क्षीरेण चैवाष्टगुणेन पेयम् ।
स्थिरादिकानां कतकादिकानामेकैकशो वा विधिनैव तेन ॥ ७४ ॥
क्षीरेण बस्तिर्मधुरौषधैः स्यात्तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन ।
यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितं तु पैत्ते कार्यं तु तच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे ॥ ७५ ॥

(४)घृत के समान गोखरू का स्वरस, तथा स्वरस से आठ गुणे दूध में घृत सिद्ध करके पीना चाहिने । इसी प्रकार से (५) शालपर्णी, पृश्नि-पर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी गोखरू इनमें से प्रत्येक का पृथक् २ स्वरस निकालकर अथवा सबका समस्त रूप में स्वरस निकाल करके स्वरस से अष्टगुण दूध में घृतसिद्ध करके पीना चाहिये । (६) इसी प्रकार से कतक, अश्मरी आदि पूर्वोक्त ओषधियों के स्वरस से पृथक्-पृथक् तथा समस्त रूप में अष्टगुण दूध में घृत सिद्ध करके पीना चाहिये ।

(७) दूध से उत्तरबस्ति देनी चाहिये अथवा (८)जीवनीय गण की मधुर ओषधियों के क्वाथ से बस्ति देनी चाहिये । (९) स्वादुफलों (अखरोट आदि फल) के बीजों से उत्पन्न तैल से बस्ति देनी चाहिये । पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में जो चिकित्सा कही है, शोणित मूत्रकृच्छ्र में वह सब बरतनी चाहिये ।

व्यायामसन्धारणशुष्कभक्ष्यपिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान् ।

शतावरीगोखरू-बृहतीद्वयपुनर्नवोशीरमधुकद्विशारिवार्भायसीलोध्रतृणपंचमूल कषाये क्षीरचतुर्गुणं बलावृक्षकखराह्वोपकुञ्चिकावत्सकत्रपुसैर्वारुबीजशिति-वारकमधुकषड्ग्रन्थाशताह्वाश्मभेदमदनहपुषाकल्कगर्भंतैलमुत्तरबस्तिः ।

खर्जूरशालूककपित्थजम्बूबिसं कषायं च रसं भजेन्न ॥ ७६ ॥

इति मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा।

अपथ्य—मूत्रकृच्छ्र रोगी का व्यायाम, मूत्रादि का रोकना, शुष्क द्रव्यों का खाना, पिष्टान्न, वायु, सूर्य की किरणें, मैथुन, खजूर, शालूक, कपित्थ, जामुन, बिस, तथा कषाय रस का त्याग करना चाहिये।*

हृदयरोग-निदान

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासमदाभिचाराः।
छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि हृद्रोगकर्त्तॄणि तथाऽभिघातः ॥ ७७ ॥

हृदयरोग के कारण—'कियन्तः शिरसीय' (सूत्र० अ० १७) अध्याय में पांच प्रकार के हृद्रोग कहे हैं। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य और कृमिरोगजन्य। ये सब प्रायः तीक्ष्ण व्यायाम से, अति विरेचन से, बस्ति की अधिकता से, वमन के अति योग से, आम दोष से, मूत्रादि के प्रवृत्त वेग को रोकने से तथा शरीर को कृश करने वाले उपवास, प्रमित भोजन आदि से, चिन्ता, भय, त्रास से, गर (संयोगज विष) से, अभिचार से तथा मन के विघात से उत्पन्न होते हैं।

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥ ७८ ॥

सामान्य लक्षण—विवर्णता, मूर्च्छा, ज्वर, कास, हिचकी, श्वास, मुख में विरसता, प्यास, संमोह, वमन, कफ का उत्क्लेश, हृदय स्थान में पीड़ा, अरुचि तथा अन्य इसी प्रकार के लक्षण होते हैं।

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः।
पित्तात्तमोदूयनदाहमोहाः संत्रासतापज्वरपीतभावाः ॥ ७९ ॥

* मूत्राघात रोग का निदान मूत्रकृच्छ्र के समान है, अतः उसे पृथक् नहीं गिना। सुश्रुत में बारह प्रकार के मूत्राघात कहे हैं।

स्तब्धं गुरु स्यात्स्तिमितं च मर्म कफात्प्रसेकज्वरकासतन्द्राः ।
विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ॥ ८० ॥

इति हृद्रोगनिदानम् ।

विशेष लक्षण—हृदय में शून्यता की प्रतीति, द्रव (धक् धक् करना, जोर से धड़कना), शोष (शुष्कता), भेदन की भांति पीड़ा, स्तम्भ (जड़ता), सम्मोह (मूर्च्छा) ये लक्षण वातजन्य हृदय-रोग में विशेष रूप से होते हैं । पित्तजन्य हृदयरोग में—तम (अन्धकार), दूयन (पीड़ा), जलन मूर्च्छा, भय, ज्वर, ताप तथा पीलापन (Anaemia) होता है । कफजन्य हृदय-रोग में—स्तब्धता, भारीपन, मर्म (हृदय) में स्तिमतता (गीले वस्त्र से ढपा रहने की सी प्रतीति), मुख में, नासा में कफ का प्रसेक ज्वर और कास होता है । सन्निपातजन्य हृदय-रोग में—सब दोषों के लक्षण मिश्रित रहते हैं । कृमिजन्य हृदय-रोग में—तीव्र पीड़ा, चुभने के समान वेदना तथा कण्डू (खुजली) होती है । *

तैलं ससौवीरकमस्तु तक्रं वाते प्रपेयं लवणं सुखोष्णम् ।
मूत्राम्बुसिद्धं लवणैश्च तैलमानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम् ॥ ८१ ॥

चिकित्सा—(१) वातजन्य हृदय-रोग में सौवीरक (कांजी), मस्तु या तक्र से युक्त तैल पीना चाहिये । गोमूत्र और पानी समान भाग लेकर इनमें सैन्धा नमक मिला कर सुहाता हुआ गरम गरम पीना चाहिये । पांचों नमकों (सैन्धा, सौवर्चल, विड्, उद्भिद, सांभर) के कल्क के साथ गोमूत्र और जल में तैल सिद्ध करके पीना चाहिये । इससे आनाह, गुल्म तथा हृद्रय-रोग नष्ट होते हैं ।

पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं रास्नां यवान्बिल्वकुलत्थकोलम् ।
पक्त्वा जले तेन विपाच्य तैलमभ्यङ्गपानेऽनिलहृद्गदघ्नम् ॥ ८२ ॥

(२) पुनर्नवा, देवदारु, पंचमूल (बेलगिरी, अरणी, स्योनाक, काश्मरी और पाटला), रास्ना, जौ, बेर, कुलथी और बिल्व इनका अष्ट

* 'कियन्तः शिरसीय' अध्याय में विस्तार से लक्षण लिख चुके हैं ।

गुण जल में क्वाथ करना चाहिये । जब चतुर्थांश रह जाये तब छान कर इसके साथ तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तैल को अभ्यंग तथा पीने में, नस्य में, बस्ति में प्रयोग करने से हृदय रोग नष्ट होता है ।

हरीतकीनागरपुष्कराह्वैर्वयःकयस्थालवणैश्च कल्कैः ।
सहिङ्गुभिः साधितमग्र्यसर्पिर्गुल्मे सहृत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे ॥ ८३ ॥

(३) हरड़, सोंठ, पुष्करमूल, वयस्था (आंवला), कयस्था (गिलोय या छोटी इलायची), लवण, सैन्धव और हींग इनके कल्क से चतुर्गुण जल में गव्य घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत गुल्म, वातजन्य हृदय-रोग तथा पार्श्व-रोग को शान्त करता है ।

सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं महौषधं शट्यभया च कल्काः ।
क्षाराम्बुसर्पिर्लवणैर्विमिश्राः स्युर्वातहृद्रोगविकर्तिकाघ्नाः ॥ ८४ ॥

(४) पुष्कराह्व (पोहकरमूल), फलपूरमूल (मातुलुंग की मूल), महौषध (सोंठ), शटी (कचूर) और हरड़ इनके कल्क को यवक्षार, जल, घृत तथा सैन्धव लवण में मिला कर खाने से हृदय-रोग तथा हृदय में कटने की सी पीड़ा शान्त होती है । *

क्वाथः कृतः पौष्करमातुलुङ्गपलाशभूतीकशटीसुराह्वैः ।
सनागराजाजिवचायमानी सक्षार उष्णो लवणश्च पेयः ॥ ८५ ॥

(५) पुष्करमूल, मातुलुंग (गलगल) की मूल, पलाशबीज, पूतीक (करंज), शटी (कचूर) और देवदारु इनका कषाय करके इस क्वाथ के साथ सोंठ, अजाजी (जीरा), वच, यमानी (अजवायन) इनका चूर्ण पीना चाहिये । सैन्धव लवण के साथ यवक्षार मिला कर गरम पानी के साथ पीना चाहिये ।

पथ्याशटीपुष्करपञ्चकोलान्समातुलुङ्गान् यमकेन कल्कः ।
गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो हृत्पार्श्वपृष्ठोदरयोनिशूले ॥ ८६ ॥

(६) पथ्या (हरड़), कचूर, पुष्करमूल, पंचकोल (पिप्पली,

* अष्टांगसंग्रहे 'अम्ल' इति पाठः ।

पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और मरिच) और मातुलुंग की मूल इनके कल्क को गुड़, प्रसन्ना और सैन्धव नमक में मिला कर घृत और तैल यमक में भूनना चाहिये। यह हृदयशूल, पार्श्वशूल, उदरशूल और योनिशूल को नष्ट करता है।

स्यात्त्र्यूषणं द्वे त्रिफले सपाठे निदिग्धिकागोक्षुरकौ बले द्वे।
ऋद्धि[1]स्त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता मेदे[2] मधूकं मधुकं स्थिरा च॥ ८७॥
शतावरी जीवकपृश्निपर्ण्यौ द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सुपिष्टैः।
प्रस्थं घृतस्येह पचेद्विधिज्ञः प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण॥ ८८॥
मात्रां पलं चार्धपलं पिचुं वा प्रयोजयेन्माक्षिकसंप्रयुक्तम्।
श्वासे सकासे त्वथ पाण्डुरोगे हलीमके हृद्ग्रहणीप्रदोषे॥ ८९॥

(७) त्र्यूषणादि घृत—कल्कार्थ—त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पिप्पली), दोनों त्रिफले [(१) हरड़, बहेड़ा, आंवला, (२) द्राक्षा, काश्मरी और फालसा], पाठा, छोटी कटेरी, गोखरू, बला, अतिबला, मेदा, महामेदा, त्रुटि (छोटी इलायची), तामलकी (भूईं आंवला), स्वयंगुप्ता (कौंच), त्रुटि (इलायची छोटी दो बार हाने से दुगनी), मधूक (महुआ), मधुक (मुलहठी), स्थिरा (शालपर्णी), शतावरी, जीवक, पृश्निपर्णी इन सब वस्तुओं में प्रत्येक वस्तु एक एक अक्ष लेकर पीस लेना चाहिये। घृत १ प्रस्थ, भैंस की दधि दो प्रस्थ लेकर कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घृत को शीतल होने पर चतुर्थांश मधु मिला देना चाहिये। ॐ

इस घृत की पल मात्रा (उत्तम मात्रा), अर्धपल (मध्यम मात्रा), पिचु मात्रा (अधम मात्रा), श्वास, कास, पाण्डुरोग, हलीमक, हृदयरोग और ग्रहणी रोग में बलानुसार प्रयोग करनी चाहिये।

ॐ अष्टांगसंग्रह में ऋद्धि, पंचमूल लघु अधिक हैं, त्रिफला और त्रुटि एक हैं।

१. 'मेदे'........, २. 'त्रुटि' इति पा०।

शीताः प्रदेहाः परिषेचनं च तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे ।
द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्याच्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम् ॥ ९० ॥

(८) पित्तज हृदय रोग की चिकित्सा—पित्तजन्य हृदय रोग में शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक, शीतल विरेचन देने चाहियें। द्राक्षा, सिता, मधु और फालसे के अर्धशृत क्वाथ से सिद्ध अन्नपान, पैत्तिक हृदय-रोग और मूत्रकृच्छ्र रोग में देना चाहिये ।

यष्ट्याह्वतिक्तकरोहिणीभ्यां कल्कं पिबेच्चापि सिताजलेन ।
क्षतेषु सर्पींषि हितानि सर्पिर्गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक् ॥ ९१ ॥

(९) मुलहठी और तिक्त रोहिणी (कुटकी) दोनों को समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को सिता (मिश्री) से मिश्रित जल के साथ पीना चाहिये ।

द्रव्याद्द्विषद्धन्वरसांश्च गव्यक्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु ।
तैरेव सर्वं प्रशमं प्रयान्ति पित्तामयाः शोणितसंश्रया ये ॥ ९२ ॥

(१०) धन्व (जांगल) पशु-पक्षियों के मांसरस को खाने वालों तथा अन्न, गाय का दूध, पीने वालों को क्षतक्षीण चिकित्सा में वर्णित, घृत तथा सर्पिर्गुड देने चाहियें, इनके देने से पित्तजन्य हृदय-रोग तथा अन्य पित्तरोग तथा रक्ताश्रित रोग शान्त हो जाते हैं ।

द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्कराभिः खर्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च ।
काकोलिमेदायुगजीवकैश्च क्षीरं च सिद्धं महिषीघृतं स्यात् ॥ ९३ ॥

(११) तीन घृत—(१) द्राक्षा, बला, श्रेयसी (रास्ना) और शर्करा इनके कल्क से चतुर्गुण दूध मे भैंस का घृत सिद्ध करना चाहिये । (२) खजूर, वीरा (शतावरी), ऋषभक, उत्पल (कमल) इनके कल्क से चतुर्गुण दूध में भैंस का घृत सिद्ध करना चाहिये । (३) काकोली, मेदा, महामेदा और जीवक इनके कल्क से चतुर्गुण दूध में भैंस का घृत सिद्ध करना चाहिये ।

कशेरुकाशैवलशृङ्गवेरप्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य ।

ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत्तः क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम् ॥ ९४ ॥

(१२) कसेरु, शैवाल (सरवाल), सोंठ, पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी और बिस ग्रन्थि इनके कल्क से चतुर्गुण दूध में भैंस का घृत सिद्ध करना चाहिये। घृत के शीतल होने पर इसमें चतुर्थांश मधु मिला कर पित्तजन्य हृदय रोगों में बरतना चाहिये।

स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वापि।
सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे ॥ ९५ ॥

(१३) तीन घृत—घृत से चतुर्गुण दूध में अथवा घृत से चतुर्गुण गन्ने के रस में या घृत से चतुर्गुण द्राक्षा के रस में स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ा कटेरी और गोखरु) वर्ग के कल्क से घृत सिद्ध करने चाहियें। स्वादु फल (द्राक्षादि फल) के रस और गन्ने का शीतल रस पीना हितकारी है।

स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे।
कौलत्थधान्यैश्च रसैर्यवान्नं पानानि तीक्ष्णानि सशर्कराणि ॥ ९६ ॥

(१४) कफजन्य हृदय रोग की चिकित्सा—रोगी को स्वेदन, वमन, उपवास कराके कफनाशक क्रिया करनी चाहिये। कुलथी और धनिये के रस में पका हुआ यवान्न, कुलथी और धनिये के अर्धश्रृत जल का पान, तीक्ष्ण अन्नपान को शर्करा के साथ मिला कर खाना चाहिये।

मूत्रे शृताः कट्फलशृङ्गवेरपीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः।
कृष्णाशटीपुष्करमूलरास्नावचाभयानागरचूर्णकं च ॥ ९७ ॥

(१५) कट्फल, सोंठ, पीतद्रु (तिनश), पथ्या (हरड़), अतीस इनका गोमूत्र में कषाय करके पीना चाहिये। शटी (कचूर), सोंठ, वच, उपकुल्या (जीरा), रास्ना, वचा, पुष्करमुल इनको समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये।

उदुम्बराश्वत्थवटार्जुनाख्ये पलाशरोहीतकखादिरे च।
क्वाथे त्रिवृत्त्र्यूषणचूर्णसिद्धो लेहः कफघ्नोऽशिशिराम्बुयुक्तः ॥ ९८ ॥

(१६) दो अवलेह—(१) उदुम्बर (गूलर), पीपल, बरगद, अर्जुन इनके क्वाथ में अथवा पलाश, रोहितक (रोहेड़ा), खैर की छाल इनके क्वाथ में निशोथ, त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पिप्पली) इनका चूर्ण मिला कर पाक करना चाहिये। जब अवलेह की भांति गाढ़ा हो जाय तो उतार लेना चाहिये। इस अवलेह को गरम पानी के साथ खाना चाहिये।

शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः प्रयोजयेत्कल्पविधानदृष्टम्।
प्राश्याऽथवाऽगस्त्यहरीतकी च रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः ॥ ९९ ॥

(१७) रसायन-कल्प में वर्णित विधि से शिलाजतु नामक लेह को खाना चाहिये। च्यवनप्राश, अगस्त्य हरीतकी अवलेह, ब्राह्म रसायन, आमलकी रसायन का प्रयोग करना चाहिये।

त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्यादन्नं च सर्वत्र हितं विधेयम्।
हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ॥ १०० ॥

(१८) सन्निपातजन्य हृदयरोग की चिकित्सा—त्रिदोषज हृदय-रोग में सबसे प्रथम रोगी को लंघन कराना चाहिये। वातादि तीनों दोषों का मिलित खान-पान इसमें देना चाहिये। दोषों की हीन, मध्यम तथा अधिक मात्रा देखकर तीनों दोषों की चिकित्सा करनी चाहिये।

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं जीर्णे स्थितं चेत्सुरदारुकुष्ठम्।
सतिल्वकं द्वे लवणे विडङ्गमुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत्सः ॥ १०१ ॥

(१९) त्रिदोषज हृदयरोग में—भुक्तमात्र (भोजन करते समय) अधिक शूल उत्पन्न होता है, तथा अन्न के जीर्ण होने के समय शूल घट जाता है। अन्न के जीर्ण हो जाने पर शूल स्थिर हो जाता है (नष्ट हो जाता है)। इस रोगी को देवदारु, कुष्ट, तिल्वक (लोध), सैन्धव लवण, सौवर्चल लवण, बायविडंग और अतिविषा इनको समान भाग लेकर इनका चूर्ण करके गरम पानी के साथ देना चाहिये।

जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात्फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात्।

त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ॥१०२॥

(२०) जिस त्रिदोषज हृदयरोग में अन्न के जीर्ण होने पर शूल की अधिकता हो उसमें ऐरण्ड तैलादि विरेचन देना चाहिये। यदि त्रिदोषज हृदयरोग में अन्न के जीर्ण होते समय (पच्यमानावस्था) में शूल की अधिकता हो तो द्राक्षा, काश्मरी, हरीतकी आदि फलों से अथवा विरेचनोक्त फलिनी ओषधियों के फलों से विरेचन देना चाहिये। और यदि त्रिदोष जन्य सन्निपात में भुक्तमात्र, पच्यमानावस्था तथा जीर्ण होजाने पर तीनों समयों में वेदना की अधिकता रहती हो तो मूल विरेचन (त्रिवृत् मूलादि से) देना चाहिये अथवा मूलिनी वनस्पतियों में तीक्ष्ण मूल विरेचन देना हितकारी है।

प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात्।
कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च सर्वं क्रिमघ्नं कृमिहृद्गदे च ॥ १०३ ॥

इति हृद्रोगचिकित्सा।

(२१) कृमिजन्य हृदयरोग की चिकित्सा—कृमिजन्य हृदयरोग में चूंकि वायु अवरुद्ध होकर आमाशय में पहुंच जाती है, इसलिये सबसे प्रथम उसको शोधन (वमन-विरेचन) देना चाहिये, पीछे से रोगी की लंघन तथा पाचन से चिकित्सा करनी चाहिये। कृमिनाशक भेषज जो प्रथम कही हैं, वे सब बरतनी चाहिये। [कृमिरोग की चिकित्सा व्याधित रूपीय विमानस्थान में कही हैं]।

नासारोग-चिकित्सा

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ॥ १०४ ॥
संस्थानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत् तु।

प्रतिश्याय के कारण—मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, अजीर्ण रज (धूल) के नासा में जाने से, बहुत बोलने से, क्रोध से, ऋतु की विषमता से, शिरोरोग के कारण, रात्रि में जागने से, अतिस्वप्न

(दिन में सोने से), जल के कारण शीत लगने से, अवश्याय (ओस) से, मैथुन से, वाष्प एवं धूम के नासा में जाने से, शिर में कफादि दोष के संचित होने पर दूषित वायु प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न करती है । *

घ्राणार्तितोदैः क्षवथुर्जलाभः स्रावोऽनिलात्सस्वरमूर्धरोगः ॥ १०५ ॥
नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोषतृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात् ।
कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः कफाद् गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः ॥१०६॥
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्स्युः पीनसे तीव्ररुजेऽतिदुःखे ।
सर्वोऽनिवृद्धोऽहितभोजनात्तु दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात् ॥१०७॥
ततश्च रोगाः क्षवथुः सनासाशोषः प्रतीनाहपरिस्रवौ च ।
घ्राणास्यपूतित्वमपीनसश्च सपाकशोथार्बुदपूयरक्ताः ॥ १०८ ॥
अरूंषि शीर्षश्रवणाक्षिरोगाः खालित्यहर्यर्जुनलोमभावाः ।
तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्तवैस्वर्यशोषाश्च ततो भवन्ति ॥ १०९ ॥

लक्षण—वातजन्य प्रतिश्याय में—नासिका में पीड़ा तथा चुभने के समान वेदना, छींकों का आना, जल के समान नासिका से स्राव, स्वरभंग तथा शिर में वेदना होती है । पित्तजन्य प्रतिश्याय में—नासा के अग्र-भाग में पाक (रक्तिमा), ज्वर, मुख में शुष्कता, तृष्णा, रक्तपित्त का स्राव (रक्त का आना) होता है । कफजन्य प्रतिश्याय में—कास, अरुचि, नासिका से गाढ़े स्राव का आना, नासा स्रोतों में तीव्र कण्डू (खुजली) होती है । सन्निपातजन्य प्रतिश्याय में अतिशय वेदना होती है तथा वात आदि तीनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं । * सब ही प्रतिश्याय अहितकारी भोजन के सेवन से तथा उपेक्षा करने पर दुष्ट प्रतिश्याय में बदल जाते हैं । इस दूषित प्रतिश्याय से क्षवथु रोग, नासा-शोष, प्रतीनाह, परिस्रावी, नासिका-पूतित्व, अपीनस, नासापाक, नासाशोथ, नासार्बुद, नासापूय, नासारक्त, अरुष्, शिरोरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, खालित्य, बालों का श्वेत

* सुश्रुत में इकतीस नासारोग बतलाये हैं । विस्तार सुश्रुत में देखो ।

या भूरा होना, ताप, कास, श्वास, ज्वर, रक्तपित्त, विवर्णता तथा शोष रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

रोधाभिघातस्रवशोषपाकैर्घ्राणं युतं यश्च न वेत्ति गन्धम्।
दुर्गन्धि चास्यं बहुशः प्रकोपि दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत्तम्॥ ११०॥

दूषित प्रतिश्याय का लक्षण—घ्राण (नासिका) के रुक जाने से नासिका के अभिघात से अथवा नासिका में स्राव के शुष्क होने से या नासिका के पाक हो जाने से जो मनुष्य गन्ध को नहीं पहिचानता, मुख से दुर्गन्ध आती हो तथा बारबार प्रतिश्याय होता हो तो इसको दुष्ट प्रतिश्याय कहना चाहिये।

संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विश्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति।

क्षवथु—शिर के समस्त मार्गों में स्थित वायु नासा के मर्मों का स्पर्श करके क्षवथु उत्पन्न करता है।

क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासाशृङ्गाटकघ्राणविशोषणं च॥ १११॥
उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्।

नासाशोष—कुपित वायु कफ को शुष्क करके नासा शृङ्गाटकों (नासा-पुटकों) का तथा घ्राणों (नासाओं) का विशोषण कर देते हैं, इस को 'नासा-शोष' कहते हैं।

घ्राणाद्घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम्॥ ११२॥

प्रतीनाह—जब वायुमिश्रित कफ रोगी के उच्छ्वास-मार्ग को बन्द कर देता है तब पुरुष को 'प्रतीनाह' रोग हो जाता है।

यो मस्तुलुङ्गाद्घनपीतपक्वः कफः स्रवेदेष परिस्रवस्तु।

नासा-परिस्रव—मस्तुलुंग (मस्तिष्क) से घना पीले रंग का और पका हुआ कफ बहता है, इसको 'नासा-परिस्रव' कहते हैं।

वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु स्यात्पूतिनस्यं श्वयथुर्भ्रमश्च॥ ११३॥

घ्राणपूतित्व—प्रतिश्याय की अपेक्षा से विवर्णता तथा दुर्गन्ध

नासा में उत्पन्न हो जाती है। नासा में शोथ तथा रोगी को चक्कर आते हैं, इसको 'घ्राणपूतित्व' कहते हैं।

आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ॥ ११४॥
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्।

पीनस—जिस पुरुष की नासा फैली रहती है, शुष्क रहती है, अथवा क्लिन्न (आर्द्र) रहती है, रोगी गन्ध और रसों को नहीं पहिचानता; उस पुरुष को अपीनस रोग से पीड़ित समझना चाहिये। यह अपीनस रोग वातकफजन्य है, इसमें प्रतिश्याय के समान लक्षण होते हैं, [इसीसे सुश्रुत में प्रतिश्याय और अपीनस एक पर्य्याय माने हैं।]

सदाहरागः श्वयथुः सपाकः स्याद्घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्।

नासापाक—नासिका में जलन, रक्तिमा, तथा पकने वाला शोथ (छाले) उत्पन्न हो जाते हैं, यह नासापाकरोग रक्त-पित्त के कारण से उत्पन्न होता है।

घ्राणाश्रितास्रक्प्रभृतीन्प्रदूष्य कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च ॥११५॥

नासाशोथ—वात आदि मल घ्राण (नासिका) में आश्रित रक्त आदि शोथोक्त दूष्यों को दूषित करके नासाशोथ उत्पन्न करते हैं। (यह रोग चार प्रकार का है वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपातजन्य)।

घ्राणे तथोच्छ्वासगतिं निरुद्ध्य मांसास्रदोषादपि चार्बुदानि।

नासार्बुद—नासिका में मांस के दूषित होने से उच्छ्वासगति को रोककर सात प्रकार के अर्बुद उत्पन्न होते हैं।

घ्राणात्स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पित्तात्कमस्रं त्वपि पूयरक्तम् ॥११६॥

पूयरक्त—नासिका से अथवा मुख से पित्त से मिला रक्त (पीला रक्त) बहे तो इसको पूय-रक्त कहते हैं।

कुर्यात्सपित्तः पवनस्त्वगादीन्संदूष्य चारूंषि सपाकवन्ति।

अरुष्—पित्तयुक्त वायु कफ-रक्तादि को दूषित करके दाह तथा पाक युक्त 'अरुष्'रोग को उत्पन्न करता है।

अरूष्रोग शिर में उत्पन्न होता है।

नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति ॥ ११७ ॥

इति पीनसनासारोगनिदानम्।

दीप्त—नाक जलती हुई प्रतीत हो उसे दीप्त रोग कहते हैं।

[सुश्रुत में भ्रंश रोग अधिक पढ़ा है और उसका लक्षण निम्न दिया है—भ्रंश में नासिका से घना गाढ़ा लवणयुक्त कफ गिरता है।]

शिरोरोग-निदान

भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात्पित्तात्सदाहार्तिकफाद्गुरु स्यात्।
सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिभिस्तु कण्डूदौर्गन्ध्यतोदार्तियुतं शिरः स्यात्॥११८॥

इति शिरोरोगनिदानम्।

'कियन्तः-शिरसीय' अध्याय में पांच प्रकार के शिरोरोग विस्तार से कह दिये हैं, यहां संक्षेप में उनका वर्णन करते हैं—

(१) वातजन्य शिरोरोग में अतिशय पीड़ा, शूल तथा धमनियों में स्फुरण (धक् धक्) होता है। (२) पित्तजन्य शिरोरोग में शिर के अन्दर जलन, पीड़ा तथा स्फुरण होता है। (३) कफजन्य शिरोरोग में शिर भारी तथा स्फुरण होता है। (४) त्रिदोषज शिरोरोग में सब दोषों की भांति शिर में स्फुरण होता है। (५) कृमिजन्य शिरोरोग में कण्डू, दुर्गन्ध, तोद (चुभने की) वेदना होती है।

मुखामये मारुतजे तु शोषकार्कश्यरौक्ष्याणि चला रुजश्च।
कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं प्रस्रंसनस्पन्दनतोदभेदाः ॥ ११९ ॥

मुखरोग—वातजन्य मुखरोग में—सूजन, कर्कशता, रूक्षता, तथा अति वेदना होती है। काला या लाल-काला थूक मुख से आता है, तोद (चुभने के समान वेदना), भेदनवत् पीड़ा होती है।

तृष्णाज्वरस्फोटकतालुदाहा धूमायनं चाप्यवदीर्णता च।

पित्तात्समूर्च्छा विविधा रुजश्च वर्णाश्च शुक्लारुणवर्णवर्ज्याः॥१२०॥

पित्तजन्य मुखरोग में—तृष्णा, ज्वर, छाले, जलन, पकना, मुख से धूम निकलने की प्रतीति (दाह की अधिकता); मुख का फटना, मूर्च्छा, नाना प्रकार की वेदनायें, शुक्ल लाल और पाण्डुवर्ण को छोड़कर अन्य वर्ण मुख में हो जाते हैं।

कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं स्वेदोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ।
उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे॥ १२१॥

कफजन्य मुखरोग में—कण्डू (खुजली), भारीपन, मुख में श्वेत वर्ण तथा चिकनास (पिच्छिल) होता है। रोगी को पसीना, अरुचि, जड़ता (आलस्य) मुख से लालास्राव, वमन की इच्छा, मन्दाग्नि, तन्द्रा तथा धीमी २ वेदनायें होती हैं।

सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्ररोगे भवन्ति यस्मिन्स तु सर्वजः स्यात्।

सन्निपातजन्य मुखरोग में—वातादि तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रहते हैं।

संस्थानदूष्याकृतिनामभेदाच्चैते चतुःषष्टिभिदा भवन्ति॥ १२२॥
शालाक्यतन्त्रे विहितानि तेषां निमित्तरूपाकृतिभेषजानि।
यथाप्रदेशं तु चतुर्विधस्य क्रियां प्रवक्ष्यामि मुखामयस्य॥ १२३॥

इति मुखरोगनिदानम्।

ये चार प्रकार के मुखरोग संस्थान, दूष्य, आकृति और नामभेद से ६४ प्रकार के हो जाते हैं। शालाक्यतंत्र में प्रधान रूप से इनके निमित्त, रूप, आकृति और ओषधियों का वर्णन है। चार प्रकार के मुखरोगों की चिकित्सा यथास्थान कहेंगे। ※

※ सुश्रुत में मुखरोग ६५ कहे हैं और ये सात स्थानों में प्रकट होते हैं जैसे—ओष्ठ में ८, दन्तमूल में १५, दांतों में ८, जिह्वा में ५, तालु में ९, कण्ठ में १७ और सम्पूर्ण मुख में तीन। इस प्रकार से ६५ हैं। विस्तार के लिये सुश्रुत अ० १६ व माधवनिदान देखो॥

अरुचि

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः ।
अरोचकाः स्युः परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १२४ ॥
कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम् ।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबन्धसंबद्धयुतं कफेन ॥ १२५ ॥

निदान—शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध, मन को उद्विग्न करने वाले भोजन या रूप अथवा गन्ध के कारण वात आदि दोषजन्य अरुचि रोग उत्पन्न होता है।

वातजन्य अरुचि में—दांतों में हर्ष तथा मुख का स्वाद कषाय रस रहता है। पित्तजन्य अरुचि में—मुख में कटु, अम्ल या उष्ण रस, मुख में विरसता, दुर्गन्ध तथा नमकीन स्वाद रहता है। कफजन्य अरुचि में मुख में मधुरता पिच्छिलता, भारीपन, शीतलता, मुख विबन्ध से युक्त (रुका हुआ सा) रहता है।

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।
स्वाभाविकं चास्यमथोऽरुचिश्च त्रिदोषजे नैकरसं भवेत् तु ॥१२६॥
इत्यरोचकनिदानम् ।

शोक, भय, अति लोभ, क्रोध आदि, हृदय के लिए अप्रिय, अपवित्र गन्ध आदि से उत्पन्न, अरुचि में मुख का स्वाद स्वाभाविक रहता है तथा रोगी को अरुचि होती है। सन्निपातजन्य अरुचि में मुख के अन्दर अनेक रस होते हैं।

कर्ण-रोग

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।
शोफः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥ १२७॥
वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्लस्निग्धा स्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक् च ।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥ १२८ ॥
इति कर्णरोगनिदानम् ।

वातजन्य कर्ण रोग—कर्ण में नाद (शब्द), कान में अति वेदना, कर्ण मल की शुष्कता, स्राव थोड़ा तथा पतला और सुनाई नहीं देता या कम सुनाई देता है। पित्तजन्य कर्णरोग में—कान में सूजन, लालिमा, विदीर्णता, जलन, पीला, दुर्गन्धयुक्त स्राव होता है। कफजन्य कर्णरोग में—सुनाई न देना, कण्डू, स्थिर, शोथ तथा शुक्ल (श्वेत) और स्निग्ध स्राव तथा मन्द वेदना होती है। सन्निपातजन्य कर्णरोग में—तीनों दोषों के लक्षण होते हैं तथा जिस दोष की अधिकता होती है, उसी के वर्ण का स्राव होता है। [सुश्रुत में कर्णरोग अट्ठाईस कहे हैं।]

नेत्र-रोग

अल्पाश्रुरागाऽनुपदेहताश्च प्रस्पन्दतोदातिरुजश्च वातात्।
पित्तात् तु दाहातिरुजोऽतिरागाः पीतोपदेहः सुभृशोष्णमश्रु ॥१२९॥
शुक्लोपदेहो बहुपिच्छिलाश्रु नेत्रं कफात्स्याद् गुरुता सकण्डूः।

निदान—वातजन्य नेत्ररोग में थोड़ी सी रक्तिमा रहती है, उपलेप का अभाव, तोद (चुभने की वेदना) और भेद होता है। पित्तजन्य नेत्र रोग में—पीला उपलेप (स्राव), अति उष्ण स्राव, जलन, अति वेदना और लालिमा होती है। कफजन्य नेत्ररोग में—शुक्ल (श्वेत) उपलेप, बहुत चिकना स्राव, आखों में आंसू, भारीपन और कण्डू होती है। सन्निपातजन्य नेत्ररोग में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् षट्सप्ततिर्नेत्रगदास्तु भेदात् ॥१३०॥
तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ॥१३१॥
इति नेत्ररोगनिदानम्।

वातादिजन्य ये चार अक्षि रोग—संस्थान, दूष्य, आकृति और नाम भेद से ७६ प्रकार के हैं। इन छिहत्तर नेत्ररोगों का विस्तार और इनकी चिकित्सा शालाक्य तंत्र में विस्तार से कही है। इस काय-चिकित्सा

प्रधान तंत्र में दूसरों के अधिकार की वस्तु को विस्तार से कहना युक्ति-संगत नहीं है, इसलिये हमने इसके विस्तार में प्रयत्न नहीं किया।⊛

[यहां पर नेत्र रोगों की ७६ संख्या वैदेह के मत से कही है। कराल के मत से नेत्ररोगों की संख्या ९६ है और कौशिक के मत से ८० नेत्ररोग हैं।]

तेजः सवातं खलु केशभूमिं दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात्खलितिं नरस्य।
किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम् ॥१३२॥

इति खालित्यनिदानम्।

खालित्य—वात से युक्त पित्त (तेज), केशभूमि (बालों की जड़) को जला कर पुरुष में खालित्य रोग (गंजापन) को उत्पन्न कर देता है। वात से युक्त तेज केशभूमि को अल्प मात्रा में जला कर बालों को पलित (श्वेतवर्ण) कर देता है, इसी प्रकार से केश भूमि को थोड़ा जला कर बालों में हरित वर्ण उत्पन्न कर देता है।

इत्यूर्ध्वजत्रूत्थगदैकदेशः प्रोक्तश्चिकित्सां तु परां निबोध।
विस्तारतः संग्रहतश्च सम्यग्यथाक्रमं सौम्य मयोच्यमानाम् ॥१३३॥

उपसंहार—इस प्रकार से ऊर्ध्व-जत्रुगत रोगों का एक देशीय रूप (संक्षेप) में कह दिया है। विस्तार से नहीं कहा है। इसके आगे विस्तार से संकलित यथाक्रम कही हुई चिकित्साविधि सुनो।

वातासकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्।
पिबेद्रसं पयश्चोष्णं स्नैहिकं धूममेव वा ॥ १३४ ॥

नूतन प्रतिश्याय की चिकित्सा—(१) वातजन्य नवप्रतिश्याय में यदि रोगी को कास तथा स्वरभंग भी हो तो यवक्षारयुक्त घृत, मांसरस वा गरम पानी या गरम दूध पीना चाहिये, स्नेहिक धूम का प्रयोग करना चाहिये।

⊛ आंख के ७६ रोग निम्न प्रकार से हैं—वात से १०, पित्त से १०, कफ से १३, रक्त से १६, सन्निपात से २५, बाह्य रोग २७, योग ७६ ॥

शताह्वात्वग्बलामूलं श्योनाकैरण्डबिल्वजम् ।
सारग्वधं पिबेद्वर्ति मधूच्छिष्टवसाघृतैः ॥ १३५ ॥
अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसंपुटे ।
नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रकल्पयेत् ॥ १३६ ॥

(२) तीन धूम – (१) शताह्वा (सौंफ), त्वक् (दालचीनी) बला मूल (खरैंटी की जड़) अथवा (२) श्योनाकमूल, एरण्ड मूल इनके चूर्ण को, (३) अमलतास का मूल इनको मधूच्छिष्ट (मोम , वसा और घृत में मिलाकर वर्त्ति बनाकर धूम पीना चाहिये ।

(३) अथवा जौ आदि के सत्तुओं को घृत में मिलाकर मल्लक संपुट अर्थात् शराब या चिलम में रखकर अग्नि पर गरम करके इनका धूम नव-प्रतिश्याय में रोगी को देना चाहिये ।

शङ्खमूर्धललाटार्तौ पार्श्वस्वेदोपनाहनम् ।
स्वभ्यक्ते क्षवथुस्रावरोधादौ संकरादयः ॥ १३७ ॥

(४) शंख (कनपटी) मूर्द्ध (शिर), ललाट के पार्श्वों पर, हाथों पर स्वेद और उपनाहन करना चाहिये । क्षवथु रोग में स्राव के रुकजाने पर शरीर पर तैल का अभ्यंग करके संकरादि (प्रच्छन्न करके दिये जाने वाले) स्वेद देने चाहियें ।

घ्रेयाश्च रोहिषाजाजीवचातर्कारिचोरकाः ।
त्वक्पत्रमरिचैलानां चूर्णो वा सोपकुञ्चिकः ॥ १३८ ॥

(५) रोहिष (कत्तृण) तर्कारी (जीवन्ती) का मूल, वचा, जीरक, चोरक, दालचीनी, तेजपात, मरिच, बड़ी इलायची, उपकुञ्चिका (काला जीरा), इनके चूर्ण को वस्त्र में बांधकर सूंघना चाहिये ।

स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षिशोषे तैलं सनावनम् ।

(६) वातप्रतिश्याय में—नासा स्रोत, शृङ्गाटक, नाक और आंख के शुष्क हो जाने पर निम्नलिखित अणु तैल से नावन (नस्य) करना चाहिये ।

प्रभाव्याजे तिलान् चिरं तेन पिष्टांस्तदूष्मणा ॥ १३९ ॥

मन्दस्विन्नान्सयष्ट्याह्वचूर्णांस्तेनैव पीडयेत् ।
दशमूलस्य निःक्काथे रास्नामधुककल्कवत् ॥ १४० ॥
सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वो नु तत्स्मृतम् ।

(७) अणु तैल—काले तिलों को बकरी के दूध की भावना देनी चाहिये । फिर इन तिलों को बकरी के दूध के साथ पीस लेना चाहिये । फिर एक हांड़ी में बकरी का दूध भर कर उसके मुख पर कपड़ा बांध कर इन तिलों को रख देना चाहिये, हांड़ी के नीचे आग जलानी चाहिये । जब दूध की उष्णिमा से तिल कुछ कुछ स्विन्न हो जाये तब इनको लेकर इनमें बराबर का मुलहठी का चूर्ण मिला कर तथा बकरी का दूध मिला कर कोल्हू में तेल निकाल लेना चाहिये । फिर इस तैल से चतुर्गुण दश-मूल का क्काथ तथा स्नेह से चतुर्थांश रास्ना, मुलहठी और सैन्धव लवण इनका मिलित कल्क मिला कर तैलपाक विधि से तैल सिद्ध करना चाहिये । फिर इसी प्रकार दशमूल क्काथ में रास्नादि के कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये । इस प्रकार दस वार तैल सिद्ध करना चाहिये । दस वार सिद्ध किये इस तैल को 'अणु तैल' कहते हैं ।

स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरेद्वातपीनसे ॥ १४१ ॥
स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम् ।
उष्णाम्बुना स्नानपाने निवातोष्णप्रतिश्रयः ॥ १४२ ॥
चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टाव्यवायविरतो भवेत् ।
वातजे पीनसे धीमानिच्छन्नेवात्मनो हितम् ॥ १४३ ॥

यह आम-प्रतिश्याय की चिकित्सा है । पक्व पीनस में रोगी को स्निग्ध (तैलादि) करके आस्थापन बस्ति द्वारा दोषों को निकालना चाहिये । घृतादि से स्निग्ध, अनार, आंवले आदि से अम्ल और उष्ण ग्राम्यादी मांस-रसों के साथ लघु अन्न देना हितकारी है । गरम पानी से स्नान, गरम पानी का पीना हितकारी है । निवात (सीधी वायु न आ सके) तथा उष्ण गृहों में रहना चाहिये । जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपना

कल्याण चाहता हो उसे वातजन्य पीनस में चिन्ता, मैथुन, व्यायाम और अधिक बोलना इससे बचना चाहिये ।

पैत्ते सर्पिः पिबेत्सिद्धं शृङ्गवेरशृतं पयः ।
पाचनार्थं पिबेत्पक्के कार्यं मूर्धविरेचनम् ॥ १४४ ॥
पाठाद्विरजनीमूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः ।
दन्त्या च साधितं तैलं नस्यं स्यात्पक्वपीनसे ॥ १४५ ॥

(८) पित्तजन्य प्रतिश्याय में—पित्तहर द्रव्यों (श्रृंगवेर आदि) से सिद्ध घृत पीना चाहिये, सोंठ, अदरक से पका दूध पीना चाहिये। इनसे दोषों का पाचन हो जाता है। पीनस के पक जाने पर शिरोविरेचन देना चाहिये। शिरोविरेचन के लिये—पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, मूर्वा, पिप्पली, चमेली के पत्ते, दन्ती इनके कल्क से सिद्ध पानी के साथ रोगी को पक्व पीनस में नस्य करना चाहिये। ॐ

पूयास्रे रक्तपित्तघ्नाः कषायाः नावनानि च ।
पाकदाहाढ्यरूक्षेषु शीता लेपाः ससेचनाः ॥ १४६ ॥
स्नेहनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः ।

नासापाक, नासादाह तथा नाक में रूक्षता होने पर पूय, रक्तनाशक, और रक्त-पित्तनाशक कषाय और नावन (नस्य) देना और शीतल परिषेक, शीतल प्रलेप करना चाहिये, स्नेह का नस्य तथा स्नेह का उपचार करना चाहिये, इस रोगी को स्वादु और शीतल कषाय हितकारी हैं।

मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद्विरेचनम् ॥ १४७ ॥
घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः ।
शीताम्लास्तिक्तशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः ॥ १४८ ॥

ॐ पाचन के लिये—गुड़, अदरक, क्षीर, त्रिकटुक, आज मांस और मद्य देना चाहिये। [अष्टांगसंग्रह में पद्मकादि घृतपान का प्रयोग दिया है।] पके दोषों पर शिरोविरेक के लिये पुराण घृत में सैन्धव वा घृतमण्ड में कटू फल मिला कर देना लिखा है।

यदि प्रतिश्याय में पित्त की अप्रधानता हो तो एरण्ड-तैलादि स्निग्ध विरेचनों से विरेचन देना चाहिये। भोजन में घृत, दूध, जौ, शालि, गेहूं, जांगल मांस रस, शीत, अम्ल तथा तिक्त शाक और मूंग आदि का यूष हितकारी है।

गौरवारोचकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे।
स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ॥ १४९ ॥

(९) कफाम-पीनस की चिकित्सा—कफजन्य पीनस में गौरव (भारीपन) तथा अरोचकता होने पर सबसे प्रथम लंघन कराना चाहिये। कफ के पाक करने के लिये शिर पर घृत लगाना चाहिये तथा स्वेद और सेक करना चाहिये।

लशुनं मुद्गचूर्णेन व्योषक्षारघृतैर्युतम्।
देयं कफघ्नं वमनमुत्क्लिष्टश्लेष्मणे हितम् ॥ १५० ॥

(१०) यदि कफ का उत्क्लेश हो (वमन की अभिरुचि हो और कफ बाहर न आता हो) तो मूंग के चूर्ण, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का चूर्ण, यवक्षार, घृत से युक्त लशुन को कफनाशक वमन के लिये देना चाहिये।

अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे सकण्डुके।
धूमः शस्तोऽवपीडश्च कटुभिः कफपीनसे ॥ १५१ ॥

(११) अपीनस, पूतिनस्य, नासिका-स्राव, नासा-कण्डू में, धूम तथा अवपीड़न प्रशस्त हैं। कफजन्य पीनस में पिप्पली, मरिचादि कटु फलों से अवपीड़न करना चाहिये।

मनःशिला वचा व्योषं विडङ्गं हिङ्गु गुग्गुलुः।
चूर्णैः प्रायः प्रधमनं कटुभिश्च फलैः सह ॥ १५२ ॥

(१२) मैनसिल, वच, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), बाय-विडंग, हींग, गुग्गुलु इनके चूर्ण को नलिका द्वारा फूत्कार से प्रधमन करना चाहिये। त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) के साथ

पिप्पली, मरिचादि कटु द्रव्य मिला कर नलिका द्वारा नासिका में प्रधमन करना चाहिये ।

भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचिते ।

(१३) भार्गी, मैनफल, तर्कारी (जयन्ती), तथा सुरसादि गण की ओषधियां इनके कल्क से चतुर्गुण जल में सरसों का तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तैल का कफजनित पीनस में नस्य देना चाहिये । यह तैल बलकारक है ।

मूत्रे लाक्षा वचा लम्बा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली ॥ १५३ ॥
कृत्वा कल्कं करञ्जं च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ।

(१४) आर्त्त (कुष्ठ), काल (अगरु), वच, आल (हरिताल); बायविडंग, कूठ (अभाव में पोहकरमूल), पिप्पली और करंज इनके कल्क से चतुर्गुण जल में सरसों का तैल सिद्ध करना चाहिये ।

पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोन्विते कफे ॥ १५४ ॥
स्निग्धस्य व्याहते वेगे छर्दनं कफपीनसे ।
वमनीयशृतक्षीरतिलमाषयवागुभिः ॥ १५५ ॥
यवाग्वा मदनक्षीरतिलमाषोपसिद्धया ।

(१५) परिपक्व पीनस में तथा मेद से मिश्रित कफ के क्षरण होने पर इस तैल का नस्य देना चाहिये । कफ-पीनस में यदि वेग (दोष) रुके हों वा मन्द हों तो रोगी को स्नेहन करके वमन कराना चाहिये । वमन के लिये फलिनी, मूलिनी ओषधियों और वमनीय द्रव्यों से शृत दूध, तिल, माष और यवागू देकर वमन कराना चाहिये । अथवा मदन (मैनफल), दूध, तिल, माष से सिद्ध यवागू द्वारा वमन करना चाहिये ।

वार्ताककुलकव्योषकुलत्थाढकिमुद्गजाः ।
यूषाः कफघ्नमन्नं च शस्तमुष्णाम्बुसेचनम् ॥ १५६ ॥

अन्न—कफनाशक धान्यों से बना अन्न, वार्त्ताक (बैंगन), कुलत्थी,

अरहर, मूंग के यूष को व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली) से सिद्ध करके देना चाहिये, तथा गरम पानी पीना चाहिये।

सर्वजित्पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे च शोफजित्।
क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया सर्वेष्ववेक्ष्य च ॥ १५७ ॥

इति पीनसरोगचिकित्सा।

(१६) सन्निपातजन्य पीनस में तीनों दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये। दूषित पीनस में सब दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिये। प्रतिश्याय से यदि शोफ उत्पन्न हो जाय तो शोफनाशक कार्य करना चाहिये। प्रतिश्याय से अर्बुद, अधिमांस आदि उत्पन्न हो जाय तो क्षार-चिकित्सा करनी चाहिये। सब पीनसादि नासारोगों में रोग-विशेष की क्रिया (चिकित्सा) करनी चाहिये।

शिरोरोग-चिकित्सा

वातिके शिरसो रोगे स्नेहान्स्वेदान्सनावनान्।
पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान् ॥ १५८ ॥
तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः सुखोष्णैश्चोपनाहनम्।
जीवनीयैः सुमनसा मत्स्यैर्मांसैश्च शस्यते ॥ १५९ ॥

(१) वातजन्य शिरोरोग में—रोगी को स्नेहन, स्वेदन और नस्य देना चाहिये, तथा अरहर के उपयोगी वातव्याधि नाशक खानपान देने चाहियें। ज्वर-चिकित्सा में कथित अगुर्वादि गण से सिद्ध अगुर्वादि तैल से शिर में उपनाहन करना चाहिये। जीवनीय गण की दस ओषधियों से शिर में उपनाहन करना चाहिये, मालती आदि के, उत्तम जाति के फूलों से शिर में उपनाहन करना चाहिये, मत्स्यमांस से शिर में उपनाहन करना चाहिये।

रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमार्शिनुत्।
तैलं रास्नाद्धिकाकोलीशर्कराभिरथापि वा ॥ १६० ॥

(२) रास्ना, स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी

और गोखरू) पंचमूल से सिद्ध दूध का नस्य वातजन्य शिरोरोग में हितकारी है। रास्ना, शालपर्णी आदि पंचमूल, काकोली तथा शर्करा से सिद्ध तैल का नस्य लेना चाहिये। रास्नादि के कल्क से चतुर्गुण जल में तिल-तैल सिद्ध करना चाहिये।

बलामधूकयष्ट्याह्वविदारीचन्दनोत्पलैः।
जीवकर्षभकद्राक्षाशर्कराभिश्च साधितः॥ १६१॥
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो जाङ्गलार्धतुलारसे।
नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातपित्तामयापहम्॥ १६२॥

(३) बलादि घृत—कल्कार्थ—बला, मुलहठी, मधूक (महुआ), विदारीकन्द, चन्दन, कमल, जीवक, ऋषभक, द्राक्षा, शर्करा, तैल एक प्रस्थ, दूध एक प्रस्थ, जांगल मांस रस ५० पल लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस तैल का नस्य लेने से हंसली से ऊपर के सब रोग तथा सब वात-रोग और पित्तरोग नष्ट होते हैं।

दशमूलबलारास्नात्रिफलामधुकैः सह।
मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत्तुण्डाङ्घ्रिवर्जितम्॥ १६३॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन्क्षीरसमं पचेत्।
मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम्॥ १६४॥
कर्णाक्षिनासिकाजिह्वाताल्वास्यगलरोगनुत्।
मायूरमिति विख्यातमूर्ध्वजत्रुगदापहम्॥ १६५॥

इति मायूरघृतम्।

(४) स्वल्प-मायूर घृत—क्वाथार्थ—दशमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, स्योनाक, गम्भारी, पाटला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), बला, रास्ना, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) और मुलहठी, पंख, पित्त, आंत्र, मल, मुख और पांव से रहित मोर का मांस और अस्थि इनको अष्ट गुण जल में क्वाथ करना चाहिये, घृत १ प्रस्थ, दूध एक प्रस्थ,

कल्कार्थ—जीवनीय गण की मधुर दस ओषधियां प्रत्येक एक एक कर्ष लेकर इनसे घृत सिद्ध करना चाहिये।

[कहीं २ पर "रास्नामधुकैस्त्रिपलैः सह" यह पाठ है, इस पाठ के अनुसार दशमूल आदि प्रत्येक तीन पल लेने से तेरह द्रव्य मिल कर ९ पल हो जाते हैं, पांख आदि से रहित मयूर मांस भी ३९ पल लेकर अष्ट गुण जल में पकाना चाहिये। दूसरे विद्वान् मयूर का मांस ३९ पल न लेकर एक मोर का मांस जितना हो जाये उतना लेकर अष्ट गुण जल में पकाते हैं। 'त्रिफलामधुकैः सह' इस पाठ में दशमूलादि द्रव्यों के समान ही मयूर का मांस लेना चाहिये। क्योंकि यदि आकृति के अनुसार मांस लिया जाये तो आगे आखु (मूषिक), कुक्कुट आदि मांस ग्रहण में बहुवचन का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है।

अथवा, दशमूलादि सब सोलह वस्तुओं को प्रत्येक डेढ़पल लेकर मिलित २४ पल और मयूर मांस २४ पल लेकर कुल छः शराव लेकर ४८ शराव जल में क्वाथ करना चाहिये। जब १२ शराव रह जाये तब घृत से त्रिगुण इस क्वाथ में घृत के समान दूध मिला कर पाक करना चाहिये।]

यह मायूर घृत शिरोरोग और अर्दित को नष्ट करता है, कर्णरोग, नासा-रोग, अक्षिरोग, जिह्वारोग, मुखरोग और गलरोग तथा ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों को नष्ट करता है।

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
चतुर्गुणेन दुग्धेन कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः॥ १६६॥
जीवन्तीत्रिफलामेदा मृद्वीकर्धिपरूषकैः।
समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीसुरदारुभिः॥ १६७॥
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमुस्तकैः।
मृणालबिसखर्जूरमधूकैश्च सजीवकैः॥ १६८॥
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः।
मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः॥ १६९॥

रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशटिपुष्करैः ।
पुनर्नवातुगाक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः ॥ १७० ॥

मधुकाक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकैरपि ।
द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेन साधितम् ॥ १७१ ॥

तत्पक्वं नावनेऽभ्यङ्गे पाने बस्तौ प्रयोजयेत् ।
शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे ॥ १७२ ॥

मन्यापृष्ठग्रहे शोषे स्वरभेदे तथाऽर्दिते ।
योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं बन्ध्यासुतप्रदम् ॥ १७३ ॥

ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते ।
महामायूरमित्येतद् घृतमात्रेयपूजितम् ॥ १७४ ॥

इति महामायूरघृतम् ।

(७) महामायूर घृत—क्वाथार्थ—दशमूल, बला, रास्ना, त्रिफला, मुलहठी और मयूर मांस इनके घृत से त्रिगुण क्वाथ में, घृत के समान एक प्रस्थ दूध मिला कर अथवा चतुर्गुण क्वाथ में घृत के समान दूध मिला कर जीवन्ती आदि कल्क द्रव्यों को एक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये । कल्क द्रव्य—जीवन्ती, त्रिफला, मेदा, मुनक्का, ऋद्धि, फालसा, समंगा (मजीठ), चविका, भार्गी, काश्मरी, काकड़ाश्रृंगी, आत्मगुप्ता (कौंच), महामेदा, ताड़ का मस्तक, खजूर का मस्तक (ऊपरि भाग), मृणाल, बिस, खजूर का फल, मुलहठी, जीरक, शतावरी, विदारी, गन्ने का मूल, बड़ी कटेरी, शुक्ल सारिवा, कृष्ण सारिवा, मूर्वा, गोखरू, ऋषभक, सिंघाड़ा, कशेरु, रास्ना, शालपर्णी, तामलकी (भूई आंवला), छोटी इलायची, कचूर, पुष्करमूल, पुनर्नवा, वंशलोचन, काकोली, धन्वयासक, मधूक (महुआ), अक्षोट (अखरोट), वाताम (बादाम), मुंजातक (कन्द विशेष), अभिषुक (खिरनी) इन द्रव्यों में से जो भी मिल सकें (इसलिये कल्क के न्यूनाधिक होने में

दोष नहीं, मिलित कल्क स्नेह से चतुर्गुण होना चाहिये), उनसे पूर्व की भांति घृत सिद्ध करना चाहिये । *

इस घृत का पान में, नस्य में, अभ्यंग में तथा बस्ति में उपयोग करना चाहिये । सब प्रकार के शिरोरोगों में, कास में तथा दारुण श्वास में, मन्याग्रह में, पृष्ठग्रह में, शोष में, स्वर-भेद में, अर्दित रोग में, योनि-रोग में, रक्तदोष में, शुक्रदोष में प्रशस्त हैं, यह घृत बन्ध्या स्त्रियों के लिये पुत्रदायक है । यह महामायूर घृत आत्रेय से पूजित है ।

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान् ।
कल्पेनानेन विपचेत्सर्पिरूर्ध्वंगदापहम् ॥ १७५ ॥

अग्निवेश ने निम्न चार प्रयोगों को प्रकाशित किया है । बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि मायूर घृत, महामायूर घृत-साधन विधि से आखु (मूषिक) कुक्कुट, हंस और शशक से भी घृत सिद्ध करे । इनमें भी इन प्राणियों को पक्ष, पित्त, आंत्र, मल, मुख से रहित करके इनके मांस को दशमूलादि क्वाथ द्रव्यों के साथ मिला कर क्वाथ करना चाहिये ।

[घृत से त्रिगुण क्वाथ में घृत के समान दूध मिला कर जीवनीय मधुर गण की ओषधियों से घृत सिद्ध करना चाहिये, यह स्वल्प-आखु-घृत है । जीवन्ती आदि के कल्क से दशमूलादि क्वाथ में, तथा मूषिक के मांस से, घृत के समान दूध से सिद्ध करना चाहिये । यह महाखुघृत है । इसी प्रकार से कुक्कुट घृत, महाकुक्कुट घृत, हंसघृत, महाहंस घृत, शशक घृत, महाशशक घृत सिद्ध करने चाहिये ।]

यह वातजन्य शिरोरोग चिकित्सा कह दी ।

पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः ।
जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत् ॥ १७६ ॥

(८) पित्तजन्य शिरोरोग में—घृत, शीतल परिषेक, शीतल लेप,

---

* अष्टांगसंग्रह की टीका में घृत से चतुर्गुण दूध अर्थात् क्वाथ के समान दूध लेना लिखा है ।

शीतल नावन (नस्य) देने चाहियें । जीवनीय ओषधियों से दूध पका कर इस दूध से निकले मक्खन का पान या नस्य लेना चाहिये, अथवा जीवनीय ओषधियों के क्वाथ और इन्हीं मधुर ओषधियों के कल्क से घृत सिद्ध करके उसका पान करना चाहिये, यह पित्तनाशक है ।

चन्दनोशीरयष्टयाह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः ।
क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम् ॥ १७७ ॥

(९) चन्दन, उशीर (खस), मुलहठी, बला, व्याघ्रनख (नखी) उत्पल इनको बकरी के दूध में पीसकर प्रलेप करना चाहिये । चन्दन, उशीर आदि को क्वाथ-विधि से जल में पकाकर इस क्वाथ से शिर में परिषेचन करना चाहिये ।

त्वक्पत्रशर्कराकल्कः सुपिष्टस्तण्डुलाम्बुना ।
कार्योऽवपीडः सर्पिश्च नस्यं तत्स्यात् तु पैत्तिके ॥ १७८ ॥

(१०) त्वग् (दालचीनी), तेजपात, शर्करा इनको तण्डुलोदक के साथ बारीक पीसकर, पोटली में रखकर दबाकर रस निकालना चाहिये । इस रस का नासापुट में नस्य देना चाहिये और पीछे से घृत का नस्य देना चाहिये, यह एक योग है ।

यष्टयाह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम् ।
नावनं शर्कराद्राक्षामधूकैश्चापि पित्तजे ॥ १७९ ॥

(११) मुलहठी, चन्दन, सारिवा इनके कल्क से चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करके, उससे नस्य देना चाहिये । शर्करा, द्राक्षा और मुलहठी इनके कल्क से चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करके उसका नस्य पित्तजन्य शिरोरोग में देना चाहिये ।

कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः ।
शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत् ॥ १८० ॥
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्बस्तिभिरेव च ।
कफानिलोत्थे दाहस्तु शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥ १८१ ॥

(१२) कफजन्य शिरोरोग की चिकित्सा—कफजन्य शिरोरोग में प्रथम रोगी को रूक्ष स्वेद देना चाहिये, फिर नस्य, धूम, प्रधमनादि से शोधन करके कफनाशक प्रलेप, कफनाशक द्रव्यों से सिद्ध अन्न देने चाहिये । रोगी को दस साल पुरातन घृत पिलाना चाहिये, तीक्ष्ण बस्तियों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

कफ और वातजन्य शिरोरोग में ललाट और शंख-प्रदेश पर दाह करना चाहिये । शेष सन्निपातजन्य और कृमिजन्य शिरोरोगों में रक्तमोक्षण करना चाहिये । [सुश्रुत में ललाट देश में दग्ध करने का प्रयोग है ।]

एरण्डनलदक्षौमगुग्गुल्वगुरुचन्दनैः ।
धूमवर्तिं पिबेद् गन्धैः सकुष्ठतगरैस्तथा ॥ १८२ ॥

(१३) एरण्ड, नलद (नेत्रबाला), क्षौम (रेशम), गुग्गुलु, अगरु, चन्दन आदि गन्ध द्रव्यों में कुष्ठ और तगर को छोड़कर शेष गंध द्रव्यों को पीसकर रेशम पर लगाकर इसको शुष्क कर लेना चाहिये । फिर वर्त्ति को घृत से आर्द्र कर इसका धूम पीना चाहिये ।

[गन्ध द्रव्यों में कुष्ठ और तगर को नहीं बरतना चाहिये । इनके प्रयोग से मस्तिष्क से मस्तुलुंग का स्राव होता है, कहा है—

'न तु कुष्ठं स्रावयतो धूमवर्त्तिं प्रयोजयेत् ।
मस्तुलुंगप्रकर्षेण तस्मात्तं नैव योजयेत् ॥']

सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया ।
क्रिमिजे चैव कर्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ॥ १८३ ॥

(१४) सन्निपातजन्य शिरोरोग में सन्निपात नाशक (त्रिदोष-नाशक) चिकित्सा करनी चाहिये । कृमिजन्य शिरोरोग में तीक्ष्ण शिरो-विरेचन देना चाहिये ।

त्वग्दन्तीव्याघ्रीकरजविडङ्गनवमालिकाः ।
अपामार्गफलं बीजं नक्तमालशिरीषयोः ।
क्षवकोऽश्मन्तको बिल्वं हरिद्रा हिङ्गु यूथिका ॥ १८४ ॥

फणिज्झकश्च तैस्तैलमविमूत्रे चतुर्गुणे ।
सिद्धं स्यान्नावनम् ।

(१५) त्वग् (दालचीनी), दन्ती, व्याघ्रकरज (व्याघ्रनखी), वायविडंग, नवमालिका (नवमल्लिका, चमेली), अपामार्ग का फल (चिरचिटे के तण्डुल), नक्तमाल (करंज) के बीज और शिरीष के बीज, क्षवक (नकछिंकनी), अश्मन्तक (पाषाणभेद या भल्लातक), बेलगिरी, हरिद्रा, हींग, यूथिका (जूही), फणिज्झक (तुलसी) इनके तैल से चतुर्थांश कल्क द्वारा तैल से चतुर्गुण भेड़ के मूत्र में तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तैल का नस्य करना चाहिये ।

चूर्णं चैषां प्रधमनं हितम् ॥ १८५ ॥

(१६) इन्हीं दालचीनी आदि वस्तुओं का चूर्ण करके द्विमुख नालिका द्वारा फूत्कार से नासिका में प्रधमन करना चाहिये ।

फलं शिग्रुकरञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकम् ।
शुक्ततिक्तकटुक्षौद्रकषायैः कवलग्रहः ॥ १८६ ॥

इति शिरोरोगचिकित्सा ।

(१७) शोभांजन के फल और करंज के फल को, तथा सोंठ, मरिच, पिप्पली को जल के साथ पीसकर दबाकर (अवपीड़न द्वारा) रस निकालकर उसका नस्य देना चाहिये । शोभांजन के फल का तथा करंज के फल का स्वरस, कषाय, इनका क्षार, इनका चूर्ण, इनका कल्क और अवपीड़न बरतना चाहिये ।

मधु से, शुक्त से और तिक्त कटु द्रव्यों के कषायों से कवल (मुख में असंचारी गरारे करने चाहियें ।

मुख-रोग-चिकित्सा

धूमः प्रधमनं शुद्धिरधश्छदनलङ्घनम् ।
भोज्यं च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम् ॥ १८७ ॥

(१) सामान्य चिकित्सा—धूम, प्रधमन, अधःशुद्धि (विरेचन),

छर्दन (वमन), लंघन और दोषों के अनुसार दोषनाशक भोजन मुख रोगों में देना चाहिये।

पिप्पल्यगुरुदार्वीत्वग्यवक्षारं रसाञ्जनम्।
पाठां तेजोवतीं पथ्यां समभागं सुचूर्णितम्॥ १८८॥

(२) यवक्षार, पिप्पली, दारुहल्दी की छाल, रसौंत, पाठा, तेजोवती (तेजबल) और हरड़ ये समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को शहद में मिला कर मुखरोगों में धारण करना चाहिये।

मुखरोगेषु सर्वेषु सक्षौद्रं तद्विधारयेत्।
शीधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः॥ १८९॥

(३) सीधु, माधव तथा माध्वीक इनसे कवलग्रह (मुख में असंचारी गरारे) करना चाहिये।

तेजोह्वामभयामेलां समङ्गां कटुकां घनम्।
पाठां ज्योतिष्मतीं लोध्रं दार्वीं कुष्ठं च चूर्णयेत्॥ १९०॥
दन्तानां घर्षणं रक्तस्रावकण्डूरुजापहम्।

(४) तेजोह्वा (तेजबल), हरड़, मूर्वा, समंगा (मजीठ), कुटकी, घन (मोथा), पाठा, रसौंत, लोध्र, दारुहल्दी और कूठ इनको परस्पर समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को दांतों पर घिसने से दन्तमांस (मसूड़ों) से आने वाला रक्त, कण्डू तथा पीड़ा शान्त होती है।

पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः॥ १९१॥
पलाशमुष्ककक्षारयवक्षाराश्च चूर्णिताः।
गुडे पुराणे द्विगुणे क्वथिते गुडिकाः कृताः॥ १९२॥
कर्कन्धुमात्राः सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि।
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः॥ १९३॥

(५) पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ),

तालीश, तेजपत्र, मरिच, त्वच् (दालचीनी), पलाश क्षार, मुष्क क्षार और यवक्षार ये सब समान भाग लेने चाहियें। इस चूर्ण से दुगना गुड़ लेकर पकाना चाहिये। जब गुड़ पक कर गाढ़ा हो जाय तब इस चूर्ण को मिला कर बेर के बराबर (आठ मासे) गोलियां बना कर मुष्कक वृक्ष की भस्म में एक सप्ताह तक रख देनी चाहियें। पीछे से सब मुख-रोगों में इनको मुख के अन्दर धारण करना चाहिये।

गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम्।
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकश्चेति चूर्णितम्॥ १९४॥
सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम्।
कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत्॥ १९५॥

(६) कालक चूर्ण—गृहधूम, यवक्षार, पाठा, सोंठ, मरिच, पिप्पली, रसौंत, तेजोह्वा (तेजबल), त्रिफला, लोध्र, चित्रक इनको समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को मधु के साथ मिला कर मुख में धारण करना चाहिये। यह कालक चूर्ण गल रोग, मुख रोग, दन्त रोग को नष्ट करता है।

[सुश्रुत में कालक चूर्ण में लोध्र, चित्रक नहीं है शोभांजन विशेष है।]

मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम्।
दार्वी त्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम्॥ १९६॥
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत्।
मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम्॥ १९७॥

(७) पीतक चूर्ण—मैनसिल, यवक्षार, हरिताल (शोधित), सैन्धा नमक, दारुहल्दी की छाल इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को मधु तथा घृत के उपरितन स्वच्छ भाग से आलोड़ित करके कण्ठ के रोगों में धारण करना चाहिये। यह 'पीतक' चूर्ण मुख रोगों के लिये श्रेष्ठ चूर्ण है।

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वी त्वक् त्रिफला घनम् ।
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् ॥ १९८ ॥
पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वेति च चूर्णितम् ।
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम् ॥ १९९ ॥
योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ।

(८) मृद्वीका, कटुकी, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), दारुहल्दी की छाल, त्रिफला, घन (मुस्ता), पाठा, रसौंत, मूर्वा, तेजबल इनको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहियें । इस चूर्ण को मधु के साथ मिला कर गल-रोगों में चाटना चाहिये ।

कालक चूर्ण, पीतक चूर्ण और मृद्वीकादि चूर्ण ये तीनों योग वात, पित्त, कफ नाशक (त्रिदोष नाशक) हैं ।

कटुकातिविषापाठादार्वीमुस्तकलिङ्गकाः ॥ २०० ॥
गोमूत्रक्वथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः ।

(९) कुटकी, अतिविषा, पाठा, दारुहल्दी, मुस्ता और कलिंगक (इन्द्रजौ) इन छः वस्तुओं को गोमूत्र में क्वाथ करके पीना चाहिये । ये कण्ठरोग को नष्ट करते हैं ।

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया ॥ २०१ ॥
सक्षौद्रा मुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहा ।

(१०) दारुहल्दी का स्वरस निकाल कर इसको पका कर घना कर लेना चाहिये, इसी घनीभूत रस को 'रसक्रिया' कहते हैं । इस रसक्रिया में मधु मिला कर प्रयोग करने से मुखरोग, रक्त दोष तथा नाड़ीव्रण नष्ट होते हैं ।

तालुशोषे सतृष्णस्य सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ॥ २०२ ॥
नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसा हिताः ।

(११) तृष्णायुक्त तालुशोष में सर्पि (घृत) पान करके भात खाना चाहिये । [तालुशोष में गर्भवती को तालुशोष होने पर घृतपान निषिद्ध है,

परन्तु यहां पर औत्तरभक्तिक सर्पिविधान (भोजनोत्तर घृतपान विधि) में से घृत लेना चाहिये] । नावन (नस्य), स्निग्ध (घृतादि) से, शीतल, मधुर, मांसरस हितकारी है ।

मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम् ।। २०३ ।।
मूत्रतैलघृतक्षौद्रक्षीरश्च कवलग्रहः ।

(१२) मुखपाक रोग में—सुश्रुतोक्त विधि से सिरावेध करना चाहिये, रोगी को शिरोविरेचन, काय विरेचन (वमन विरेचन) देना चाहिये । गोमूत्र, तैल घृत, दूध और मधु इनमें से एक एक से मुख पाक में कवल (गरारे) करना चाहिये।

सक्षौद्रास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः ।। २०४ ।।
कषायतिक्तकाः शीताः क्वाथश्च मुखधावनाः ।

(१३) पाठा, मृद्वीका, त्रिफला और जाती (चमेली) के नये कोमल पत्ते इनका क्वाथ करके इसमें मधु मिला कर मुख का धावन करना चाहिये । कषाय, तिक्त द्रव्यों का कषाय करके उसके शीतल होने पर मुख का प्रक्षालन करना चाहिये ।

तुलां खदिरसारस्य द्वितुलामरिमेदसः ।। २०५ ।।
प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ।
द्रोणशेषं कषायं तं पक्त्वा भूयः पचेच्छनैः ।। २०६ ।।
ततस्तस्मिन्घनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम् ।
चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठा धातकी घनम् ।। २०७ ।।
प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वत्वगेलापद्मकेशरम् ।
लाक्षा रसाञ्जनं मांसी त्रिफला लोध्रवालकम् ।। २०८ ।।
रजन्यौ फलिनीमेलां समङ्गां कट्फलं वचाम् ।
यवासागुरुपत्तङ्गगैरिकाञ्जनमावपेत् ।। २०९ ।।
लवङ्गनखकक्कोलजातिकोशान्पलोन्मितान् ।
कर्पूरकुडवं चापि क्षिपेच्छीतेऽवतारिते ।। २१० ।।

ततस्तु गुलिकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत् ।

(१४) खदिरादि गुटिका—खदिरसार (खैरसार, कत्था) की १ तुला (१०० पल), अरिमेद (विट् खादिर) की दो तुला (२०० पल), लेकर इनको धोकर कूट लेना चाहिये । फिर इसको चार द्रोण जल में पकाना चाहिये । जब एक द्रोण शेष रह जाये तब इस कषाय को छान कर फिर धीरे २ पकाना चाहिये । जब यह रस घट्ट होने लगे तब इसमें निम्न वस्तुओं का चूर्ण प्रत्येक एक अक्ष मात्रा में मिला देना चाहिये ।

चन्दन, पद्माख, खस, मजीठ, धाय के फूल, घन (मुस्ता), पुण्डरीक, मुलहठी, दालचीनी, इलायची, कमल का केशर, लाख, रसौंत, जटामांसी, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), लोध, बालक (ह्रीबेर), हल्दी, दारुहल्दी, फलिनी (प्रियंगु), बड़ी इलायची, समंगा (लाजवन्ती), कट्फल, वच, यवास (जवासा), अगरु, पत्तंग (लाल चन्दन), गेरू, अंजन इनमें प्रत्येक वस्तु का चूर्ण एक एक अक्ष मिलाना चाहिये । जब लेह घट्ट हो जाये तब नीचे उतार कर ठण्डा होने पर इसमें लवंग, जातीफल, कंकोल (शीतल चीनी), जावित्री प्रत्येक एक एक पल लेकर इनका चूर्ण तथा कपूर एक कुडव इसमें मिला देना चाहिये । पीछे से इनकी गोलियां बनानी चाहिये, शुष्क होने पर इनको मुख में धारण करना चाहिये ।

[कोई विद्वान् क्वाथ करने के लिये तीन द्रोण जल लेते हैं । साधारणतः अष्टगुण जल लेकर चतुर्थांश शेष रखना चाहिये । अष्टांगसंग्रह में जाती के स्थान में केवुक का प्रक्षेप लिखा है और वहां पर अष्टगुण जल लेने का ही विधान है ।]

तैलं चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत् ॥ २११ ॥

(१५) खदिरादि तैल—खदिर सार और विट् खादिर की तीनों तुला को चार द्रोण जल में पकाना चाहिये । क्काथ के चतुर्थांश रहने पर इसमें एक आढ़क तैल तथा चन्दन से लेकर अंजन तक की वस्तुओं में

२५

प्रत्येक एक एक अक्ष लेकर इनके कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये। तैल के शीतल होने पर इसमें लवंग, जाती फल आदि का चूर्ण प्रत्येक एक पल और कपूर एक कुडव मिला देना चाहिये। इसको गोलियां बना कर सुखा लेनी चाहियें उनको मुख में रखना चाहिये।

ये खदिरादि गुटिकायें और इसी कल्क और कषाय से साधित खादिरादि तैल बनावे।

दन्तानां चालनभ्रंशसौषिर्यक्रिमिरोगनुत्।
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्यजाड्यारोचकनाशनम् ॥ २१२ ॥
स्रावोपलेपपैच्छिल्यवैस्वर्यगलशोषनुत्।
दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत्परायणम्।
खदिरादिगुटी चेयं तैलं च खदिरादिकम् ॥ २१३ ॥

इति मुखरोगचिकित्सा।

ये दोनों दांतों के हिलने, दांतों के गिरने, दांतों में खोखलेपन और दांतों के कृमियों को नष्ट करते हैं। मुख पाक, मुख की दुर्गन्धता, मुख की जड़ता, अरोचकता, मुख के स्राव, मुख में कफ की लिप्तता, पिच्छिलता, स्वरभंग और गले की शुष्कता को नष्ट करते हैं। ये खदिरादि गुटिका और खदिरादि तैल दांत, मुख और गले के रोगों के लिये अति श्रेष्ठ औषध हैं।

अरुचि रोग की चिकित्सा

अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः।
मनोज्ञमन्नपानं च हर्षणाश्वासनानि च ॥ २१४ ॥

(१) अरुचि रोग में कवल, धूम और मुख का प्रक्षालन करना चाहिये मन के अनुकूल खानपान, हर्षण और आश्वासन कार्य करने चाहियें।

कुष्ठसौवर्चलाजाजीशर्करामरिचं बिडम्।
धात्र्येलापद्मकोशीरपिप्पल्युत्पलचन्दनम् ॥ २१५ ॥
लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्।

सार्द्रदाडिमनिर्यासाः साजाजीशर्करायुताः ॥ २१६ ॥
सतैलमाक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः ।
चतुरोऽरोचकान्हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान् ॥ २१७ ॥

(२) चार कवल—(१) कूठ, सौवर्चल नमक, अजाजी (जीरा), शर्करा, मरिच और गुड़ । (२) धात्री (आंवला), इलायची, पद्माख, उशीर (खस), पिप्पली, चन्दन और कमल । (३) लोध्र, तेजबल, हरड़, सोंठ, मरिच, पिप्पली और यवक्षार । (४) आर्द्र-दाडिम निर्यास (अनारदाना), जीरा और शर्करा इन चारों योगों में तेल और मधु मिला कर इनसे कवल (गरारे) करने चाहियें । ये चारों कवलग्रह क्रम से वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपातजन्य अरुचि को नष्ट करते हैं ।

कारवीमरिचाजाजीद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम् ।
सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम् ॥ २१८ ॥

(३) कारवी (काला जीरा), अजाजी (श्वेत जीरा). मरिच, द्राक्षा, वृक्षाम्ल (इमली) और दाड़िम (अनारदाना), सौवर्चल नमक और गुड़ तथा मधु इनको मिला कर चाटने से सब प्रकार का अरोचक रोग शान्त होता है ।

बस्तिः समीरणे, पित्ते विरेकं, वमनं कफे ।
कुर्याद्हृद्यानुकूलानि हर्षणं च मनोघ्नजे ॥ २१९ ॥

इत्यरोचकचिकित्सा ।

(४) वातजन्य अरुचि में बस्ति, पित्तज अरुचि में विरेचन तथा कफजन्य अरुचि में वमन कराना चाहिये । मन के नाश से उत्पन्न अरुचि में हर्षण तथा हृदय के अनुकूल कार्यों को करना चाहिये ।

कर्णरोग-चिकित्सा

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत्क्रिया ।
प्रदेहाः पूरणं नस्यं पाकस्रावे व्रणक्रिया ॥ २२० ॥

इसके आगे संक्षेप में कर्णरोग की चिकित्सा कहते हैं। (१) वातपीनस में जो वातनाशक चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा कर्णशूल में करनी चाहिये। वातनाशक प्रदेह, वातनाशक तैलों से कान का पूरण और वातनाशक तैल से नस्य देना चाहिये। कर्णपाक या कर्णस्राव में व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये। दोषानुसार भोजन देने चाहियें तथा कर्णपूरण स्नेह देने चाहियें।

भोज्यानि च यथादोषं कुर्यात्स्नेहांश्च पूरणान्।
हिङ्गुतुम्बुरुशुण्ठीभिस्तैलं च सार्षपं पचेत्।
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूलनिवारणम् ॥ २२१ ॥

(३) हींग, तुम्बरू और सोंठ इन तीन वस्तुओं के कल्क से चतुर्गुण जल में सरसों का तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल कर्णशूल में पूरण करने के लिये मुख्य हितकारी वस्तु है।

देवदारुवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः।
तैलं सिद्धं वस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम् ॥ २२२ ॥

(४) देवदारु, बच, कूठ, सोंठ, शताह्वा (सौंफ) और सैन्धव इनके कल्क से चतुर्गुण बकरी के मूत्र में सरसों का तैल सिद्ध करना चाहिये, यह तैल कर्णशूल को नष्ट करता है।

वराटकान्समाहृत्य दहेन्मृद्भाजने नवे।
तद्भस्म स्रावयेत्तेन गन्धतैलं विपाचयेत् ॥ २२३ ॥
रसाञ्जनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत्।

इति गन्धतैलम्।

(५) कौड़ियों को मिट्टी के पात्र में रख कर सबको गोमयाग्नि से भस्म कर लेना चाहिये। इस भस्म को चार गुणे जल में या छः गुणे जल में घोल कर इक्कीस बार नितार लेना चाहिये। इस क्षार जल को गन्ध तैल से चतुर्गुण लेकर रसांजन तथा सोंठ के कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये। [गन्ध तैल सुगन्धित पुष्पों से वासित तैल अथवा सुगन्ध

द्रव्यों के कल्क से युक्त तैल इसमें बरतना चाहिये ।] इस तैल को कान में डालने के लिये बरतना चाहिये, यह तैल कान की शूल को नष्ट कर देता है ।

शुष्कमूलकशुण्ठीनां क्षारो हिङ्गु महौषधम् ॥ २२४ ॥
शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम् ।
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम् ॥ २२५ ॥
भूर्जग्रन्थि बिडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम् ।
मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च ॥ २२६ ॥
सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत् ।
बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः ॥ २२७ ॥
क्रिमयः कर्णशूलं च पूरणादस्य नश्यति ।

इति क्षारतैलम् ।

(२) पूरण स्नेह—कल्कार्थं—कच्ची मूली को काट कर शुष्क कर लेना चाहिये, इन टुकड़ों को जला कर क्षार बना लेना चाहिये । यह क्षार हींग, सोंठ, शतपुष्पा (सौंफ), वच, कूठ, देवदारु, शोभांजन, रसांजन, सौवर्चल नमक, यवक्षार, सर्ज क्षार, औद्भिद नमक, सैन्धव नमक, भूर्ज ग्रन्थि, विड़नमक और मुस्ता इनका कल्क, तैल से चतुर्गुण मधु प्रधान शुक्त (मधुशुक्त), तैल से चतुर्गुण मातुलुंग (गलगल) का स्वरस, तैल से चतुर्गुण केले का स्वरस लेकर इनसे तैल सिद्ध करना चाहिये । ꙮ यह क्षार तैल कर्णशूल को नष्ट करता है । *

ꙮ मधुशुक्त का लक्षण—जम्बीराणां फलरसः प्रस्थैकः कुडवोन्मितः ।
माक्षिकं तत्र दातव्यं पलैका पिप्पलीमता ॥
एतदेकीकृतं सर्वं मधु भाण्डे विनिक्षिपेत् ।
धान्यराशौ स्थितं मासं मधु शुक्तं तदुच्यते ॥

* चक्रपाणि ने शुक्त का अर्थ—शुक्तञ्च शुचौ भाण्डे द्रवनागरधान्य युक्तं त्रिरात्रस्थं तत् शुक्तमुच्यते ॥ मातुलुंग और कदली रस इनको तैल के समान बरतना चाहिये ।

[निम्बुओं का रस एक प्रस्थ, मधु १ कुड़व, पिप्पली १ पल। इन सब वस्तुओं को मधु से लिप्त पात्र में रख कर एक मास तक धान्यराशी में रख देना चाहिये। इसको मधु शुक्त कहते हैं।]

इस तेल के पूरण से वधिरता, कर्णनाद, कर्ण से पूयस्राव, कर्ण में आश्रित कृमि नष्ट हो जाते हैं। इस तैल को कृष्णात्रेय ने कहा है। यह क्षार तैल मुख रोग और दन्त रोग को नष्ट करता है।

मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम्।
कुर्याद्भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम् ॥ २२८ ॥

इति कर्णरोगचिकित्सा।

पीनस रोग में दोषानुसार जो विधि कही है, उसी विधि को मुख, कान और नेत्र रोगों में दोष, काल, बल और अबल का विचार करके वैद्य को देना चाहिये।

नेत्ररोग-चिकित्सा

उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे विडालकः।
कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः ॥ २२९ ॥

(१) नूतन नेत्ररोग के उत्पन्न होने के साथ ही आंखों पर विडालक (नेत्रों के बाहर ऊपर लगाया लेप) लेप करना चाहिये। यह लेप जलन, उपदेह (लिप्तता), अश्रुओं का आना, शोथ तथा रक्तिमा को नष्ट करता है।

नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया।
निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम् ॥ २३० ॥
तथा शाबरकं लोध्रं घृतभृष्टं विडालकः।
कार्या हरीतकी तद्वद्घृतभृष्टा रुजापहा ॥ २३१ ॥

(२) बहिर्लेप—नागर (सोंठ) के समान सैन्धव नमक लेकर इसमें सर्पिर्मण्ड (घृत के ऊपर का स्वच्छ भाग) इतना मिलाना चाहिये जिससे कि घिसने पर रस क्रिया बन जाये। इस रस क्रिया का वातजन्य

नेत्ररोग में विड़ालक लेप करना चाहिये। इसी प्रकार से मधु, सैन्धव और गेरू इनको घिस कर बनाई रसक्रिया का आंखों के बाहर लेप करना चाहिये। सावर लोध्र (पट्टिका लोध) को घृत में भून कर आंखों पर विडालक लेप करना चाहिये। इसी प्रकार से हरड़ को घृत में भून कर इसका आंखों के बाहर लेप करना चाहिये। इससे पीड़ा शान्त होती है।

पैत्तिके चन्दनानन्तामञ्जिष्ठाभिर्बिडालकः ।
कार्यः पद्मकयष्ट्याह्वमांसीकालीयकैस्तथा ॥ २३२ ॥

(३) पित्तजन्य नेत्ररोग में चन्दन, अनन्ता (अनन्त मूल), मजीठ इनको पानी से पीस कर आंखों के बाहर लेप करना चाहिये। इसी प्रकार पद्माख, मुलहठी, जटामांसी, कालीयक (चन्दन) को जल में पीस कर इससे विडालक लेप करना चाहिये।

गैरिकं सैन्धवं मुस्तं रोचना च रसक्रिया ।

(४) गोरोचन, मुस्ता और लवण तथा गेरू इनको पानी में घिस कर द्रवरूप करके पकाना चाहिये। जब घट्ट हो जाये तब इस रसक्रिया का लेप करना चाहिये।

कफे कार्यस्तथा क्षौद्रं प्रियङ्गुः समनःशिलः ॥ २३३ ॥

(५) कफजन्य अक्षिरोग में—मैनसिल और प्रियंगु को मधु के साथ पीस कर आंखों के बाहर लेप करना चाहिये।

सन्निपाते तु सर्वैः स्याद् बहिरक्ष्णोः प्रलेपनम् ।
पक्ष्मण्यस्पृशंता कार्यमभ्यञ्जेत्राञ्जनं त्र्यहात् ॥ २३४ ॥

(६) सन्निपातजन्य अक्षिरोग में सब दोषों के मिलित बहि-र्लेपों को आंखों के बाहर लेप करना चाहिये। इस प्रकार से बहिर्लेप को तीन दिन तक लगा कर तीन दिन के पीछे धोकर आंखों को भली प्रकार छूता हुआ नेत्राञ्जन करना चाहिये। ※

※ तीन दिन का विधान इसलिये है कि तीन दिन में दोष का पाक

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः ।
कोष्णः सैरण्डतर्कारीबृहतीमधुशिग्रुभिः ॥ २३५ ॥

(७) आश्च्योतन—वायुजन्य अक्षिरोग में एरण्ड, बड़ी कटेरी, तर्कारी (जयन्ती), मधु, शिग्रु (मीठा सहजन) तथा बिल्वादि पंचमूल इनका क्वाथ करके कवोष्ण आश्चोतन (आंखों में भरना) हितकारी है।

द्राक्षादार्वी समञ्जिष्ठालाक्षाद्विमधुकोत्पलैः ।
क्वाथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत् ॥ २३६ ॥

(८) द्राक्षा, दारुहल्दी, मजीठ, लाक्षा, द्विमधुक (जलज तथा स्थलजन्य मुलहठी), कमल इनका क्वाथ करके इसमें शर्करा मिला कर शीतल होने पर इससे आंखों में आश्च्योतन करना चाहिये, यह रक्तपित्त को नष्ट करता है ।

नागरत्रिफलानिम्बवासालोध्ररसः कफे ।
कोष्णमाश्च्योतनम् ।

(९) सोंठ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), नीम की छाल, वासा और लोध्र इनका क्वाथ करके सुहाता हुआ गरम गरम कफजन्य अक्षिरोगों में आश्च्योतन करना चाहिये ।

मिश्रैरौषधैः सान्निपातके ॥ २३७ ॥

(१०) सन्निपातजन्य अक्षिरोग में तीनो दोषों की मिश्रित ओषधियों के क्वाथ से आश्च्योतन करना चाहिये ।

बृहत्येरण्डमूलत्वक् शिग्रोः पुष्पं ससैन्धवम् ।
अजाक्षीरेण पिष्टं स्याद्वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ॥ २३८ ॥

(११) अञ्जन—बड़ी कटेरी की मूल की छाल, एरण्ड मूल की छाल, शोभांजन के मूल की छाल और सैन्धव नमक इनको बकरी के

हो जाता है । दोष के परिपाक होने तक बहिर्लेप करना चाहिये ।

पाक के लक्षण—प्रशस्तवर्त्मता चाक्ष्णोः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।
मन्दवेदनता कण्डूः पक्वाक्षिगदलक्षणम् ॥

दूध के साथ पीस कर वर्त्ति बना कर वातजन्य नेत्ररोगों में प्रयोग करना चाहिये।

सुमनःकोरकाः शङ्खस्त्रिफला मधुकं बला।
पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा॥ २३९॥

(१२) सुमन (मालती) का क्षार, शंखनाभि, त्रिफला, मुलहठी और बला इनको दिव्यवारि (वर्षा के जल) के साथ पीस वर्त्ति बनानी चाहिये, यह वर्त्ति पित्त तथा रक्त को नष्ट करती है।

सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः।
फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत्॥ २४०॥

(१३) सैन्धव, त्रिफला, व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), शंखनाभि, समुद्रफेन, शैलेयक (शैलज, शिलारस), सर्ज्ज (राल), इनसे बनी वर्त्ति कफजन्य नेत्र रोगों को नष्ट करती है।

अमृताह्वा बिसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत्।
प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं दार्वी कालानुसारिवा॥ २४१॥
सुधौतं जर्जरीकृत्य कृत्वा चार्धपलांशिकान्।
जले पक्त्वा रसे पूते पुनः पक्के घने रसे॥ २४२॥
कर्षं च श्वेतमरिचाज्जातीपुष्पान्नवोत्पलम्।
चूर्णं क्षिप्त्वा कृता वर्त्तिः सर्वघ्नो दृक्प्रसादनी॥ २४३॥

(१४) अमृताह्वा (गिलोय), बिस (मृणाल), बिल्व (बेलगिरी), पटोल, बकरी की मींगनी, पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, दारुहल्दी, कालानुसारिवा (अनन्तमूल) इनको लेकर अच्छी प्रकार से धोकर जर्जरित कर लेना चाहिये। गिलोय आदि प्रत्येक द्रव्य आधा पल, श्वेत मरिच एक कर्ष जाती (चमेली) के नये पुष्प १ पल लेकर इनका चूर्ण करके वर्त्ति बनानी चाहिये। यह वर्त्ति त्रिदोषनाशक तथा दृष्टि को स्वच्छ करती है।

शङ्खप्रवालवैदूर्यलौहताम्रप्लवास्थिभिः।
स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत॥ २४४॥

(१५) शंख, विद्रुम, वैडूर्य्य, लोह भस्म, ताम्र भस्म, प्लव (मेंढक या पक्षि विशेष) की अस्थि, स्रोतोज (रसांजन) और श्वेत मरिच इनसे बनी वर्त्ति सब प्रकार के अक्षिरोगों को नष्ट करती है । शंख आदि की भस्म लेनी चाहिये ।

शाणार्धं मरिचाद् द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः ।
शाणार्धं सैन्धवाच्छाणं कृत्वा सौवीरकाञ्जनात् ॥ २४५ ॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम् ।
कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम् ॥ २४६ ॥

(१६) मरिच आधा शाण, पिप्पली एक शाण, समुद्र फेन एक शाण, सैन्धव नमक आधा शाण, सौवीर कांजन एक शाण इन सब को चित्रा नक्षत्र में बारीक पीसना चाहिये । यह चूर्ण आंखों के लिये शुभकारी है । काच रोग से, कण्डू से, कफ रोग से पीड़ित तथा मलों का शोधन करने वाला यह चूर्ण है ।

बस्तमूत्रे त्र्यहं स्थाप्य विडचूर्ण सुभावितम् ।
चूर्णाञ्जनं च तैमिर्यक्रिमिपैल्ल्यमलापहम् ॥ २४७ ॥

(१७) बकरी के मूत्र में विड नमक के चूर्ण को तीन दिनों तक रखना चाहिये । अच्छी प्रकार से भावित होने पर इस नमक का चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण के अंजन करने से तिमिर रोग, क्रमि, पिल्ल और मल नष्ट होता है ।

सौवीरमञ्जनं तुत्थं ताप्यो धातुर्मनःशिला ।
चक्षुष्या मधुकं लोहं मणयः पौष्पमञ्जनम् ॥ २४८ ॥

(१८) सौवीर अंजन (काला अंजन), ताप्य धातु (स्वर्ण माक्षिक), मैनसिल, मुलहठी, लोहमणि (अयस्कान्त, चुम्बक), पौष्प अंजन (पुष्प कासीस) ये सब वस्तुएं आंखों के लिये हितकारी हैं । *

सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा कतकं चाञ्जनं शुभम् ।

* चक्रपाणि ने चक्षुष्या शब्द से वनकुलथी ली है ।

तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्तिर्वायमनुत्तमा ॥ २४९ ॥

(१९) सैन्धव नमक, शूकर की दंष्ट्रा, कण्टक (सिम्बल आदि वृक्षों के कांटे) इन वस्तुओं के चूर्ण का अंजन तिमिरादि रोगों में तथा इन वस्तुओं से बनी बर्त्ति तिमिरादि रोगों में उत्तम है।

कतकस्य फलं शङ्खः सैन्धवं त्र्यूषणं सिता।
फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिलाः ॥ २५० ॥
कुक्कुटाण्डकपालं च वर्तिरेषा व्यपोहति।
तिमिरं पटलं काचं मलं चाशु सुखावती ॥ २५१ ॥

इति सुखावती वर्तिः।

(२०) सुखावती वर्त्ति—कतक का फल (निर्मली), शंख (शंखनाभिः), सैन्धव नमक, सोंठ, मरिच, पिप्पली, सिता (मिश्री), फेन (समुद्रफेन), रसांजन, क्षौद्र (मधु), बायविडंग, मैनसिल, मुर्गे के अण्डे के छिलके इनको जल के साथ पीस कर बर्त्ति बनानी चाहिये। यह सुखावती बर्त्ति तिमिर, पटल, काच और मल को शीघ्र नष्ट कर देती है।

त्रिफला कुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः।
नीलोत्पलं विडङ्गानि फेनं च सरितां पतेः २५२ ॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत्ताम्रभाजने।
सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत्।
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः ॥ २५३ ॥

इति दृष्टिप्रदा वर्तिः।

(२१) दृष्टिप्रदा वर्त्ति—त्रिफला, मुर्गे के अण्डे के छिलके, धातु काशीस, लोह भस्म, नीला कमल, बायविडंग, समुद्रफेन इन वस्तुओं के चूर्ण को समान भाग लेकर ताम्र के पात्र में बकरी के दूध से सात दिनों तक भावना देनी चाहिये। पीछे से बकरी के दूध के साथ पीस कर बर्त्ति बना लेनी चाहिये। इस दृष्टिप्रदा बर्त्ति को अन्धे तथा जिसकी

आंखों में पाक नहीं हुआ उसमें नेत्रांजन की विधि से प्रयोग करना चाहिये।

वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम् ।
ततस्तस्मात्समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद् बुधः ॥ २५४ ॥
सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च ।
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् ॥ २५५ ॥

(२२) काले सांप के मुख में अंजन को एक मास तक रखना चाहिये। इसके पीछे इस अंजन को निकाल कर, शुष्क करके चूर्ण कर लेना चाहिये। इस रसांजन के चूर्ण का अर्द्ध भाग मालती पुष्प का क्षार तथा सैन्धव नमक रसांजन के चूर्ण का आधा भाग मिला कर आंखों में अंजन करना चाहिये। यह नेत्रांजन तिमिर रोग को नष्ट करता है।

पिप्पल्यः किंशुकरसो वसा सर्पस्य सैन्धवम् ।
जीर्णं घृतं च सर्वाक्षिरोगघ्नी स्याद्रसक्रिया ॥ २५६ ॥
कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया ।
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचार्बुदमलेषु च ॥ २५७ ॥

(२३) पिप्पली, किंशुक रस (ढाक के फूलों का रस अथवा ढाक की मूल को काटने से निकला रस), सर्प की वसा, सैन्धव नमक, पुरातन घृत इनको मिला कर बनाई रस क्रिया सब नेत्र रोगों को नष्ट करती है। काच, अर्बुद, मल को यह रस क्रिया नष्ट करती है।

धात्रीरसाञ्जनक्षौद्रसर्पिर्भिस्तु रसक्रिया ।
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्ना तैमिर्यपटलापहा ॥ २५८ ॥
धात्रीसैन्धवपिप्पल्यः स्युरल्पमरिचाः समाः ।
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यं पटलं च रसक्रिया ॥ २५९ ॥

इति नेत्ररोगचिकित्सा ।

(२४) धात्री (आंवले) का रस, रसांजन (रसौंत), मधु और घृत इनको घिस कर बनाई हुई रसक्रिया पित्त-रक्तजन्य नेत्ररोगों को तिमिर तथा पटल रोगों को नष्ट करती है।

पलित-रोग-चिकित्सा

खालित्ये पलिते बल्यां हरिलोम्नि च शोधितम् ।
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्रप्रलेपैश्चाप्युपाचरेत् ॥ २६० ॥

खलित (गंज) में, पलित में, बलियां (झुर्रियां) पड़ने पर, हरित-लोम (बालों के कपिल वर्ण होने पर) में तेलों से नस्य, शिर तथा मुख पर प्रदेह लगाने चाहियें ।

सिद्धं विदारीगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि च ।
नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम् ॥ २६१ ॥

(१) तेल से चतुर्गुण जल में विदारी गन्धादि (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू) के कल्क से साधित तैल द्वारा अथवा जीवनीय गण की दश औषधियों के कल्क से चतुर्गुण जल में साधित तैल से या तस्याशितीय अध्याय में कथित अणु तैल से नस्य करने पर खालित्य (गंजापन) तथा पलित रोग नष्ट होता है ।

क्षीरात्सहचराद्भृङ्गराजाच्च सुरसाद्रसात् ।
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैलाद्यष्ट्याह्वपलकल्कितः ॥ २६२ ॥
सिद्धः शिलासमे पात्रे मेषशृङ्गे च संस्थितः ।
नस्यं स्याद्भिषजा सम्यग्योजितम् पलितापहम् ॥ २६३ ॥

(२) दूध (गाय का या बकरी का) एक प्रस्थ, सहचर का स्वरस १ प्रस्थ, भृंगराज का स्वरस १ प्रस्थ, तुलसी का स्वरस १ प्रस्थ, तिल का तैल १ कुडव, मुलहठी एक पल लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तैल को शिला के समान दृढ़ पत्थर के बने पात्र में या भेड़ के सींग आदि के बने पात्र में रखना चाहिये । इस तैल का नस्य देने से पलित आदि रोग नष्ट होते हैं । *

* चक्रपाणि और अष्टांगसंग्रह में पाठ—क्षीरात् सहचरात् भृंग राजाच्च सुरसात् रसात्" है । परन्तु गंगाधरसेन ने—"लाक्षा कालारसा लोह वरा भृंगरजो रसात्" यह पाठ दिया है ।

भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ ।
उत्पाठ्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ ॥ २६४ ॥

(३) दुग्धिका और करवीरक (कनेर) को दूध के साथ बारीक पीस लेना चाहिये । फिर श्वेत बालों को जड़ से उखाड़ कर इनका लेप शिर में, बालों के मूल में करना चाहिये ।

मार्कवस्वरसात्क्षीराद्द्विप्रस्थं मधुकात्पलम् ।
तैः पचेत्कुडवं तैलात्तन्नस्यं पलितापहम् ॥ २६५ ॥

(४) दूध १ प्रस्थ, मार्कव रस (भांगरे का रस) १ प्रस्थ, तैल १ कुडव, मुलहठी और नीला कमल का मिलित कल्क तैल से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तेल का नस्य लेने से पलित रोग नष्ट होता है ।

आदित्यवल्ल्यमूलानि कृष्णशैरेयकस्य च ।
सुरसस्य च पत्राणि पत्रं कृष्णशणस्य च ॥ २६६ ॥
मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च ।
पृथग्दशपलांशानि पिप्पलीत्रिफलाञ्जनम् ॥ २६७ ॥
प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम् ।
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणालं रक्तचन्दनम् ॥ २६८ ॥
नीली भल्लातकास्थीनि कासीसं मदयन्तिका ।
सोमराज्यसनः शस्त्रं कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ ॥ २६९ ॥
पुष्कराज्जुनकाश्मर्याण्याम्रजम्बूफलानि च ।
पृथक् पञ्च पलांशानि तैः पिष्टैराढकं पचेत् ॥ २७०
बैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम् ।
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः ॥ २७१ ॥
लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत् ।
पाने नस्तःक्रियायां च शिरोभ्यङ्गे तथैव च ॥ २७२ ॥
एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत् ।

महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम् ॥ २७३ ॥

इति महानीलतैलम्

(५) महानील तैल—कल्कार्थं—आदित्यवल्ली (सूर्यभक्ता) का मूल दस पल, कृष्ण सैरीयक (नील झिण्टी) का मूल दस पल, कृष्ण तुलसी के पत्ते १० पल, कृष्ण शण के पत्ते १० पल, भृंगराज १० पल, काकमाची (मकोय) १० पल, मुलहठी १० पल, देवदारु १० पल, पिप्पली ५ पल, त्रिफला ५ पल, अंजन (रसांजन) ५ पल, पुण्डरीक काष्ठ ५ पल, मजीठ ५ पल, लोध ५ पल, काला अगर ५ पल, नील कमल ५ पल, आम की गुठली का मध्य भाग ५ पल, काला कर्दम (कीचड़) ५ पल, मृणाल ५ पल, लाल चन्दन ५ पल, नीली (नील के पत्ते) ५ पल, भिलावे की गुठली ५ पल, काशीश ५ पल, मदयन्तिका (मेंहदी) ५ पल, सोमराजी (बावची) ५ पल, असन (पीत शाल) ५ पल, शस्त्र (काला लोह) ५ पल, कृष्ण वर्ण पिण्डित (मैनफल) ५ पल, कृष्ण वर्ण चित्रक ५ पल, अर्जुन वृक्ष के पुष्प ५ पल, काश्मरी के पुष्प ५ पल, आम के फल ५ पल, जामुन के फल ५ पल * इनको खूब पीस कर कल्क कर लेना चाहिये, बहेड़े को पीस कर निकाला हुआ तेल १ आढ़क, आंवले का स्वरस चार आढ़क लेकर लोहपात्र में तैल सिद्ध करना चाहिये। अथवा जितना आंवले का रस आदित्य किरणों से शुष्क हो जाय उतना रस लोहपात्र में डाल कर सूर्य की किरणों से इस को शुष्क करना चाहिये। पीछे से इसको वस्त्र में से छान कर साफ़ करके बरतना चाहिये। इसका उपयोग नस्य में, पीने में, शिर में लगाने में करना चाहिये। यह महानील तेल आंखों के लिये हितकारी, आयुष्य सब शिरोरोगों का नाशक तथा पलित रोग को नष्ट करने में श्रेष्ठ है।

* अष्टांगसंग्रह का पाठ यहां ठीक जंचता है—पुष्पाण्यर्जुनकाश्मर्योरामजम्बुफलाश्मनम्। यहां पर 'आमजम्बूफल' से कच्ची जामुन ही लेना ठीक है। क्योंकि आम की गुठली ऊपर आ चुकी है।

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।
कार्षिकैस्तैलकुडवो द्विगुणामलकीरसः ॥ २७४ ॥
सिद्धः सप्रतिमर्शः स्यात्सर्वमूर्धगदापहः ।

(६) पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, चन्दन और कमल प्रत्येक एक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से, तैल एक कुड़व और आंवले का रस दो कुड़व लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तैल का प्रतिमर्ष (नस्य) लेने से सब शिरोरोग नष्ट होते हैं । यह तैल विशेष रूप में पलित रोग को नष्ट करता है, इस तैल का कृष्णात्रेय ने उपदेश किया है ।

क्षीरं पियालयष्टयाह्वे जीवकाद्यो गणस्तिलाः ॥ २७५ ॥

दूध, पियाल, मुलहठी, जीवक, ऋषभक आदि दस ओषधियां और काले तिल इनको पीस कर मुख पर लगाने से बलियां हटती है, त्वचा पर लगाने से त्वचा की झुर्रियां नष्ट होती हैं ।

कृष्णा वक्त्रे प्रलेपः स्याद्वलिल्लोमनिवारणः ।
यष्टयाह्वतिलकिञ्जल्कक्षौद्रमामलकानि च ॥ २७६ ॥
बृंहयेद्रञ्जयेच्चैतत्केशान्मूर्धप्रलेपनम् ।

(७) काले तिल, आंवले का फल, पद्म का केशर (पराग), मुलहठी, मधु इन सब को पीस कर शिर पर लगाने से बाल काले होते हैं तथा बढ़ते हैं ।

पचेत्सैन्धवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम् ॥ २७७ ॥
तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि ।
तत्प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात्कृष्णमृदुमूर्धजम् ।

(८) सैन्धा नमक, लोह चूर्ण और तण्डुल परस्पर समान भाग लेकर अम्ल द्रव पाक के योग्य मिला कर पकाना चाहिये । प्रलेप के योग्य होने पर उतार लेना चाहिये । शिर पर तैलादि कोई स्निग्ध वस्तु को न लगा कर रूक्ष अवस्था में हो इसका लेप कर देना चाहिये । रात भर इसको शिर पर लगे रहने देना चाहिये । प्रातःकाल त्रिफला के क्वाथ

से इसको धो देना चाहिये । इस प्रकार करने से बाल काले और स्निग्ध हो जाते हैं ।

अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलारसः ॥ २७८ ॥

इति खालित्यचिकित्सा ।

(९) अम्ल द्रव के साथ लोह चूर्ण और त्रिफला चूर्ण को मिला कर पीस लेना चाहिये । यह प्रलेप बालों को रंगने के लिये उत्तम राग है ।

स्वर-भंग चिकित्सा

सर्पींष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके ।
तैस्तैश्चतुष्प्रयोगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः ॥ २७९ ॥
बर्हितित्तिरिदक्षाणां पञ्चमूलीश्रृतान् रसान् ।
मायूरं क्षीरसर्पिर्वा पिबेत् त्र्यूषणमेव वा ॥ २८० ॥

(१) वातजन्य स्वर भेद में चावलों को खाकर ऊपर से घृतपान करना चाहिये । बला, रास्ना और अमृता (गिलोय) इनका क्वाथ, चूर्ण, अवलेह और कवलग्रह में चार रूपों में प्रयोग करना चाहिये । * पंचमूल क्वाथ (बिल्वादि पंचमूल) में श्रृत, मोर, तीतर और मुर्गे के मांसरस को पीना चाहिये । मायूर घृत, क्षीरसर्पि या त्र्यूषणघृत को पीना चाहिये ।

पैत्तिके तु विरेकः स्यात्पयश्च मधुरैः श्रृतम् ।
सर्पिर्गुडो जीवनीयं वासासिद्धं घृतं तथा ॥ २८१ ॥

(२) पित्तजन्य स्वरभंग में रोगी को विरेचन देना चाहिये तथा मधुर वर्ग से साधित दूध पीना चाहिये । क्षत-रोग चिकित्सा में वर्णित सर्पिर्गुड, तिक्तघृत, वात-रक्त में कथित जीवनीयघृत, रक्तपित्तोक्त वासाघृत पीना चाहिये ।

* चतुष्प्रयोग से चक्रपाणि ने अभ्यंग, गण्डूष, लेह, मस्तु प्रयोग लिया है ।

कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ।
विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम् ॥ २८२ ॥

(३) कफजन्य स्वर भंग में तीक्ष्ण शिरोविरेचन, विरेचन, वमन, धूम, यवान्न का सेवन तथा कटु द्रव्यों का सेवन करना चाहिये ।

वचाभार्ग्यभयाव्योषक्षारमाक्षिकचित्रकान् ।
लिह्याद्वा पिप्पलीपथ्ये तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः ॥ २८३ ॥

(४) भारंगी, वच, हरड़, सोंठ, मरिच, पिप्पली, यवक्षार और चित्रक इनके चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । अथवा पिप्पली और हरड़ का चूर्ण करके मधु के साथ चाटना चाहिये या तीक्ष्ण मद्य पीना चाहिये ।

रक्तजे स्वरभेदे तु संस्कृता जाङ्गला रसाः ।
द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ॥ २८४ ॥

(५) रक्तजन्य स्वरभेद में घृत में भूने संस्कृत जांगल मांसरस, तथा द्राक्षा स्वरस, या विदारी स्वरस या गन्ने का स्वरस इसमें घृत, मधु और शर्करा मिला कर पीने चाहियें ।

यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम् ।
पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे ॥ २८५ ॥

(६) क्षय-कास की चिकित्सा के लिये जो कुछ कहा है वह सब रक्तजन्य स्वर भेद में बरतना चाहिये तथा सिरावेध भी करवाना चाहिये ।

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराविधिः ।
इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम ॥ २८६ ॥

(७) सन्निपातजन्य स्वर भेद में अन्य सब चिकित्सा विधि बरतनी चाहिये, परन्तु सिरावेध नहीं करना चाहिये ।

इस प्रकार से स्वरभेद रोग की चिकित्सा संक्षेप में कह दी है ।
[यहां पर वातादि स्वरभेद के लक्षण नहीं कहे, तथापि राजयक्ष्मा में

वर्णित लक्षणों से उनको जानना चाहिये। वहां पर विस्तार से चिकित्सा भी कही है।]

कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात्।
शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते॥ २८७॥

इति स्वरभेदचिकित्सा।

उपसंहार—पीनस के उपद्रवों में कथित श्वास कास आदि रोगों में अपने अपने रोग की चिकित्सा करनी चाहिये। शेष त्रिमर्मीय अध्याय में न कहे रोगों में सामान्य रूप से त्रिमर्मज रोगोपदिष्ट चिकित्सा को करना चाहिये, सिद्धिस्थान में त्रिमर्मज रोगों की अन्य क्रिया को भी कहेंगे। पुरुषों में बस्ति, हृदय और शिर में अथवा बस्ति के समीप, शिर के समीप आश्रित वात, पित्त, कफ को वमनादि कार्यों के द्वारा (जिस कर्म से समीपस्थ दोष निकल सके उसी कार्य द्वारा) दोष को निकालना चाहिये।

भवन्ति चात्र। वातपित्तकफा नृणां बस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः।
तस्मात् तु स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः॥ २८८॥
अध्यात्मलोका वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥ २८९॥

जिस प्रकार से कि बाह्यलोक में वात (वायु), रवि (सूर्य) और चन्द्रमा विकृत हो कर जगत् को पीड़ित करते हैं, और अविकृत हो कर जगत् को धारण करते हैं, उसी प्रकार से आत्मा से अधिकृत लोक में (एक एक प्राणी में), वात, पित्त, कफ विकृत होकर शरीर को पीड़ित करते हैं, और अविकृत रहकर शरीर को धारण करते हैं।

विरुद्धैरपि नत्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव॥ २९०॥

वात, पित्त, कफ ये परस्पर विरुद्ध गुण होने पर भी सूर्य चन्द्र वायु के समान एक दूसरे को पीड़न क्यों नहीं करते? इस शंका का यह

समाधान है कि वात, पित्त और कफ परस्पर गुण, दोषों में विरुद्ध होने पर भी अविकृत रूप में जो शरीर का पीड़न नहीं करते अपितु शरीर का धारण करते हैं, इसका कारण इनका सहज होना तथा सात्म्य होना है।

शरीर की उत्पत्ति के समय जितने भाव एक साथ में उत्पन्न होते हैं, इन में से कुछ तो समान गुण होते हैं और कुछ विरुद्ध गुण होते हैं। ये सब सात्म्य (आत्मा के साथ एकीभाव) करके रहते हैं, शरीर के आरम्भक गुणों में जो गुण विरोधी होते हैं, वे एक दूसरे का ह्रास करते हैं, उस समय जो विरोधी गुण शेष रह जाते हैं वे परस्पर सात्म्य रूप बन जाते हैं फिर विरोध नहीं करते। शरीर की स्थिति-काल में निदान विशेष से प्रकुपित होकर शरीर के धातुओं को दूषित करके पीड़ा उत्पन्न करते हैं, परस्पर एक दूसरे का इसी प्रकार नाश नहीं करते जिस प्रकार कि सहज सात्म्य होने से घोर विष सांप को नहीं मारता। सांप के शरीर के अन्य अंगो के उत्पन्न होने के साथ ही विष भी उत्पन्न होता है, वही विष अन्यों के लिये प्राण नाशक है।

तत्र श्लोकः। त्रिमर्मजानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम्।
विस्तरेण पृथग्दिष्टं त्रिमर्मीये चिकित्सिते ॥ २९१ ॥

त्रिमर्म चिकित्सा नामक अध्याय में त्रिमर्म जन्य रोगों का निदान, लक्षण और चिकित्सा विस्तार रूप से पृथग् पृथग् कहदी है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः।

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'ऊरुस्तम्भ चिकित्सित' अध्याय का वर्णन करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है।

श्रिया परमया ब्राह्म्या परया च तपःश्रिया।
अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम् ॥ ३ ॥
धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम्।
अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ॥ ४ ॥

ब्राह्मी उत्कृष्ट श्री (कान्ति) से सदा युक्त, तप से उत्पन्न श्रेष्ठ श्री वाले, सूर्य और चन्द्र से युक्त मेरु के समान अचल (स्थिर), धी, धृति, स्मृति, विज्ञान, ज्ञान, कीर्त्ति और क्षमा के आश्रय भगवान् आत्रेय गुरु के संमुख उचित काल में अग्निवेश ने अपने संशय को प्रश्नरूप से प्रस्तुत किया।

भगवन् पञ्च कर्माणि समस्तानि पृथक् तथा।
निर्दिष्टान्यामयानां तु सर्वेषामेव भेषजम् ॥ ५ ॥

भगवन्! आपने पृथक् २ रूप से प्रथम पंचकर्मों का उपदेश किया है, सब रोगों की औषध भी कही है। क्या ऐसा कोई साध्य तथा दोषजन्य (मानस और आगन्तु से भिन्न) रोग भी है, जिसके शमन करने के लिये ये कर्म सफल नहीं होते? [जो रोग इन पंचकर्मों तथा इन औषधों से शान्त नहीं होता]।

दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्यैतानि भिषग्वर।
न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया ततः ॥ ६ ॥
अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम्।
सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तेनाब्रवीद् गुरुः ॥ ७ ॥

गुरु ने कहा कि एक 'ऊरुस्तम्भ' रोग ऐसा है जो दोषजन्य तथा साध्य होता हुआ भी इनसे शान्त नहीं होता। गुरु के ऐसा वचन कहने पर अग्निवेश ने ऊरुस्तम्भ के कारण, लक्षण और चिकित्सा विषयक प्रश्न किया। उत्तर में गुरु ने उपदेश किया।

स्निग्धोष्णलघुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः।

द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः ॥ ८ ॥
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः ॥ ९ ॥
स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन् मेदसा सह ।
रुद्ध्वाशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिरादिभिः ॥ १० ॥
पूरयेत्सक्थिजङ्घोरू दोषो मेदोबलोत्कटः ।
अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ॥ ११ ॥

कारण—स्निग्ध, गुरु, उष्ण, शीतल वस्तुओं के सेवन से, बहुत कुछ जीर्ण होने पर थोड़ा-सा अजीर्ण (जीर्ण होने से बचने पर) होने की अवस्था में भोजन करने से, द्रव, शुष्क, दधि-क्षीर (दूध), ग्राम्य मांस, आनूप मांस औदक मांस के खाने से, पिष्ट पदार्थों के सेवन से, अपक्व मद्य के सेवन से, दिन में सोने से, रात्रि में जागरण से, लंघन से, अध्यशन से, भय से, परिश्रम से, मल-मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से तथा स्नेह के कारण से संचित आम (अपक्व) कोष्ठ में मेद-मिश्रित वातादि दोषों का अवरोध करके भारी होने के कारण अधोगामिनी सिराओं आदि से ऊरू में पहुंच जाता है। मेद के बल से उत्कट (कुपित) दोष सक्थि और जंघा तथा ऊरू में आ जाते हैं। इससे ऊरू परिस्पन्द (गति) नहीं कर सकता तथा ऊरू में शक्ति कम हो जाती है, जांघ निकम्मी हो जाती है।

महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बुस्तिमितं यथा ।
तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः ॥ १२ ॥

जिस प्रकार जल से पूर्ण महासरोवर में गम्भीर तथा स्तिमित (विना हिले जुले) रूप में जल स्थिर भाव से रहता है, उसी प्रकार से ऊरू में स्थिर कफ स्थिर तथा अविचल रूप में रहता है।

गौरवायाससङ्कोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः ।
भेदस्फुरणतोदैश्च युक्तो देहं निहन्त्यसून् ॥ १३ ॥

यह कफ शरीर में गौरव, आयास, संकोच, जलन, पीड़ा, सुप्ति, कम्पन, तोद, भेद तथा स्फुरण उत्पन्न करके प्राणों का नाश करता है।

ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु।
स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरूस्तम्भस्ततो मतः॥ १४॥

मेद से मिश्रित श्लेष्मा, वात और पित्त को तिरस्कृत (हीन) करके स्थिरता तथा शीतलता के कारण ऊरू को स्तम्भित (जड़ रूप) बना देते हैं, इसलिये इस रोग को ऊरूस्तम्भ कहते हैं।

प्राग्रूपं ध्याननिद्रातिस्तैमित्यारोचकज्वराः।
लोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा॥ १५॥
वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्राडुद्धरणं तथा॥ १६॥

पूर्वरूप—रोगी को अति निद्रा आती है, रोगी का ध्यान (चित्त) सदा इसी रोग की ओर लगा रहता है, स्तिमितता (जड़ता, अंगों की चमड़े से ढंपे रहने की सी प्रतीति), ज्वर, रोमांच, अरुचि, वमन, जांघ में और टांग में अवसाद (भारीपन) रहता है। रोगी को वात-व्याधि की शंका रहती है, इसी आशंका में वह अज्ञान से स्नेहन क्रिया कर लेता है। जिससे उसको पांव में अवसाद और अधिक शिथिलता और संज्ञानाश हो जाता है तथा रोगी कठिनाई से पांव को उठा पाता है।

जङ्घोरुग्ग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने।
पदं चा व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च॥ १७॥
संस्थाने पीडने गत्यां चलने चाप्यनीश्वरः।
अन्यनेयौ हि संभग्नावूरुपादौ च मन्यते॥ १८॥

लक्षण—जांघ और ऊरू रोग में रोगी को अति ग्लानि होती है, रोगी को निरन्तर आनाह (अफ़ारा) तथा वेदना बनी रहती है। भूमि पर पांव रखते समय दर्द होता है, पांव में शीत स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। रोगी बैठने, दबाने, चलने, हिलाने-जुलाने में, स्वयं समर्थ नहीं

होता, वह सुखपूर्वक पांव को हिला-जुला नहीं सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि जांघ और पांव टूट गया है। उनको कोई दूसरा ही चलावे तो चलें।

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम्॥ १९॥

असाध्य के लक्षण—जिस समय रोगी में जलन की पीड़ा, चुभने की वेदना और कम्पन हो तो ऊरुस्तम्भ रोग को असाध्य समझना चाहिये। और यदि ऊरुस्तम्भ नया हो तो इसको साध्य समझना चाहिये।

तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम्।
न चैव वमनं यस्मात्तन्निबोधत कारणम्॥ २०॥
वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं बस्तिकर्म च।
तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम्॥ २१॥
कफं कफस्थानगतं पित्तं चा वमनात्सुखम्।
हर्तुमामाशयस्थौ च स्रंसनात्तावुभावपि॥ २२॥
पक्वाशयस्थाः सर्वे च बस्तिभिर्मूलनिर्जयात्।
शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः॥ २३॥
वातस्थाने हि तच्छैत्यात्तयोः स्तम्भाच्च तद्गताः।
न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात्॥ २४॥

ऊरूस्तम्भ के रोगी को न तो स्नेहन करना चाहिये न बस्ति और न विरेचन देना चाहिये और न वमन देना चाहिये, बस्तिकर्म और स्नेहन इसलिये नहीं करने चाहिये क्योंकि स्नेहन और बस्तिकर्म से सदा कफ की वृद्धि होती है। ऊरू में स्थित कफ के निकालने में विरेचन भी समर्थ नहीं है, इसलिये विरेचन भी देना व्यर्थ है। कफ-स्थान मे पहुंचा कफ और अपने स्थान में पहुंचा हुआ पित्त वमन द्वारा सुखपूर्वक बाहर निकाला जा सकता है। अतः आमाशय में स्थित पित्त और कफ को वमन बाहर करता है। पक्वाशय में स्थित सब

वात, पित्त, कफ, बस्ति द्वारा मूल के नष्ट हो जाने से सुगमता पूर्वक शान्त किये जा सकते हैं, परन्तु जंघा और ऊरू में स्थित आम और मेद के कारण स्तब्ध हुए दोष वमन से दूर नहीं किये जा सकते। ऊरूस्तम्भ रोग में वायु की शीतलता से वायु के स्थान में आश्रित दोष तथा जंघा और ऊरू के स्तम्भित होने से दोष सुगमता से उसी प्रकार बाहर नहीं निकाले जा सकते जिस प्रकार नीचे के भाग में अटके जल को सुगमता से नहीं निकाल सकते इसलिये वमन भी करना उचित नहीं।

ऊरू-स्तम्भ-चिकित्सा

तस्य संशमनं कुर्यात् क्षपणं शोषणं तथा।
युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधिकत्वात्कफामयोः ॥ २५ ॥
सदा रूक्षोपचाराथ यवश्यामाककोद्रवान्।
शाकैरलवणैरद्याज्जलतैलोपसाधितैः ॥ २६ ॥
सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्रारग्वधपल्लवैः।
वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च कुलकादिभिः ॥ २७ ॥

(१) आम और कफ की अधिकता से, युक्तिपूर्वक क्षपण (द्रवभाग का विशोषण) रूप शोधन तथा संशमन चिकित्सा वैद्य को करनी चाहिये युक्तिपूर्वक रूक्ष उपचार करने चाहिये। जिस समय रोगी अन्न की आकांक्षा करे उस समय जल और तैल में सिद्ध किये नमक रहित शाकों के साथ जौ, सांवक, कोदा धान्य देने चाहिये। शाकों में से सुनिषण्णक (चौलाई नीम, आक, वेत, और अमलतास के पत्ते, वायसी (मकोय), वास्तुक (वथुआ), कुलक (करेला) आदि अन्य तिक्त शाक देने चाहियें।

क्षारारिष्टप्रयोगाश्च हरीतक्यास्तथैव च।
मधूदकस्य पिप्पल्या ऊरूस्तम्भविनाशनाः ॥ २८ ॥

क्षार, अरिष्ट प्रयोग, हरीतकी, मधुमिश्रित पानी तथा पिप्पली का प्रयोग निरन्तर करने से ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट होता है।

समङ्गां शाल्मलीं बिल्वं मधुना सह्ना पिबेत् ।
तथा श्रीवेष्टकोदीच्यदेवदारुनतान्यपि ।
चन्दनं धातकीं कुष्ठं तालीसं नलदं तथा ॥ २९ ॥
मुस्तं हरीतकीं लोध्रं पद्मकं तिक्तरोहिणीम् ।
देवदारु हरिद्रे द्वे वचां कटुकरोहिणीम् ॥ ३० ॥
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च ।
चव्यं चित्रकमूलानि देवदारु हरीतकीम् ॥ ३१ ॥
[भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत् ।]
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरुग्रहापहान् ॥ ३२ ॥

(२) सात योग—(१) समंगा (मजीठ), शाल्मली (सिम्बल) बिल्वगिरी इनके कल्क को मधु के साथ पीना चाहिये । (२) श्रीवेष्टक (राल या लता), उदीच्य (खस), देवदारु और नत (तगर) इनके कल्क को मधु के साथ, (३) चन्दन, धाय के फूल, कूठ, तालीश पत्र, नलद इनके कल्क को मधु के साथ, (४) मुस्ता, हरीतकी, लोध, पद्माख और कुटकी इनके कल्क को मधु के साथ, (५ देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, वच, कुटकी इनके कल्क को मधु के साथ, (६) पिप्पली, पिप्पलीमूल, सरल काष्ठ और देवदारु इनके कल्क को मधु के साथ, (७) चव्य, चित्रकमूल, देवदारु और हरीतकी इनके कल्क को मधु के साथ पीना चाहिये । अर्द्ध श्लोकों में वर्णित इन कल्कों को मधु के साथ प्रयोग करने से उरोग्रह रोग नष्ट होता है ।

[चक्रपाणि के अनुसार प्रथम तीन योग इसमें नहीं हैं । मुस्ता से लेकर उपरोक्त चार योग तथा पांचवां पिप्पली, पिप्पली मूल, भिलावा इनके कल्क को मधु के साथ पीना चाहिये, इस प्रकार से ये पांच योग माने हैं ।]*

शार्ङ्गेष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं वचाम् ।

(३) शाङ्गेंष्टा (गंजा), मैनफल, दन्ती, इन्द्रजौ, वच, भिलावा, पिप्पली, पिप्पलीमूल इनको क्वाथ करके पीना चाहिये। *

मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा ॥ ३३ ॥
पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाऽऽप्लुतम्।

(४) मूर्वा, अमलतास, पाठा, करंज, कुलक (पटोल), इनको परस्पर समान लेकर इनके चूर्ण को मधु के साथ पीना चाहिये अथवा इनके चूर्ण को पानी में घोलकर पीना चाहिये।

सक्षौद्रं दधिमण्डं वाऽप्यूरुस्तम्भविनाशनम् ॥ ३४ ॥
मूर्वामतिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम्।

(५) मूर्वा, अतिविषा, कूठ, चित्रक और कुटकी इनके चूर्ण को मधु के साथ या दधिमण्ड के साथ पीना चाहिये। इससे ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट होता है।

पूर्ववद्वा पिबेत्तोये रात्रिस्थितमथापि वा ॥ ३५ ॥

(६) गुग्गुल को रात्रि में गोमूत्र में रखना चाहिये, दिन में शुष्क करना चाहिये। इस प्रकार से एक सप्ताह तक भावित करके इस गुग्गुल को मधु के साथ अथवा दधिमण्ड के साथ खाना चाहिये।

स्वर्णक्षीरीमतिविषां मुस्तं तेजोवतीं वचाम् ॥
सुराह्वं चित्रकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम् ॥ ३६ ॥
लेहयेन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलान्वितम्।

(७) स्वर्णक्षीरी, अतिविषा, मुस्ता, तेजवती (तेजबल), वच, सुराह्वा (देवदारु) कटुक, कूठ, पाठा, कुटकी इनके चूर्ण को मधु के साथ अथवा जल में घोलकर पीना चाहिये।

फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद्वा मधुसंयुतम्।

---

* चक्रपाणि ने भल्लातक के स्थान पर 'स्वादु कण्टकं' पाठ पढ़ा है यहां पर स्वादुकण्टक से विकंकत लेना चाहिये।

लिह्याद्वा[1] चूर्णयित्वा तदूरुस्तम्भनिवारणम् ॥ ३७ ॥

(८) फली (प्रियंगु), व्याघ्रनखी, हेम (नागकेसर) इनके चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये । त्रिफला, पिप्पली, मुस्ता, चव्य, कुटकी इनके चूर्ण को ऊरुस्तम्भ से पीड़ित व्यक्ति को मधु के साथ चाटना चाहिये।

अपतर्पणजश्चेत्स्याद्दोषः संतर्पयेद्धि तम् ।
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः ॥ ३८ ॥

(९) लक्षणानुसार चिकित्सा—यदि अपतर्पण के कारण से ऊरुस्तम्भ रोग में दोष दूषित हों तो युक्तिपूर्वक रोगी का सन्तर्पण करना चाहिये । सन्तर्पण के लिये जांगल पशु पक्षियों का मांस तथा पुरातन शालि, गोधूम देने चाहिये।

रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः ।
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ॥ ३९ ॥

(१०) यदि निद्रानाश पूर्वोक्त रूक्ष कारणों से वायु का प्रकोप हो तो वातरोगनाशक स्नेह-स्वेदविधि बरतनी चाहिये ।

पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरको वचा ।
सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत् ॥ ४० ॥
सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वापि ना पिबेत् ।
अपतर्पणतो रौक्ष्यादूरुस्तम्भी विमुच्यते ॥ ४१ ॥

(११) स्नेह-क्रम—पीलुपर्णी (मूर्वा या रास्ना), पयस्या (क्षीर विदारी), रास्ना, गोखरू, वच, सरल काष्ठ, अगरु और पाठा इनके कल्क से चतुर्गुण जल में तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तेल में चतुर्थांश मधु मिलाकर कोष्ठ के अनुसार प्रसृति (दो पल) परिमित या अञ्जलि (कुड़व) परिमित पीना चाहिये । इसके प्रयोग से अपतर्पणजन्य तथा रौक्ष्यजन्य ऊरुस्तम्भ नष्ट होता है ।

कुष्ठं श्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम् ।

१ 'लिह्याद्वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः' इति पाठान्तरम् ।

अजगन्धाऽश्वगन्धा च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥ ४२ ॥
सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत् ।
रौक्ष्यान्मुक्त उरुस्तम्भात्ततश्च स विमुच्यते ॥ ४३ ॥

(१२) कुष्ठ, श्रीवेष्टक (लता या धूप), उदीच्य (नेत्रबाला), सरल काष्ठ, देवदारु, केशर (नाग केशर), अजगन्धा (अजवायन), अश्वगन्धा इनके कल्क से चतुर्गुण जल में सरसों का तैल सिद्ध करना चाहिये । इस तैल में चतुर्थांश मधु मिलाकर ऊरुस्तम्भ रोगी को मात्रानुसार पीना चाहिये । इस तैल द्वारा रौक्ष्यजन्य ऊरुस्तम्भ से रोगी मुक्त हो जाता है ।

द्वे पले सैन्धवात्पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात् ।
द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके ॥ ४४ ॥
आरनालात्पचेत्प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम् ।
गृध्रस्यूरुग्रहार्शोर्तिसर्ववातविकारनुत् ॥ ४५ ॥

(१३) अपत्यद तैल—कल्कार्थ–सैन्धव दो पल, सोंठ ५ पल, ग्रन्थिक (पिप्पलीमूल) दो पल, चित्रक दो पल, भिलावे की अस्थियां संख्या में २० (२० पल नहीं), क्वाथार्थ—आरनाल (कांजी) दो आढ़क, तैल १ प्रस्थ लेकर यथाविधि तैल पकाना चाहिये । यह अपत्यद तैल गृध्रसी, ऊरुग्रह, अर्श तथा सब वातविकारों को नष्ट करता है । [अष्टांगसंग्रह में दस पल लिखा है ।]

पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागराद्दष्टकट्वरः ।
तैलप्रस्थः समो दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः ॥ ४६ ॥

इत्यष्टकट्वरतैलम्

(१४) अष्टकट्वर तैल—कल्कार्थ–पिप्पलीमूल एक पल, सोंठ एक पल, क्वाथार्थ–कट्वर (सारयुक्त दधि से बना तक्र) ८ प्रस्थ, तैल १ प्रस्थ लेकर यथाविधि तैल सिद्ध करना चाहिये । यह तैल गृध्रसी और ऊरुग्रह को नष्ट करता है ।

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमूरुस्तम्भस्य भेषजम् ।
श्लेष्मणः क्षपणं त्वन्यद्बाह्यं शृणु चिकित्सितम् ॥ ४७ ॥

ऊरुस्तम्भ रोग की अन्तः चिकित्सा यहां तक कह दी है इसके आगे कफ का शोषण करने वाली बाह्य चिकित्सा को सुनो ।

वल्मीकमृत्तिकामूलं करञ्जस्य फलं त्वचम् ।
इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम् ॥ ४८ ॥

(१५) वल्मीक मृत्तिका, करंज का फल, करंज के मूल की छाल, ईंटों का चूर्ण इन सब वस्तुओं से बल पूर्वक बहुत उत्सादन (घर्षण) करना चाहिये ।

मूलैर्वाऽप्यश्वगन्धाया मूलैरर्कस्य वा भिषक् ।
पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः ॥ ४९ ॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक् ।
गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे प्रलेपनम् ॥ ५० ॥

(१६) अश्वगन्धा के मूल से या आक के मूल से अथवा पिचुमर्द (नीम) के मूल को या देवदारु के मूल को मधु, सरसों और वल्मीक मृत्तिका के साथ मिलाकर इनसे उद्वर्त्तन (घर्षण) करना चाहिये ।

दन्तीद्रवन्तीसुरसासर्षपैश्चापि बुद्धिमान् ।
तर्कारीशिग्रुसुरसविश्ववत्सकनिम्बजैः ॥ ५१ ॥
पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णं च सेचनम् ।

(१७) दन्ती, द्रवन्ती, सुरसा (तुलसी) और सरसों इनके चूर्ण से प्रलेप करना चाहिये । तर्कारी (जयन्ती), विश्व (सोंठ), सुरस (तुलसी या निगुण्डी), शोभांजन, वत्सक, कुटज और नीम इनके पत्ते, मूल, और फलों से शृत (पकाये) उष्ण पानी से सेचन करना चाहिये और इनका लेप करना चाहिये ।

पिष्ट्वा ससर्षपं मूत्रेऽध्युषितं स्यात्प्रलेपनम् ॥ ५२ ॥

(१८) गोमूत्र में रातभर सरसों को रखकर प्रातःकाल पीसकर इसका लेप ऊरुस्तम्भ रोग में करना चाहिये ।

वत्सकः सुरसं कुष्ठं गन्धास्तुम्बुरुशिग्रुकौ।
हिंस्रार्कमूलवल्मीकमृत्तिकाः सकुठेरकाः ॥ ५३ ॥
दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्यमेतैः प्रलेपनम्।
ऊरुस्तम्भविनाशाय भिषजा जानता क्रमम् ॥ ५४ ॥

(१९) वत्सक (इन्द्र जौ), सुरस (तुलसी), कूठ, गन्धा (अश्वगन्धा), तुम्बरु, शिग्रु (शोभांजन), हिंस्रामूल, अर्कमूल, वल्मीक मृत्तिका, कुठेरक (पर्णास, तुलसीभेद) इनके चूर्ण को दधि के साथ पीस-कर सैन्धव लवण मिलाकर ऊरुस्तम्भ रोग के नाश के लिये क्रम (चिकित्सा विधि) को जानने वाले वैद्य को इनका लेप करना चाहिये। *

श्योनाकं खदिरं बिल्वं बृहत्यौ सरलासनौ।
शोभाञ्जनकतर्कारीश्वदंष्ट्रासुरसार्जकान् ॥ ५५ ॥
अग्निमन्थकरञ्जौ च जलेनोत्क्वाथ्य सेचयेत्।
प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाऽप्यूरुस्तम्भनिवारणः ॥ ५६ ॥

(२०) श्योनाक मूल, खदिर मूल, निम्बमूल, कटेरी, बड़ी कटेरी, सरल (धूप वृक्ष), असन वृक्ष, शोभांजन, तर्कारी (जयन्ती), गोखरू सुरसा (तुलसी), अर्जक (मरवा या तुलसी भेद), अग्निमन्थ, करंज इनका जल में क्वाथ करके इससे सेचन करना चाहिये। अथवा इन श्योनाक आदि वस्तुओं को गोमूत्र के साथ पीस कर इनका लेप करना चाहिये।

कफक्षयार्थं शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत्।
स्थलान्याक्रामयेत्कालं शर्कराः सिकतास्तथा ॥ ५७ ॥
प्रतारयेत्प्रतिस्रोतां नदीं शीतजलां शिवाम्।
सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः ॥ ५८ ॥

(२१) यदि रोगी व्यायाम कर सके तो कफ के क्षय के लिये रोगी को व्यायाम कराना चाहिये। व्यायाम के लिये—अपने स्थान से चलकर

* चक्रपाणि ने 'गन्धा' शब्द से अगुर्वादि गण का ग्रहण किया है।

जाये, शर्करा रेत आदि के ढेर को लांघें, चले-फिरे। शीतल जल वाली, कल्याणकारी ॐ नदियों में स्रोत (प्रवाह) के विरुद्ध तैरना चाहिये। स्थिर पानी वाले, निर्मल और शीतल सरोवर मे बार-बार तैरना चाहिये। इस प्रकार से कफ का क्षय होने पर उरोग्रह रोग शान्त हो जाता है।

तथा विशुष्केऽऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।
श्लेष्मणः क्षपणं यत्स्यान्न च मारुतकोपनम् ॥ ५९ ॥
तत्सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम् ॥ ६० ॥

(२२) जिस चिकित्सा विधि से कफ की शान्ति होती हो उससे वायु का प्रकोप नहीं होना चाहिये। उरुस्तम्भ रोग की चिकित्सा में सदा इसी सिद्धान्त से चिकित्सा करनी चाहिये। शरीर, बल, अग्नि की रक्षा करते हुए रोगी को यह चिकित्सा क्रम बरतना चाहिये।

तत्र श्लोकः। हेतुः प्राग्रूपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वमेव च।
द्विविधं भेषजं चोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते ॥ ६१ ॥

ऊरुस्तम्भ रोग की चिकित्सा में—हेतु, पूर्वरूप, लक्षण, कर्मों (पंचकर्मों) के अयोग्य होने के कारण और दो प्रकार की औषध को कह दी है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः।

अथातो वातव्याधिचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ॐ शिवा कल्याणकारी, ग्रहादि से रहित।

इसके आगे वातव्याधि चिकित्सित अध्याय का वर्णन करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥ ३ ॥

मनुष्यों की आयु का कारण होने से, वायु ही आयु है, वायु ही बल है, वायु ही देह को धारण पोषण करने वाला है, इस सम्पूर्ण विश्व का धारण करने से वायु ही यह सब विश्व है, वायु ही प्रभु स्वामी है।

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ ४ ॥

जिस पुरुष में वायु अव्याहत गति (अपने मार्ग को विना छोड़े हुए), स्थानस्थ (अपने स्थान, मार्ग में जाने वाला), प्रकृति में स्थित (न क्षीण, न वृद्ध रूप में) होता है, वह पुरुष रोगरहित होकर सौ वर्ष से भी अधिक जीता है।

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥ ५ ॥

यह वायु प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान भेद से पांच प्रकार का है। यह वायु अपने स्थानों में अव्याहत रूप में (विना किसी बाधा के) भली प्रकार से गति करता हुआ शरीर का नियमन करता है।

स्थानं प्राणस्य शीर्षोरःकर्णजिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च ॥ ६ ॥

प्राण का स्थान शिर, उर, कण्ठ, जिह्वा, मुख और नासिका है। इस प्राण वायु के कर्म—ष्ठीवन (थूकना), क्षवथु (छींकना) उद्गार (डकार), श्वास, आहार का ग्रहण विधारण करना और निःसारण।

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौजो बलवर्णादि कर्म च ॥ ७ ॥

उदान का स्थान नाभि, उर और कण्ठ है; उदान के कर्म—वाक्-

प्रवृत्ति (बोलना), प्रयत्न, ऊर्ज, बल, वर्ण (कान्ति) का निष्पादन करना । [प्राण और उदान के स्थान एक ही हैं परन्तु कार्यों में भेद हैं, जिस प्रकार कि एक ही घर में रहने वाले माली और कुम्हार के कार्यों का भेद रहता है । चक्र०]

स्वेददोषाम्बुवाहानि स्रोतांसि समधिष्ठितः ।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ॥ ८ ॥

समान वायु स्वेदवह, अम्बुवह, दोषवह (सर्वशरीरचर) स्रोतों में स्थित, तथा जाठराग्नि के पार्श्व में स्थित रहता है । कर्म—अग्नि को बल देता है ।

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् ।
गतिप्रसरणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ॥ ९ ॥

व्यान वायु शीघ्र गति होने से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है । कर्म—गति, प्रसारण, आक्षेप, निमेष, आकुंचन प्रसारण आदि कर्म होते हैं ।

वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम् ।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति सः ॥ १० ॥
सृजत्यार्तवगर्भौ च ।

अपान वायु का स्थान दोनों वृषण, बस्ति, शिश्न (स्त्रियों में अपत्य मार्ग), नाभि, उरु, वंक्षण और गुदा । कर्म—आंत्रों में स्थित अपान शुक्र, मूत्र और मल को प्रवृत्त करता है तथा आर्त्तव एवं गर्भ को बाहर निकालता है ।

युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते ।
स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैरनामयः ॥ ११ ॥
विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः ।
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति वा ॥ १२ ॥

ये पांचों वायुएं अपने स्थान में स्थित तथा समयोगयुक्त होकर अपने अपने कार्यों को करते हैं तथा रोगरहित शरीर को धारण करते हैं । यही

प्राणादि पांचों वायुएं विमार्ग में स्थित होकर अयोग, मिथ्यायोग या अति योग से युक्त होकर अपने स्थान एवं अपने कर्म से उत्पन्न रोगों द्वारा शरीर को पीड़ित करते हैं तथा प्राणों को शीघ्र हर लेते हैं।

सङ्ख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः।
अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः॥ १३॥
तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमान् शृणु।
केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्तथाऽऽवृतम्॥ १४॥

स्थान और कर्म से उत्पन्न होने वाले असंख्य रोगों में से मुख्य रूप से नख भेद आदि अस्सी रोग सूत्रस्थान (महारोगाध्याय) में दिखा दिये हैं। इन अस्सी रोगों के अन्य अनेक नाम तथा उनके कारण और चिकित्सा का श्रवण करो। इन अस्सी वात रोगों में कुछ रोग तो वायु को लक्ष्य करके कहे हैं और कुछ रोग आवृत अर्थात् अवरुद्ध वायु को दृष्टि में रख कर कहे हैं।

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादति॥ १५॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात्॥ १६॥
दुःखशय्यासनात्क्रोधाद्दिवास्वप्नाद्भयादपि।
वेगसन्धारणादामादभिघातादभोजनात्॥ १७॥
मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात्।
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन्सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान्॥ १८॥

वात रोगों के सामान्य कारण—रूक्ष अन्न, शीत अन्न, अल्प अन्न, लघु अन्न के सेवन से, अति मैथुन से, अति जागरण से, असम्यग् उपचार से, दोष वमनादि के अति स्रवण से, अभिघात आदि से, रक्त के अधिक स्रवित होने से, लंघन (अभोजन) से, प्लवन (तैरने से), अति मुसा-

फ़िरी से, व्यायाम से, अति चेष्टाओं से, रक्तादि धातुओं के क्षय होने से, चिन्ता से, शोक से, रोग से शरीर के अति कृश होने पर, मल मूत्रादि के वेग को रोकने से, आम से, अभिघात से, अभोजन से, मर्मों की पीड़ा से, हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि शीघ्रगामी सवारियों पर से गिर जाने के कारण बलवान् वायु शरीर के रिक्त स्रोतों में भरकर सर्वांग अर्थात् सम्पूर्ण देह में आश्रित तथा शरीर के एक अंग (एक भाग) में आश्रित नाना प्रकार के वात रोगों को उत्पन्न करता है।

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।
आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः॥ १९॥

पूर्वरूप—इन नाना प्रकार के वात रोगों में रोग का अपना अपना जो लक्षण अव्यक्त (अस्पष्ट) रहता है, वही उस रोग का पूर्वरूप होता है। रोग का अपना अपना लक्षण (आत्म रूप) व्यक्त होने पर ही इन का भेद होता है। जिस समय शरीर में लघुता का ज्ञान हो उस समय रोग की निवृत्ति समझनी चाहिये।

सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
लोमहर्षः प्रलापश्च पादपृष्ठशिरोग्रहः॥ २०॥
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता॥ २१॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदार्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च॥ २२॥
एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत्॥ २३॥

नाना प्रकार के वात रोग—पर्वों का संकोच, पर्वों का स्तम्भ, अस्थिभेद, पर्वभेद, लोमहर्ष, प्रलाप, पाणिग्रह, पादग्रह, शिरोग्रह, खंजता, पंगुता, कुब्जत्व, अंगों में शोष, नींद का न आना, गर्भनाश, शुक्रनाश, रजोनाश, स्पन्दन, गात्र में सुप्तता (संज्ञानाश), शिर का

हुण्डन (विकृति, केश भूमिका, स्फुटन, शंख, ललाट में पीड़ा, फटना), नासा हुण्डन (घ्राणनाश), अक्षिहुण्डन (आंख की शिथिलता), जत्रुहुण्डन (छाती का उपरोध), ग्रीवा हुण्डन (ग्रीवा स्तम्भ), भेद, तोद, पीड़ा, आक्षेप, मोह और आयास इस प्रकार के रूप कुपित वायु उत्पन्न करता है। कारण और स्थान की भिन्नता से कुपित वायु नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है।

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः ।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते ॥ २४ ॥
सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।
वेदनाभिः परीतस्य स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥ २५ ॥
ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषा गुदे स्थिते ॥ २६ ॥
हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥ २७ ॥
पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टसमीरणः ॥ २८ ॥
त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥ २९ ॥
रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥ ३० ॥
गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥ ३१ ॥
भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः ।
अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥ ३२ ॥
क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।

विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥ ३३ ॥
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः ।
बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च ॥ ३४ ॥
शरीरं मन्दरुक् शोफं शुष्यति स्पन्दतेऽपि वा ।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥ ३५ ॥
वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले ।
प्रसारणाकुञ्चनयोरप्रवृत्तिः सवेदना ॥ ३६ ॥
इत्युक्तं स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च ।

स्थान विशेष के वातकोप से नाना रोग—कोष्ठ में आश्रित वायु यदि नष्ट हो जाये तो मूत्र और मल का अवरोध हो जाता है, व्रध्न, हृदय-रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल उत्पन्न हो जाती है। वायु सम्पूर्ण शरीर में कुपित हो जाय तो शरीर का स्फुरण, शरीर का टूटना, शरीर में चारों ओर से वेदनायें होती हैं और सन्धियां चटकती हुई प्रतीत होती हैं। गुदा में स्थित वायु के कुपित होने पर मल मूत्र और वायु का अवरोध, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा, जंघा रोग, जंघा में शोथ, ऊरू में रोग, ऊरू में शोथ, त्रिक में शोथ, त्रिक में रोग, पांव में रोग, पांव में शोथ, पीठ में रोग, पीठ में शोथ होती है। आमाशय में स्थित वायु के कुपित होने पर पार्श्वशूल, उदर रोग, हृदय रोग, नाभि रोग, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, कास, कण्ठ और मुख में शुष्कता, श्वास रोग होता है। पक्वाशय में स्थित वायु के कुपित होने पर आंतों में कूजन, शूल, आरोप (आध्मान), कृच्छ्रता से मूत्र का आना, कृच्छ्रता से मल का आना, आनाह, त्रिक में वेदना होती है। श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियों में कुपित वायु, इन्द्रियों का (श्रोत्र आदि इन्द्रिय का) बध कर देता है। त्वचा में आश्रित वायु के कुपित होने पर त्वचा में रूक्षता, त्वचा का फटना, त्वचा में सुप्ति (संज्ञानाश), त्वचा में कृशता, त्वचा में कृष्णता; त्वचा में विस्तार होता है, त्वचा में रक्तिमा, पर्वों में दर्द होती है। रक्त में

स्थित वायु के कुपित होने पर तीव्र वेदनायें, सन्ताप, विवर्णता, कृशता, अरुचि, गात्र में फुन्सियां, भोजन करते समय गात्रस्तम्भ होता है। मांस और मेद में आश्रित वायु के कुपित होने पर अंग में अति वेदना, स्तब्धता, रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर दण्डे या मुक्कों से आहत है, रोगी को वेदना तथा अति स्तिमितता (अंगों का गीले वस्त्र से ढंपा सा रहना) रहती है। मज्जा में आश्रित वायु के कुपित होने पर अस्थि तथा पर्वों में भेद, सन्धियों में शूल, मांस तथा बल का क्षय, नींद का न आना, रात दिन दर्द का रहना होता है। शुक्र में स्थित वायु के कुपित होने पर, मैथुन के समय शुक्र जल्दी से क्षरित हो जाता है अथवा देर तक रुका रहता है, विकारयुक्त गर्भ को उत्पन्न करता है। स्नायुओं में आश्रित वायु कुपित होने पर बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जत्व, सर्वांग रोग और एकांग रोग को उत्पन्न करता है। [बाह्यायाम और अन्तरायाम में स्नायुगत वायु के साथ साथ सिरागत वायु भी कुपित रहता है]। सिरागत वायु के कुपित होने पर शरीर में मन्द वेदना, शोथ, स्पन्दन तथा शुष्कता होती है। तनु (सूक्ष्म) या महीन सिराओं में (सब सिराओं में) सुप्तता (संज्ञानाश) होता है। सन्धिगत वायु के कुपित होने पर सन्धि में वायु से भरी मशक के समान स्पर्श होता है, शोथ होता है, प्रसारण (फैलाने) या संकुचित करने के समय सन्धि में वेदना होती है, सन्धि स्थिरवृत्ति होती है। इस प्रकार स्थान भेद से वायु के प्रकोप के लक्षण कह दिये हैं।

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते ॥ ३७ ॥
यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च।
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्धे मुखं जिह्मं करोति च ॥ ३८ ॥
वक्रीकरोति नासाभ्रूललाटाक्षिहनूस्तथा।
ततो वक्रं व्रजत्यास्ये भोजनं वक्रनासिकम् ॥ ३९ ॥
स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवथुश्च निगृह्यते।

दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ताऽबला सज्जति चास्य वाक् ॥ ४० ॥
दन्ताश्चलन्ति बाध्येते श्रवणौ भिद्यते स्वरः ।
पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डरुक् ॥ ४१ ॥
अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम् ।

अर्दित के लक्षण—अतिशय वृद्ध वायु जब आधे अथवा सम्पूर्ण शरीर में पहुंच जाता है, तब रक्तादि को शुष्क करके आधे या सम्पूर्ण शरीर में गर्दन से ऊपर के भागों में संकोच उत्पन्न करता है। मुख को कुटिल कर देता है, नासा, मुंह, ललाट, आंख और हनु को वक्र बना देता है। रोगी के मुख के वक्र होजाने पर भोजन अभोजन (शक्तिहीन) हो जाता है, बोलते समय नासिका वक्र हो जाती है और नेत्र स्तब्ध (पलक रहित) स्थिर हो जाते हैं। छींक आती आती रुक जाती है, बोलने के लिये उठी जिह्वा दीन (निर्बल क्षीण), और अफल (व्यर्थ) हो जाती है, इससे वाणी रुक जाती है (बोल नहीं सकती), दन्त हिल जाते हैं, कान बहरे हो जाते हैं, स्वर टूट जाता है, पांव, हाथ, आंख, जंघा, ऊरू, शंखप्रदेश, कान, गण्ड स्थल में वेदना होती है। अर्ध शरीर में या आधे मुख में, सम्पूर्ण शरीर में या सम्पूर्ण मुख में वेदना होती है इसको अर्दित रोग कहते हैं। [वर्तमान काल में इसको Facial Paralysis कहते हैं। इस रोग का कारण मस्तिष्क की पंचम नाड़ी (त्रिशिरा या Trigimanal के पेरेलिसिस से उत्पन्न होता है। इस में रोगी मुख से 'सीटी' नहीं बजा सकता, या फूंक नहीं मार सकता, मुख एक पार्श्व में मुड़ जाता है।]

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते ॥ ४२ ॥
मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम् ।
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम् ॥ ४३ ॥
दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः ।
जृम्भा वदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम् ॥ ४४ ॥

इत्युक्तस्त्वन्तरायामो बहिरायाम उच्यते।

अन्तरायाम का लक्षण—कुपित वायु दोनों मन्या नाड़ियों का आश्रय लेकर जब मन्या से सम्बन्धित अन्तः नाड़ी में प्रवृत्त हो जाता है, तब अन्तरायाम संज्ञक मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करता है। ग्रीवा अन्दर की ओर क्रोड़ देश पर (या चिबुक छाती पर) आ जाती है, मन्या अति स्तम्भित (कठोर) बन जाती है दांतों से दंशन होता है, मुख से लार गिरती है, पृष्ठ में आक्षेप (झटके) होते हैं, पीठ टेढ़ी बन जाती है, शिर में जड़ता रहती है, इधर उधर नहीं हिलता, जृम्भा, मुख के चलाने में असमर्थता का होना ये अन्तरायाम के लक्षण हैं।

पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा सिरा बली: ॥ ४५ ॥
ततः कुर्याद्धनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम्।
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः ॥ ४६ ॥
उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवा च मृद्यते।
दन्तानां दंशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः ॥ ४७ ॥
जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति।

बहिरायाम के लक्षण—पृष्ठ और मन्या में आश्रित जो बाह्य सिरायें हैं उन बाह्य सिराओं का जब बलवान् वायु शोषण कर देता है, उस समय वही आयाम संज्ञक हनुस्तम्भ रोग होता है।

लक्ष .—धनुष के समान झुक जाने से शिर पीछे की ओर मुड़ जाता है छाती ऊपर की ओर उभर आती है, मन्यायें सिरायें स्तब्ध (कठोर) हो जाती हैं, ग्रीवा मली जाती है, दातों से दंशन होता है। जृम्भा, मुख से लालास्राव, वाणी का न उठनो होता है। रोग के उत्पन्न होने के साथ ही यह बहिरायाम मार देता है अथवा विकलता को उत्पन्न करता है।

हनुमूले स्थिते बन्धात्संस्रयत्यनिलो हनू ॥ ४८ ॥
विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात्संवृतमाननम्।

हनुग्रहं च संस्तभ्य हनू संवृतवक्त्रताम् ॥ ४९ ॥
हनुमूले स्थितो वायुः करोति बहुकष्टदम् ।

हनुस्तम्भ के लक्षण—हनुमूल में स्थित वायु हनुबन्ध से दोनों हनुओं को स्खलित कर देती है, इससे या तो मुख खुला रहता है अथवा मुख बन्द हो जाता है । वायु संस्तम्भित करके मुख को बन्द तथा हनुग्रह को उत्पन्न करते हैं ।

मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः ॥ ५० ॥
पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः ।
पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः ॥ ५१ ॥
दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ।

आक्षेपक—जिस समय वायु शरीर के अंगों को बार बार आक्षिप्त करता है (हाथी पर बैठे हुए के समान झटके देता है) उस समय आक्षेपक रोग होता है इसी की अवस्था विशेष को 'दण्डक' कहते हैं जिस समय वायु, हाथ, पांव की सिराओं स्नायु तथा कण्डराओं को शुष्क करके पांव हाथ शिर पीठ कमर को स्तम्भित (कठोर, जड़) कर देता है, तब शरीर दण्ड के समान स्तब्ध हो जाता है, इस लिए इस आक्षेपक को 'दण्डक' कहते हैं । यह आक्षेपक असाध्य है ।

स्वस्थः स्यादर्दिताद्यानां मुहुर्वेगागमे गते ॥ ५२ ॥

अर्दित, बहिरायाम, हनुस्तम्भ, आक्षेपक में बार बार आक्रमण होते हैं इस लिये रोग के आक्रमण के हट जाने पर अर्दित आदि रोग का रोगी स्वस्थ हो जाता है, रोग के न हटने पर इन पीड़ादायक रोगों से पीड़ित हो जाता है, इन रोगियों को असाध्य समझना चाहिये ।

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा ।
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च ॥ ५३ ॥

पक्षवध—कुपित वायु दक्षिण या वाम एक पक्ष को (एक पार्श्व को) मार कर (संज्ञा तथा क्रियारहित बना कर) पक्षवध रोग को उत्पन्न

करता है, इससे रोगी रुग्ण पार्श्व से किसी प्रकार की चेष्टा नहीं कर सकता, दर्द होती है, रोगी बोल नहीं सकता।

गृहीत्वा वा शरीरार्धं सिराः स्नायूर्विशोष्य च।
पादं संकोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत्॥ ५४॥
एकाङ्गरोगं तं विद्यात्सर्वाङ्गं सर्वदेहजम्।

एकांग रोग—वायु शरीर के अर्ध भाग में कुपित हो कर सिरा, स्नायु को शुष्क बना कर एक पांव या एक हाथ में संकोच उत्पन्न कर देता है, जिससे रोगी में तोद (चुभने के समान वेदना) और शूल होती है इस रोग को एकांग रोग कहते हैं। जिस समय वायु सम्पूर्ण शरीर में कुपित होकर सिरा-स्नायु को शुष्क करके तोद एवं शूल उत्पन्न करता है, दोनों पांव या दोनों हाथों का संकोच कर देता है तब इसको सर्वांग रोग कहते हैं।

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्॥ ५५॥
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः।
वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता॥ ५६॥

गृध्रसी—गृध्रसी प्रथम नितम्ब से आरम्भ हो कर कटि, पीठ, ऊरू, जानु, जंघा और पांव में पहुंचता है। प्रथम नितम्ब में स्तब्धता, वेदना तथा बार बार स्पन्दन उत्पन्न करता है। फिर धीरे धीरे पांव की ओर स्तब्धता, वेदना, तोद एवं स्पन्दनों को करता है। यह रोग वातजन्य है, परन्तु यदि इस रोग में तन्द्रा, भारीपन तथा अरुचि हो तो वात-कफजन्य समझना चाहिये गृध्रसी (Sciatica) नाड़ी है जो कि त्रिक में से निकल कर नितम्ब में से होती हुई रोम के पश्चिम भाग में से गुजरती हुई बाह्य गुल्म के पास पहुंचती है। इस नाड़ी में वायु का प्रकोप होने से यह रोग होता है।

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी।
स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत्॥ ५७॥

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ।
वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च ॥ ५८ ॥
वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ॥ ५९ ॥
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्राक्षिपन् गदान् ।
करोत्यावृतमार्गत्वाद्रसादींश्चोपशोषयन् ॥ ६० ॥

खल्ली—पाद मूल, जंघामूल, उरूमूल, करमूल के अवमोटन (ऐंठन होने से) खल्ली रोग होता है । स्थान नाम और अनुरूप लक्षणों से शेष वात रोगों का निदर्शन करना चाहिये । यथा नख भेद के स्थान अग्ररूप लक्षग से 'नखस्फुटन' समझना चाहिये । इन सब रोगों में पित्त कफ आदि का संसर्ग समझना चाहिये । धातु (रक्तादि) के क्षय से तथा मार्ग के अवरोध होने से वायु का प्रकोप होता है । वायु का प्रकोप होने पर वात, पित्त, कफ सम्पूर्ण शरीर में सब स्रोतों के अन्दर फैल जाते हैं । चूंकि एक वायु धातुक्षय तथा मार्ग के अवरोध से कुपित दूसरी वायु को सूक्ष्म होने से प्रेरित करता है । ये दोनों वायु व पित्त और कफ को कुपित करके साथ में लेकर उन उन मार्गों में (शरीर के सब स्रोतों में) लेजाकर रोगों को उत्पन्न करता है । मार्ग के बन्द होने से रस आदि का शोषण कर देता है ।

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमः क्लमः ।
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता ॥ ६१ ॥
शीतगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ।
लंघनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते ॥ ६२ ॥
रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम् ।
भवेत्सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥ ६३ ॥
कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा ।
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे ॥ ६४ ॥

चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसा वृतः ॥ ६५ ॥

पित्त से आवृत वायु के होने पर जलन, तृष्णा, शूल, भ्रम, क्लम होता है, कटु अम्ल, लवण और उष्ण वस्तुओं के सेवन से विदाह होता है, रोगी को शीत की चाह रहती है। वायु के कफ से आवृत होने पर शीतलता, भारीपन, शूल, कटु, तिक्त कषाय की उपशयता, लंघन आयास रूक्ष एवं उष्ण वस्तुओं की कामना रहती है। वायु के रक्त में आवृत होने पर त्वचा और मांस के मध्य में अतिशय दाह, पीड़ा होती है, रक्तिमा, शोथ आजाती है तथा मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न होते हैं, शरीर में रोमांच, शरीर पर चिऊंटियों के चलने की सी प्रतीति होती है वायु के मेद से आवृत होने पर अंगों में चलनशील (अस्थिर) स्निग्ध कोमल तथा शीतल शोफ और अरुचि होती है। इसको आढ्यवात कहते हैं ❀ यह रोग कृच्छ्रसाध्य है।

स्पर्शमस्थ्यावृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति।
संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते ॥ ६६ ॥
मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम्।
शूलं तु पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ॥ ६७ ॥
शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे।

वायु के अस्थि से आवृत होने पर रोगी उष्ण स्पर्श को तथा पीड़न (दबाने) को पसन्द करता है। अस्थियां टूटती प्रतीत होती हैं। इनमें साद (पीड़ा) होता है, सुइयों के चुभने के समान वेदना होती है वायु के मज्जा से आवृत होने पर रोगी झुक जाता है, जम्भाई आती है, हाथ पैर मारता है, शूल होती है, हाथों से दबाने पर रोगी सुख अनुभव करता

❀ आढ्यवात ऊरुस्तम्भ रोग का पर्य्याय भी है यथा—"तमूरुस्तम्भमित्या हुराढ्यवातमथा परे"। धनी आदमियों में यह वात रोग होता है, इसलिए इसको आढ्यवात कहते है।

है, वायु के शुक्र से आवृत होने पर शुक्र का अतिवेग या वेग का अभाव अर्थात् शुक्र का बहुत आना या न आना तथा निष्फलता अर्थात् गर्भ धारण कराने में असमर्थता होता है।

भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ॥ ६८ ॥
मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ।
वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति ॥ ६९ ॥
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ।
चिरात्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत्सृजेत् ॥ ७० ॥
श्रोणीवंक्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः ।
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ॥ ७१ ॥

वायु के अन्न से आवृत होने पर भोजन करते समय उदर में शूल होती है, भोजन के जीर्ण होने पर शूल शान्त हो जाती है। वायु के मूत्र से आवृत रहने पर मूत्र का न आना, तथा बस्ति में आध्मान रहता है। वायु के मल से आवृत होने पर मल नीचे की ओर रुक जाता है तथा रुकने के स्थान पर कर्त्तन के समान वेदना होती है। अन्न के खाने पर स्नेह (घृतादि) शीघ्रता से जीर्ण हो जाता है, अन्न के खाने पर मल रुक जाता है (फूल जाता है)। अन्न से दबाया हुआ मल शुष्क रूप में कठिनाई से बाहर आता है। श्रोणि (कमर), वंक्षण और पीठ में वेदना, वायु की प्रतिलोम गति (ऊर्ध्वगति) होती है, रोगी हृदय को अस्वस्थ समझता है (कलेजा रुका रहता है)।

सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः ।
पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता ॥ ७२ ॥
स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये ।
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥ ७३ ॥
नवान् बलवतस्त्वेतान्साधयेन्निरुपद्रवान् ।

साध्यासाध्य—गात्रश्लेष, हनुस्तम्भ, कुंञ्चन, कुब्ज, अर्दित; सन्धि

च्युति, पक्षवध, पंगु, खुड वात, स्तम्भन आढ्य वात तथा मज्जागत, अस्थिगत, वात रोग ये स्थान की गम्भीरता के कारण कठिनाई से परिश्रम पूर्वक साध्य हैं अथवा साध्य नहीं हैं वे यत्न करने पर भी कई बार साध्य नहीं होते । यदि ये गात्रश्लेषादि रोग नये हों, तथा उपद्रव रहित हों तो बलवान् पुरुष में ये रोग साध्य भी हैं ।

वातरोग-चिकित्सा

क्रियामतः परं सिद्धां वातरोगापहां शृणु ॥ ७४ ॥
केवलं निरुपष्टम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः ॥ ७५ ॥
स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत्पुनः ।
यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपै रसैर्वा स्नेहसंयुतैः ॥ ७६ ॥
पायसैः कृशरैरम्ललवणैः सानुवासनैः ।
नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः ॥ ७७ ॥
स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ।
तथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत् ॥ ७८ ॥

इसके आगे सफल वातरोग नाशक सुनो—

(१) यदि वायु निरुपस्तम्भ (अनावृत रूप में या स्तम्भहीन) रूप में हो तथा केवल हो (अकेली, पित्त कफ का योग न हो) तो सब से प्रथम स्नेहों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये रोगी को घृत, वसा, तैल या मज्जा का पान कराये । घृतादि के पान के कारण स्नेह से क्लान्त व्यक्ति को आश्वासन देकर पुनः दूध, यूषादि से स्नेहन देना चाहिये । इसके लिये घृतादि स्नेह मिश्रित यूष, स्नेह मिश्रित ग्राम्य मांस रस, आनूप मांस रस, जलज मांस रस, स्नेहयुक्त कृशरा (तिल, चावलों की खिचड़ी), स्नेहयुक्त पायस, अम्ल लवण मिश्रित स्नेह अनुवासनों से, अन्य नावन (नस्य) तथा तर्पणों से रोगी का स्नेहन करना चाहिये । घृतादि से जब रोगी भली प्रकार स्निग्ध हो जाये तब

तैल से भली प्रकार शरीर पर अभ्यंग करके स्नेह से युक्त नाड़ीस्वेदादि से स्वेदन देना चाहिये तथा अन्य नाना प्रकार के उचित योगों से चिकित्सा करनी चाहिये।

स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धमथापि वा।
शनैर्नमयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत्॥ ७९॥
हर्षतोदरुगायासशोथस्तम्भग्रहादयः।
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते॥ ८०॥
स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः।
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत्॥ ८१॥
असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत्।
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः॥ ८२॥

(२) स्नेहपूर्वक स्वेद का फल—जिस प्रकार शुष्क लकड़ी को स्नेहन तथा स्वेदन के द्वारा यथेच्छानुसार मोड़ा जा सकता है। उसी प्रकार वक्र (टेढ़े) या स्तब्ध (कठोर) अंग को स्नेहन और स्वेदन द्वारा धीरे धीरे यथेच्छानुसार मोड़ा या झुकाया जा सकता है, स्वेदन हो जाने पर रोमांच, तोद, पीड़ा, आयास, शोथ, स्तम्भ, ग्रह (हनुग्रह, मन्याग्रह) आदि शीघ्र शान्त हो जाते हैं और अंगों में कोमलता उत्पन्न हो जाती है। स्नेह के प्रयोग से शुष्क धातुओं का पोषण शीघ्रता से होता है, स्नेहबल, अग्नि बल धातुओं की पुष्टि तथा प्राणों (जीवन शक्ति) को बढ़ाता है। वमन, विरेचन से असंस्कृत पुरुष की पुनः स्नेहन और स्वेदन से चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेह के कारण कोष्ठ के कोमल होने पर वात रोग नहीं रहते।

यद्यनेन सदोषत्वात्कर्मणा न प्रशाम्यति।
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत्॥ ८३॥
घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा।
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम्॥ ८४॥

स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः ।
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत् ॥ ८५ ॥
दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत ।
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम् ॥ ८६ ॥

(३) यदि दोष के अवशिष्ट रह जाने से उपरोक्त चिकित्सा विधि से वायु की शान्ति नहो तो स्नेह से युक्त कोमल ओषधियों से विरेचन द्वारा शोधन करना चाहिये । इसके लिये तिल्वक (लोध्र) के कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध घृत, या सांतला (ससला या चीखाखाई) के कल्क से सिद्ध घृत अथवा दूध में एरण्ड तैल मिला कर देना चाहिये । ये घृत तैल दोषहर (शेष दोष को निकालने वाले) तथा कल्याणकारी हैं । स्निग्ध, अम्ल, लवण, उष्ण आदि आहार के कारण संचित मल वायु को रोककर स्रोतों को बन्द कर देता है, इसलिये इस मल का अनुलोमन करना चाहिये । विरेचन के योग्य जो व्यक्ति दुर्बल हो (तथा जो विरेचन के अयोग्य हो) उसकी निरूह वस्तियों से चिकित्सा करनी चाहिये । पाचनीय (पटोलादि), दीपनीय (त्रिफलादि) भोजनों द्वारा उस रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये ।

संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ ।
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः ॥ ८७ ॥
नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत् ।
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम् ।

इस प्रकार से वात रोगी के शुद्ध हो जाने तथा अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर पुनः स्नेह स्वेदन देना हितकारी है । रोगी को स्वादु, अम्ल अवल, स्निग्ध भोजनों से, नावन (नस्य), धूम पानों से सब वात-रोगियों की निरन्तर चिकित्सा करनी चाहिये, इस प्रकार से वात रोग की चिकित्सा संक्षेप में कह दो है ।

विशेष-चिकित्सा

विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः ॥ ८८ ॥
पाचनैर्दीपनीयैस्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान् ।
गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम् ॥ ८९ ॥
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरी क्रिया ।
सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो बस्तयःसानुवासनाः ॥ ९० ॥

(१) विशेष रूप में कोष्ठ में वायु के स्थित होने पर यवक्षार अथवा ग्रहणी रोग में कथित दीपन क्षार मनुष्य को पीना चाहिये। ❀ पाचनीय रसों से निश्चित अन्य वस्तुओं से या क्षारों से मलों को पचाना चाहिये। गुदा में स्थित या पक्वाशय में स्थित वायु की शान्ति के लिये उदावर्त्त रोगनाशक कर्म करना हितकारी है। आमाशय में वायु के स्थित होने पर विरेचन से शोधन हो जाने पर दोषनाशक क्रिया करनी चाहिये। वायु के सम्पूर्ण शरीर में कुपित होने पर अभ्यंग तथा अनुवासन बस्तियां देनी चाहियें।

स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ।
शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ॥ ९१ ॥
विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च ।
बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत ॥ ९२ ॥
हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ।
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद्विरेचनम् ॥ ९३ ॥
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत्क्रियाम् ।
गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम् ॥ ९४ ॥
सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः ।

❀ श्री गंगाधरसेन ने—"वाते क्षीरं पिबेन्नरः" यह पाठ दिया है। परन्तु अष्टांगसंग्रह में—"क्षारोपयोगानन्तर्गुल्मोपक्रमं च प्रयुञ्जीत" यह पाठ है। इससे क्षार का उपयोग ही प्रशस्त है।

हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम् ॥ ९५ ॥
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान्बिल्वशलाटुभिः ।
वायुना वेष्ट्यमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम ॥ ९६ ॥
तैलं संकुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् ।
बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम् ॥ ९७ ॥
बस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ।

(२) वायु के त्वचा में आश्रित होने पर स्वेद, अभ्यंग, अवगाहन तथा हृदय के लिये प्रिय अन्न देने चाहियें। रक्त में आश्रित होने पर शीतल प्रदेह, विरेचन तथा रक्त मोक्षण करना चाहिये। मांस और मेद में आश्रित होने पर विरेचन, निरूह बस्ति तथा संशमनी चिकित्सा करनी चाहिये। अस्थि और मज्जा में आश्रित वायु के लिये अन्तः स्नेहन और बहिःस्नेहन करना चाहिये। शुक्र में स्थित वायु के लिये हर्ष (प्रीतिकारक स्त्रियों से आलाप आदि) क्रिया, बलकारक तथा शुक्रवृद्धिकारक खान-पान हितकारी है। यदि शुक्र का मार्ग अवरुद्ध हो तो विरेचन देना चाहिये। विरेचन के पश्चात् भोजन कराके पूर्वोक्त शुक्रजनक, शुक्रहर्षणी क्रिया करनी चाहिये।

(३) वायु से गर्भ के शुष्क होने पर अथवा वायु से बालकों के शुष्क होने पर मुलहठी, कादमरी (गम्भारी), सिता (शर्करा) इनसे साधित दूध पोषण के लिये देना चाहिये। * वायु के हृदय पर प्रकुपित होने पर अंशुमती (शालिपर्णी) से सिद्ध दूध पीना चाहिये। नाभि प्रदेश में स्थित वायु के कुपित होने पर बिल्वशलाटु (बेल की कच्ची गिरी) से सिद्ध मछलियों को देना चाहिये। वायु के कारण जब सम्पूर्ण शरीर में वेष्टन (अकड़ाव या ऐंठन) होती हो तो वातहर द्रव्यों से उपनाहन करना चाहिये। संकोच होने पर माष (उड़द) और सैन्धव से

* अष्टांगसंग्रह में—सारिवा का पाठ अधिक है, यथा—यष्टीमधु काश्मर्यफलशारिवाशर्कराश्रृतं पयो दद्यात्।

सिद्ध तैल से अभ्यंग करना चाहिये। बाहु और शिर में वात के कुपित होने पर मांस के क्वाथ में सैन्धव के कल्क से साधित तैल से नस्य लेना चाहिये और इस घृत का पान कराके पीछे से भोजन देना चाहिये। नाभि के नीचे वायु का प्रकोप होने पर बस्ति कर्म तथा अवपीड़क नस्य देना चाहिये।

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च ॥ ९८ ॥
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः।
स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ॥ ९९ ॥
अन्तरा कण्डराङ्गुल्योः सिराबस्त्यग्निकर्म च।
गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत खल्ल्यां तूष्णोपनाहनम् ॥ १०० ॥
पायसैः कृशरैश्चैव शस्तं तैलघृतान्वितैः।

(४) अर्दित वात रोग में शिर पर तैल, तर्पण नस्य देना चाहिये। रोगी को नाड़ीस्वेद, उपनाहन देना चाहिये, इसके लिये आनूप प्राणियों का मांस हितकारी है। पक्षाघात रोग में स्नेह से युक्त स्वेद, विरेचन देना चाहिये। गृध्रसी रोग में कण्डरा और अंगुलियों के बीच में सिरावेध तथा अग्नि कर्म एवं शिरोबस्ति देनी चाहिये। खल्ली रोग में तैल, घृत से मिश्रित पायस तथा कृशरा (खिचड़ी) से उष्ण आनाह करना चाहिये।

व्यात्तानने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च ॥ १०१ ॥
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम्।

(५) रोगी का मुख खुला रहने पर हनुस्तम्भ रोग में—हनु को स्विन्न (स्वेद देकर) करके दोनों हाथों के अंगूठों से निचले हनु को (जबड़ा को) दबाना चाहिये और प्रदेशनी (तर्जनी) अंगुलियों से ठोड़ी को ऊपर की ओर उठाना चाहिये। इस प्रकार से ठोड़ी को ऊंचा करना हितकारी है।

स्रस्तं सङ्गमयेत्स्थानं स्तब्धं स्विन्नं विनामयेत् ॥ १०२ ॥
प्रत्येकं स्थानदूष्यादिक्रियावैशेष्यमाचरेत्।

(६) जो अंग अपने स्थान से खिसक गया है उसका स्वेदन करके उसे अपने स्थान पर लेजाना चाहिये और जो अंग ऊपर को चढ़ गया हो उसका स्वेदन करके नीचे लाना चाहिये । प्रत्येक वातरोग में—स्थान (पक्काशय आदि) दूष्य आदि (रक्त आदि) की अपेक्षा से चिकित्सा करनी चाहिये ।

सर्पिस्तैलवसामज्जसेकाभ्यञ्जनबस्तयः ॥ १०३ ॥
स्निग्धाः स्वेदा निवातं च स्थानं प्रावरणानि च ।
रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च ॥ १०४ ॥
बृंहणं यच्च तत्सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम् ।

वातरोगों की सामान्य-चिकित्सा—घृत, तैल, वसा, मज्जा इनका पान, इनका अभ्यंग, बस्तिकर्म, स्वेदन, स्नेहन, वातरहित स्थान, घने भारी वस्त्र (ढांपना), मांसरस, दूध, स्वादु अम्ल लवण भोजन तथा सब प्रकार की बृंहण विधि वातरोगियों के लिये उत्तम है ।

बलायाः पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसे ॥ १०५ ॥
अजशीर्षाम्बुजानूपमांसादपिशितैः पृथक् ।
साधयित्वा रसान्स्निग्धान्दध्यम्लव्योषसंस्कृतान् ॥ १०६ ॥
भोजयेद्वातरोगार्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम् ।

भोजन-पथ्य—बला के क्वाथ में अथवा बिल्वादि महापंचमूल के क्वाथ में या दशमूल के क्वाथ में बकरी का शिरोभाग सिद्ध करके मांस-रस सिद्ध करके इसको दधि और सोंठ, मरिच, पिप्पली से युक्त करके नमक से नमकीन बनाकर इसके साथ वातरोगी को भोजन कराना चाहिये । बकरी के शिर की भांति जलचर प्राणियों का मांस, आनूप पशु पक्षियों का मांस या मांस खाने वाले पशु पक्षियों के मांस को बला क्वाथ में या बिल्वादि पंचमूल क्वाथ में अथवा दशमूल में सिद्ध करके दधि और व्योष से खट्टा बनाकर नमक से नमकीन करके इस मांस रस के साथ भोजन देना चाहिये । इस प्रकार से ये बारह मांसरस बन जाते हैं ।

एतैरेवोपनाहांश्च पिशितैः संप्रकल्पयेत् ॥ १०७ ॥
घृततैलयुतैः साम्लैः क्षुण्णस्विन्नैरनस्थिभिः ।

उपनाहन परिषेचनादि उपचार—(१) इन्हीं मांसों से (बकरी के शिरोभाग से,) आनूप मांस से, क्रव्याद मांस से या जलचर प्राणियों के मांस से) उपनाह करना चाहिये । इसके लिये अस्थिरहित मांस को स्विन्न (भांप से) करके पीस लेना चाहिये । फिर कांजी आदि अम्ल तथा घृत तैल मिलाकर गरम करके उपनाहन करना चाहिये ।

पत्रोत्क्वाथपयस्तैलद्रोण्यः स्युरवगाहने ॥ १०८ ॥
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम् ।

(२) वातहर प्रसारक आदि के पत्रों का क्वाथ करके उस क्वाथ में भरी द्रोणि में या दूध से भरी द्रोणी में अथवा तैल से भरी द्रोणी में अवगाहन करना उत्तम है । वातहर स्नेहों से अभ्यंग करके शरीर पर परिषेक या वातहर द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ का धारा से परिषेचन करना चाहिये ।

आनूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरीम् ॥ १०९ ॥
कुलत्थान् बदरान्माषांस्तिलान् रास्नां यवान् बलाम् ।
वसादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत् ॥ ११० ॥
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्ट्वाचैवोपनाहनम् ।

(३) आनूप मांस, औदक प्राणियों का मांस, दशमूल, शतावरी, कुलत्थी, बेर, उड़द, तिल, रास्ना, बला, यव, वसा, दधि, आरनाल (कांजी), अम्ल कांजी इन सब वस्तुओं को एक घड़े में डालकर घड़े का मुख बन्द करके पकाना चाहिये । जब पक जाये तो घड़े में नलिका लगा कर उसके द्वारा रोगी को नाड़ीस्वेद देना चाहिये और पीछे से इन वस्तुओं को घड़े में से निकाल कर पीसकर उपनाह बांधना चाहिये ।

तैश्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गः पानमेव च ॥ १११ ॥

(४ कल्कार्थं आनूप मांस, औदक मांस, दशमूल, शतावरी, कुलत्थी,

बेर, रास्ना, तिल, बला और यव, क्वाथार्थ—दधि, आरनाल और अम्ल स्नेह से चतुर्गुण, वसा स्नेह के समान लेकर इनसे घृत और तैल पृथक् २ सिद्ध करने चाहियें। इनसे सिद्ध घृत को पीने के लिये तथा इनसे सिद्ध तैल को अभ्यंग के लिये प्रयोग करना चाहिये।

मुस्तं किण्वं तिलाः कुष्ठं सुराह्वं लवणं नतम्।
दधिक्षीरचतुःस्नेहैः सिद्धं स्यादुपनाहनम् ॥ ११२ ॥

(५) मुस्ता, कुष्ठ, तिल, किण्व, सुराह्वा (देवदारु), सैन्धा लवण, नत (तगर) इन वस्तुओं को समान भाग लेकर दधि, घृत, वसा, तैल और मज्जा इनके साथ पीसकर उपनाहन करना चाहिये।

उत्कारिकावेशवारक्षीरमाषतिलौदनः।
एरण्डबीजगोधूमयवकोलस्थिरादिभिः ॥ ११३ ॥
सस्नेहैः सरुजं गात्रमालिप्य बहुलं भिषक्।
एरण्डपत्रैर्बध्नीयाद्रात्रौ कल्ये विमोक्षयेत् ॥ ११४ ॥
क्षीराम्बुना ततः सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम्।
मुञ्चेद्रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सलोमभिः ॥ ११५ ॥

(६) चार लेप—वात रोगी के पीड़ायुक्त अंग पर रात्रि में जौ आदि से बनी स्नेहयुक्त (घृतादि से स्नेहयुक्त) उत्कारिका का घना (घट्ट) लेप करके ऊपर से एरण्ड पत्र बांध देने चाहिये, प्रातःकाल इनको खोलना चाहिये। इसी प्रकार से वातरोगी के पीड़ायुक्त स्थान पर रात्रि में वेशवार (अस्थिरहित मांस को गुड़, घृत, मरिच, पिप्पली के साथ पीसकर) का घट्ट लेप करके ऊपर से एरण्ड के पत्र बांध देने चाहियें और प्रातःकाल इसको खोलना चाहिये। इसी भांति रोगी के शरीर पर दूध, माष, तिल और चावलों को स्नेह के साथ मिश्रित करके या एरण्ड बीज, गेहूं, जौ, बेर, स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) वस्तुओं को स्नेह से मिश्रित करके इनका घट्ट लेप रुग्ण अंग पर रात्रि में करके ऊपर से एरण्ड के पत्ते बांध देने चाहिये। प्रातःकाल इनको खोलना

चाहिये। प्रातःकाल पीड़ायुक्त अंग को खोलकर दूध मिश्रित पानी से धो कर फिर दिन में इन लेपों में से किसी एक लेप का घट्ट लेप करके लोम-युक्त चर्म से (पट्टी से) बांध देना चाहिये। दिन में बंधे इस लेप को रात्रि में खोल देना चाहिये।

फलानां तैलयोनीनामम्लपिष्टान्सुशीतलान्।
प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि ॥ ११६ ॥
पायसैः कृशरैश्चैव कारयेत्स्नेहसंयुतैः।

(७) तैल योनि वाले फलों (तिल, सरसों, अलसी आदि) को कांजी अम्ल के साथ पीसकर शीतल लेप तथा शीतल उपनाह करना चाहिये। वातहर गन्धों (इलायची, अगरु आदि सुगन्धित द्रव्यों) को स्नेह के साथ मिलाकर इनका प्रलेप (उपनाह से पतला), तथा उपनाह (घट्ट लेप) करना चाहिये। स्नेह से मिश्रित पायस का प्रलेप या उप-नाह करना चाहिये।

रूक्षशुद्धानिलार्तानामतः स्नेहान्प्रवक्ष्यते ॥ ११७ ॥
विविधान्विविधव्याधिप्रशमायामृतोपमान्।

जो वातरोगी केवल वात से पीड़ित हैं तथा रूक्ष प्रकृति हैं उनके लिये नाना प्रकार के रोगों की शान्ति के लिये अमृत के समान अनेक स्नेहों का उपदेश करते हैं—

द्रोणेऽम्भसः पचेद्भागान्दशमूलाच्चतुष्पलान् ॥ ११८ ॥

वातहर घृत—(१) दशमूल (बिल्वादि दशमूल) की प्रत्येक वस्तु चार२-चार पल, यव १ प्रस्थ, कोल (बेर) १ प्रस्थ और कुलत्थी १ प्रस्थ लेकर एक द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये। जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब छान लेना चाहिये, कल्कार्थं जीवनीय गण की दस ओष-धियां और शर्करा इनको पीसकर (स्नेह से चतुर्थांश), इनके द्वारा घृत का एक प्रस्थ सिद्ध करना चाहिये।

यवकोलकुलत्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह।

पादशेषे रसे पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करैः ॥ ११९ ॥
तथा खर्जूरकाश्मर्यद्राक्षाबदरफल्गुभिः ।
सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्धः केवलवातनुत् ॥ १२० ॥
निरत्ययः प्रयोक्तव्यः पानाभ्यञ्जनवस्तिषु ।

(२) इसी प्रकार से दशमूल, यव, कोल और कुलत्थी से बने उपरोक्त क्वाथ में स्नेह के समान दूध मिलाकर, कल्कार्थ—काश्मरी फल, खर्जूर, मुनक्का, बेर, फल्गु (काष्ठोडुम्बरिका या गूलर) इनके कल्क से एक प्रस्थ घृत सिद्ध करना चाहिये।

[कोई-कोई आचार्य घृत से चतुर्गुण दूध में काश्मरी, खर्जूर, द्राक्षा, बेर और फल्गु के कल्क से ही घृत सिद्ध करते हैं, वे दशमूलादि क्वाथ नहीं मिलाते ।]

इन घृतों को विना किसी बाधा या हिचकिचाहट के पान, अभ्यंग और बस्ति में प्रयोग करना चाहिये। यह घृत शुद्ध वायु को नष्ट करते हैं।

चित्रकं नागरं रास्नां पौष्करं पिप्पलीं शटीम् ॥ १२१ ॥
पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिर्वातरोगहरं परम् ।

(३) घृत १ प्रस्थ, जल ४ प्रस्थ, कल्कार्थ—चित्रक, सोंठ, रास्ना, पुष्करमूल, कचूर इनका कल्क घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत प्रबल वातरोगनाशक है ।

बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत् ॥ १२२ ॥
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं मूर्धगतेऽनिले ।

(४) बला और बिल्व (बेलगिरी) इनके कल्क से आठगुणा दूध तथा दूध से चार गुणा जल लेकर पाक करना चाहिये । जब दूधमात्र शेष रह जाये तब इनको छान लेना चाहिये । इस दूध में चतुर्थांश घृतमण्ड (घृत का उपरितन स्वच्छ भाग) सिद्ध करना चाहिये । इस सिद्ध घृतमण्ड को शुक्ति (आधा पल) मात्रा में, अथवा प्रकुञ्च (पल) मात्रा से शिरोगत वायु रोग में नस्य लेना चाहिये ।

ग्राम्यानूपौदकानां तु भित्त्वाऽस्थीनि पचेज्जले ॥ १२३ ॥
तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत् ।
जीवकर्षभकास्फोताविदारीकपिकच्छुभिः ॥ १२४ ॥
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकम् ।
तत्सिद्धं नावनाभ्यङ्गात्तथा पानानुवासनात् ॥ १२५ ॥
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम् ।
ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये ॥ १२६ ॥
बलपुष्टिकरं तेषामेतत् स्यादमृतोपमम् ।

(५) स्नेह—ग्राम्य पशुओं वा आनूप प्राणियों की अस्थियां तोड़ कर जल में पकाना चाहिये, इसको फिर रख देना चाहिये । स्थिर जल के ऊपर मज्जा-स्नेह आ जाता है । इससे स्नेह से दुगना दूध, और स्नेह से चतुर्गुण दशमूल का क्वाथ लेकर जीवक, ऋषभक, आस्फोता, विदारी और कौंच इनके कल्क से (स्नेह से चतुर्थांश) स्नेह सिद्ध करना चाहिये, यह एक योग है । इसी प्रकार मज्जा स्नेह से दुगना दूध, चतुर्गुण दशमूल क्वाथ लेकर वातहर तथा जीवनीय दस औषधियों के कल्क से स्नेह पाक करना चाहिये, यह दूसरा योग है । इस प्रकार से सिद्ध दोनों मज्जा स्नेहों का नस्य या अभ्यंग अथवा पान या अनुवासन बस्ति लेने से सिरा, पर्व, अस्थि, कोष्ठ में स्थित वायु का नाश होता है । जिन पुरुषों की मज्जा क्षीण हो गई हो, जिनका शुक्र और ओज क्षीण हो गया हो, उनके लिये यह स्नेह बल और पुष्टि को देते हैं तथा अमृत के समान हैं ।

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा ॥ १२७ ॥
प्रत्यग्रा विधिनाऽनेन नस्यपानेषु शस्यते ।

(६) इसी प्रकार से नक्र, मछली, कछुआ, चुलुक मत्स्य की वसा को दुगने दूध में और दशमूल क्वाथ में जीवकादि कल्क से सिद्ध करके नस्य तथा पान में अभ्यंग में प्रयुक्त करना चाहिये ।

प्रस्थः स्यात् त्रिफलायास्तु कुलत्थकुडवद्वयम् ॥ १२८ ॥

कृष्णगन्धात्वगाढक्योः पृथक् पञ्चपलं भवेत् ।
रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम् ॥ १२९ ॥
जलद्रोणे पचेत्पादशेषे प्रस्थोन्मितं पृथक् ।
सुरारनालदध्यम्लसौवीरकतुषोदकम् ॥ १३० ॥
कोलदाडिमवृक्षाम्लरसं तैलं वसां घृतम् ।
मज्जानं च पयश्चैव जीवनीयपलानि षट् ॥ १३१ ॥
कल्कान् दत्त्वा महास्नेहं सम्यगेतं विपाचयेत् ।
सिरामज्जास्थिगे वाते सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिषु ॥ १३२ ॥
वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गे प्रयोजयेत् ।

(७) महास्नेह—त्रिफला (मिलित) एक प्रस्थ, कुलत्थी दो कुड़व, कृष्णगन्धा (शोभांजन) की छाल पांच पल, आढ़की (अरहर) ५ पल, रास्ना दो पल, चित्रक दो पल, दशमूल की प्रत्येक वस्तु एक एक पल लेके एक द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये । इसमें सुरा १ प्रस्थ, आरनाल १ प्रस्थ, दधि का अम्ल भाग १ प्रस्थ, सौवीरक (निस्तुष कांजी) १ प्रस्थ, तुषोदक १ प्रस्थ, बेर का रस (क्वाथ) १ प्रस्थ, अनार का रस १ प्रस्थ, वृक्षाम्ल (इमली) का रस १ प्रस्थ मिलाना चाहिये । तैल, घृत, वसा और मज्जा ये चारों स्नेह प्रत्येक एक प्रस्थ, दूध एक प्रस्थ मिला कर कल्कार्थ—जीवनीय गण की प्रत्येक औषध छः पल लेकर इनके साथ महास्नेह का पाक करना चाहिये ।

शिरागत मज्जागत वायु में, सर्वांग रोग में, एकांग रोगों में, वेपन (कम्पन), आक्षेप (तैल), शूल आदि में इस महास्नेह का अभ्यंग करना चाहिये ।

निर्गुण्ड्या मूलपत्राभ्यां गृहीत्वा स्वरसं ततः ॥ १३३ ॥
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु ।
हितं पामापचीनां च पानाभ्यञ्जनपूरणम् ॥ १३४ ॥

(१) निर्गुण्डी (सम्भालु) की मूल और पत्रों को कूटकर स्वरस निकाल लेना चाहिये। इस स्वरस के समान तैल लेकर सिद्ध करना चाहिये। [श्री गंगाधरसेन के मत से स्वरस से अर्द्ध भाग तैल लेना चाहिये]। यह तैल नाड़ीव्रण, कुष्ठ, वातरोग, पामा, अपची में, पान, अभ्यंजन तथा पूरण (भरने के) कार्य में वरतना चाहिये।

कार्पासास्थिकुलत्थानां रसे सिद्धं च वातनुत्।

(२) इसी प्रकार से कपास के अस्थि फलों (बिनौलों) को कूट कर कल्क बना लेना चाहिये, फिर इनको दवाने से जो रस निकले उस स्वरस में चतुर्थांश तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल वात रोग नष्ट करता है।

मूलकस्वरसे क्षीरसमे स्थाप्यं त्र्यहं दधि ॥ १३५ ॥
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
यष्ट्याह्वशर्करारास्नालवणार्द्रकनागरैः ॥ १३६ ॥
सुपिष्टैः पलिकैः पानात्तदभ्यङ्गाच्च वातनुत्।

(३) मूली का स्वरस १ प्रस्थ, दूध १ प्रस्थ, दही १ प्रस्थ लेकर मिलाकर रख देना चाहिये। जब दही में खटास आ जाये तो ये वस्तुएं तीन प्रस्थ लेकर, तैल १ प्रस्थ, कल्कार्थ—मुलहठी, शर्करा, रास्ना, लवण, आर्द्रक और सोंठ प्रत्येक एक एक पल लेकर खूब वारीक पीसकर इनके कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल अभ्यंग से वायु को नष्ट करता है।

पञ्चमूलीकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम् ॥ १३७ ॥
पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
पयसाऽष्टगुणेनैतत्सर्ववातविकारनुत् ॥ १३८ ॥
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतद्वाते शस्तं विशेषतः।

(४) पंचमूल (बिल्वादि पंचमूल) का कषाय, बहुत पुराना पिण्याक (तिल कल्क) लेकर चतुर्गुण जल में क्वाथ करना चाहिये।

चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये। उपरोक्त दोनों कषायों में तैल १ प्रस्थ तथा दूध आठ प्रस्थ मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल सब वात विकारों को नष्ट करता है। वायु के साथ कफ का संसर्ग होने पर भी यह प्रशस्त है। *

यवकोलकुलत्थानां श्रेयस्याः शुष्कमूलकात् ॥ १३९ ॥
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकं द्रवैरम्लैर्विपाचयेत् ।
तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा ॥ १४० ॥
पिष्टैः सिद्धं महावातैरार्तः शीते प्रयोजयेत् ।

(५) जौ, बेर, कुलत्थी, श्रेयसी (पृश्निपर्णी), शुष्क मूली और बेलगिरी प्रत्येक द्रव्य एक एक कुडव, अम्ल, द्रव्य (कांजी) अष्ट गुण लेकर पाक करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर इसको छान लेना चाहिये, क्वाथ से चतुर्थांश तैल, तैल से चतुर्थांश इमली तथा त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का मिलित कल्क लेकर इन से तैल सिद्ध करना चाहिये। इस तैल का वात रोग से पीड़ित अवस्था में शीत लगने पर प्रयोग करना चाहिये।

सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु ॥ १४१ ॥
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णकराणि च ।
रजः शुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च ॥ १४२ ॥
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च ।

इसके आगे सब प्रकार के वात रोगों को नष्ट करने वाले पान, नस्य अभ्यंग और अनुवासन चारों रूपों में प्रयुक्त होने वाले, आयुवर्धक, कान्तिवर्धक, रज, शुक्र दोषों को नष्ट करने वाले, अपत्यजनक, सर्वदोष हर, सब प्रकार की बाधा से रहित सिद्ध तैलों को सुनो—

---

* यहां पर पंचमूल का क्वाथ तथा पिण्याक का क्वाथ पृथक् पृथक् करना चाहिये और कई आचार्य पंचमूल क्वाथ में पिण्याक का क्वाथ करते हैं परन्तु अष्टांगसंग्रह में प्रथम पक्ष ही दिया है।

सहाचरतुलायाश्च रसे तैलाढकं पचेत् ॥ १४३ ॥
मूलकल्काद्दशपलं पयो दत्वा चतुर्गुणम् ।
सिद्धेऽस्मिञ्छर्कराचूर्णादष्टादशपलं भिषक् ॥ १४४ ॥
विनीय दारुणेष्वेतद्वातव्याधिषु योजयेत् ।

(६) क्वाथार्थ—सहचर (झिण्टी) १ तुला लेकर चार द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये, दूध ४ आढ़क, तैल १ आढ़क, कल्कार्थ—सहचर की मूल का कल्क १० पल लेकर तैल-पाक विधि से तैल सिद्ध करना चाहिये। सिद्ध हो जाने पर इस तैल में शर्करा १८ पल मिलानी चाहिये। इस तैल का दारुण वात रोगों में उपयोग करना चाहिये। *

श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह ॥ १४५ ॥
षट्पलं शृङ्गवेरस्य गुडस्याष्टपलं तथा ।
तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात्सर्वानिलार्तिषु ॥ १४६ ॥
जीर्णे तैले च दुग्धेन पेयाकल्पः प्रशस्यते ।

(७) श्वदंष्ट्रा (गोखरू) का स्वरस दो प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ कल्कार्थ—सोंठ ६ पल, गुड़ ८ पल, तैल १ प्रस्थ लेकर यथा विधि पाक करना चाहिये। इस तैल के जीर्ण होने पर दूध से बनी पेया खाने को देनी चाहिये, यह तैल सब वात रोगों में उत्तम है।

बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्नाष्टभागिकम् ॥ १४७ ॥
जलाढकशते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे ।
दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः ॥ १४८ ॥
पचेत्साजपयोर्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः ।
शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः ॥ १४९ ॥
पद्मकातिविषामुस्तसूर्पपर्णीहरेणुभिः ।
यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः ॥ १५० ॥
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोषकैः ।

* अष्टांगसंग्रह में समान दूध देने का विधान है।

स्पृक्काकुङ्कुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः ॥ १५१ ॥
त्वक्चन्दनैलाकर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः ।
लवङ्गनखकक्कोलकुष्ठमांसीप्रियङ्गुभिः ॥ १५२ ॥
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनकप्लवैः ।
सनागकेशरैः सिद्धे क्षिपेच्चात्रावतारिते ॥ १५३ ॥
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत्प्रयोजयेत् ।
श्वासं कासं ज्वरं मूर्च्छां छर्दिं गुल्मान्क्षतं क्षयम् ॥ १५४॥
प्लीहशोषावपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत् ।
बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ॥ १५५ ॥
अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् ।

इति बलातैलम् ।

बला तैल—(८) क्वाथार्थ—बला १०० पल, गुडूची (गिलोय) २५ पल, रास्ना ११ पल, पानी १६०० शराव लेकर क्वाथ करना चाहिये, दशमांश रह जाने पर (१६० शराव जल) उतार कर छान लेना चाहिये, इसमें दही का मस्तु १ आढ़क, इक्षुनिर्यास (गन्ने का स्वरस) १ आढ़क, शुक्त १ आढ़क, बकरी का दूध आधा आढ़क (८ शराव) तैल १ आढ़क, कल्कार्थ—शटी (कचूर), सरल (धूप वृक्ष), देवदारु, एला (बड़ी इलायची), मंजीठ, अगरु, चन्दन, पद्माख, अतिविष, मुस्ता, सूप्यपर्णी (मूंगपर्णी, माषपर्णी), हरेणु, मुलहठी, सुरस (तुलसी या निर्गुण्डी), व्याघ्रनख, ऋषभक, जीवक, पलाश रस (पलाश वृक्ष का निर्यास), कस्तूरी, नलिका, जावित्री, स्पृक्का (सुगन्धित वस्तु), कुंकुम (केशर), नलिका (विद्रुभ लता), शैलेय (शिलारस), जातीफल (जायफल), कटुफल (लता कस्तूरी), अम्बु (बालक), त्वक् (दाल- चीनी), चन्दन लाल, ऐला (छोटी इलायची), कर्पूर, तुरुष्क (शिह्लक वृक्ष का निर्यास या तुवर), श्रीनिवासक, (मृत्तिका यवनो वल्कः पिण्डतः श्रीनिवासकः), लंवग, नत (तगर), कंकोल शीतलचीनी,

कुष्ठ, गन्धप्रियंगु, स्थौणेय, तगर, ध्यामक, वचन, मदनक, प्लव (कैवर्त्त मुस्ता), नागकेसर प्रत्येक वस्तु एक एक पल लेनी चाहिये । परन्तु जो उत्तम सुगन्ध द्रव्य हैं । यथा—कस्तूरी, केसर, जावित्री, जायफल, कपूर, लौंग इनको छोड़कर शेष सब द्रव्यों को कल्क रूप करके उनसे तैल सिद्ध करना चाहिये । जब तैल पक जाये और गरम हो तब इन सुगन्धित द्रव्यों को (कस्तूरी आदि को) पीसकर पत्र कल्क के रूप में इनको मिला देना चाहिये । *

इस तैल का विधिपूर्वक प्रयोग करने से कास, श्वास, ज्वर, मूर्च्छा, गुल्म, छर्दि, उरःक्षत, क्षय, प्लीहा, शोष, अपस्मार, दौर्भाग्य नष्ट होता है । यह बला तैल वातरोगों को नष्ट करने के लिये श्रेष्ठ है । कृष्णात्रेय ने अग्निवेश को इसका उपदेश किया था ।

तुलाः पञ्च गुडूच्यास्तु द्रोणेष्वष्टस्वपां पचेत् ॥ १५६ ॥
पादशेषे समं क्षीरं तैलस्य द्व्याढकं पचेत् ।
एलामांसीनतोशीरसारिवाकुष्ठचन्दनैः ॥ १५७ ॥
शतपुष्पाबलामेदामहामेदाधिजीवकैः ।
काकोलीक्षीरकाकोलीश्रावण्यतिबलानखैः ॥ १५८ ॥
महाश्रावणिजीवन्तीविदारीकपिच्छुभिः ।
शतावरीतामलकीकर्कटाख्याहरेणुभिः ॥ १५९ ॥

---

* (१) अष्टांगसंग्रह में इन वस्तुओं का पाठ तो ठीक है परन्तु अर्थ भेद और प्रकार से किया है, यथा—'पलाश रस' से पलाश के पत्र और रस से बोल (हीराबोल), जोतिफल से, जाती, मालती और कटुफल से कर्कोट फज, 'त्वक् चन्दनैलाक र' के स्थान पर 'त्वक्कुन्दरूष्ककर्पूर' यह पाठ है ।

(२) पत्रकल्क का लक्षण—

पक्के पूते चोष्ण एव सम्यग् तत् परिपेषितम् ।
दीयते गन्ध वृद्ध्यर्थं पत्रकल्कं तदुच्यते ॥

वचागोक्षुरकैरण्डरास्नाकालासहाचरैः ।
वीराशल्लकिमुस्तत्वकूपत्रर्षभकबालकैः ॥ १६० ॥
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्कात्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः ।
मञ्जिष्ठायास्त्रिकर्षेण मधूकाष्टपलेन च ॥ १६१ ॥
कल्कैस्तत्क्षीणवीर्याग्निबलसंमूढचेतसः
उन्मादारत्यपस्मारैरार्तांश्च प्रकृतिं नयेत् ॥ १६२ ॥
वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाग्र्यममृताह्वयम् ।
कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम् ॥ १६३ ॥

इत्यमृताद्यं तैलम् ।

(९) अमृता तैल—गिलोय ५०० पल, जल ८ द्रोण लेकर क्वाथ करना चाहिये, चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये । इस क्वाथ में तैल ८ शराव, दूध ८ शराव, कल्कार्थ—बड़ी इलायची, जटामांसी, नत (तगर), खस, सारिवा, कुष्ठ, चन्दन, शतपुष्पा (सौंफ), बला, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, श्रावणी (मुण्डीका), अतिबला, नख, महाश्रावणी (रक्त मुण्डेरी), जीवन्ती, विदारी, कौंच; वच, गोखरू, एरण्ड, रास्ना, काला (सारिवा, कालानुसारिवा या नागबला), साचर (झिण्टी), शतावरी, तामलकी (भूई आंवला), कर्कटश्रृंगी, हरेणु (कौन्ती), वीरा (काकोली), सहा (नील झिण्टी), एला (छोटी इलायची), ऋषभक, त्रिदशाह्व (देवदारू), प्रत्येक वस्तु एक कर्ष, मंजिष्ठा तीन कर्ष, मुलहठी ८ पल लेकर इनके कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये । *

यह तैल क्षीणवीर्य, क्षीण अग्नि और क्षीण बल वाले पुरुषों को, मूढ चित्त व्यक्तियों को, उन्माद, अपस्मार, अरति रोग से पीड़ित व्यक्तियों को प्रकृति में लाता है । यह अमृता नामक तैल वात व्याधि को नष्ट करनेवाले

* अष्टांगसंग्रह में वीरा 'सहैलर्षभक' के स्थान पर 'वीरामहैलर्षभक' पाठ है । इसमें वीरा काकोली और महैला का पत्रैला अर्थ किया है ।

२९

तैलों में श्रेष्ठ है । यह तैल वैद्यों से पूजित है, तथा गुरु कृष्णात्रेय ने इसका उपदेश किया है ।

रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत् ।
गन्धैर्हैमवतैः पिष्टैरेलाद्यैश्चानिलार्तिनुत् ॥ १६४ ॥

इति रास्नातैलम् ।

(१०) रास्ना तैल—रास्ना एक हजार पल लेकर इसको दस द्रोण जल में पकाना चाहिये, जब चतुर्थांश रह जाये तब छान लेना चाहिये । इस क्वाथ में अमृता तैलोक्त एलादि वस्तुओं का कल्क, तथा हिमालय में उत्पन्न अगरु आदि सुगन्धित द्रव्यों के कल्क से एक द्रोण तैल सिद्ध करना चाहिये । यह तैल वात रोग को नष्ट करता है ।

[जल्पकल्पतरुकार कविराज श्री गंगाधरसेन ने हैमवती का 'श्वेत वच' अर्थ किया है, परन्तु अष्टांगसंग्रह और चक्रपाणि ने हिमालय में उत्पन्न वनस्पतियों का ही ग्रहण किया है] ।

कल्पोऽयमश्वगन्धायां प्रसारण्यां बलाद्वये ।

(११) रास्ना तैल की विधि से बला, प्रसारणी और अश्वगन्धा से तैल सिद्ध करना चाहिये । अर्थात् बला एक हज़ार पल लेकर दस द्रोण जल में क्वाथ करनी चाहिये, चतुर्थांश रहने पर इनके क्वाथ में एलादि गन्ध द्रव्यों का कल्क मिला कर एक द्रोण तैल सिद्ध करना चाहिये । इसी प्रकार प्रसारणी १ हजार पल, जल दस द्रोण लेकर क्वाथ करना चाहिये, चतुर्थांश रहने पर एलादि कल्क से एक द्रोण तैल सिद्ध करना चाहिये । इसी भांति अश्वगन्धा एक हजार पल, जल दस द्रोण लेकर क्वाथ करना चाहिये, चतुर्थांश रहने पर एलादि कल्क से एक द्रोण तैल सिद्ध करना चाहिये ।

क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत्पृथक् ॥ १६५ ॥

इति बला-नागबला-प्रसारण्यश्वगन्धातैलानि ।

(१२) बला प्रसारणी और अश्वगन्धा प्रत्येक का क्वाथ करना

चाहिये, यह क्वाथ मिलित तैल से चतुर्गुण, दूध तैल के समान, कल्क तैल से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये, यह सम्मिलित तैल है।*

मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम् ।
तुल्यं विपाचयेत्कल्कैर्बलाचित्रकसैन्धवैः ॥ १६६ ॥
पिप्पल्यतिविषारास्नाचविकागुरुशिग्रुकैः ।
भल्लातकवचाकुष्ठश्वदंष्ट्राविश्वभेषजैः ॥ १६७ ॥
पुष्कराह्वशटीबिल्वशताह्वानतदारुभिः ।
तत्सिद्धं पीतमत्युग्रान्हन्ति वातात्मकान् गदान् ॥ १६८ ॥

इति मूलकाद्यं तैलम् ।

(१३) मूलकादि तैल—मूली का स्वरस, दूध, तैल, अम्ल दधि, अम्लकांजी ये पांचों वस्तुएं समान भाग, कल्कार्थ—बला, चित्रक श्वेत, सैन्धा नमक, पिप्पली, अतिविषा, रास्ना, चविका, अगरु, चित्रक रक्त, भिलावा, वच, कुष्ठ, गोखरू, सोंठ, पोहकरमूल, कचूर, बेलगिरी, सौंफ, नत (तगर), देवदारु इनका मिलित कल्क तैल से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये । इसके पीने से तीव्र वातरोग नष्ट होते है ।

वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य च ।
अश्वगन्धाचित्रकयोः क्वाथे तैलाढकं पचेत् ॥ १६९ ॥
सक्षीरं वायुना भग्ने दद्याज्जर्जरिते तथा ।
प्राक्तैलावापसिद्धं च भवेद्देतद्गुणोत्तरम् ॥ १७० ॥

इति वृषमूलादि तैलम् ।

(१४) वृष तैल—वृषमूल (बांसे की मूल) १०० पल, गिलोय १०० पल, चित्रक १०० पल, अश्वगन्धा १०० पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ पृथक् पृथक् करना चाहिये । दोनों को चतुर्थांश रहने पर छान

* अष्टांगसंग्रह में प्रसारणी के स्थान पर अतिबला से तैल सिद्ध करने का वचन दिया है । 'हैमवतैः गन्धैः' का अर्थ अगुरु आदि गन्ध द्रव्य, ऐसा जज्जट ने किया है ।

कर इन मिलित क्वाथों में एक आढ़क तैल और तैल के बराबर दूध मिलाकर विना कल्क के दूध पकाना चाहिये ।

यदि इस तैल में बला, चित्रक, सैन्धा नमक आदि उपरोक्त मूलकादि तैल के कल्क मिलाकर सिद्ध किया जाये तो यह तैल अधिक गुणशाली होता है ।

वायु से भग्न होने पर या जर्जरित हो जाने पर यह तैल देना चाहिये ।

रास्नाशिरीषयष्ट्याह्वशुण्ठीसहचरामृताः ।
स्योनाकदारुशंपाकहयगन्धात्रिकण्टकाः ॥ १७१ ॥
एषां दशपलान्भागान्कषायमुपकल्पयेत् ।
ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः ॥ १७२ ॥
दध्यारनालमाषाम्बुमूलकेक्षुरसैः शुभैः ।
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १७३ ॥
प्लीहपार्श्वग्रहश्वासकासमारुतरोगनुत् ।
रास्नातैलमिति ख्यातं वर्णायुर्बलवर्धनम् ॥ १७४ ॥

इति रास्नातैलम् ।

(१५) रास्ना, शिरीष, मुलहठी, सोंठ, सहचर, अमृता (गिलोय), श्योनाक, दारुहल्दी, जटामांसी, अश्वगन्धा, त्रिकण्टक (गोखरू) प्रत्येक वस्तु दस दस पल लेकर आठगुणे जल में पकाकर चतुर्थांश बचाना चाहिये । इस क्वाथ में दधि, आरनाल, माष अम्ल, मूली का स्वरस, इक्षु रस प्रत्येक एक एक प्रस्थ, तैल एक प्रस्थ, कल्कार्थ—सर्वगन्ध (बला तैलोक्त कल्क द्रव्य या अगरु आदि सब गन्ध) प्रत्येक एक कर्ष लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये ।

यह तैल प्लीहा, पार्श्वशूल, श्वास, कास, वायु प्रकोप को नष्ट करता है । इस रास्ना तैल का कथन पुनर्वसु आत्रेय ने किया है ।

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रुबिल्वयोः ।
रसेन मूलकानां च तैलं दधिपयोऽन्वितम् ॥ १७५ ॥

साधयित्वा भिषग्दद्यात्सर्ववातामयापहम् ।
लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत् ॥ १७६ ॥
तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च ।
पीत्वाऽन्यतममेषां हि वन्ध्याऽपि जनयेत्सुतम् ॥ १७७ ॥

(१६) जौ, बेर, कुलत्थी, मछली, शिग्रु (शोभांजन), बिल्व की छाल और मूली इनका पृथक् २ क्वाथ करना चाहिये ।

इस क्वाथ में तैल के समान दही और दूध, तथा क्वाथ के समान तैल लेकर इनसे तैल सिद्ध करना चाहिये । यह तैल सब वात रोगों को नष्ट करता है ।

(१७) जौ, बेर, कुलत्थी, मछली, शिग्रु, बिल्व या मूली इनके क्वाथ में तथा लहसुन के स्वरस में सिद्ध तैल वातरोग नाशक है । इसमें भी तैल, लहसुन स्वरस और क्वाथ समपरिमाण चाहिये ।

ऋतुमती स्त्री स्नान करके यदि बला तैल से लेकर रास्ना तैल तक कथित तैलों में से किसी एक तैल का पान करे तो वन्ध्या स्त्री के भी पुत्र हो जाता है, अन्यों के विषय में तो सन्देह नहीं ।

यच्च शीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम् ।
अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद्वातरोगनुत ॥ १७८ ॥

(१८) शीतज्वर में जो अगरु आदि तैल कहा है, उसको बहुत वार सिद्ध करके प्रयोग करने से वात रोग नष्ट होते हैं ।

वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितकेऽपि च ।
तानि चानिलशान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत् ॥ १७९ ॥

(१९) वातरक्त चिकित्सा में जो जो तैल कहेंगे उन-उन तैलों को वात रोगों की शान्ति के लिये सफलता चाहने वाले वैद्य को बरतना चाहिये ।

नास्ति तैलात्परं किंचिदौषधं मारुतापहम् ।
व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात्संस्काराद् बलवत्तरम् ॥ १८० ॥

गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः।
सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ॥ १८१ ॥
क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते।

वायु की शान्ति के लिये तैल से उत्कृष्ट और कोई औषध नहीं है। इस तैल में-व्यवायी, उष्ण गुरू, स्नेह गुण होते हैं, संस्कार के कारण वातहर ओषधियों के (वातहर ओषधियों के साथ पकने से) यह गुण और भी शक्तिशाली हो जाते हैं। इसलिये तैल को सौ वार या हज़ार वार सिद्ध करके प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार से सिद्ध तैल सूक्ष्ममार्ग में स्थित रोगों को शीघ्र नष्ट कर देता है।

आवृत वायु के लक्षण

वातपित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः ॥ १८२ ॥
पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्।
व्यत्यासात्कारयेत्सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते ॥ १८३ ॥
धन्वमांसं यवाः शालिर्यापनाः क्षीरबस्तयः।
विरेकः क्षीरपानं च पञ्चमूलीबलाश्रितम् ॥ १८४ ॥

वात में तथा वात-पित्त आदि से आवृत सब स्रोतों में साधारण वातोक्त क्रिया तथा मिलित क्रिया प्रशस्त है। पित्त से वायु के आवृत होने पर विशेष रूप से शीत और उष्ण क्रिया परिवर्त्तन (अदल-बदल) के साथ करनी चाहिये। अर्थात् शीतक्रिया करके उष्ण, उष्णक्रिया करके शीतक्रिया करनी चाहिये। वायु के आवृत होने पर जीवनीय घृत देना चाहिये। धन्वमांस, जौ, हेमन्त धान्य, यापना बस्तियां (सिद्धिस्थानोक्त) और क्षीर बस्तियां (सिद्धिस्थानोक्त), विरेचन, पंचमूली (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कटेरी और गोखरू वातपित्तहर होने से स्वल्प पंचमूल लेना) तथा बला से श्रृत दुग्ध पान देना चाहिये। वायु के पित्त से आवृत होने पर—

मधुयष्टिबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम्।

पञ्चमूलीकषायेण कुर्याद्वा शीतवारिणा ॥ १८५ ॥

मधुयष्टी (मुलहठी) के क्वाथ से, बला तैल से, घृत से, दूध से, अथवा स्वल्प पंचमूल के क्वाथ से या शीतल जल से परिषेचन करना चाहिये ।

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः ।
स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ॥ १८६ ॥
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं शुभम् ।

वायु के कफ से आवृत होने पर—यवान्न भोजन, जांगल मृग (पशु) तथा पक्षियों के मांस, स्वेदन, निरूह बस्तियां, तीक्ष्ण वमन विरेचन, पुरातन घृत, तिल तैल और सरसों का तैल हितकारी है ।

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥ १८७ ॥

कफ पित्त से वायु के आवृत होने पर पित्त के आशुकारी होने के कारण सब से प्रथम पित्त को शान्त करना चाहिये ।

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत् ।
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा ॥ १८८ ॥

जिस समय रोगी के आमाशय में कफ पहुंच गया हो तब रोगी को वमन कराना चाहिये । पक्वाशय में कफ पहुंचा हो अथवा पित्त सर्वत्र पक्वाशय या आमाशय में अथवा अन्य स्थान में पहुंचा हो तो रोगी को विरेचन देना चाहिये ।

स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः ।
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं बस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् ॥ १८९ ॥

स्वेदन क्रिया से द्रवीभूत कफ जब पक्वाशय में स्थित हो, अथवा पित्त अपने लक्षणों को प्रगट कर रहा हो तो पित्त और कफ को बस्तियों द्वारा बाहर करना चाहिये ।

श्लेष्मणाऽनुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः ।
निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत्क्षीरसंयुतैः ॥ १९० ॥

मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ।

कफ से मिश्रित वायु में उष्ण द्रव्यों से बने निरूहों में गोमूत्र मिला कर बस्ति देनी चाहिये । पित्त से मिश्रित वायु में मधुर ओषधियों से सिद्ध क्षीर मिश्रित निरुहों से बस्ति देनी चाहिये । तथा मधुर ओषधियों से सिद्ध तैलों से पित्त से मिश्रित वायु में अनुवासन देना चाहिये ।

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत् ॥ १९१ ॥
हृते पित्ते कफे यः स्यादुरः स्रोतोनुगोऽनिलः ।
सशेषः स्यात्क्रिया तत्र कार्या केवलवातिकी ॥ १९२ ॥
शोणितेनावृते कुर्याद्वातशोणितकीं क्रियाम ।
प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत् ॥ १९३ ॥
स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीरस्नेहा मांसावृते मताः ।
महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसावृते ॥ १९४ ॥
अन्नावृते तु वमनं पाचनं दीपनं लघु ।
मूत्रलानि तु मूत्रस्थे स्वेदाः सोत्तरबस्तयः ॥ १९५ ॥
एरण्डतैलं वर्चःस्थे बस्तिः स्नेहाश्च भेदिनः ।
स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक्तं स्वैरौषधैर्जयेत् ॥ १९६ ॥
वमनैर्वा विरेकैर्वा बस्तिभिः शमनेन वा ।
मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु ॥ १९७ ॥
लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयाऽनघ ।
प्राणो वृणोत्यपानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च ॥ १९८ ॥
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम् ।
विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम् ॥ १९९ ॥
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ।
सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम् ॥ २०० ॥
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम् ।
स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ॥ २०१ ॥

प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम् ।
प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गद्मूकताः ॥ २०२ ॥
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः ।
समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्ववेदना ॥ २०३ ॥
शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते ।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥ २०४ ॥
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ।
तत्रौर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ॥ २०५ ॥
कर्णौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा ।
उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ॥ २०६ ॥
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैव सुखं चैवोपपादयेत् ।

कफयुक्त वायु के शिर में पहुंचने पर धूम-नस्य आदि देने चाहिये । पित्त और कफ के शान्त हो जाने पर यदि शुद्ध वायु ही उरःस्रोतों में प्रविष्ट हो तो सब प्रकार के वात रोगों में केवल वातनाशक क्रिया करनी चाहिये । वायु के रक्त से मिश्रित होने पर बात-रक्त क्रिया करनी चाहिये आमवातरोग में प्रमेहनाशक, वातनाशक, मेदनाशक क्रिया करनी चाहिये।

वायु के मांस से आवृत होने पर स्वेद, अभ्यंग, मांस रस, क्षीर (दूध) और स्नेह हितकारी हैं । अस्थि और मज्जा से आवृत्त वायु में महास्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा चतुःस्नेह) उत्तम हैं । रेत से (शुक्र से) वायु के आवृत्त होने पर प्रथम शुक्रस्थ वायु में जो क्रिया कही है, वही वहां पर करनी चाहिये । वायु के अन्न से आवृत होने पर वमन द्वारा अन्न का उल्लेखन, पाचन-दीपन औषध, लघु अन्न देना चाहिये । वायु के मूत्रमार्ग में स्थित होने पर एरण्ड तैल, भेदन गुणवाली (विरेचक) बस्तियां तथा विरेचक स्नेह देने चाहियें ।

वात आदि दोष अपने स्थान में रहता हुआ भी यदि बलवान् होजाये तब इस दोष को उसी दोष-शामक ओषधियों से जीतना चाहिये । इसके

लिये कफ यदि अपने स्थान में स्थित होता हुआ बलवान् हो तो वमनों द्वारा, पित्त अपने स्थान में स्थित होने पर बलवान् हो तो विरेचनों द्वारा, वायु अपने स्थान में स्थित होने पर बलवान् हो तो वस्तियों द्वारा उसको शान्त करना चाहिये।

हे पापरहित अग्निवेश ! प्राण अपान, व्यान, उदान, समान इन पांचों प्रकार की वायुओं के आवरणों के विस्तार और संक्षेप में कहे लक्षण सुनो।

प्राण उदान, अपान, समान और व्यान इन चारों वायुओं का आवरण करता है, और ये उदान आदि चारों वायुऐं प्राण को आवृत कर लेते हैं। इसी प्रकार से उदान शेष चारों वायुओं को आवृत कर लेता है और शेष चार वायुएं उदान को आवृत कर लेते हैं। समान वायु शेष चार वायुओं को आवृत करता है और शेष चार वायुएं समान वायु का आवरण कर लेते हैं। व्यान वायु शेष चार वायुओं को आवृत करता है, शेष चार वायुयें व्यान को आवृत कर लेते हैं। अपान वायु शेष चार वायुओं को आवृत करता है और शेष चार वायुयें अपान को आवृत कर लेते हैं। पांच प्रकार की वायुओं के परस्पर प्रकोप होने से इनके बीस प्रकार के आवरण बनते हैं, इन आवरणों को भली प्रकार से जानना चाहिये।

आवृत वायु के लक्षण और चिकित्सा

(१) प्राण वायु से व्यान के आवृत हो जाने पर सब इन्द्रियों में शून्यता का भान, स्मृति तथा बल का क्षय हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर ऊर्ध्वजत्रुक (ऊर्ध्वभागिक) कर्म (नस्य, धूमपान आदि) करना चाहिये।

(२) व्यान वायु से प्राण के आवृत होने पर अत्यन्त पसीना आना, शरीर में रोमांच, त्वचा में रोग, गात्र में सुप्तता (संज्ञा-नाश) होता है, इस अवस्था में स्नेह मिश्रित विरेचन देना चाहिये।

(३) प्राण वायु से समान वायु के आवृत्त होने पर—जड़ता, भरी हुई आवाज़ होती है। इसके लिये पान, अभ्यंग, अनुवासन और नस्य चार प्रयोगों में स्नेहों का प्रयोग तथा यापना बस्तियां देनी चाहियें। समान वायु से प्राण के आवृत होने पर ग्रहणी रोग, पार्श्वशूल, आमाशय में शोफ होता है, इसके लिये अग्निदीपक घृत उत्तम हैं।

(४) प्राण वायु से उदान के आवृत होने पर—शिरोग्रह, प्रतिश्याय, निःश्वास और उच्छ्वास का अवरोध, हृदयरोग और मुखरोग होते हैं। इसके लिये उर्ध्वभागिक कर्म (स्नेहपान, नस्यादि कर्म) तथा आश्वासन कार्य करना चाहिये। उदान वायु से प्राण के आवृत होने पर—कार्यों का, ऊर्ज (तेज), बल, वर्ण का नाश अथवा मृत्यु हो जाती है। इसके लिये धीरे धीरे रोगी को शीतल पानी से सिंचित करना चाहिये। रोगी को आश्वासन देना चाहिये, सुख आराम देना चाहिये।

(५) प्राण वायु से अपान के आवृत होने पर—छर्दि, श्वास आदि रोग होते हैं, इसके लिये बस्तियों से तथा भोजनों से वायु का अनुलोमन करना चाहिये। अपान वायु से प्राण वायु के आवृत्त होने पर—मोह, अग्निमान्द्य, अतीसार होता है। इसके लिये वमन, अग्निदीपक भोजन, तथा संग्राही खानपान देना चाहिये।

ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ॥ २०७ ॥
स्युर्वाते तत्र बस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम्।
मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ॥ २०८ ॥
वाते स्याद्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम्।

(६) व्यान वायु से अपान के आवृत होने पर—वमन, आध्मान, उदावर्त्त, गुल्म, परिकर्त्तिका (कर्त्तनवत् पीड़ा), होती है इसके लिये स्निग्ध वस्तुओं से वायु का अनुलोमन करना चाहिये। अपान वायु से व्यान के आवृत होने पर मल, मूत्र और शुक्र की अति प्रवृत्ति होती है, इसके लिये भी संग्राही खानपान, औषध देनी चाहिये।

वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः ॥ २०९ ॥
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् ।
अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम् ॥ २१० ॥
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वसंग्रहणं मतम् ।

(७) समान वायु से अपान के आवृत होने पर—मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगों में पीड़ा, अग्निक्षय, बलक्षय और ओजक्षय होता है, इसके लिये व्यायाम और लघु भोजन देना चाहिये ।

मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ॥ २११ ॥
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम् ।
स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ॥ २१२ ॥
उदानेनावृतेऽव्याने तत्र पथ्यं मितं लघु ।

(८) उदान वायु से व्यान के आवृत होने पर—स्तब्धता, अग्निमान्द्य, स्वेद का न आना, चेष्टाहानि, आंखों का बन्द रहना होता है, इसके लिये लघु और परिमित पथ्य करना चाहिये ।

पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान्बुध्येत लक्षणैः २१३ ॥
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता ।
यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणे पृथक् ॥ २१४ ॥
सलिङ्गभेषजं सम्यक् शृणु मे बुद्धिवृद्धये ।

(९) अनुक्त वायुओं के लिये—इसी प्रकार से एक दूसरे के लक्षणों द्वारा आवृत पांचों वायुओं को जानना चाहिये । इन प्राणादि वायुओं में आवृत हुई वायु के कर्म में तो हानि (न्यूनता) आ जाती है और आवरण करने वाले वायु के कार्य में वृद्धि हो जाती है । इस प्रकार से संक्षेप से पृथक् २ आवरणों को कह दिया है । बुद्धि के बढ़ाने के लिये इनके अपने लक्षण और चिकित्सा को भली प्रकार से सुनो ।

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ॥ २१५ ॥
द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम् ।

कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहं पानबस्त्यादि सर्वशः ॥ २१६ ॥
क्रममुष्णमनुष्णं वा व्यत्यासादवचारयेत् ।

(१०) प्राण आदि वायुओं के स्थानों को, प्राण आदि वायुओं के वृद्धि तथा हानि रूप कार्यों को, अन्य बारह आवरणों को देखकर अभ्यंजनादि वैद्य पूजित कार्य करने चाहियें। इसके लिये अभ्यंजन, स्नेह, नस्य, पान (स्नेहपान), सर्वत्र करना चाहिये, इसी प्रकार अदल बदल के शीत और उष्ण क्रिया (उष्ण क्रिया करके शीत क्रिया, शीत क्रिया करके उष्ण क्रिया) करनी चाहिये।

उदाने योजयेदूर्ध्वमपाने चानुलोमनम् ॥ २१७ ॥
समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानं तु योजयेत् ।

(११) उदान वायु के आवृत होने पर ऊर्ध्व भेषज (वामक औषध) देनी चाहिये । अपान के आवृत होने पर अनुलोमन करना चाहिये । समान वायु के आवृत होने पर शमन चिकित्सा करनी चाहिये । व्यान के आवृत होने पर ऊर्ध्व भेषज, अनुलोमक तथा शमन औषध तीन प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिये ।

प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्य स्थितिर्ध्रुवा ॥ २१८ ॥
स्वस्थानं गमयेदेवं वृतानेतान् विमार्गगान् ।

उदान आदि चार वायुओं से आवृत प्राण वायु की रक्षा सदा करनी चाहिये। इस प्राण वायु की अपने स्थान में निश्चित स्थिति करनी चाहिये। इस प्रकार से आवृत विमार्गगामी वायुओं को अपने अपने स्थान में पहुंचाना चाहिये ।

आवृत वायुओं के लक्षण

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ॥ २१९ ॥
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते ।
ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥ २२० ॥

(१२) प्राण वायु के पित्त से आवृत होने पर—मूर्च्छा, दाह,

श्रम, शूल विदाह, शीत की कामना, विदग्ध भोजन का वमन होता है।

प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च ।

प्राण वायु के कफ से आवृत होने पर—थूक का आना, छींक, उद्गार, निःश्वास और उच्छ्वास का अवरोध, अरुचि और वमन होता है।

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसोः क्लमः ॥ २२१ ॥
ओजोभ्रंशश्च श्वासश्चाप्युदाने पित्तसंवृते ।

उदान वायु के पित्त से आवृत होने पर—पूर्वोक्त मूर्च्छा, दाह, भ्रम आदि नाभि और छाती में दाह, क्लम (थकान), ऊर्ध्वभ्रंश और श्वास होता है।

आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः ॥ २२२ ॥
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते ।

उदान वायु के कफ से आवृत होने पर—विवर्णता, वाक् ग्रह, स्वरभंग, दुर्बलता, शरीर में भारीपन और अरुचि उत्पन्न होती है।

अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च ॥ २२३ ॥
पित्तावृते समाने स्यादुपपातस्तथोष्मणः ।

समान वायु के पित्त से आवृत होने पर—अति स्वेद, प्यास, दाह, मूर्च्छा, बेचैनी, उपताप तथा गरमी होती है।

अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च ॥ २२४ ॥
कफावृते समाने स्याद्गात्राणां चातिशीतता ।

समान वायु के कफ से आवृत होने पर—स्वेद का न आना, अग्निमान्द्य, शरीर में रोमांच, तथा शरीर के अंगों में अति शीतलता होती है।

व्याने पित्तावृते तु स्याद्दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः ॥ २२५ ॥
गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससंतापः सवेदनः ।

पित्त से व्यान वायु के आवृत होने पर—जलन, सम्पूर्ण अंगों में

क्लम (थकान), गात्र (हाथ पैर में विक्षेप (आक्षेप) का संग अवरोध (हाथ पैर का न हिलना), सन्ताप और वेदना होती है ।

गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्ध्यस्थिजा रुजः ॥ २२६ ॥
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथा रुजः ।

व्यान वायु कफ से आवृत्त होने पर—सब शरीर में भारीपन, पर्वों (छोटी छोटी सन्धियों) में, सन्धियों में तथा अस्थियों में वेदना, चलने फिरने में असमर्थता तथा वेदना होती है ।

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः ॥ २२७ ॥
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसः संप्रवर्तनम् ।
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चः प्रवर्तनम् ॥ २२८ ॥
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ।

अपान वायु के पित्त से आवृत होने पर—मल और मूत्र का हल्दी के समान पीत वर्ण, गुदा और शिश्न में संताप, आर्त्तव का बार बार आना होता है । अपान वायु के कफ से आवृत होने पर—मल, आम और कफ से मिश्रित, भारी तथा पतला (या फटा-फटा) होता है, तथा रोगी को कफजन्य प्रमेह के लक्षण रहते हैं ।

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च ॥ २२९ ॥
उपलक्ष्य भिषग्विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत् ।

पित्त और कफ के मिश्रित लक्षणों को देख कर वैद्य को कफ पित्त के मिश्रित आवरण को समझना चाहिये ।

यद्यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरौ स्थितौ ॥ २३० ॥
दोषौ बहुविधान्व्याधीन्दर्शयेतां यथानिजम् ।

जिस वायु (प्राणादि वायु) का जो स्थान प्रथम बताया है, उस वायु के स्थान में स्थित पित्त और कफ—अन्य ये दोनों दोष—नाना प्रकार के रोगों को अपने रोगों की भांति दिखाते हैं ।

आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणं चोदानमेव च ॥ २३१ ॥

गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः ।
विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम् ॥ २३२ ॥
स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च ।

वैद्य लोग शास्त्रप्रमाण के अनुसार कफ और पित्त से आवृत प्राण और उदान वायु को अन्य सब वायुओं की अपेक्षा 'गरीय' (श्रेष्ठ या अधिक) रूप में देखते हैं । क्योंकि विशेषकर जीवन आयु प्राण में आश्रित है और बल उदान में आश्रित है । प्राण और उदान वायु के आवृत होने पर आयु और बल दोनों की हानि हो जाती है ।

सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा ॥ २३३ ॥
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः ।

ये सब प्राणादि वायुएं आवृत होने पर—यदि इनका ज्ञान न हो, अथवा एक साल व्यतीत हो जाये या उपेक्षा कर दी जाये तो ये असाध्य हो जाते हैं । अथवा दूषित चिकित्सा के करने से असाध्य हो जाते हैं ।

चिकित्सा—

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च ॥ २३४ ॥
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ।
तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ॥ २३५ ॥
पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणापि वा ।
भिषग्जितैरतः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत् ॥ २३६ ॥
अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारिभिः ।

पित्त, कफ आदि से आवृत्त प्राण आदि वायुओं की उपेक्षा करने से हृदय रोग, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, अतीसार ये उपद्रव होते हैं । इसलिये वैद्य को चाहिये कि प्राणादि पांच प्रकार की वायु का पित्त या कफ अथवा वायु से आवरण हुआ जाने । उसे इन आवरणों को भली प्रकार देखकर अनभिष्यन्दि, स्निग्ध, स्रोतों के शोधक ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

कफपित्ताविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम् ।
सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत्कार्यं मारुते हितम् ॥ २३७ ॥
यापना बस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ।
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम् ॥ २३८ ॥
रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ।
शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा ॥ २३९ ॥
लेहं वा भार्गवप्रोक्तमभ्यस्येत्क्षीरभक्षुरः ।
अभयामलकीयोक्तानेकादश मिताशनः ॥ २४० ॥

जो कर्म कफ और पित्त के विरुद्ध न हो तथा जो कर्म वायु का अनुलोमक हो, उस कर्म को सब स्थानों में आवृत वायु में बरतना हितकारी है। यापना बस्तियां, मधुर बस्तियां, अनुवासन बस्तियां देनी चाहिये। बल की अधिकता देखकर मृदु स्रंसन (विरेचन) देना हितकारी है। सब प्रकार की रसायनों का प्रयोग करना हितकारी है, अतिशय रूप में शिलाजीत का प्रयोग या दूध के साथ गुग्गुलु का प्रयोग करना चाहिये। केवल दूध मात्र पर रहते हुए भार्गव-प्रोक्त च्यवन प्राशावलेह का सेवन करना चाहिये। मिताशी रहते हुए अभयामलकीय अध्याय में वर्णित ग्यारह रसायनों का सेवन करना चाहिये।

अपानेनावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ।
वातानुलोमनं यच्च पक्वाशयविशोधनम् ॥ २४१ ॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ।
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद्वितर्क्य स्वयमेव तत् ॥ २४२ ॥
पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्यानुलोमनैः ।
कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानुलोमनैः ॥ २४३ ॥

अपान वायु से प्राण आदि वायुओं के आवृत होने पर—दीपन, संग्राहि औषध, वात का अनुलोमन करने वाली औषध तथा पक्वाशय का शोधन करने वाली औषध का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार से

आवृत प्राण आदि वायुओं की चिकित्सा संक्षेप में कही है, वैद्य को चाहिये कि स्वयमेव विचार करके विस्तार रूप में चिकित्सा करे। पित्त से आवृत होने पर पित्तनाशक तथा वात की अनुलोमक चिकित्सा करनी चाहिये। कफ से आवृत होनेपर कफनाशक तथा वायु की अनुलोमक प्रतिक्रिया करे।

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥ २४४ ॥

जिस प्रकार लोकों में वायु, सूर्य और चन्द्र की गति का जानना कठिन है, इसी प्रकार से शरीर में वात, पित्त और कफ की गति भी जाननी कठिन है।

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ॥ २४५ ॥

वात, पित्त, कफ की क्षय, वृद्धि, समता तथा आवरणों को जानकर वैद्य चिकित्सा कर्म में मोहित (संशयग्रस्त) नहीं होता।

तत्र श्लोकौ। पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे स्थानानि कर्माणि च देहधातोः।
प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान्स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च ॥ २४६ ॥
प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति क्रिया च तेषामखिला निरुक्ता।
तान्देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ॥ २४७ ॥

उपसंहार—शरीर में स्थान भेद से पंचात्मक (पांच स्वरूप वाले) वायु देहधारक वायु के अविकृत रूप में स्थान और कर्म प्रकोप के कारण कुपित वायु जिन जिन रोगों को उत्पन्न करता है अन्य स्थानों में रुके तथा न रुका वायु और प्राणियों में प्राणेश्वर (प्राण वायु) जो कार्य करता है, इन सब की चिकित्सा विधि सम्पूर्ण रूप में कह दी है। वैद्य को चाहिये कि शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार तथा देश, सात्म्य, ऋतु, बल का विचार करके इस चिकित्सा-विधि का प्रयोग करे।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
वातव्याधिचिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो वातशोणितचिकित्सितमध्यायं
व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे वातरक्त चिकित्सित अध्याय का व्याख्यान करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्वसुम्।
पृष्टवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥ ३ ॥
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः।
हेतुलक्षणभैषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत् ॥ ४ ॥

अग्निहोत्र से निवृत्त, ऋषियों के मध्य में बैठे, एकाग्र मन वाले पुनर्वसु गुरु से अग्नि के समान तेजवाले अग्निवेश ने अग्नि और वायु के समान (शीघ्रकारी और दुर्निवार) मिलित वातरक्त के कारण, लक्षण और चिकित्सा विषयक प्रश्न किया। इस पर अग्निवेश को गुरु ने उपदेश किया।

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥ ५ ॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥ ६ ॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः।
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ॥ ७ ॥
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम्।

वातरक्त के कारण—लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण और अजीर्ण भोजनों से, क्लिन्न (सड़े-गले), शुष्क, जलज तथा आनूप मांस से, पिण्याक (तिल कल्क) से, मूली के सेवन से, कुलत्थी, माष,

निष्पाव (सेम, वटाणा), शाक, दहिं, पलल, इक्षु, दधि, कांजी, सौवीर (तुषोदक), शुक्त, तक्र, सुरा, आसव, विरुद्ध भोजन, अधिक भोजन, क्रोध, दिन में सोने, रात्रि में जागरण, मिथ्या आहार, मिथ्या विहार से, तथा जो व्यक्ति चलते फिरते नहीं (मेहनत नहीं करते) उन व्यक्तियों में विशेष रूप से सुकुमार (नाजुक) प्रकृति के लोगों में वातरक्त कुपित हो जाता है।

अभिघातादशुद्ध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् ॥ ८ ॥
कषायकटुतिक्ताल्परूक्षाहारादभोजनात् ।
हयोष्ट्रखरयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनात् ॥ ९ ॥
उष्णे चात्यध्वगमनाद् व्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि ॥ १० ॥
कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ।

सम्प्राप्ति—अभिघात के कारण तथा अशुद्धता से पुरुषों में दूषित रक्त, कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष भोजनों के अतिसेवन से, घोड़ा, ऊंठ, गधे की सवारी से, जल क्रीड़ा से, तैरने से, लंघन से, गरमी में बहुत मुसाफ़िरी करने से, मैथुन से, मल मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकने से, बढ़ा हुआ वायु बढ़े हुए रक्त द्वारा मार्ग में आवृत अर्थात् रुक जाने से सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देता है, इसको 'वातरक्त' रोग कहते हैं।

खुड्डं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः ॥ ११ ॥

इसके पर्य्याय—इसे खुड्ड (सन्धि) रोग, वात बलास और आढ्य वात रोग भी कहते हैं। [वायु के रुकने से प्रायः यह रोग 'आढ्य वात' कहाता है। चक्र]

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः ।
कृत्वादौ हस्तपादे तु मूलं देहं विधावति ॥ १२ ॥
सौक्ष्म्यात्सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा ।
तद्द्रवत्वात्सरत्वाच्च देहं गच्छेत् सिरायनैः ॥ १३ ॥

वातरक्त रोग के स्थान—हाथ-पैरों की अंगुलियां (सन्धियां) तथा सब सन्धियां है। प्रारम्भ में रोग हाथ और पैरों में जड़ जमाकर फिर सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। वातरक्त के सूक्ष्म और सर्वसर (सर्वत्र फैलने का स्वभाव) होने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। द्रव तथा सर होने से सिरा रूप मार्गों से सब शरीर में फैल जाता है।

पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते।
स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः॥ १४ ॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम्॥ १५ ॥

पर्व-सन्धियों के वक्र होने से क्रुद्ध वातरक्त कुपित रूप में सन्धियों में रुक जाता है। पित्त-कफ से मिश्रित वातरक्त देह में अनेक ऐसी वेदनाओं को उत्पन्न करता है जो पित्त तथा कफ से उत्पन्न होती हैं। इसलिये प्रायः सन्धियों में कष्ट होता है। पुरुषों में अति कठिनाई से सहने योग्य पित्तजन्य या कफजन्य वेदनाएं होती हैं।

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः॥ १६ ॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च॥ १७ ॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम्॥ १८ ॥

पूर्वरूप—पसीने का बहुत आना या सर्वथा न आना, शरीर में कृष्णता, स्पर्श का नाश (ज्ञानाभाव), यदि चोट लगे में तो अति दर्द सन्धियों में शिथिलता, आलस्य, सदन (भारीपन) पिड़काओं की उत्पत्ति जानु, जंघा, उरु, कटि अंश, हाथ, पांव तथा अंग एवं सन्धियों में तोद, स्फुरण, भेद, भारीपन और सुप्ति (स्पर्श का अभाव), सन्धियों में खुजली हो २ कर मिट जाती है, और फिर २ होती फिर २ नष्ट होती है। शरीर

में विवर्णता, चक्रों की उत्पत्ति होना ये वातरक्त के पूर्व लक्षण हैं।

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥ १९ ॥

उत्तान और गम्भीर भेद से वातरक्त दो प्रकार का है। त्वचा और मांस में आश्रित वातरक्त उत्तान, (२) मेदा, मज्जादि के अन्दर आश्रित वातरक्त गम्भीर कहाता है।

कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः।
अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथोच्यते ॥ २० ॥

उत्तान का निदान—बाह्य (उत्तान) वातरक्त में त्वचा में कण्डू, दाह, पीड़ा, आयाम, तोद स्फुरण और आकुंचन होता है। त्वचा काली-लाल अथवा ताम्रवर्ण हो जाती है।

गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्।
श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ॥ २१ ॥
रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु।
छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ॥ २२ ॥
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्।

गम्भीर वातरक्त में—शोथ स्तब्ध कठिन और अतिशय पीड़ा युक्त होता है। त्वचा का वर्ण श्याव अथवा ताम्र होता है, रोगी को दाह, तोद, स्फुरण होता है, पक जाता है। बार बार पीड़ा-दाह होती है। वेगवान् वायु सन्धि, अस्थि और मज्जा में काटती हुई सी वहती है। वेग के अनन्तर हाथ पांव की अंगुलियों को टेढ़ा करता हुई शरीर में सर्वत्र गति करता हुआ वेगवान् वायु खंजत्व (लेंछाड़ापन) अथवा पंगुत्व उत्पन्न कर देता है।

सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ॥ २३ ॥

उभयाश्रय वातरक्त—जिस वातरक्त में उत्तान और गम्भीर

दोनों प्रकार के वातरक्त के लक्षण मिले हों उसको उभयाश्रित वातरक्त समझना चाहिये ।

तत्र वातेऽधिके वा स्याद्रक्ते पित्ते कफेऽपि वा ।
संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम् ॥ २४ ॥

उभयाश्रित वातरक्त में, संसृष्ट या समस्त वातरक्त में वायु की पित्त की, रक्त की अथवा कफ की अधिकता हो तो उसके लक्षण सुनो ।

विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम् ।
शोथस्य कार्ष्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः ॥ २५ ॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलोत्तरे ॥ २६ ॥

(१) वातप्रधान वातरक्त में विशेष कर सिराओं में दीर्घता, तोद, स्फुरण, भेदन, शोथ में कृष्ण वर्णता, रूक्षता, श्याववर्ण, धमनी और अंगुली की सन्धियों में संकोच, अंगों में पीड़ा, अति वेदना आकुंचन, स्तम्भन, और शीत में प्रद्वेष होता है ।

श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि ॥ २७ ॥

(२) रक्त प्रधान वातरक्त में अतिवेदना, शोथ, तोद, ताम्रवर्ण, चिमचिमाहट (राई सरसों के लेप के समान), स्निग्ध और रूखी वस्तुओं से शान्त नहीं होता, खाज और पसीना बहुत होता है ।

विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः ।
रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥ २८ ॥

(३) पित्तप्रधान वातरक्त में विदाह, वेदना, मूर्छा, स्वेद, तृष्णा, मद, भ्रम, रक्तिमा, पाक, भेद और शोष होता है ।

स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे ।

(४) कफ प्रधान वातरक्त में स्तिमितता (गीले वस्त्रों से ढके रहने

की सी प्रतीति) भारीपन स्वेद, सुप्ति (संज्ञानाश तथा मन्द वेदना होती है।

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वं त्रिदोषगम् ।। २९ ।।

(५) हेतु और लक्षणों को मिश्रित देख कर द्वन्द्वज वातरक्त या त्रिदोषज वातरक्त कहना चाहिये ।*

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ।। ३० ।।
अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ।
मूर्च्छा च मदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ।। ३१ ।।

साध्यासाध्य—एकदोष-प्रधान और नया वातरक्त साध्य है, द्विदोषजन्य वातरक्त याप्य है, त्रिदोषजन्य और बहुत उपद्रवों से युक्त वातरक्त असाध्य है।

हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ।
अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः ।। ३२ ।।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वापि यत् ।

असाध्य के लक्षण—(१) नींद का न आना, अरोचकता, मांस का कोथ (गलना), शिरोग्रह, मूर्च्छा, आयाम, मद, दर्द, प्यास, ज्वर, मोह, वेपन, हिक्का, पंगुलता (पंगुता), वीसर्प, पाक, तोद, भ्रम, क्लम, अंगुली मे टेढ़ापन, स्फोट (छाले), दाह, मर्मों में पीड़ा और अर्बुद इन उपद्रवों से युक्त अथवा केवल मोह (मूर्च्छा) से ही पीड़ित रोगी को असाध्य समझना चाहिये।

संप्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत् ।। ३३ ।।
वर्जयेद्यच्च संकोचकरमिन्द्रियतापनम् ।

(२) जिस वातरक्त में प्रस्राव होता हो, विवर्णता हो, स्तब्धता

* दो प्रकार के वातरक्त के, वात के भेद से २५, पित्त के भेद के कारण ३६, और कफ के कारण दस मानते हैं।

हो या अर्बुद उत्पन्न हो गया हो, जिसके कारण संकोचपन आ-गया हो तथा इन्द्रियों को पीड़ा देने वाला वातरक्त भी असाध्य है ।

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥ ३४ ॥

साध्य—जिस वातरक्त में एक दो उपद्रव हों, परन्तु सम्पूर्ण उपद्रव न हों वह वातरक्त याप्य है, उपद्रव रहित तथा एक-दोषजन्य वातरक्त साध्य है ।

वातरक्त चिकित्सा

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः ।
निवेश्यान्योन्यमाबाध्य वेदनाभिर्हरेदसून् ॥ ३५ ॥
तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकः सूच्यलाबुभिः ।
प्रच्छन्नैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम् ॥ ३६ ॥
रुग्दाहतोदरागार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा ।
शृङ्गैस्तु वै हरेत्सुप्तिकण्डूचिमिचिमायनात् ॥ ३७ ॥
देशाद्देशं व्रजत्स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा ।
अङ्गग्लानौ नतु स्राव्यं रूक्षे वातोत्तरे च यत् ॥ ३८ ॥
गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान् ।
ग्लानिं चापि ससङ्कोचां कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥ ३९ ॥

(१) रक्तमोक्षण—(१) वातरक्त रोग में वायु शाखा और सन्धियों में घुसकर रक्त के मार्ग को शीघ्र नष्टकर देता है । तब रक्त और वायु परस्पर एक दूसरे का (रक्त वायु का, वायु रक्त का) हिंसन करके प्राणों को नष्ट कर देते हैं । इस अवस्था में सींग, जौंक, सुई, अलाबु (घटीयंत्र), प्रच्छन (खिनना) और सिरावेध द्वारा दोष और बल के अनुसार रक्तमोक्षण करना चाहिये । (२) जिस रक्त में पीड़ा, जलन, तोद और रक्तिमा हो उसको जलौका द्वारा निकालना चाहिये । जिस रक्त में चिमचिमाहट, खुजली, वेदना हो तो रक्त को शृङ्ग द्वारा (या तुम्बी द्वारा चूषण विधि से निकालना चाहिये । जो वातरक्त एक देश से दूसरे स्थान

पर पहुंचता हो, प्रसरणशील हो, उसमें सिरावेध या प्रच्छन विधि से रक्त निकालना चाहिये। (३) अंगग्लानि में रूक्ष या वातप्रधान वातरक्त में रक्तमोक्षण नहीं करना चाहिये। क्योंकि इन अवस्थाओं में रक्त मोक्षण करने से वायु गम्भीर शोथ, स्तम्भता, कम्पन, स्नायु रोग, सिरा रोग, ग्लानि, और संकोच उत्पन्न कर देता है।*

खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं चात्यपसेचनात्।
कुर्यात्तस्मात्प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिर्हरेत् ॥ ४० ॥

रक्त के अति-स्राव से खंजता आदि वातरोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये स्निग्ध पुरुष (वात रिक्त पुरुष) में से प्रमाणानुसार रक्त को निकालना चाहिये।

विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः।
रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्बस्तिकर्म च ॥ ४१ ॥
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते विशेषं तु निबोध मे ॥ ४२ ॥

(२) बस्तिकर्म—वातरक्त रोगी को प्रथम स्नेहन देकर पीछे से स्नेह-युक्त विरेचनों से या रूक्ष एवं मृदु विरेचनों से विरेचन देकर बार-बार बस्ति कर्म करना चाहिये। सेक, अभ्यंग, प्रदेह, स्नेहबहुल, अविदाही अन्न वातरक्त में उत्तम हैं, विशेष कर्मों को मुझ से सुनो।

बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः।
विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥ ४३ ॥
सर्पिस्तैलवसामज्जापानाभ्यञ्जनबस्तिभिः।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ॥ ४४ ॥
विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः।
शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ॥ ४५ ॥
वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम्।

* कहा २ पर 'सिरामुखात्' या 'सिरामयात्' यह भी पाठ है।

कोष्णालेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ॥ ४६ ॥
कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते ।
विदाहः शोथरुक् कण्डूविवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत् ॥ ४७ ॥
वातपित्तोत्तरे दाहः क्लेदोऽवदरणं भवेत् ।
उष्णैस्तस्माद्भिषग्दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत्क्रियाम् ॥ ४८ ॥

(३) आलेपन अभ्यंग आदि (१) उत्तान वातरक्त में आलेपन, अभ्यंग, परिषेक, और उपनाहन करना चाहिये, (२) गम्भीर वातरक्त में–विरेचन, आस्थापन, स्नेहपान कराना चाहिये । (३) उत्तान वातप्रधान वातरक्त में–घृत, तैल, वसा, मज्जा का पान, इनसे बस्ति, तथा अभ्यंग करना चाहिये । सुखोष्ण (सुहाता हुआ गरम) उपनाह बांधना चाहिये । (४) उत्तान पित्तप्रधान या उत्तान रक्तप्रधान वातरक्त में विरेचन, घृतपान, दूध पान, सेक, बस्ति, शीत-निर्वापण (शीत क्रिया) करनी चाहिये । उत्तान कफप्रधान वातरक्त में मृदुवमन तथा साधारण (बहुत अधिक नहीं) सेचन, साधारण स्नेहन, लंघन, कुछ गरम लेप उत्तम हैं । (४) कफ-वात प्रधान वातरक्त (उत्तान) में शीतल वस्तुओं से प्रलेप देने पर स्तम्भन (दोषों के रुक जाने) के कारण विदाह, शोफ, पीड़ा और कण्डू की वृद्धि हो जाती है । पित्त रक्तप्रधान वातरक्त (उत्तान) में उष्ण वस्तुओं से लेप करने पर दाह, क्लेद, अवदारण (फटना) होता है । इसलिये वैद्य को चाहिये कि दोष, बल को देखकर क्रिया करे ।*

दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा ।
कटूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत् ॥ ४९ ॥

वर्ज्य कार्य–दिन में सोना, सन्ताप सेवन, व्यायाम, मैथुन, कटु-गुरु उष्ण, अभिष्यन्दि, लवण और अम्ल वस्तुओं का परित्याग करना चाहिये ।

पुराणयवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः ।
भोजनार्थे रसार्थे वा विष्किरप्रतुदा हिताः ॥ ५० ॥

---

* 'वात पित्तोत्तरे' इति च पाठः ।

आढक्यश्चणका मुद्‌गा मसूराः समकुष्ठकाः ।
यूषार्थे बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥ ५१ ॥
सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी-
वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥ ५२ ॥

भोजन के लिये पुराना जौ, पुराना गेहूँ, नीवार, शालिधान्य, सांठी धान्य उत्तम हैं, मांसरस के लिये प्रतुद और विष्किर पक्षी हितकारी हैं। वातरक्त रोग में यूष के लिये अरहर, चना, मूंग, मसूर और मोठ इनको यूष में बहुत घृत मिला कर देना उत्तम है ! वातरक्त रोग में शाक के लिये सुनिषण्णक, वेंत का अग्रभाग, मकोय, शतावरी, वास्तुक (बथुवा) उपोदिका (पोई), सौवर्चल (सुवर्चला) शाक अथवा सौवर्चल नमक उत्तम है।*

घृतमांसरसे भृष्टं शाकं सात्म्याय दापयेत् ।
व्यञ्जनार्थं तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम् ॥ ५३ ॥

शाकसात्म्य रोगी के व्यंजन के लिये सुनिषण्णक आदि शाक को घृत और मांसरस में भून कर देना चाहिये। गाय या भैंस अथवा बकरी का दूध देना हितकारी है।

इति संक्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम् ।
एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥ ५४ ॥

वातरक्त रोग की चिकित्सा संक्षेप में कह दी हैं, अब इसी को विस्तार से कहते हैं।

विस्तृत चिकित्सा

श्रावणीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकैः समैः ।
सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥ ५५ ॥

*श्री गंगाधरसेन ने 'सौवर्चल' शब्द से नमक लिया है, चक्रपाणि ने 'सूर्य्यावर्त्त' शाक लिया है। यही ठीक है, नमकों में सैन्धव ही प्रशस्त है।

(४) वातरक्तनाशक घृत (१) क्वाथार्थ घृत से चतुर्गण दूध, कल्कार्थ—श्रावणी (मुण्डी), क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक और मुलहठी प्रत्येक वस्तु समान भाग लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत वातरक्त रोगनाशक है।

बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम्।
काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नामृद्धिं च पेषयेत् ॥ ५६ ॥
घृतं चतुर्गुणक्षीरं तैः सिद्धं वातरक्तनुत्।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलाज्वरनाशनम् ॥ ५७ ॥
त्रायन्तिकातामलकीद्धिकाकोलीशतावरी-।
कशेरुकाकषायेण कल्कैरेभिः पचेद्धृतम् ॥ ५८ ॥
दत्त्वा परूषकद्राक्षाकाश्मर्येक्षुरसान्समान्।
पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥ ५९ ॥
एतत्प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम्।
वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥ ६० ॥

इति पारूषकं घृतम्।

कल्कार्थ—बला, अतिबला, मेदा, आत्मगुप्ता (कौंच), शतावरी, काकोली क्षीरकाकोली, रास्ना, मृद्वीका (मुनक्का) इनको पीसकर चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत वातरक्त रोग, हृदयरोग, पाण्डुरोग, वीसर्प, कामला और ज्वर को नष्ट करता है।

(२) पारुषक घृत—घृत, क्वाथार्थ—त्रायन्तिका (त्रायमाण), तामलकी (भूई आंवला), काकोली, क्षीरकाकोली और शतावरी, क्वाथार्थ कशेरु का कषाय, फालसे का स्वरस, द्राक्षा का स्वरस, काश्मरी फल का रस, और इक्षु रस प्रत्येक घृत के समान, विदारी का स्वरस, घृत से चतुर्गुण और दूध घृत से चतुर्गुण लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये।*

* कविराज गंगाधर सेन कसेरू का कल्क लेते हैं कषाय नहीं। परन्तु जतुकर्ण के पाठ में कशेरू का कषाय है।

यह पारूषक घृत नित्य प्रयोग करने के योग्य है, वातरक्त, क्षय, क्षीण, वीसर्प तथा पैत्तिक ज्वर में उत्तम है।

द्वे पञ्चमूले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम्।
मुद्गपर्णी महामेदां माषपर्णी शतावरीम् ॥ ६१ ॥
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्नामतिबलां बलाम्।
पृथग्द्विपलिकान् कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् ॥ ६२ ॥
पादशेषे समं क्षीरं धात्रीक्षुच्छागलान् रसान्।
घृताढकेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत ॥ ६३ ॥
कल्कानावाप्य मेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम्।
त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम् ॥ ६४ ॥
नागरं क्षीरकाकोलीं पद्मकं बृहतीद्वयम्।
वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमाणं निकोचकम् ॥ ६५ ॥
खर्जूराक्षोटवातामभुञ्जाताभिषुकांस्तथा।
एतैर्घृताढके सिद्धे क्षौद्रं शीते प्रदापयेत् ॥ ६६ ॥
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय सुगुप्तं संनिधापयेत्।
कृतरक्षाविधिं तच्च प्राशयेदक्षसंमितम् ॥ ६७ ॥

(३) जीवनीय घृत—घृत एक आढ़क, क्वाथार्थ—दशमूल, वर्षाभू (श्वेत पुनर्नवा) एरण्डमूल, रक्त पुनर्नवा, मूंगपर्णी, महामेदा, माषपर्णी, शतावरी, शंखपुष्पी, अवाक्पुष्पी (शतपुष्पा), रास्ना, बला, अतिबला प्रत्येक वस्तु दो पल लेकर एकद्रोण जल में क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश (सोलह शराव) रहने पर छान लेना चाहिये। क्वाथ सोलह शराव, दूध सोलह शराव, आंवले का रस १६ शराव, गन्ने का रस १६ शराव, बकरी का मांस रस १६ शराव, कल्कार्थ—मेदा, महामेदा, काश्मरी फल, कमलगट्टा, वंशलोचन, पिप्पली, द्राक्षा, कमल के बीज, पुनर्नवा, सोंठ, क्षीरकाकोली, पद्माख, कटेरी, बड़ी कटेरी, वीरा (काकोली या शतावरी), सिंघाड़ा, भव्य (कटहल), उरुमाल (उरुमाण ?), निकोठक, खजूर, अखरोट,

बादाम, मुञ्जातक (उत्तरी भारत में कन्द विशेष), अभिपुक (खिरनी) इनका मिलित कल्क घृत से चतुर्थांश लेकर मृदु अग्नि पर पाक करना चाहिये। घृत के सिद्ध होने पर छान कर शीतल करके इस में मधु मिला देना चाहिये। भली प्रकार से सिद्ध हो जाने पर इसका छिपा कर रख देना चाहिये। इसकी पूरी हिफाजत करके इस में से अक्ष (कर्ष मात्रा) मात्रा घृत खाना चाहिये।

पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम्।
पार्श्वशूलं क्षयं कासं प्लीहानं वातशोणितम् ॥ ६८ ॥
क्षतशोषमपस्मारमश्मरीं शर्करां तथा।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गं च नाशयेत् ॥ ६९ ॥
बलवर्णकरं धन्यं वलीपलितनाशनम्।
जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम्।
अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥ ७० ॥

इति जीवनीयं घृतम्।

यह जीवनीय घृत पाण्डुरोग, ज्वर, हिक्का, स्वरभेद, भगन्दर, पार्श्व-शूल, क्षय, कास, प्लीहा, वातरक्त और सर्वांग रोग मूत्रसंग को नष्ट करता है। यह घृत बलकारक, वर्णकारक, धन्य (पवित्र), बलिनाशक है। यह घृत वन्ध्या स्त्री को पुत्र देने वाला है। इस जीवनीय घृत का गुरु कृष्णात्रेय ने अग्निवेश को उपदेश किया था।

द्राक्षामधुकतोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्।
पिबेद्घृतं तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥ ७१ ॥

(४) द्राक्षा और मुलहठी के चतुर्गुण क्वाथ में विना कल्क के घृत सिद्ध करके इस में चतुर्थांश शर्करा मिलाकर पीना चाहिये। घृत से चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करके शर्करा मिला कर पीना चाहिये। अथवा घृत से चतुर्गुण गिलोय के स्वरस में घृत सिद्ध करके इसमें शर्करा का प्रक्षेप मिलाकर पीना चाहिये।

जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम् ।
मधुकं मधुपर्णीं च काकोलीद्वयमेव च ॥ ७२ ॥
मुद्गमाषाख्यपर्णिन्यौ दशमूलं पुनर्नवा ।
बलाऽमृता विदारी च साश्वगन्धाश्मभेदकाः ॥ ७३ ॥
एषां कषायकल्काभ्यां सर्पिस्तैलं च साधयेत् ।
लाभतश्च वसामज्जाधान्त्रप्रातुदवैष्किरान् ॥ ७४ ॥
चतुर्गुणेन पयसा तत्सिद्धं वातशोणितम् ।
सर्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान् ॥ ७५ ॥

(५) चतुःस्नेहघृत—तैल तथा प्रतुद एवं विष्किर पक्षियों की जितनी वसा और मज्जा मिले, ये चारों स्नेह परस्पर समभाग, क्वाथार्थ—जीवक, ऋषभक, मेदा, ऋष्यप्रोक्ता (अतिबला), शतावरी, मुलहठी, मधुपर्णी (विकंकत), काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, दशमूल, पुनर्नवा, बला, गिलोय, विदारी, अश्वगन्धा, अश्मभेद (पाषाणभेद), इनका क्वाथ स्नेह से चतुर्गुण, दूध स्नेह से चतुर्गुण, कल्कार्थ जीवक, ऋषभक आदि क्वाथ द्रव्यों से ही स्नेह से चतुर्थांश लेकर स्नेहपाक करना चाहिये । यह सिद्ध स्नेह वातरक्त को, सर्वदेहाश्रित वातजन्य घोर रोगों को भी नष्ट करता है ।

स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती सारिवा सशतावरी ।
काश्मर्याण्यात्मगुप्ता च वृश्चीरं द्वे बले तथा ॥ ७६ ॥
एषां क्वाथे चतुःक्षीरे पृथक् तैलं पृथग् घृतम् ।
मेदाशतावरीयष्टिजीवन्तीजीवकर्षभैः ॥ ७७ ॥
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा ।
खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे ॥ ७८ ॥

(६) स्थिरा (शालपर्णी), गोखरू, बृहती (बड़ी कटेरी), सारिवा, शतावरी, काश्मरी, आत्मगुप्ता (कौंच), वृश्चीर (पुनर्नवा), बला, अतिबला, इन वस्तुओं का क्वाथ करना चाहिये । घृत या तैल के समान

यह क्वाथ, दूध-घृत या तैल से चतुर्गुण, कल्कार्थ-मेदा, शतावरी, मुलहठी, जीवक, ऋषभक, बला इनका कल्क स्नेह से चतुर्थांश लेकर पृथक् पृथक् घृत और तैल सिद्ध करना चाहिये। इस सिद्ध स्नेह, घृत या तैल में से जितनी भी मात्रा पीनी हो, उस मात्रा से तिगुना दूध और मात्रा से आधी शर्करा लेकर (स्नेह २ तोले, दूध ६ तोले, शर्करा १ तोला) इनको खज (हाथ या मथानी) द्वारा मथकर प्रति दिन पीना चाहिये। यह मात्रा त्रिदोषजन्य वातरक्त में उत्तम है। त्रिदोषजन्य वातरक्त को असाध्य कहा है, तथापि अबल वातरक्त में याप्य के लिये इसको कहा है।

तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा समूर्छिताम्।
सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैर्मिश्रं वापि पिबेत्पयः॥ ७९॥
अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसःससितोपलः।
पाने प्रशस्यते तद्वत्पिप्पलीनागरैः शृतः॥ ८०॥
बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः।
श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः॥ ८१॥

(७) तैल, दूध और शर्करा को खज के साथ मथ कर पीना चाहिये। अथवा दूध में घृत, तैल, वसा या मधु मिलाकर खज से बिलोकर पीना चाहिये।

जल ४ प्रस्थ, अंशुमती (शालपर्णी) १।८ वां भाग, दूध १ प्रस्थ लेकर पाक करना चाहिये। जब केवल दूध शेष रह जाये तब इस में चतुर्थांश शर्करा मिला कर पीना चाहिये। इसी प्रकार से पिप्पली और सोंठ द्वारा पकाये दूध में-शर्करा मिला कर पीना चाहिये। बला, शतावरी, रास्ना, दशमूल और पीलु ये अष्टमांश लेकर-चौगुने जल में चतुर्थांश दूध मिला कर पकाना चाहिये। इसी प्रकार से श्यामा (निशोथ), एरण्ड मूल, स्थिरा (शालपर्णी) इनको चौगुने जल में, चतुर्थांश दूध मिला कर दूध सिद्ध करना चाहिये। यह दूध वातरोग नाशक है।

धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्।

पिबेद्वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः ॥ ८२ ॥
क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ॥ ८३ ॥
कषायमभयानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा ॥ ८४ ॥
काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरूषकाम् ॥ ८५ ॥
शृतां पिबेद्विरेकाय लवणक्षौद्रसंयुताम्।
त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत्क्षौद्रेण संयुतम् ॥ ८६ ॥
धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिके।
योगैश्च कल्पविहितैरसकृत्तं विरेचयेत् ॥ ८७ ॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्ज्ञात्वा वातं मलावृतम्।
निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरबस्तिभिः ॥ ८८ ॥
न हिं बस्तिसमं किंचिद्वातरक्तचिकित्सितम्।

(८) विरेचन—(१) पित्त-रक्त की अधिकता में या वातप्रधान वातरक्त में—धारोष्ण दूध में गोमूत्र मिला कर अथवा धारोष्ण दूध में त्रिवृत का चूर्ण मिला कर पीना चाहिये, इससे दोषों का अनुलोमन होता है। यदि दोषों की अधिकता हो तो रोगी को विरेचन के लिये। (२) एरण्ड तैल को दूध के साथ नित्य प्रति पीना चाहिये। इस तैल के जीर्ण होने पर दूध और चावल खाने चाहिये। अथवा (३) अमृता (गिलोय) के कषाय को घृत में भून कर दूध के अनुपान से पीना चाहिये। अथवा (४) विरेचन के लिये द्राक्षा रस के साथ निशोथ का चूर्ण पीना चाहिये। (५) विरेचन के लिये काश्मरी, निशोथ, द्राक्षा, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) और फालसा इनका क्वाथ करके उसमें सैन्धा नमक और मधु मिला कर पीना चाहिये। (६) कल्पस्थान में कहे मृदु विरेचन योगों को स्नेह से मिश्रित करके बार बार वात रोगी को विरेचन देना चाहिये। इससे वायु का

अवरोध नहीं रहता। अथवा घृत क्षीर मिश्रित बस्तियों द्वारा रोगी का मल निकालना चाहिये। बस्ति के समान वातरक्त रोग की और कोई चिकित्सा नहीं है।

बस्तिवंक्षणपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु ॥ ८९ ॥
उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवासनाः।
दद्यात्तैलानि चेमानि बस्तिकर्मणि बुद्धिमान् ॥ ९० ॥
नस्याभ्यञ्जनसेके च दाहशूलोपशान्तये।

(९) बस्ति, वंक्षण, पार्श्वशूल, ऊरुरोग, पर्वशूल, अस्थिशूल, जठर रोग, और उदावर्त्त रोग में निरूह एवं अनुवासन बस्तियां उत्तम हैं। आगे कहे जाने वाले इन तैलों का बस्ति कर्म में (अनुवासन में) विद्वान् वैद्य को प्रयोग करना चाहिये। इन तैलों का नस्य, अभ्यंजन और परिषेक में प्रयोग करने से दाह, शूल नष्ट होती है।

मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु कषाये पादशेषिते ॥ ९१ ॥
तैलाढकं समक्षीरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः।
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः ॥ ९२ ॥
स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः।
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यृद्धिपद्मकैः।
जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखवालकैः ॥ ९३ ॥
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवैन्द्रीवितुन्नकैः।
चतुःप्रयोगात्तद्धन्ति तैलं मारुतशोणितम् ॥ ९४ ॥
सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्वगात्रानुगं तथा।
वातासृक्पित्तदाहार्त्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत् ॥ ९५ ॥

इति मधुपर्ण्यादितैलम्।

(१०) तैल—(१) मुलहठी (गंगाधर के मतानुसार मधुपर्णी, गिलोय) १०० पल, जल एक द्रोण लेकर क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश यह क्वाथ, कल्कार्थ, सौंफ, शतावरी, मूर्वा, पयस्या (विदारी), अगरु,

चन्दन, स्थिरा (शालपर्णी), हंसपदी, मांसी (जटामांसी), मेदा, महामेदा, मधुपर्णी (गिलोय या विकंकत), काकोली, क्षीरकाकोली, तामलकी (भूई आंवला, ऋद्धि, पद्माख, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, दालचीनी, तेजपात, नख, बालक, पुण्डरीक, मंजीठ, सारिवा, ऐन्द्री (इन्द्रायण), वितुन्नक (धनिया) प्रत्येक वस्तु एक एक पल, तैल १ आढ़क लेकर पाकविधि से तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल चार प्रकार से (नस्य, अभ्यंजन, परिषेक और बस्ति कर्म) प्रयोग करने पर उपद्रव युक्त वातरक्त को, अंगशूल को, सर्वत्र फैलने वाला वातरक्त को, पित्त को और ज्वर को नष्ट करता है, यह तैल बल और वर्ण को बढ़ाता है।*

मधुकस्य शतं द्राक्षा खर्जूराणि परूषकम्।
मधुकौदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च ॥ ९६ ॥
काश्मर्यकमित्येतच्चतुर्द्रोणे पचेदपाम्।
शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ॥ ९७ ॥
तथाऽऽमलककाश्मर्यविदारीक्षुरसैः समैः।
चतुर्द्रोणेन पयसा कल्कं दत्त्वा पलोन्मितम् ॥ ९८ ॥
कदम्बामलकाक्षोटपद्मबीजकशेरुकम्।
शृङ्गाटकं शृङ्गवेरं लवणां पिप्पलीं सिताम् ॥ ९९ ॥
जीवनीयैश्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत्।
नस्याभ्यञ्जनपानेषु बस्तौ चापि नियोजयेत् ॥ १०० ॥
वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे।
सर्वाङ्गैकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे ॥ १०१ ॥
सुकुमारकमित्येतद्वातासृगामयनाशनम्।
स्थिरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम् ॥ १०२ ॥

इति सुकुमारकतैलम्।

* श्री गंगाधरजी ने 'मधुयष्ट्या' इसके स्थान पर 'मधुपर्ण्या' पाठ दिया है। परन्तु अष्टांगसंग्रह में 'मधुयष्ट्या' ही पाठ है, यही संगत है।

(२) सुकुमारक तैल—तैल १ आढ़क, क्वाथार्थ मुलहठी १०० पल, द्राक्षा, खजूर, फालसा, मधूक (महुवा), ओदनपाकी (नील झिण्टी), मुञ्जातक, प्रत्येक एक एक प्रस्थ, गम्भारी फल १ आढ़क लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिये। अष्टमांश रहने पर छान लेना चाहिये, आमलकी रस १ आढ़क, कादम्बरी स्वरस १ आढ़क, विदारी रस १ आढ़क, गन्ने का रस १ आढ़क, दूध चार द्रोण, कल्कार्थ—कदम्ब, आंवला, अखरोट, कमल बीज, कशेरू, सिंघाड़ा, सोंठ, सैन्धा नमक, पिप्पली, सिता (मिश्री या दूर्वा), जीवनीय गण की दस ओषधियों का कल्क, मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिये। तैल के सिद्ध होने पर इसमें मधु १ प्रस्थ मिला देना चाहिये। इस तैल का प्रयोग, नस्य, अभ्यंग, पान और वस्ति कर्म में करना चाहिये। सब वातव्याधियों में, मन्यास्तम्भ में, हनुग्रह में, सर्वांग वात में, एकांग वात में, क्षतक्षीण में, क्षत ज्वर में इसका प्रयोग करना चाहिये। यह सुकुमारक तैल वातरक्त रोग को नष्ट करता है, वर्ण में स्थिरता लाता है, आरोग्य बल एवं पुष्टि देता है।*

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वं पञ्चमूलं पुनर्नवाम्।
रास्नामेरण्डमूलं च जीवनीयानि लाभतः॥ १०३॥
पलानां शतकैर्भागैर्बलापञ्चशतं तथा।
कोलबिल्वयवान्माषान्कुलत्थांश्चाढकोन्मितान्॥ १०४॥
काश्मर्याणां सुशुष्काणां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसि।

---

* 'मधुकस्य शतं' का अर्थ चक्रपाणि ने 'शतधा पाकेन मधुकपलशतात् सिद्धम्' यह अर्थ किया है। इसका स्पष्टीकरण अष्टांगसंग्रह में इस प्रकार किया है।

मधुयष्ट्याः पलं दत्त्वा तैलप्रस्थे चतुर्गुणे।
क्षीरे पचेच्छतं वारांस्तदेव मधुकाच्छते॥

तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, मुलहठी १ पल लेकर सिद्ध करे, इस प्रकार से एक एक पल करके मुलहठी १०० पल सिद्ध करनी चाहिये।

साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणं च शेषयेत् ॥ १०५ ॥
तैलद्रोणं पचेत्तेन दत्त्वा पञ्चगुणं पयः ।
पिष्ट्वा त्रिपलिकांश्चैव चन्दनोशीरकेशरान् ॥ १०६ ॥
पत्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम् ।
मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव तत्सिद्धं सार्वयौगिकम् ॥ १०७ ॥
वातरक्ते क्षते क्षीणे भारार्ते क्षीणरेतसि ।
वेपनोत्क्षिप्तभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम् ॥ १०८ ॥
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं विषमज्वरम् ।
हन्यात्पुंसवनं चैतत्तैलाग्र्यममृताह्वयम् ॥ १०९ ॥

इत्यमृताद्यं तैलम् ।

(३) अमृताख्य तैल—गिलोय, मुलहठी, ह्रस्व पंचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू) मिलित पुनर्नवा, रास्ना, एरण्ड मूल तथा जीवनीय गण की जो औषधियां मिल जायें प्रत्येक वस्तु १०० पल, बला ५०० पल बेर, विल्व, जौ, उड़द, कुलत्थी प्रत्येक एक एक आढ़क, काश्मरी के शुष्क फल १ द्रोण लेकर इनको धोकर, कूटकर १०० द्रोण जल (६४०० शराव) में क्वाथ करना चाहिये । जब चार द्रोण शेष रह जायें तब छान कर उतार लेना चाहिये । क्वाथ ४ द्रोण, तैल, एक द्रोण, दूध मुलहठी प्रत्येक वस्तु तीन तीन पल, मजीठ आठ पल लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये ।

यह तैल पान, अभ्यंजन आदि सब कार्यों में प्रयुक्त हो सकता है । वातरक्त को, क्षतक्षीण को, भार की पीड़ा को, शुक्र को, क्षीणता को, कम्पन या उत्क्षेपण से अस्थिभग्न होने को, सर्वांग रोग और एकांग रोग को, योनि रोग को, अपस्मार को, उन्माद को, विषम ज्वर को यह तैल नष्ट करता है, यह अमृता नामक तैल पुमान् प्रसूति को उत्पन्न करता है ।

पद्मवेतसयष्ट्याह्वफेनिलापद्मकोत्पलैः ।
पृथक्पञ्चपलैर्दर्भबलाचन्दनकिंशुकैः ॥ ११० ॥

जले शृतैः पचेत्तैलप्रस्थं सौवीरसंमितम् ।
लोध्रकालीयकोशीरजीवकर्षभकेशरैः ॥ १११ ॥
मदयन्तीलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः ।
प्रपौण्डरीककाश्मर्यमांसीमेदाप्रियङ्गुभिः ॥ ११२ ॥
कुंकुमस्य पलार्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च ।
महापद्ममिदं तैलं वातासृग्ज्वरनाशनम् ॥ ११३ ॥

इति महापद्मं तैलम् ।

(४) महापद्म तैल—क्वाथार्थं पद्म का प्रस्थ, वेतस (अशोक), फेनिल (वेर या उपोदिका), पद्माख, उत्पल (कमल), दर्भमूल, बला, ढाक के फूल, चन्दन प्रत्येक पांच पल लेकर अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर यह क्वाथ तैल १ प्रस्थ, सौवीरक, कांजी १ प्रस्थ, कल्कार्थ—लोध्र, कालीयक चन्दन, खस, जीवक, ऋषभक, नागकेशर, मदयन्ती (चमेली या मेंहदी), लता (अनन्तमूल), कमल का केशर, पद्माख, पुण्डरोक, काश्मरी (गम्भारी), जटामांसी, मेदा, और प्रियंगु प्रत्येक वस्तु आधा पल और मंजीठ एक पल लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये ।

तैल के सिद्ध हो जाने पर केशर आधा पल लेकर इसका पत्र कल्क के रूप में प्रक्षेप देना चाहिये । यह महापद्म तैल वात रक्त और ज्वर को नष्ट करता है ।

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम् ।
स्यात्पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः ॥ ११४ ॥
खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रदाहनुत् ।
आत्रेयेणाग्निवेशाय भाषितं हितकाम्यया ॥ ११५ ॥

इति खुड्डाकपद्मकतैलम् ।

(५) खुड्डाक पद्म तैल—पद्मपुष्प, उशीर, मुलहठी और हल्दी इनका क्वाथ करके, सर्ज (राल), मंजीठ, वीरा (शतावरी), काकोली

और चन्दन इनके कल्क से, तैल सिद्ध करना चाहिये, [क्वाथ तैल से चतुर्गुण, कल्क-तैल से, चतुर्थांश लेना चाहिये] यह खुड्डाक (अल्प) पद्मक तैल वातरक्त और दाह को नष्ट करता है। आत्रेय ने अग्निवेश की हित कामना से इसका उपदेश किया है।

शतेन यष्टिमधुकात्साध्यं दशगुणं पयः।
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे मधुकस्य पलेन तु।
सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥ ११६ ॥
मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे।
क्षीरे साध्यं शतकृत्वस्तदेव मधुकाच्छृतैः ॥ ११७ ॥
सिद्धं देयं विषोन्मादवातास्रश्वासकासनुत्।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम् ॥ ११८ ॥

इति शतपाकमधुपर्णीतैलम्।

(६)शतपाक मधुपर्णी तैल, शतपाक मधुयष्टि तैल—मुलहठी १०० पल, दूध १०० पल, तैल ४ द्रोण सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार एक सौ वार (एक एक पल मुलहठी से) तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल शतधापाक से सिद्ध होता है।

(७) मधुपर्णी (गिलोय)एक पल, कल्कार्थं, तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार एक सौ वार सिद्ध करना चाहिये। यह शतधा मधुपर्णी तैल है।

इसी प्रकार से मुलहठी १ पल, तैल १ प्रस्थ और दूध ४ प्रस्थ लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार एक सौ वार करने से १०० पल मुलहठी तैल में प्रविष्ट हो जाती है।

ये सिद्ध तैल विष, उन्माद, वातरक्त, श्वास, कास, पाण्डु रोग, हृदय रोग, वीसर्प, कामला और दाह को नष्ट करता है।*

* यहां पर गंगाधर सेन संमत पाठ दिया है तथा—
मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे।

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं तथा।
सहस्रशतपाकं वा वातासृग्वातरोगनुत् ॥ ११९ ॥
रसायनं श्रेष्ठतममिन्द्रियाणां प्रसादनम्।
जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम् ॥ १२० ॥

इति सहस्रपाकं शतपाकं वा बलातैलम्।

(८) बला तैल—बला के चतुर्गुण कषाय में, बला के चतुर्थांश कल्क से दूध के समान तैल सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार से एक सौ वार या हजार वार तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल वातरक्त रोग को नष्ट करता है। यह तैल उत्तम रसायन है, इन्द्रियों को निर्मल करता है, जीवनदायक, बृंहण, स्वर के लिये हितकारी, शुक्र दोष और रक्त दोष को नष्ट करता है। *

क्षीरे साध्यं शतकृत्वस्तदेवं मधुकाच्छते ॥
सिद्धं देयं विषोन्मादवातास्रश्वासकासनुत्।
हृत्पाण्डुरोगवीसर्प कामला दाहनाशनम् ॥

इस पाठ में मधुपर्णी के १०० पल से तेल सिद्ध करके, यह तैल एक प्रस्थ, मुलहठी ११० पल, जल एक द्रोण लेकर क्वाथ करके चतुर्थांश रहने पर इस क्वाथ में यह तैल सिद्ध करना श्रीगंगाधर सेन ने किया है। अष्टांगसंग्रह सम्मत पाठ ठीक है। यथा—

मधुयष्टया। पलं दत्वा तैलप्रस्थश्चतुर्गुणे। क्षीरे पचेच्छतं वारांस्तदेव मधुकाच्छते ॥

अर्थात् मुलहठी १ पल, तैल, १ प्रस्थ, दूध ४ लेकर पकाये, इस प्रकार सौ वार करने से मुलहठी १०० पल तैल में प्रविष्ट हो जाती है। तैल वही १ प्रस्थ पुरातन बरतना चाहिये।

यदि शतपाक मधुपर्णी तैल, शतपाक मधुयष्टी तैल ऐसे दो योग मान लें तो ठीक है अन्यथा अष्टांगसंग्रह का पाठ ही युक्त है।

* कोई कोई आचार्य बार बार तैल या स्नेहपाक में स्नेह का क्षय देखकर इसको एक वार ही सिद्ध कर लेते हैं।

(९) (१) तैल १ प्रस्थ, दूध १ प्रस्थ, गिलोय का क्वाथ ४ प्रस्थ लेकर इससे बिना कल्क के तैल सिद्ध करना चाहिये ।

(१०) तैल १ प्रस्थ, द्राक्षा रस ४ प्रस्थ लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये ।

(११) मुलहठी और काश्मरी का मिलित क्वाथ ४ प्रस्थ, तैल १ प्रस्थ लेकर बिना कल्क के तैल सिद्ध करना चाहिये । ये तीनों तैल वातरक्त रोग को नष्ट करते हैं ।

(१२) आरनाल (कांजी) १ आढ़क, तैल कांजी का चतुर्थांश, सर्ज्ज रस (राल) तैल के बराबर, घृत तैल के बराबर लेकर इनको पकाना चाहिये । जब पक जाय तब नीचे उतार कर इस तैल में से थोड़ा सा तेल लेकर बहुत से जल में मथानी से मथना चाहिये । मथ जाने पर इस तैल का लेप करने से ज्वरदाह नष्ट होता है ।

गुडूचीरसदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा ।
सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥ १२१ ॥
आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं घृतम् ।
प्रभूते मथितं तोयं ज्वरदाहार्तिनुत्परम् ॥ १२२ ॥
समधूच्छिष्टमाञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम् ।
पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद्वातरक्तरुजापहम् ॥ १२३ ॥

इति पिण्डतैलम् ।

(१३) पिण्डतैल—तैल १ प्रस्थ, मधूच्छिष्ट (मोम), मजीठ, सर्जरस (राल) और सारिवा चारों मिलित कल्क रूप तैल से चतुर्थांश, पानी ४ प्रस्थ लेकर पकाना चाहिये । इस पिण्डतैल की मालिश से वातरक्त की पीड़ा शान्त होती है । इसमें तैल वस्त्र से छानना नहीं चाहिये ।

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम् ।
परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा ॥ १२४ ॥

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत् ।
स्तम्भाक्षेपकशूलार्ते कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः ॥ १२५ ॥
तद्वद्गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः ।
निःक्वाथैर्जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक् ॥ १२६ ॥

(१४) परिषेचन—दशमुल मिलित ४० तोला, पानी ४ सेर, दूध १ सेर लेकर पाक करना चाहिये । जब केवल दूध रह जाये तो उतार कर इस दूध से वातप्रधान वातरक्त में परिषेक करना चाहिये । इसी प्रकार वातप्रधान वातरक्त में कवोष्ण घृत से परिषेक करना चाहिये । वातरक्त रोग में स्तम्भ, आक्षेप, शूल होने पर मधुर गण द्रव्यों से सिद्ध कवोष्ण चारों स्नेहों (वसा, तेल, घृत, मज्जा) से परिषेचन करना चाहिये । रोगी को दाह होता हो तो शीतल चारों स्नेहों से परिषेचन करना चाहिये । तेलमिश्रित गाय के दूध से या तेलमिश्रित भेड़ के दूध से अथवा तेलमिश्रित बकरी के दूध से स्तम्भादि लक्षणों में कवोष्ण दूध से तथा दाह होने पर शीतल दूध से परिषेक करना चाहिये । जीवनीय गण की ओषधियों के कवोष्ण क्वाथ से अथवा पंचमूल (महापंचमूल बिल्वादि पंचमूल) के कवोष्ण क्वाथ से स्तम्भादि में परिषेक करना चाहिये, शीतल क्वाथ से दाह आदि में परिषेक करना चाहिये ।

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम् ।
सेकार्थं तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते ॥ १२७ ॥

परिषेचन के लिये—द्राक्षा रस, इक्षु रस, मद्य, दधि, मस्तु, अम्ल कांजी, तण्डुल, मधु, शर्करा और पानी इनमें से किसी एक से वात प्रधान वातरक्त में परिषेचन करना चाहिये ।

कुमुदोत्पलपद्माद्यैर्मणिहारैः सचन्दनैः ।
शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम् ॥ १२८ ॥

(१५) प्रोक्षण स्पर्श—(१) वात रक्त में दाह होने पर शीतल

जल से सिक्त (गीले) कुमुदपत्र, कमल पत्र आदि से मणियों के हारों का चन्दन से प्रोक्षण तथा इनका स्पर्श हितकारी है ।

चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे ।
शयने पुलिनस्पर्शे शीतमारुतवीजिते ॥ १२९ ॥
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः ।
स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ॥ १३० ॥

(२) नदी तट के किनारे चन्द्र की किरणों से या पानी से (अथवा तुषार जल से सिक्त) रेशमी वस्त्र से अथवा कमल पत्र से आच्छादित बिस्तर पर सोना, बिस्तर पर शीतल वायु के झोंके, स्तनों तथा हाथों पर चन्दन का लेप की हुई प्रिय बोलने वाली इष्ट युवतियों का शीतल और सुखदायक स्पर्श, दाह, पीड़ा और क्लम को नष्ट करता है ।

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत् ।
मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः ॥ १३१ ॥

(१६) पित्त-रक्तप्रधान वातरक्त में लेप—(१) वातरक्त में यदि रक्तिमा और पीड़ा एवं दाह हो तो रक्त मोक्षण करके मुलहठी, पीपल की छाल, जटामांसी, गूलर की छाल, वीरा (काकोली), शाद्वल (नूतन तृण या नूतन तृण स्थान की मिट्टी) इनका लेप करना चाहिये ।

जलजैर्यवचूर्णैर्वा सयष्ट्याह्वपयोघृतैः ।
सर्पिषा जीवनीयैर्वा पिष्टैर्लेपोऽर्तिदाहनुत् ॥ १३२ ॥

(२) मुलहठी, दूध, घृत को जलज (कमल आदि के पुष्पों) के साथ अथवा जौ के चूर्ण के साथ पीस कर लेप करने से दाह नष्ट होता है । जीवनीय गण की ओषधियों को घृत के साथ पीस कर लेप करने से दाह नष्ट होता है ।

एलाः पियालं मधुकं बिसं मूलं च वेतसात् ।
आजेन पयसा पिष्ट्वा प्रलेपो दाहरोगनुत् ॥ १३३ ॥

एला (इलायची), पियाल, मुलहठी, बिस, वेतसमूल (अम्ल-वेतस का मूल या अशोक का मूल) इनको बकरी के दूध के साथ पीस कर लेप करने से दाह और रक्तिमा नष्ट होती है ।

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः ।
सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः ॥ १३४ ॥
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिवारणः ।
पित्तरक्तोत्तरे त्वेते,

पुण्डरीक काष्ठ, मंजीठ दारु हल्दी, मुलहठी, चन्दन, मिश्री, ऐरक (शरमूल), सत्तू, मसूर, खस और पद्माख इनका लेप साधारण वेदना, तथा शोफ को नष्ट करता है । पित्तरक्त प्रधान वातरक्त में ये लेप करने चाहियें ।

लेपान् वातोत्तरे शृणु ॥ १३५ ॥
वातघ्नैः साधिताः स्निग्धाः सक्षीरमुद्गपायसैः ।
तिलसर्षपपिण्डैर्वाऽप्युपनाहा रुजापहाः ॥ १३६ ॥
औदकप्रसहानूपवेशवाराः सुसंस्कृताः ।
जीवनीयौषधस्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने ॥ १३७ ॥
स्तम्भतोदरुगायासशोथाङ्गग्रहनाशनाः ।
जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा ॥ १३८ ॥
घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती छागलं पयः ।
लेपाः पिष्टास्तिलास्तद्वद्भृष्टाः पयसि निर्वृताः ॥ १३९ ॥
क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि च ।
कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वां वाऽनिलेऽधिके ॥ १४० ॥

वातप्रधान (उत्तान) वातरक्त पर लेप कहते हैं, सुनो ।

(३) वातनाशक भद्रदारु आदि से साधित स्निग्ध उपनाह; दूधयुक्त मूंग और पायस से बना उपनाह, तिल-सरसों के पिण्डों से किया उपनाह पीड़ा को नष्ट करते हैं । औदक (जल-चर), प्रसह, आनूप

मांस से बने वेशवार को संस्कृत करके उससे उपनाह करने पर। अथवा जीवनीय गण की दस ओषधियों को घृतादि स्नेह से युक्त करके उपनाह करने पर स्तम्भ, पीड़ा, तोद, आयास, शोक, अंगपीड़ा नष्ट होती है। जीवनीय गण की दस ओषधियों और तैलादि स्नेह अथवा दूध मिश्रित वसा से उपनाह करना चाहिये। सहचर (झिण्टी) का मूल, जीवन्ती बकरी का दूध और घृत इनका लेप, इसी प्रकार से तिलों को भून कर फिर दूध में निर्वापित कर पीस कर लेप, उमा (अलसी) को दूध में पीस कर इसका लेप, एरण्ड के फलों को पीस कर इनका लेप अथवा शताह्वा (सौंफ) को दूध में पीस कर इसका लेप वातरक्त में करना चाहिये।

समूलाग्रच्छदैरण्डक्काथे द्विप्रस्थिकं पृथक्।
घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम् ॥ १४१ ॥
कल्कार्थं जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम्।
हरिद्रोत्पलकुष्ठैलाशताह्वाश्वहनच्छदान् ॥ १४२ ॥
बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं काकुभं चापि साधयेत्।
मधूच्छिष्टं पलान्यष्टौ दद्याच्छीतेऽवतारिते ॥ १४३ ॥
शूलेनैवाऽर्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतेऽनिले।
वातरक्ते स्रुते भग्ने खञ्जे कुब्जे च शस्यते ॥ १४४ ॥

(४) एरण्ड मूल और एरण्ड पत्र का क्वाथ स्नेह से चतुर्गुण, घृत, तैल, आनूप देश के पशु पक्षियों की वसा और मज्जा [मिलित स्नेह दो प्रस्थ], गव्य दूध २ प्रस्थ, बकरी का दूध २ प्रस्थ, कल्कार्थ जीवनीय गण की दस ओषधियां, हरिद्रा, कमल, कुष्ठ, इलायची, शताह्वा, अश्वहन छद (कनेर के पत्ते) इन द्रव्यों को एक पल, काकुभ पुष्प (अर्जुन पुष्प) का एक पल लेकर यथा विधि स्नेह सिद्ध करना चाहिये। सिद्ध होने पर वस्त्र में से छान कर स्नेह की उष्णिमावस्था में ही मोम आठ पल मिला देनी चाहिये।

शीतल होने पर इसका लेप शूल से पीडित अंगों पर, सन्धिगत वायु में, वातरक्त में, अस्थि भग्न में, खंजत्व में (लंगड़ा कर चलने में) और कुष्ठ में तथा रक्तस्राव में करना चाहिये ।

शोफगौरवकण्ड्वाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे ।
मूत्रक्षारसुरापक्वघृतमभ्यञ्जने हितम ॥ १४५ ॥
पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैर्घृतम् ।
सिद्धं समधुशुक्तं स्यात्सेकाभ्यङ्गः कफोत्तरे ॥ १४६ ॥
क्षीरं तैलं गवां मूत्रं जलं च कटुकैः शृतम् ।
परिषेके प्रशंसन्ति वातरक्ते कफोत्तरे ॥ १४७ ॥

(१४) शोफ, गौरव (भारीपन), कण्डु आदि से युक्त कफ-प्रधान वातरक्त में मूत्र (गोमूत्र), क्षार, सुरा और घृत इनको पकाकर अभ्यंग करना चाहिये । पद्माख की छाल मुलहठी, शारिवा, घृत, और मधु शुक्त इनका लेप तथा इनसे सेक करना चाहिये । कटुक (त्रिकटु) आदि से शृत दूध, या कटुक आदि से शृत तैल या गोमूत्र, अथवा कटुक आदि से शृत घृत को कफप्रधान वातरक्त में परिषेक करना चाहिये ।

लेपः सर्षपनिम्बार्कहिंस्राक्षीरतिलैर्हितः ।
श्रेष्ठः सिद्धः कपित्थत्वग्घृतक्षीरैः ससक्तुभिः ॥ १४८ ॥

(१५) सरसों, नीम की छाल, आक की छाल, हिंस्रा, दूध और तिल इनका लेप वातरक्त में हितकारी है । सत्तू, घृत, दूध और कैथ की छाल इनका लेप भी वातरक्त में उत्तम है ।

गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम् ।
प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते वातकफोत्तरे ॥ १४९ ॥

(१६) वात-कफ प्रधान वातरक्त में गृहधूम (घर का धुंवासा), वच, कूठ, शताह्वा, हल्दी और दारुहल्दी इनका प्रलेप शूल को नष्ट करता है । मधुशिग्रु (रक्त शोधक भोजन) के बीज को धान्याम्ल के साथ

पीस कर कफप्रधान वातरक्त में थोड़ी देर के लिये इसका लेप करके पीछे से अम्लों से (कांजी आदि से) सिंचन करना चाहिये।

त्रिफलाव्योषपत्रैलास्त्वक्क्षीरीं चित्रकं वचाम् ।
बिडङ्गं पिप्पलीमूलं लोमशां वृषकत्वचम् ॥ १५० ॥
ऋद्धिं तामलकीं चव्यं समभागानि पेषयेत् ।
कल्कं लिप्तमयस्पात्रे मध्यान्हे भक्षयेत् ततः ॥ १५१ ॥
बर्जयेद्दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च ।
वातास्रे सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते परम् ॥ १५२ ॥

त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), तेजपत्र, इलायची, वंशलोचन, चित्रक, बचा, वायबिडंग, पिप्पलीमूल, लोमशा (जटामांसी), वांसे की छाल, ऋद्धि लांगली और चव्य इन वस्तुओं को समान भाग लेकर जल के साथ पीस लेना चाहिये। इस पिसे हुऐ कल्क का लोह के पात्र में प्रातःकाल लेप करके मध्याह्न में इस कल्क को खा लेना चाहिये, इस प्रकार से प्रतिदिन करना चाहिये। दधि, शुक्त, क्षार, विरोधी भोजन का परित्याग करना चाहिगे। शूल के पीड़ित त्रिदोषज वातरक्त में भी यह कल्क श्रेष्ठ है।

तगरं त्वक् शताह्वैला कुष्ठं मुस्तं हरेणुका ।
दारु व्याघ्रनखं चाम्लपिष्टं वातकफार्तिनुत् ॥ १५३ ॥
मधुशिग्रोर्हितं तद्वद्बीजं धान्यम्लसंयुतम् ।
मुहूर्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरे ॥ १५४ ॥

(१०) तगर, त्वक् (दालचीनी), सौंफ, इलायची बड़ी, मुस्ता, कुष्ठ, हरेणु, व्याघ्रनख और दारुहल्दी इनको कांजी के साथ पीसकर लोह पात्र में प्रातःकाल लेप करके मध्याह्न में इसको खाना चाहिये, इस प्रकार प्रति दिन करना चाहिये। इससे कफप्रधान वातरक्त नष्ट होता है।

बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च दोषाणां च बलाबलम् ।
चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित् ॥ १५५ ॥

(१) उपचार—पूर्वोक्त चिकित्सामार्ग में ऊहापोह (वितर्क) बुद्धि वाला वैद्य दोषों के स्थान विशेष और बल अबल को विचार कर चिकित्सा कर्म करे ।

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा ।
अतिवृद्ध्याऽनिले चादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ॥ १५६ ॥
व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः ।
तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत्कफमेदसी ॥ १५७ ॥

मेद या कफ के कारण मार्ग के बन्द हो जाने से वायु अतिशय बढ़ जाता है, इसलिये प्रारम्भ में स्नेहन और बृंहण कार्य नहीं करना चाहिये । इसके लिये कफ और मेद को क्षीण करने के लिये व्यायाम, शोधन अरिष्ट गोमूत्र पान, विरेचन, तक्र प्रयोग, तथा अभया प्रयोग (हरड़ का प्रयोग) करना चाहिये ।

बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह ।
वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम ॥ १५८ ॥
पुराणयवगोधूमशीध्वरिष्टसुरासवैः ।
शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च ॥ १५९ ॥
पश्चाद्धाते क्रियां कुर्याद्वातरक्तप्रसादनीम् ।
गम्भीरं रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेद्वा तद्विवर्जयेत् ॥ १६० ॥

(२) बोधिवृक्ष (अश्वत्थ, पीपल) के कषाय को मधु के साथ पीने से त्रिदोषज दारुण वातरक्त भी शान्त हो जाता है । पुरातन जौ, पुरातन गेहूं, मध्वरिष्ट, सुरा, आसव, तथा शिलाजतु, गुग्गुलु एवं माक्षिक (मधु) के प्रयोग से कफ और मेद के क्षीण हो जाने पर पीछे से वातरक्त-प्रसादनी क्रिया करनी चाहिये । गम्भीर वातरक्त में वायु से रक्त(मेद, मज्जा स्थित रक्त) आक्रान्त हो तो उसको छोड़ देना चाहिये ॐ।

रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु नियच्छति ।

ॐ अष्टांगसंग्रह का पाठ यहां ठीक है 'गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याद् वातेन वर्जयेत्' ।

भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥ १६१ ॥
तयोः क्रिया विधातव्या व्यधशोधनरोपणैः ।
कुर्यादुपद्रवाणां च क्रियां स्वान् स्वाच्चिकित्सितात ॥ १६२ ॥

(३) रक्तवृद्धि और पित्त की वृद्धि से आम (अपक्व) वात रक्त शीघ्र पक जाता है । इस पक्व वातरक्त के भिन्न होने से रक्त स्राव होता है, पक्व वातरक्त के विदग्ध होने से पूय का स्राव होता है । वृद्ध पित्त, वृद्ध रक्त कृत वातरक्त में व्रण के समान वेधन, शोधन अथवा रोपण से चिकित्सा करनी चाहिये । ❀

अरोचक आदि उपद्रवों की अपनी अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ।

तत्र श्लोकाः । हेतुस्थानानि मूलं च यस्मात्प्रायेण सन्धिषु ।
कुप्यति प्राक् च तद्रूपं द्विविधस्य च लक्षणम् ॥ १६३ ॥
पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च दोषाधिक्यमुपद्रवाः ।
साध्यं याप्यमसाध्यं च क्रिया साध्यस्य चाखिला ॥ १६४ ॥
वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा ।
महर्षिणाऽग्निवेशाय तथैवावस्थिकी क्रिया ॥ १६५ ॥

उपसंहार—महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश के लिये वातरक्त रोग के कारण, स्थान, मूलवह, जिस कारण से प्रायः करके सन्धियों में यह रोग होता है, कारण, लक्षण, दो प्रकार के भेद, पृथक् २ लक्षण, दोषाधिक, उपद्रव, साध्य, याप्य, असाध्यता, साध्य वात रक्त की सम्पूर्ण क्रिया (संक्षेप और विस्तार में चिकित्सा क्रिया) और आवस्थिकी चिकित्सा का उपदेश कर दिया है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने वातशोणित-
चिकित्सितं नाम नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

❀ यहां पर श्रीगंगाधरसेन ने 'भेद-शोधनदारणैः' यह पाठ दिया है । परन्तु अष्टांगसंग्रह के अनुसार 'भेद-शोधन-रोपणैः' वह पाठ चाहिये और दारण के स्थान पर रोपण क्रिया ही ठीक है ।

त्रिंशोऽध्यायः

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितमध्यायं
व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे योनि-व्यापच्चिकित्सा की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

तीर्थदिव्यौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः ।
पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते ॥ ३ ॥
विहरन्तं तपोयोगात् तत्त्वज्ञानार्थदर्शिनम् ।
कृष्णात्रेयं जितात्मानमग्निवेशोऽथ पृष्टवान् ॥ ४ ॥

तप और योग के कारण तत्त्वज्ञान से वेदादि अर्थों का साक्षात् करने वाले, जितेन्द्रिय कृष्णात्रेय जिस समय दिव्य ओषधियों, दिव्य गणों और नाना प्रकार के धातुओं और दिव्य शिलाओं से युक्त, देवता और सिद्ध, चारण आदि से सेवित हिमालय के पुण्य (पवित्र) पार्श्व में विहार कर रहे थे उस समय अग्निवेश ने प्रश्न किया—

भगवन् यदपत्यानां मूलं नार्यः परं नृणाम् ।
तद्विघातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः ॥ ५ ॥
तस्मात्तेषां समुत्पत्तिमुत्पन्नानां च लक्षणम् ।
सौषधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया ॥ ६ ॥

भगवन् ! पुरुषों की संतति का मूल-कारण स्त्रियां हैं, योनिगत रोगों से ही इन स्त्रियों का विनाश होता है । इसलिये योनि में स्थित इन रोगों की उत्पत्ति, इनके लक्षण और इनकी औषध को प्रजा के अनुग्रह की दृष्टि से सुनना चाहता हूं ।

इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः ।
विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ॥ ७ ॥

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ॥ ८ ॥

शिष्य अग्निवेश के ऐसा पूछने पर ऋषिवर आत्रेय ने कहा—

रोगसंग्रह (अष्टोदरीय) अध्याय में बीस योनिरोग कहे हैं। ये रोग स्त्रियों के मिथ्या आचरण से, आर्त्तव के दूषित होने से, बीजदोष (गर्भोत्पादक आर्त्तव दोष) से और दैव से (पूर्व कर्मों के कारण) होते हैं। इन बीस रोगों को पृथक् २ सुनो।

वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः ।
विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम् ॥ ९ ॥
स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा ।
करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान् ॥ १० ॥
सा स्यात्सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवाऽनिलात् ।

(१) जन्म से ही वातोल्वण प्रकृति वाली स्त्री के वातवर्धक आहार या चेष्टा के सेवन से बढ़ा हुई वायु योनि में आश्रय लेकर तोद, वेदना, स्तम्भ, पिपीलिका-सर्पण (चिउंटियों के चलने की सी प्रतीति), तथा कर्कशता, सुप्ति (संज्ञानाश), आयास (थकान) और वातजन्य अन्य रोगों को उत्पन्न करता है। वायु के कारण आर्त्तव-प्रवृत्तिकाल में शब्द और पीड़ा होती है, आर्त्तव झागदार, पतला और रूक्ष होता है।

व्यापत् कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत् ॥ ११ ॥
दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा ।
भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता ॥ १२ ॥

(२) लवण, कटु, अम्ल और क्षार आदि के अतिसेवन से पित्तजन्य योनिरोग होता है। इस पित्त से दूषित पित्तज योनिरोग में दाह, पाक, ज्वर तथा उष्णिमा होती है। आर्त्तव नीला, पीला, या श्वेत होता है। स्राव मात्रा में बहुत, गरम तथा मुर्दे की सी गन्ध से युक्त होता है।

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद् दूषयेत्स्त्रियाः ।

सशीतां पिच्छिलां कुर्यात्कण्डुग्रस्तात्पवेदनाम् ॥ १३ ॥
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्त्तववाहिनीम् ।

(३) अभिष्यन्दि आदि पदार्थों के कारण कफ बढ़कर स्त्रियों की योनि को दूषित कर देता है। इससे योनि, पिच्छिल, शीतल, खाज से युक्त तथा अल्पवेदना वाली और पाण्डुवर्ण हो जाती है। आर्त्तव पाण्डु (पीला) पिच्छिल (लसीला) होता है।

समश्नत्या रसान्सर्वान्दूषयित्वा त्रयो मलाः ॥ १४ ॥
योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः ।
सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥ १५ ॥

(४) पथ्य और अपथ्य को मिलाकर सब प्रकार के रसों को एक साथ खानेवाली स्त्री में तीनों वात आदि मल शरीर के सब रसों को दूषित करके योनि (गर्भाशय) में आश्रय लेकर अपने-अपने लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। इससे योनि में दाह (जलन) और शूल होती है तथा श्वेत और पिच्छिल स्राव बहता है।

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम् ।
अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे बीजेऽपि साऽप्रजा ॥ १६ ॥

(५) जब पित्तवर्धक या रक्तवर्धक वस्तुओं से पित्त के द्वारा रक्त दूषित हो जाता है तब आर्त्तवकाल में या विना आर्त्तवकाल के भी (मैनोरेजिया या मेटोरेजिया) योनि से बहुत रक्त जाता है, एवं गर्भ में बीज स्थित होने पर भी रक्त बहता है इसको, 'रक्तयोनि' कहते हैं हैं।*

योनिगर्भाशयस्थं चेत्पित्तं संदूषयेदसृक् ।
सारंजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम ॥ १७ ॥

---

* चक्रपाणि ने—'गर्भेऽपि सासृजा' के स्थान पर 'बीजेऽपि साप्रजा' पाठ माना है। जिसका अर्थ यह है कि रक्तयोनि में गर्भ के बीज ठहरने पर भी 'अप्रजा' अर्थात् उस योनि से प्रजा उत्पन्न नहीं होती है, गर्भ नहीं ठहरता, गर्भस्राव हो जाता है।

(६) योनि और गर्भाशय दोनों में स्थित दूषित पित्त जब आर्त्तव को दूषित कर देता है, तब उस योनि को 'अरजस्का' कहते हैं, इससे शरीर में कृशता और विवर्णता आ जाती है। 'अरजस्का' को 'अनार्त्तवा' भी कहते हैं।

योन्यामधावनात्कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः ।
सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ॥ १८ ॥

(७) योनि के न धोने से जन्तु (कृमि) उत्पन्न होकर योनि में खाज उत्पन्न करते हैं। इस खाज के कारण स्त्री पुरुष को अधिक चाहती है, इस योनि को 'अचरणा' कहते हैं।

पवनोऽतिव्यवायेन शोथसुप्तिरुजः स्त्रियाः ।
करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता ॥ १९ ॥

(८) अति मैथुन के कारण वायु कुपित होकर योनि में शोथ, सुप्ति (संज्ञानाश) और पीड़ा उत्पन्न कर देता है, इसको 'अतिचरणा' योनि कहते हैं।

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवंक्षणम् ।
रुजयन् दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥ २० ॥

(९) अतिबाला (१६ वर्ष से कम आयु की) स्त्री में मैथुन करने से वायु कुपित होकर पीठ, कटि और ऊरु तथा वंक्षण (पेड़ू) में पीड़ा करता और योनि को दूषित कर देता है, इसको 'प्राक्चरणा' योनि कहते हैं।

गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिश्वासाद्विनिग्रहात् ।
वायुः क्रुद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥ २१ ॥
पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम् ।
कफवातामयव्याप्ता सा स्याद्योनिरुपप्लुता ॥ २२ ॥

(१०) गर्भवती स्त्री जब कफवर्धक आहार का सेवन करती है तथा वमन और श्वास के वेगों को रोकती है, तब वायु और कफ बढ़कर योनि में आकर योनि को दूषित कर देते हैं। इससे पाण्डुवर्ण, श्वेत, वेदनायुक्त

स्राव या कफ स्रवित होता है। योनि कफ और वायु के रोगों से व्याप्त रहती है, इसको 'उपप्लुता' योनि कहते हैं।

पित्तलायो नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्।
पित्तसंमूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥ २३ ॥
शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत्।
श्रोणिवंक्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता ॥ २४ ॥

(११) पित्त प्रकृति वाली स्त्री पुरुष के साथ सहवास करते समय जब छींक या उद्गार को रोक लेती है, तब पित्त से मूर्छित वायु योनि को दूषित कर देता है। इससे योनि में शोथ, स्पर्श की असहिष्णुता, नीले-पीले रक्त का स्रवित होना, पीठ में पीड़ा तथा ज्वर होता है, इसको 'परिप्लुता' योनि कहते हैं।

वेगोदावर्तनाद्योनिमुदावर्तयतेऽनिलः।
सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्य विमुञ्चति ॥ २५ ॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्।
रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥ २६ ॥

(१२) अधोवेगों के (मल, मूत्र, वायु, रज आदि) रोकने से कुपित वायु योनि को घेर लेता है। इस योनि से रज पीड़ा के साथ कठिनाई पूर्वक वायु से रुका हुआ बहता है। आर्त्तव के स्रवित होने पर स्त्री को सुख मिलता है। रज के ऊपर की ओर जाने से विद्वान् लोग इस को 'उदावर्त्तिनी' योनि कहते हैं।

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः।
कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥ २७ ॥
रक्तमार्गावरोधिन्या सा तया कर्णिनी मता।

(१३) अप्राप्त गर्भ के निष्क्रमण समय में गर्भ के कारण रुका हुआ वायु कफ और रक्त से मूर्छित होकर योनि में 'कर्णिका' उत्पन्न कर

देता है। रक्त के मार्ग को रोकने वाली इस कर्णिका से युक्त योनि को 'कर्णिनी' कहते हैं।

रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ॥ २८ ॥
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता।

(१४) जब रूक्षगुण की प्रधानता से वायु उत्पन्न गर्भ को बार-बार नष्ट कर देता है, तब उसको 'पुत्रघ्नी' कहते हैं, यह 'पुत्रघ्नी' दूषित रक्त से (वायु के कारण दूषित) उत्पन्न होती है।

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः ॥ २९ ॥
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः।
वक्रयत्याननं योन्याः सास्थिमांसानिलार्तिभिः ॥ ३० ॥
भृशार्तिं मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता ॥ ३१ ॥

(१५) भोजन से अति तृप्त स्त्री जब मैथुन करती है, मिथ्या स्थिति में मैथुन करने से स्त्री में अन्न से पीड़ित वायु योनि के स्रोतों में स्थित होकर योनि के मुख को टेढ़ा कर देता है। अस्थि और मांस में वात-जन्य वेदना होती है, मैथुन के समय अत्यन्त वेदना होती है, इसको 'अन्तर्मुखी' योनि कहते हैं।

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन्।
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात्सूचीमुखी तु सा ॥ ३२ ॥

(१६) जिस कन्या के गर्भस्थ होने पर माता के रूक्षादि आहार-विहार से अथवा योनि-आरम्भक बीज के रूक्ष होने से, गर्भनिर्माता वायु योनि को दूषित कर देता है, तब इस कन्या की योनि को सूक्ष्म द्वार वाली कर देता है, इस योनि को 'सूचीमुखी' योनि कहते हैं।

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान्प्रकुपितोऽनिलः।
कुर्याद्विण्मूत्रसङ्गार्तिं शोषं योनिमुखस्य च ॥ ३३ ॥

(१७) जो स्त्री मैथुन के समय उपस्थित हुए मल-मूत्रों के वेगों को रोकती है, उस स्त्री में वायु कुपित होकर मल-मूत्र के अवरोध से

उत्पन्न पीड़ा को उत्पन्न करती है, तथा योनिमुख को शुष्क कर देती है, इसको 'शुष्कयोनि' कहते हैं।

षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम्।
सरुजं नीरुजं वापि या स्रवेत्सा च वामिनी ॥ ३४ ॥

(१८) जिस योनि से छठे या सातवें दिन वेदना के साथ या विना वेदना के गर्भाशय में पहुंचा हुआ शुक्र बाहर आ जाये उसको 'वामिनी' योनि कहते हैं।

बीजदोषात्तु गर्भस्थमारुतोपहताशया।
नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा ॥ ३५ ॥

(१९) जिस स्त्री के जन्मकाल में बीजदोष से गर्भाशय आरम्भक वायु के कारण गर्भाशय नष्ट हो जाता है, वह स्त्री ऋतु से द्वेष करती है (ऋतु नहीं आती) तथा उसके स्तन नहीं उभरते। इस योनि को 'षण्डी' कहते हैं, यह असाध्य है। ※

विषमाद्दुःखशय्यातिमैथुनात्कुपितोऽनिलः।
गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः ॥ ३६ ॥
असंवृतमुखी सार्तिः सफेनार्त्तववाहिनी।
मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववंक्षणशूलिनी ॥ ३७ ॥

(२०) विषम ऊंचे नीचे, दुःखकारक, कठिन, कष्टदायक स्थिति में लेट कर मैथुन करने से प्रकुपित वायु स्त्री के गर्भाशय और योनिमुख को निःस्तब्ध अर्थात् शिथिल कर देती है, तब योनि का मुख खुला रह जाता है, इसमें पीड़ा होती है, तथा रूखा, फेनवाला आर्त्तव स्रवित होता है। जब इस विवृत्ता योनि में मांस बढ़ जाये तथा पर्वों (सन्धियों) में, एवं वंक्षण में वेदना होती हो तो इसको 'महायोनि' कहते हैं।

इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः।

※ पीछे शरीरस्थान में कहा भी है—"यदा ह्यस्याः शोणितं गर्भाशय बीजभागं प्रकोपमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति ॥"

न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता ॥ ३८ ॥
तस्माद् गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून् ।
गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार से बीस योनिरोग लक्षण समेत कह दिये हैं । इन रोगों से पीड़ित योनि शुक्र को धारण नहीं करती । इसलिये स्त्री गर्भ को धारण नहीं करती और स्त्री को बहुत से रोग हो जाते हैं । वात आदि दोषों के कारण गुल्म, अर्श, प्रदर आदि नाना रोग हो जाते हैं ।

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आद्ये द्वे पित्तदोषजे ।
परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मिके मते ॥ ४० ॥
कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः ।

इन बीस रोगयुक्त योनियों में पूर्व की चार छोड़ कर शेष सोलह योनियों में प्रारम्भ की 'सासृजा' और 'अरजस्का' ये दो पित्तजन्य हैं । 'परिप्लुता' और 'वामिनी' ये दो वात-पित्तजन्य हैं । 'कर्णिनी' और 'उपप्लुता' योनि वात-कफजन्य है, दस योनियां वातजन्य हैं ।

योनिव्यापत् की सामान्य चिकित्सा

देहं वातादयस्त्वासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि ॥ ४१ ॥
स्नेहनस्वेदबस्त्यादि वातलास्वनिलापहम् ।
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च ॥ ४२ ॥
श्लेष्मलासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः ।
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत् ॥ ४३ ॥

इन रोगों से पीड़ित स्त्रियों के शरीरों को वातादि दोष अपने लक्षणों से पीड़ित करते हैं इसलिये वातजन्य योनिरोगों में स्नेहन, स्वेदन, बस्ति-कर्म आदि वातनाशक कार्य करने चाहियें । पित्तजन्य योनि रोगों में रक्त-पित्तनाशक, शीतल क्रिया करनी चाहिये । कफजन्य योनिरोगों में रूक्ष और उष्ण कर्म करना चाहिये । सन्निपातजन्य योनिरोगों में तीनों दोषों की चिकित्सा को मिलाकर करना चाहिये । संसृष्ट योनिरोग (परिप्लुता,

वामिनी) में वात-पित्तोक्त मिश्रित कर्म, कर्णिनी उपप्लुता में वातकफोक्त मिश्रित कर्म करने चाहिये ।

स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्पुनः ।
पाणिना नामयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत्पुनः ॥ ४४ ॥
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत् ।
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता स्त्रियां मता ॥ ४५ ॥

विशेष कर्म—योनि में स्नेहन और स्वेदन करके दुःस्थित (अनुचित रूप में स्थित) योनि को पुनः भली प्रकार से स्थापित करना चाहिये । जिह्मा (कुटिला) योनि को हाथ द्वारा सीधा करना चाहिये । संवृता योनि को हाथ से बढ़ाना चाहिये । बाहर निकली योनि को हाथों से अन्दर प्रविष्ट करना चाहिये । विवृत्ता योनि को हाथ की मदद से फिर परिवर्त्तित कर देना चाहिये । अपने स्थान से खिसकी हुई योनि स्त्रियों में शल्यरूप होती है ।

सर्वां व्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः ।
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत् ॥ ४६ ॥
सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ।

सब प्रकार के योनि-रोगों में स्त्री को स्नेहन और स्वेदन देकर पंचकर्मों (वमनादिकों) को मृदु रूप में करना चाहिये । जब वमन और विरेचन द्वारा ऊर्ध्व और अधः सब प्रकार का शोधन हो जाये, तब शेष कर्म करने चाहिये ।

विशेष चिकित्सा

वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम् ॥ ४७ ॥
औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ।
सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत् ॥ ४८ ॥
अक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः ।
स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः ॥ ४९ ॥

(१) वातजन्य योनिरोगों में वात-व्याधिनाशक कर्म हितकारी है ।

औदक, आनूप मांसों से, अथवा तिल तण्डुल मिलित दूध से, या वातनाशक भद्रदारु आदि औषधियों को दूध के साथ मिलाकर इनसे कुम्भी-स्वेद या नाड़ी स्वेद देना चाहिये। सैन्धव लवण और तैल को मिलाकर इससे योनि को चुपड़ करके प्रस्तर-स्वेद या संकर-स्वेद देकर स्त्री को गरम पानी से स्नान कराके वातनाशक मांसरसों के साथ भोजन कराना चाहिये।

बलाद्रोणद्वयक्काथे घृततैलाढकं पचेत्।
स्थिरापयस्याजीवन्तीवीरर्षभकजीवकैः ॥ ५० ॥
श्रावणीपिप्पलीमूलपीलुमाषाख्यपर्णिभिः।
शर्कराक्षीरकाकोलीकाकनासाभिरेव च ॥ ५१ ॥
पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरसिद्धं पेयं यथाबलम्।
वातपित्तकृतान् रोगान्हत्वा गर्भं दधाति तत् ॥ ५२ ॥

(२) बला तैल—बला ६४ शराव, जल अष्टगुण शेष चतुर्थांश दो द्रोण, स्नेह, घृत और तैल मिलित एक आढ़क, दूध ४ आढ़क, कल्कार्थ—स्थिरा (शालपर्णी), पयस्या (क्षीरविदारी), जीवन्ती, वीरा (काकोली), ऋषभक, जीवक, श्रावणी (मुण्डेरी), पिप्पलीमूल, पालु, माषपर्णी, शर्करा, क्षीरकाकोली, काकनासा (कडआ टूटी) मिलित कल्क स्नेह से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस तैल को बलानुसार पीना चाहिये। यह बला-तैल वात-पित्तजन्य रोगों को नष्ट करके गर्भस्थापन करता है। *

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दपरूषकैः।
पुनर्नवाद्विरजनीकाकनासासहाचरैः ॥ ५३ ॥

---

* अष्टांगसंग्रह में पिप्पलीमूल के स्थान पर मागधिका (पिप्पली) का ग्रहण किया है। चक्रपाणि के अनुसार 'श्रावणीपिप्पलीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः' चाहिये। इससे मुद्गपर्णी, पीलुपर्णी (मूर्वा या मोरट) और माषपर्णी का ग्रहण होता है।

शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात् ।
साधितं योनिवातघ्नं गर्भदं परमं पिबेत् ॥ ५४ ॥

(३) काश्मर्यादि घृत—घृत १ प्रस्थ, जल ४ प्रस्थ, कल्कार्थ—काश्मरी, त्रिफला, द्राक्षा, कासमर्द, परूषक (फालसा), पुनर्नवा, हल्दी, दारुहल्दी, शुकनासा, सहाचर (झिण्टी), शतावरी और गिलोय प्रत्येक वस्तु एक-एक अक्ष लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये । यह घृत वातजन्य योनिदोषनाशक और गर्भदायक है ।

पिप्पलीः कुञ्चिकाजाजी वृषकं सैन्धवं वचाम् ।
यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकं तथा ॥ ५५ ॥
पिष्ट्वा प्रसन्नयाऽऽलोड्य घृतभृष्टानि दापयेत् ।
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ॥ ५६ ॥

(४) पिप्पली, किंशुक (ढाक के फूल), अजाजी (जीरा), वासा, सैन्धा नमक, वच, यवक्षार, अजमोद, शर्करा और चित्रक इनको पीसकर आलोड़न योग्य प्रसन्ना (मदिरा) में घोलकर इसको घृत में भूनकर खाना चाहिये । इससे योनिशूल, पार्श्वशूल, हृदयरोग, गुल्म और अर्शरोग नष्ट होता है । [जैज्जट ने इनसे उत्कारिका बनाकर खाने को लिखा है ।] *

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम् ।
पिबेत्सलवणैर्मद्यैः पिप्पलीकुञ्चिके तथा ॥ ५७ ॥

(५) वृषक (वासा), बिजौरे की मूल, मदयन्तिका (मल्लिका या मेंहदी) इनको लवण सैन्धव और मद्य के साथ पीसकर पीना चाहिये । पिप्पली और उपकुंचिका (काला जीरा) इनको लवण और मद्य के साथ पीसकर पीना चाहिये ।

रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः पिबेच्छूले पयः शृतम् ।
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचयेत् ॥ ५८ ॥

* अष्टांगसंग्रह में 'किंशुक' का पाठ नहीं है ।

(६) रास्ना, गोखरू और वासा अष्टमांश, चतुर्गुण जल में दूध सिद्ध करके योनिशूल में देना चाहिये। गिलोय, त्रिफला और दन्ती के कवोष्ण क्वाथों से योनि में परिषेचन करना चाहिये।

सैन्धवं तगरं कुष्ठं बृहती देवदारु च।
समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम् ॥ ५९ ॥
गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः।
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः ॥ ६० ॥

(७) सैन्धव, तगर, कुष्ठ, बड़ी कटेरी, देवदारु इनको समान भाग लेकर इनके कल्क से तैल सिद्ध करके योनि में धारण करना चाहिये, यह दर्दनाशक है।

तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत्।
वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ॥ ६१ ॥
वातार्तायाः पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः।

(८) तैल १ प्रस्थ, गोमूत्र दो प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ, कल्कार्थ—कटेरी, देवदारु और यूथिका (जूही) प्रत्येक एक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये। वात से पीड़ित योनि में इस तैल से सेचन, अभ्यंग तथा पिचु (फाहा) धारण करना चाहिये। वात से पीड़ित योनि में पिचु (फाहा) धारण करना चाहिये और फिर उत्तर बस्ति द्वारा तैल योनि में प्रविष्ट करना चाहिये।

हिंस्राकल्कं तु वातार्ता कोष्णमभ्यज्य धारयेत् ॥ ६२ ॥
पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा।

(९) वात से पीड़ित योनि में तैल का अभ्यंग करके हिंस्रा के कवोष्ण कल्क को योनि में धारण करना चाहिये। पित्त से पीड़ित योनि में पंच वल्कल (गूलर, बरगद, पीपल, पिलखन, अम्लवेतस इनकी छाल का) का कल्क धारण करना चाहिये। कफ से पीड़ित योनि में श्यामादि

(रोग-भिषग्जितीय अध्याय में वर्णित श्यामा, त्रिवृत्, चतुरंगुल आदि) का कल्क योनि में धारण करना चाहिये । *

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ॥ ६३ ॥
शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च ।
पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्याणि भिषजा तथा ॥ ६४ ॥

(१०) पित्तजन्य योनिरोगों में पित्तहर शीतल सेचन, अभ्यंग और शीतल पिचु (फाहा) बरतने चाहिये । स्नेहन के लिये पित्तनाशक ओषधियों से सिद्ध घृत बरतने चाहियें ।

शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः संप्रपीडयेत् ।
रसेन क्षीरतुल्येन पचेत्तेन घृताढकम् ॥ ६५ ॥
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः ।
पियालैश्चाक्षकैः पिष्टैर्द्वियष्टिमधुकैः पचेत् ॥ ६६ ॥
सिद्धे शीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम् ।
सितादशपलोन्मिश्राल्लिह्यात्पाणितलं ततः ।
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं च तत् ॥ ६७ ॥
क्षतं क्षयं रक्तपित्तं कासं श्वासं हलीमकम् ।
कामलां वातरक्तं च वीसर्पं हृच्छिरोग्रहम् ।
उन्मादारत्यपस्मारान् वातपित्तात्मकान् जयेत् ॥ ६८ ॥

इति बृहच्छतावरीघृतम् ।

(११) शतावरी घृत—घृत १ आढक, क्वाथार्थ—रस से परिपूर्ण शतावरीमूल ४ तुला (५० शराव) लेकर इनको कूटकर रस निकाल लेना चाहिये । इस रस के बराबर दूध लेना चाहिये । कल्कार्थ—जीवनीय गण की दस ओषधियां, शतावरी, मृद्वीका, फालसा, पियाल, द्वियष्टी मधुक (मुलहठी दो भाग अथवा जलज और स्थलज भेद से दो प्रकार की मुलहठी) प्रत्येक एक-एक अक्ष लेकर इनको पीसकर इनके कल्क से घृत

* कविराज श्री गंगाधर 'श्यामा' से अनन्तमूल लेते हैं ।

सिद्ध करना चाहिये । घृत के सिद्ध और शीतल हो जाने पर मधु आठ पल, पिप्पली आठ पल, सिता दस पल मिलाना चाहिये ।

अदृष्ट के नाश के लिये प्रथम ब्राह्मणों को खिलाकर इसमें से पीछे से पाणितल (कर्ष प्रमाण) मात्रा खानी चाहिये । यह घृत योनिदोष-नाशक, रक्तदोषनाशक, शुक्रदोषनाशक, वृष्य, पुंमान् संततिदायक है । इसके सेवन से क्षतक्षय, रक्तपित्त, श्वास, कास, हलीमक, कामला, वातरक्त, वीसर्प, हृदयग्रह, शिरोग्रह, वातजन्य या पित्तजन्य उन्माद, अरति और अपस्मार को नष्ट करता है । यह शतावरी घृत कृष्णात्रेय से प्रशंसित है ।

एवमेव क्षीरसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम् ।
गर्भदं पित्तलानां च योनीनां स्याद्भिषग्जितम् ॥ ६९ ॥

(१२) इसी प्रकार से जीवनीय दस ओषधियों के कल्क से दूध से उत्पन्न घृत को सिद्ध करना चाहिये । यह घृत गर्भदाता तथा पित्तजन्य रोगों की शान्ति के लिये वैद्यों द्वारा प्रशंसित है ।

योन्याः श्लेष्मप्रदुष्टाया वर्तिः संशोधनी हिता ।
वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता ॥ ७० ॥
भावितं पयसाऽर्कस्य यवचूर्णं ससैन्धवम् ।
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेव्या सुखाम्बुना ॥ ७१ ॥
पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधनी ॥ ७२ ॥

(१३) योनिशोधक वर्त्तियां—कफ से दूषित योनि में संशोधनी वर्त्ति हितकारी हैं । (१) वराह के पित्त में वस्त्रों को बहुत बार भावित करके इससे बनी वर्त्ति को योनि में रखना हितकारी है । (२) जौ के चूर्ण को सैन्धा नमक में मिलाकर आक के दूध में भावित करके इन से बनी वर्त्ति को थोड़ी देर के लिये (बहुत समय के लिये नहीं) धारण करना चाहिये । फिर निकाल कर गरम पानी से योनि का परिषेक

करना चाहिये। (३) पिप्पली, मरिच, उड़द, सौंफ, कूठ, सैन्धा नमक इनको जल के साथ पीसकर तर्जनी अंगुली के समान मोटी वर्त्ति बनाकर योनि में धारण करनी चाहिये, यह वर्त्ति योनिशोधक है।

उदुम्बरशलाटूनां द्रोणमब्द्रोणसंयुतम्।
सपञ्चवल्ककुलकमालतीनिम्बपल्लवम् ॥ ७३ ॥
निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
लाक्षाधवपलाशत्वङ्निर्यासैः शाल्मलेन च ॥ ७४ ॥
पिष्टैः सिद्धं च तत्तैलं पिचुर्योनौ रुजापहः।
सशर्करैः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम् ॥ ७५ ॥
पिच्छिला विवृता कालदुष्टा योनिश्च दारुणा।
सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति ॥ ७६ ॥

(१४) उदुम्बर शलाटु (गूलर का फल) एक द्रोण, पंचवल्कल (बरगद, गूलर, पीप्पल, पिलखन और अम्लवेतस इनकी छाल), कुनकपत्र, (अष्टांगसंग्रह मत से तिलकपत्र) मालती पत्र, और निम्ब पत्र मिलित एक द्रोण, जल एक द्रोण लेकर रात्रि में भिगो कर रख देना चाहिये। प्रातःकाल इस जल को छान कर इसमें तैल १ प्रस्थ, कल्कार्थं लाख, धवत्वक्, निर्यास, पलाशत्वक् निर्यास, शाल्मलि निर्यास (सिम्बल का गोंद) इनको कल्क रूप में पीस कर इनसे तैल सिद्ध करना चाहिये। इस तैल से रूई के फाये को गीला करके योनि में धारण करना चाहिये, इससे पीड़ा मिटती है। गूलर तथा पंचवल्कल, कुनक, मालती और निम्ब पत्र के शीतल क्वाथ में शर्करा मिलाकर इससे योनि में परिषेचन करना चाहिये।

इस तैल के प्रयोग से पिच्छिला, विवृत्ता, चिरकाल दुष्टा, दारुण (भयानक, कठिन) योनि भी सात दिन के प्रयोग से स्वस्थ हो जाती है और गर्भ धारण करती है।

उदुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात्तिलात्।

तैलं काथेन तस्यैव सिद्धं धार्यं च पूर्ववत् ॥ ७७ ॥

(१५) तिलों को गूलर के दूध से छः बार भावना देकर इन तिलों को पीड़ कर तैल निकालना चाहिये। इस तैल को गूलर की छाल के चतुर्गुण क्काथ में सिद्ध करना चाहिये। सिद्ध तैल का पिचु योनि में रखना चाहिये और गूलर के कषाय में शर्करा मिलाकर योनि का सेचन करना चाहिये।

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः ।
जम्ब्वाम्रमध्यकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः ॥ ७८ ॥
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः ।
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥ ७९ ॥
तैलप्रस्थं पिचुं तस्माद्योनौ च प्रणयेत्ततः ।
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहबस्तिं च दापयेत् ॥ ८० ॥
पिच्छिलस्राविणी योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा ।
उत्ताना चोन्नता शूना सिध्येत्सस्फोटशूलिनी ॥ ८१ ॥

(१६) तैल १ प्रस्थ, अजा (बकरी) का मूत्र २ प्रस्थ, बकरी का दूध २ प्रस्थ, कल्कार्थ—धाय के पत्र, आंवले के पत्ते, स्रोतोज (शंखनाभि या रसांजन), मुलहठी, कमल, जामुन की गुठली, आम अनार की छाल, कच्चे गूलर प्रत्येक वस्तु एक एक अक्ष लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस तैल का पिचु योनि में धारण करना चाहिये और इस तैल से उत्तरबस्ति देनी चाहिये [श्री गंगाधर के सिद्धान्त से जल से सिंचन करना चाहिये।] कटि, पीठ, त्रिक (कूल्हा) पर इस तैल का मर्दन करना चाहिये, स्नेह बस्ति देनी चाहिये।

इस तैल से पिच्छिला, स्रावयुक्त योनि, विप्लुता, उत्ताना, उन्नता, शोथ युक्त, छाले एवं शूल से युक्त योनि स्वस्थ हो जाती है।

करीरधवनिम्बार्कवेणुकोशाम्रजाम्बवैः ।
जिङ्गिनीवृषमूलानां क्काथैर्माध्वीकशीधुभिः ॥ ८२ ॥

संयुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योन्यास्रवविनाशनम् ।
कुर्यात्सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा त्रिफलारसैः ॥ ८३ ॥

(१७) करीर, धव, नीम, आक, वेणु (वांस) कोषाम्र (क्षुद्र आम, आंवला), जामुन, जिंगणी (जिंगण वृक्ष) का मूल, वांसा मूल इनके पृथक् पृथक् क्वाथ में माध्वीक और सीधु दोनों को मिलाकर धोने से योनि-स्राव नष्ट होता है । अथवा त्रिफला के क्वाथ में तक्र, गोमूत्र, और शुक्त मिलाकर योनि का प्रक्षालन करना चाहिये ।*

पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगा मधुना हिताः ।

(१८) पिप्पली चूर्ण को मधु के साथ, लोह भस्म को मधु के साथ, अथवा हरड़ को मधु के साथ योनिस्राव में खाना हितकारी है ।

श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्रा वस्तयो हिताः ॥ ८४ ॥
पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः ।
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं मतम् ॥ ८५ ॥

(१८) कफजन्य योनि में कटु बहुत तथा मूत्र मिश्रित बस्तियां हितकारी हैं । पित्तजन्य योनि में मधुर ओषधियों और दूध से सिद्ध बस्तियां, वात जन्य योनि में तैल और अम्ल से युक्त बस्तियां हितकारी हैं । सन्निपात जन्य योनिरोग में तीनों दोषों में कहे हुए साधारण कर्म करने चाहियें ।

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च ।
ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम् ॥ ८६ ॥

(१९) रक्तयोनि में वातादि के वर्णों से रक्त के वर्ण को देखकर

* अष्टांगसंग्रह में कुछ वस्तुएं अधिक दी हैं यथा—

अर्कनिम्बाम्रकोशाम्रबिल्वबूकधवोद्भवैः ।
करीरजिंगणीजम्बूकरंजार्जुनशिग्रूजैः ।
पलाशसिध्रकोत्थैश्च कषायैः धावनं परम् ।
शुक्तशीधुमधून्मिश्रैः योनेः स्रावनिवारणम् ॥

तथा वातादि दोष के अनुबन्ध को देखकर दोषोनुसार जातिसूत्रीयोक्त रक्तस्थापन औषध करनी चाहिये ।

तिल चूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा ।
क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् ॥ ८७ ॥

(२०) तिल चूर्ण, दधि, घृत, फाणित, (राब), सुअर की चर्बी इनको मधु में मिलाकर पीना चाहिये, इससे वातजन्य रक्तप्रदर नष्ट होता है ।

वराहस्य रसो मेध्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके ।
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्वनागरैर्वा युतं दधि ॥ ८८ ॥
पयस्योत्पलशालूकबिसकालीयकाम्बुदान् ।
सपयःशर्कराक्षौद्रानेकशोऽसृग्दरे पिबेत् ॥ ८९ ॥

(२१) वात प्रधान प्रदर से कुलत्थ रस सहित शूकर के मांस रस को शर्करा, मधु, मुलहठी चूर्ण और सोंठ के चूर्ण तथा दधि को मिलाकर, पयस्या (क्षीरविदारी), उत्पल, शालूक (जलज कन्द या कमलडोरा) विस, कालीयक (चन्दन भेद), अम्बुद (ह्रीबेर), दूध, शर्करा, मधु, इनमें से एक-एक को रक्तप्रदर में पीना चाहिये । ❀

पाठाजम्ब्वाम्रयोर्मध्यं शिलोद्भेदं रसाञ्जनम् ।
अम्बष्ठकीं मोचरसं समङ्गां वत्सकत्वचम ॥ ९० ॥
बाह्लीकातिविषे बिल्वं मुस्तं लोध्रं सगैरिकम् ।
कट्फलं मरिचं शुण्ठीं मृद्वीकां रक्तचन्दनम् ॥ ९१ ॥
कट्वङ्गवत्सकानन्तां धातकीं मधुकार्जुनम् ।
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥ ९२ ॥
तानि क्षौद्रेण सयोज्य पिबेत्तण्डुलवारिणा ।

❀ अष्टांगसंग्रह के लक्षण सुश्रुत में देखिये—
'अष्ठादरं भवेत्सर्वं सांगमर्दं सवेदनम् ।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं मदोमूर्च्छा भ्रमस्तृषा ॥' इत्यादि ।

(२२) पुष्यानुग चूर्ण—पाठा (अम्बष्ठा), जामुन की गुठली, आम की गुठली (मज्जा), शिलाभेद (पाषाणभेद), रसांजन, अम्बष्ठा (पाठाभेद दो बार होने से दुगना), सिम्बल का गोंद, समंगा (मंजीठ या लाजवन्ती), कुटज की छाल, वाल्हीक (केसर या हींग), अतिविषा, लोध, बेलगिरी, मुस्ता, गेरू, कट्वंग (श्योनाक), मुलहठी, शुण्ठी, मृद्वीका, लालचन्दन, कट्फल, वत्सक (इन्द्रजौ), अनन्ता (शारिवा), धातकी (धाय के फूल), मधुक, मुलहठी जलज और स्थलज भेद से दो प्रकार की अथवा दो भाग), अर्जुनछाल इनको पुष्य नक्षत्र में (अदृष्ट अनुग्रह के लिये) उखाड़कर सबको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को मधु में मिलाकर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये।

अर्शःसु चातिसारेषु रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥ ९३ ॥
दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ।
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम् ॥ ९४ ॥
स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य विनिवर्तयेत् ।
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ॥ ९५ ॥

इति पुष्यानुगचूर्णम् ।

(२३) अर्शरोग तथा अतिसार में जो रक्तस्राव होता है, उसको और बालकों के आगन्तुज रोगों को यह चूर्ण नष्ट करता है। स्त्रियों के योनिदोष, श्वेत, नीले, पीले तथा श्याव या अरुण वर्ण रजोदोष को यह बलपूर्वक नष्ट कर देता है। यह पुष्यानुग चूर्ण आत्रेय से प्रशंसित है।

तण्डुलीयकमूलं च सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
रसाञ्जनं च लाक्षां च छागेन पयसा पिबेत् ॥ ९६ ॥
पत्रकल्कौ घृते भृष्टौ राजादनकपित्थयोः ।

(२३) तण्डुलीयक (रक्त अल्प मारीष चौलाई) की मूल को मधु के साथ मिला कर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये। रसांजन

(रसौंत) या लाक्षा को बकरी के दूध के साथ पीना चाहिये। ॐ राजादन (खिरनी) के पत्रकल्क को या कपित्थ (कैथ) के पत्रकल्क को घृत में भून कर खाने से वे पित्त और वायु को नष्ट करते हैं।

पित्तानिलहरौ पैत्ते सर्वथैवास्रपित्तजित् ॥ ९७ ॥

(२४) पित्तजन्य रक्तप्रदर में सर्वथा रक्तपित्ताधिकारोक्त औषध करनी चाहिये।

मधूकं त्रिफलां लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु।
मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ तु कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ॥ ९८ ॥

(२५) कफजन्य रक्तप्रदर में—मुलहठी, त्रिफला, लोध, मुस्ता, सौराष्ट्रिका (फिटकरी) और मधु इनको मद्य के साथ पीना चाहिये, नीम की छाल और गिलोय के चूर्ण को मद्य के साथ पीना चाहिये।

विरेचनं महातिक्तं पित्तजेऽसृग्दरे पिबेत्।
हितं गर्भपरिस्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत् ॥ ९९ ॥

(२६) पित्तजन्य रक्तप्रदर में—विरेचन (त्रिवृतादि चूर्ण) पीना चाहिये या कुष्ठोक्त महातिक्त घृत और गर्भपरिस्राव के लिये जातिसूत्रीय अध्याय में जो चिकित्सा कही है, वह यहां पर करनी चाहिये।

काश्मर्यकुटजक्वाथे सिद्धमुत्तरबस्तिना।
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम् ॥ १०० ॥

(२७) काश्मरी (गम्भारी) फल और कुटज वृक्ष की छाल के चतुर्गुण क्वाथ में घृत सिद्ध करके उत्तर बस्ति से देना चाहिये। यह रक्तयोनि, अरजस्का योनि और पुत्रघ्नी योनि में हितकारी है।

मृगाजाविवराहासृग्दध्यम्लक्षौद्रसर्पिषा।
अरजस्का पिबेत्सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा ॥ १०१ ॥

ॐ असृग्दर के लक्षण सुश्रुत में देखिये—
असृग्दरं भवेत्सर्वं सांगमर्दं सवेदनम्।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं मदो मूर्च्छा भ्रमस्तृषा ॥ इत्यादि

(२८) मृग, बकरी, भेड़, सूअर इनका रक्त, दधि का अम्ल, मधु और घृत इनमें से किसी एक को अरजस्का योनि वाली स्त्री को पीना चाहिये अथवा जीवनीय दस ओषधियों के कल्क से सिद्ध दूध पीना चाहिये ।

कर्णिन्यचरणाशुष्कयोनिप्राक्चरणासु च ।
कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरबस्तिना ॥ १०२ ॥
गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम् ।
मधुना किण्वचूर्णं वा दद्यादचरणापहम् ॥ १०३ ॥
स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोफहरं च तत् ।

(२९) कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि, प्राक्चरणा और कफवातज योनि में उत्तर बस्ति से तैल देना चाहिये । क्षौम वस्त्र को गाय के पित्त या मछली के पित्त में इक्कीस वार भावना देकर इसको योनि में रखना चाहिये । अथवा किण्व (मद्यकिट्ट) के चूर्ण को मधु में मिलाकर योनि में रखना चाहिये । इससे अचरणा योनि रोग नष्ट होता है, ये स्रोतों के शोधन, क्लेद, शोथ और कण्डू नाशक हैं ।

वातघ्नैः शतपाकैस्तु तैलैः प्रागतिचारणी ॥ १०४ ॥
आस्थाप्या चानुवास्या च स्वेद्या चानिलसूदनैः ।
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारैरुपनाहैश्च युक्तितः ॥ १०५ ॥

(३०) प्राक्चरणा और अतिचरणा योनि में वातनाशक (वात रोगोक्त) तैलों से, शतपाक तैलों से आस्थापन और अनुवासन देना चाहिये । वातनाशक स्नेह-द्रव्यों से स्वेदन, वातनाशक भोजन देने चाहियें तथा वातनाशक द्रव्यों के स्नेह से मिश्रित करके इनसे उपनाह बांधना चाहिये ।

शताह्वायवगोधूमकिण्वकुष्ठप्रियङ्गुभिः ।
बलाखुपर्णिकास्नेहैः संयावा धारणे मताः ॥ १०६ ॥

(३१) शताह्वा (सौंफ), जौं, गेहूं, किण्व, कूठ, प्रियंगु, बला

और आखुपर्णी इनको घृतादि स्नेह के साथ मिला कर इनसे याव (उत्कारिका या इनके कल्क से आलक्तक पत्रों पर लेप करके) बनाकर योनि में धारण करने चाहिये ।

वामिन्युपप्लुतानां च स्नेहस्वेदादिकः क्रमः।
कार्यस्ततः स्नेहपिचुस्ततः संतर्पणं भवेत् ॥ १०७ ॥

(३२) वामिनी और उपप्लुता योनि में स्नेह, स्वेद (और विरेचन) विधि वरतनी चाहिये । इसके पीछे योनि में स्नेह पिचु रखना चाहिये, इससे सन्तर्पण होता है ।

शल्लकीजिङ्गिनीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः ।
कषायैः साधितः स्नेहपिचुः स्यद्विप्लुतापहः ॥ १०८ ॥

(३३) शल्लकी (वृक्ष विशेष), झिंगणी, जामुन छाल, धव छाल, पंच वल्कल (बरगद, गूलर, पिप्पल, पिलखन और अम्लवेतस) इनके कषाय में तैलादि स्नेह सिद्ध करके इस स्नेह का पिचु विप्लुता योनि में रखना चाहिये । कषाय स्नेह से चतुर्गुण होना चाहिये ।

कर्णिन्यां वर्तिका कुष्ठपिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः ।
बस्तमूत्रकृता धार्या सर्वं च श्लेष्मनुद्धितम् ॥ १०९ ॥

(३४) कर्णिका योनि में—कुष्ठ, पिप्पली, आक के पत्ते, सैन्धव लवण इनको बकरे के मूत्र में पीस कर बत्ति बना कर योनि में धारण करनी चाहिये, सर्वत्र श्लेष्मनाशक कर्म करना चाहिये ।

त्रैवृतं स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः ।
दशमूलपयोबस्तिश्चोदावर्तानिलार्तिषु ॥ ११० ॥
त्रैवृतेनानुवास्या च बस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः ।
एतदेव महायोन्यां स्रस्तायां च विधीयते ॥ १११ ॥

(३५) उदावर्त्त या वात रोगों में—त्रिवृत् का प्रयोग, स्नेहन, स्वेदन, ग्राम्य मांसरस, आनूप मांसरस, औदक मांसरस, दशमूल से सिद्ध गाय का दूध और बस्ति हितकारी है । त्रैवृत स्नेह (घृत, तैल और

वसास्नेह) से अनुवासन देना चाहिये । महायोनि में तथा सुस्त (ढीली) योनि में उत्तर बस्ति देनी चाहिये ।

वराहकुक्कुटवसा घृतं च मधुरैः शृतम् ।
पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात्क्षौमलक्तकैः ॥ ११२ ॥
प्रसुप्तां सर्पिषाऽभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेश्य च ।
बध्नीयाद्वेशवारस्य पिण्डेनाऽऽमूत्रकालतः ॥ ११३ ॥

(३६) वराह वसा, कुक्कुट वसा और घृत इस यमक के साथ मधुर (जीवनीय) ओषधियों के कल्क मिला कर इसको महायोनि में लगाना चाहिये । महायोनि को अन्तः प्रविष्ट करके घृत से लिप्त रेशम के वस्त्र से इसको बांध देना चाहिये । प्रसुप्ता (जिस योनि में संज्ञा नाश हो गया है) योनि में घृत का लेप करके दूध से स्वेदन करके इसको अन्तः प्रविष्ट करना चाहिये । पीछे से वेशवार से बांध देना चाहिये । इस वेशवार को मूत्र त्याग की इच्छा होने तक बंधा रहने देना चाहिये, मूत्र त्याग की इच्छा होने पर खोल देना चाहिये ।

यच्च वातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत् ।
सर्वव्यापत्सु मतिमान्महायोन्यां विशेषतः ॥ ११४ ॥
नहि वातादृते योनिर्नारीणां संप्रदुष्यति ।
शमयित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ॥ ११५ ॥

(३७) वात-रोगों की जो चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा सब योनि-रोगों में, खास कर महायोनि में करनी चाहिये । क्योंकि वायु के विना स्त्रियों की योनि दूषित नहीं होती । इसलिये प्रथम वात दोष का शमन करके अन्य दोष की चिकित्सा करनी चाहिये ।

मूलकल्कं तु रोहीतात्पाण्डुरे प्रदरे पिबेत् ।
जलेनामलकाद्बीजं कल्कं वा ससितामधुम् ॥ ११६ ॥
मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्च ताम् ।

(३८) श्वेत वर्ण प्रदर में—रोहितक मूल (रोहेड़े की मूल)

के कल्क को जल के साथ पीना चाहिये। आंवले की गुठली के चूर्ण को सिता (मिश्री) और मधु के साथ चाटना चाहिये। अथवा आंवले के चूर्ण को या आंवले के रस को मधु के साथ चाटना चाहिये। अथवा लोध्र के कल्क को बरगद के कषाय के साथ पीना चाहिये।

न्यग्रोधत्वक्कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत् ॥ ११७ ॥
आस्रावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत्।
प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा धारयेन्मधुना कृतम् ॥ ११८ ॥
योन्या स्नेहाक्तया लोध्रप्रियङ्गुमधुकस्य च।
धार्या मधुयुता वर्तिः कषायाणां च सर्वशः ॥ ११९ ॥

(३९) योनि से स्राव होने पर—बरगद के कषाय से या लोध्र के कल्क से भावित रेशम के वस्त्र को योनि में धारण करना चाहिये। अथवा बरगद की छाल या लोध्र की छाल को बारीक पीस कर मधु से पतली बना कर इसमें क्षौम वस्त्र को भिगोकर योनि में धारण करना चाहिये। लोध्र, प्रियंगु और मुलहठी इनको पीसकर मधु मिला कर इन से बनी वर्त्ति को स्नेह से लिप्त योनि में धारण करना चाहिये। लोध्रादि के कषायों अथवा कषाय रस वाले द्रव्यों से बने कषाय की वर्त्ति का सेकादि में प्रयोग करना चाहिये (अथवा बार-बार प्रयोग करना चाहिये)।

स्रावच्छेदार्थमभ्यक्तां धूपयेद्वा घृताप्लुतैः।
सरलागुग्गुलुयवैः सतैलकटुमत्स्यकैः ॥ १२० ॥

(४०) योनिस्राव को बन्द करने के लिये योनि में स्नेह का अभ्यंग करके तैल, कटुमत्स्य (प्रोष्ठी मत्स्य), सरल काष्ठ, गुग्गुलु और जौ इनको पीसकर घृत मिला कर इनसे धूप न देना चाहिये।

कासीसं त्रिफला कांक्षी समङ्गाऽऽम्रास्थि धातकी।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ॥ १२१ ॥

(४१) पिच्छिला योनि में कासीस, त्रिफला, कांक्षी (फिटकरी),

समंगा (मजीठ), आम की गुठली, धाय के फूल इनके चूर्ण को मधु के साथ मिला कर लगाना चाहिये, इससे योनि में स्वच्छता आती है। ※

पलाशसर्जजम्बुत्वक्समङ्गामोचधातकी।
सपिच्छिला परिक्लिन्ना स्तम्भनः कल्क इष्यते ॥ १२२ ॥

पलाश (ढाक), सर्ज वृक्ष, धातकी फूल, समंगा (मजीठ), मोच (कच्चा केला) और जामुन की छाल इनके कल्क का योनि में लेप करने से, पिच्छिलता, क्लिन्नता (आर्द्रता) नष्ट होती है और योनि में स्तम्भन (स्राव-निरोध) होता है। ※

स्तब्धानां कर्कशानां च पिण्डो मार्दवकारकः।
धारयेद्वेशवारं वा पायसं कृशरां तथा ॥ १२३ ॥
दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तौवरः कल्क एव वा।
चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम् ॥ १२४ ॥

(४२) स्तब्ध और कर्कश योनि में कोमलता उत्पादक कार्य करना चाहिये। इसके लिये योनि में वेशवार, कृशरा (तिल-तण्डुल की खिचड़ी) या पायस (खीर) कवोष्ण धारण करनी चाहिये। दुर्गन्ध वाली योनि में जिन द्रव्यों में कषाय रस हों उन द्रव्यों के चूर्ण का कल्क अथवा तुवर (अरहर) का कल्क योनि में धारण करना चाहिये। सब गन्ध वाले द्रव्यों का चूर्ण या कषाय (गन्ध द्रव्य, कुष्ठ, चन्दन, उशीरादि या चन्दनादि तैल में कथित द्रव्य) का परिषेक अथवा कल्क सब प्रकार की गन्ध को दूर करता है।

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः।
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ॥ १२५ ॥

इस प्रकार से योनि के शुद्ध होने पर स्त्री गर्भ धारण करती है।

※ कविराज श्री गंगाधर ने कांक्षी से अरहर की मूल लिया है।

※ अष्टांगसंग्रह में सुश्रुतोक्त आरग्वधादि वर्ग से भी परिषेचन करने का विधान है।

प्राकृत (अविकृत) और दोष रहित शुक्र के सिंचन होने पर परलोक से पूर्व कर्मों के कारण जीवन का संचार होने पर गर्भ-स्थिति होता है।

पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ।
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ॥ १२६ ॥

गर्भोत्पत्ति में शुक्र भी कारण है इसलिये शुक्र की परीक्षा करनी चाहिये। यदि शुक्र दूषित हो तो पुरुष की इन्द्रिय (शुक्र) की काले, पीले, पाण्डुर वर्णों द्वारा परीक्षा करके जिस २ दोष वाला शुक्र हो, पुरुष का पंच कर्मों से (वमन, विरेचनादि) शोधन करके उस उस दोष-नाशक ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये।

भवन्ति चात्र। सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः।
उक्ता विस्तरशः सम्यङ् मुनिना तत्त्वदर्शिना ॥ १२७॥

योनिरोगों के कारण, लक्षण और चिकित्सा का तत्त्वदर्शी मुनि ने भली प्रकार से विस्तार से उपदेश कर दिया है।

पुनरेवाग्निवेशस्तु पप्रच्छ भिषजां वरम् ।
आत्रेयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयाऽनघ ॥ १२८ ॥
रोगाध्याये समुद्दिष्टा ह्यष्टौ पुंसामशेषतः ।
तेषां हेतुं भिषक्श्रेष्ठ दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम् ॥ १२९ ॥
चिकित्सितं च कार्त्स्न्येन क्लैब्यं यच्च चतुर्विधम् ।
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः ॥ १३० ॥
तेषां निदान लिङ्गं च चिकित्सां चैव तत्त्वतः ।
समासव्यासभेदेन ब्रूहि नो भिषजांवर ॥ १३१ ॥

शुक्र-दोष

इसके आगे अग्निवेश ने वैद्यों में श्रेष्ठ आत्रेय के पास जाकर उससे पूछा—हे अनघ ! आपने रोगाध्याय (अष्टोदरीय) में पुरुषों के आठ शुक्र दोष कहे हैं, उनके कारण, दुष्ट और अदुष्ट शुक्र का स्वरूप, सम्पूर्ण रूप में चिकित्सा, चार प्रकार की क्लीवता, योनि रोगों के उपद्रवों में जो

प्रदर कहा है, इस प्रदर के निदान, लक्षण और चिकित्सा का संक्षेप और विस्तार से आप हमें उपदेश कीजिये । *

तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः ।
बीजं यस्माद् व्यवायेषु हर्षयोनिसमुत्थितम् ॥ १३२ ॥
शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु ।

शुश्रूषा करने वाले अग्निवेश के लिये मुनिश्रेष्ठ आत्रेय ने कहा—पुरुष का शुक्र कामोत्तेजन रूप हर्ष के कारण, मैथुन के अवसरों में उत्पन्न होकर वह 'बीज' कहा जाता है, इसलिये अब इसी शुक्र का उपदेश करता हूं, सुनो—

यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् ॥ १३३ ॥
न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ।

जिस प्रकार धान्य आदि का बीज अकाल में (अनुचित समय में बेमौसम), वर्षा या पानी अथवा कृमि, कीट या अग्नि से दूषित होकर अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार से पुरुषों का भी शुक्र दूषित होकर नहीं जमता, वह भी अंकुरित नहीं होता ।

अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् ॥ १३४ ॥
अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ।
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् ॥ १३५ ॥
नारीणामरसज्ञात्वात् स्रवणाज्जरया तथा ।
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥ १३६ ॥
भयात्क्रोधादतीसाराद्व्याधिभिः कर्षितस्य च ।
वेगाघातात्क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात् ॥ १३७ ॥
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।
शुक्रं संदूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः ॥ १३८ ॥

* क्लीबता चार प्रकार की है । जैसे—बीज के उपघात से, ध्वज भंग से, बुढ़ापे के कारण और शुक्र के क्षय से ।

शुक्र-दोष के कारण—अति मैथुन से, व्यायाम से, असात्म्य (शरीर की प्रकृति के प्रतिकूल) वस्तुओं के सेवन से, अकाल (अनुचित समय में, विना ऋतु काल) में रजस्वला के साथ मैथुन करने से, अयोनि (गुदा, मुष्टि आदि) में मैथुन करने से, सर्वथा मैथुन न करने से, अति रूक्ष, कषाय, तिक्त, लवण, अम्ल और उष्ण पदार्थों के सेवन से, रति-रस को न जानने वाली स्त्रियों से मैथुन करने, अर्थात् विना कामना की स्त्री से मैथुन करने से, बुढ़ापे के कारण, चिन्ता से, शोक से, अविस्रम्भ अर्थात् विना स्त्री के अनुराग के मैथुन करने से, शस्त्र, क्षार या अग्नि से आघात पहुंचने पर, भय से, क्रोध से, अतिसार से, रोगों से कृश हो जाने पर, शुक्र के उपस्थित वेग को रोकने से, क्षत (अभिघात) से, रक्तादि धातुओं के दूषित हो जाने से, दोष पृथक् पृथक् अथवा समस्त रूप में रेतोवहा (शुक्रवहा) सिराओं में पहुंच कर शुक्र को जल्दी से दूषित कर देते हैं। अब इसका पृथक् पृथक् उपदेश करेंगे।

फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम्॥ १३९॥

शुक्र के आठ दोष—(१) फेनिल (झागदार), (२) तनु (पतला), (३) रूक्ष, (४) विवर्ण (५) पूति (दुर्गन्ध युक्त), (६) पिच्छिल, (७) अन्य धातु से मिलित, और अवसादि ये आठ दोष शुक्र के हैं।

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात्।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते॥ १४०॥

वायु से दूषित शुक्र—झागदार, पतला, रूक्ष और कठिनाई से थोड़ा सा बाहर आता है, इस प्रकार का दूषित शुक्र गर्भ के योग्य नहीं होता।

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्॥ १४१॥
श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्।

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात्क्षतादपि ॥ १४२ ॥
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ।
वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि ॥ १४३ ॥
कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम् ।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ॥ १४४ ॥

पित्त से दूषित शुक्र—नीले या पीले रंग का, अति उष्ण, दुर्गन्ध युक्त, इसके क्षरण के समय शिश्न (लिंग) में जलन होती है। कफ के कारण मार्गों के अवरुद्ध होने से शुक्र अति पिच्छिल हो जाता है। स्त्रियों के साथ अति मैथुन करने से, चोट से, क्षत हो जाने से प्रायः रक्त से मिश्रित शुक्र आता है। मल-मूत्र और शुक्र के उपस्थित वेग को रोकने से कुपित वायु शुक्र को सरण मार्ग में रोक देती है, जिससे कि शुक्र ग्रथित (गांठ दार) होकर कठिनाई से बाहर आता है, इसको 'अवसादि' कहते हैं। इस प्रकार से शुक्र के आठों दोषों के लक्षणों समेत व्याख्या करदी है।

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥ १४५ ॥

शुद्ध शुक्र का लक्षण—शुद्ध शुक्र स्निग्ध, घन (घट्ट), ईषत् पिच्छिल (स्वल्प पिच्छिल) होना, मधुर अविदाहि तथा शुद्ध स्फटिक के समान ज़रासी नीली झांई लिये श्वेत वर्ण होता है।

[मधुर शब्द से कुछ तो मधुर रस या मधुर विपाक लेते हैं। परन्तु कोई २ मधुर शब्द से न अम्ल और न क्षार उदासीन प्रतिक्रिया वाला समझते हैं। परन्तु जब रक्त एवं मूत्र दोनों में मृदु क्षार क्रिया है, फिर शुक्र में मृदु क्षार क्रिया क्यों नहीं मानी जाये। इस लिये 'मधुर' शब्द से विपाक में मधुर लेना चाहिये।]

वाजीकरणयोगोक्तैरुपयोगैः सुखैर्हितैः ।
रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा ॥ १४६ ॥
दुष्टं यदा भवेद्रेतस्तदा तत्समुपाचरेत् ।

शुक्र-दोष चिकित्सा

शुक्रदोष चिकित्सा—जिस समय शुक्र में उपरोक्त आठ दोष हों तो व बाजीकरण प्रयोगों से, रक्त पित्त नाशक योगों से, या योनिरोग नाशक प्रयोगों से, चिकित्सा करना हितकारी है।

घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च ॥ १४७ ॥

(२) जीवनीय घृत, या च्यवनप्राशावलेह अथवा शिलाजतु का प्रयोग शुक्र दोषों को नष्ट कर देते हैं।

गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति ।

(३) वात से दूषित शुक्र में—निरूह बस्तियां तथा अनुवासन बस्तियां हितकारी हैं। एवं ब्राह्म रसायन या अभयामलकीय रसायन उत्तम है।

वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः ॥ १४८ ॥
अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम् ।
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् ॥ १४९ ॥

(४) पित्त से दूषित शुक्र में—विवर्णता या पूतिगन्ध (दुर्गन्ध) होने पर विरेचन देना हितकारी है। मागधी रसायन (वर्द्धमान पिप्पली रसायन), अमृत लौह (अमृतसार लौह)* त्रिफला रसायन उत्तम है।

कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद्भल्लातकस्य च ।
अन्यधातूपसंसृष्टं शुक्रं वीक्ष्य भिषक् क्रियाम् ॥ १५० ॥
यथादोषं प्रयोज्यं स्याद्दोषधातुभिषग्जितम् ।

(५) कफजन्य अति पिच्छिलता को भल्लातक रसायन नष्ट करता है। अन्य वात आदि दोष से युक्त शुक्र में दोषानुसार स्निग्ध उष्ण (वात

---

* अमृतसार लौह नाम से इस ग्रन्थ में कोई प्रयोग नहीं है। लौह रसायन के नाम से रसायनाध्याय में प्रयोग है। इसी विधि से अमृतसार (कान्तलौह) की रसायन बनाकर प्रयोग करना चाहिये। अथवा श्री गंगाधरसेन के मत से रसतंत्रोक्त अमृतसार लौह बरतना चाहिये।

में), स्निग्ध शीत (पित्त में), रूक्ष उष्ण (कफ में) चिकित्सा करनी चाहिये, दोषानुसार तथा धातु अनुसार चिकित्सा करनी उत्तम है।

सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः ॥ १५१ ॥
प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः ।
इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम् ॥ १५२ ॥

(६) घृत, दूध, मांसरस, शालि धान्य, जौ, गेहूं, सांठी चावल, विशेषकर बस्तिकर्म (उत्तर बस्ति) शुक्र रोगों में हितकारी है। इस प्रकार से आठों शुक्रदोषों की आत्रेय मुनि ने चिकित्सा कह दी है।

रेतोदोषोद्भवं क्लैब्यं यस्माच्छुद्ध्यैव सिध्यति ।
अतो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश यथातथम् ॥ १५३ ॥

हे अग्निवेश ! शुक्रदोष के कारण उत्पन्न क्लैब्य रोग विरेचनादि संशोधन द्वारा शुद्ध होता है, इसलिये क्लैब्य रोग का पूर्ण रूप से तुझे उपदेश करता हूं।

क्लैब्य रोग

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात् ।
क्लैब्यं संपद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ॥ १५४

क्लैब्य रोग चार प्रकार का है—बीजोपघात (अष्टविध शुक्र दोष से उत्पन्न) से, ध्वज (शिश्न) के उपघात से, जरावस्था से और शुक्र के क्षय से पुरुषों में क्लैब्य रोग उत्पन्न होता है, इस क्लैब्य रोग के सामान्य लक्षण सुनो।

सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ।
न याति लिङ्गशैथिल्यात्कदाचिद्याति वा यदि ॥ १५५ ॥
श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः ।
म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत्क्लैब्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥
सामान्यलक्षणं ह्येतद्विस्तरेण प्रवक्ष्यते ।

क्लैब्य के सामान्य लक्षण—निरन्तर मैथुन (विषय) की कामना करने

वाला पुरुष प्रिया, वश्या (आज्ञाकारिणी) स्त्री के साथ लिंग शिथिलता के कारण मैथुन नहीं कर सकता, अथवा यदि कभी मैथुन कर भी लेता है तो मैथुन के श्रम से उसके श्वास चढ़ जाता है, शरीर पर पसीना आ जाता है और शुक्र-क्षरण के अभाव से संकल्प और चेष्टा व्यर्थ हो जाती है, इसके कारण शिश्न शिथिल (म्लान) होकर, निर्वीर्य (शक्तिरहित) हो जाता है, ये क्लैब्य के साधारण लक्षण हैं। विस्तार से प्रत्येक लक्षण सुनो–

शीतरूक्षाल्पसंक्लिष्टविरुद्धाजीर्णभोजनात् ॥ १५७ ॥
शोकचिन्ताभयत्रासात्स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात्।
अभिचारादविस्रम्भाद्रसादीनां च संक्षयात् ॥ १५८ ॥
वातादीनां च वैषम्यात्तथैवानशनाच्छ्रमात्।
नारीणामरसज्ञत्वात्पञ्चकर्मोपचारतः ॥ १५९ ॥

बीजोपघात से उत्पन्न क्लैब्य के लक्षण—शीतल, रूक्ष, अल्प, संक्लिष्ट (दूषित), विषम और असात्म्य भोजन के सेवन से; शोक, चिन्ता, भय अथवा त्रास से, स्त्रियों के अतिसेवन से, अभिचार से, अविस्रम्भ अर्थात् स्त्रियों का पुरुष के प्रति अनुराग न होने वा विपरीत द्वेष होने से, रसादि धातुओं के क्षय से, वातादि धातुओं के विषम होने से, विरुद्ध भोजन से, अध्यशन अर्थात् पूर्व आहार के अजीर्ण होने पर भोजन करने से, श्रम से, स्त्रियों के स्वभाव को न जानने से, पंचकर्मों के मिथ्या आचरण से, शुक्र बीज के उपघात से क्लैब्य रोग उत्पन्न होता है।

बीजोपघाताद् भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः।
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ॥ १६० ॥
हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः।
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः ॥ १६१ ॥
बीजोपघातजं क्लैब्यं ध्वजभङ्गकृतं शृणु।

इस बीजोपघात से उत्पन्न क्लीबता के कारण रोगी पाण्डुवर्ण और दुर्बल होजाता है, वह स्त्रियों के बीच अल्प प्राण तथा अल्प हर्ष (उत्ते-

जना) वाला होता है। पुरुष को हृदयरोग, पाण्डुरोग, कामलारोग, तमक श्वास, श्रम, छर्दि, अतिसार, शूल, कास, ज्वर हो जाते हैं। बीजोपघातजन्य क्लैब्य का उपदेश कर दिया, अब ध्वजभंगकृत क्लीबता के विषय में सुनो।

अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धाजीर्णभोजनात् ॥ १६२ ॥
अत्यम्बुपानाद्विषमात्पिष्टान्नगुरुभोजनात्।
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद् व्याधिकर्षणात् ॥ १६३ ॥
कन्यानां चैव गमनाद्योनिगमनादपि।
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ॥ १६४ ॥
दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्रुताम्।
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत्कामहर्षितः ॥ १६५ ॥
चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः।
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ॥ १६६ ॥
काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवात्।
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ॥ १६७ ॥

ध्वजभंगकृत क्लीबता—अति अम्ल-लवण क्षार के सेवन से, विरुद्ध भोजन तथा असात्म्य भोजन से, बहुत अधिक पानी पीने से, विषम भोजन से, पिष्ट अन्न (पीठी आदि से बने पदार्थ) से और गुरु भोजन से, दही, दूध, और आनूप मांस के सेवन से, रोगों से कृशता उत्पन्न हो जाने से, कन्याओं (बालिकाओं) के साथ मैथुन करने से, योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों में मैथुन करने पर, चिरकालीन रोगों से पीड़ित वा जिस स्त्री ने बहुत काल से मैथुन छोड़ रक्खा हो उससे और रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने से, दुर्गन्ध योनि, दूषित योनि और परिस्रुत (स्रावयुक्त) योनिवाली स्त्री से जो मनुष्य कामोत्तेजना के कारण वा मोहवश मैथुन करता है उसको ध्वजभंग हो जाता है, इसी प्रकार गाय आदि पशुओं के साथ मैथुन करने से; वा शिश्न पर अभिघात (चोट) लगाने से,

लिंग के न धोने, न स्वच्छ रखने से, लिंग पर शस्त्र, दांत या नख का क्षत हो जाने से, लकड़ी आदि के प्रहार से, लिंग के दब जाने से, शूकों (शिश्न वृद्धि के लिये जल शूकों) के सेवन से, प्रवृत्त हुए शुक्र के राकने से ध्वजभंग उत्पन्न होता है ।

[सुश्रुत में इसको उपदंश रोग के नाम से कहा है ।]

भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ।
श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ॥ १६८ ॥
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ।
मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ॥ १६९ ॥
पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः ।
वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः ॥ १७० ॥
ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा च्छर्दिश्चास्योपजायते ।
रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ॥ १७१ ॥
अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः ।
बस्तौ वृषणयोर्वापि सीवन्यां वंक्षणेषु च ॥ १७२ ॥
कदाचित्पिच्छिलो वापि पाण्डुस्रावश्च जायते ।
श्वयथुश्च भवेन्मन्दस्तिमितोऽल्पपरिस्रवः ॥ १७३ ॥
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते ।
जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ॥ १७४ ॥
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च ।
ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत्समुदाहृतम् ॥ १७५ ॥
एवं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं वदन्त्यपि ।

इति ध्वजभङ्गकृतक्लैब्यम् ।

ध्वजभंग के क्षत या अक्षत हो जाने पर शिश्न में वेदना और शोथ लिंग में रक्तिमा उत्पन्न हो जाती है, तीव्र छाले उत्पन्न हो जाते हैं, लिंग पक जाता है, लिंग में मांस की वृद्धि हो जाती है, शीघ्र ही व्रण और

उत्पन्न हो जाते हैं। तुच्छ धान्य वा पुराली के धोवन के पानी सा, श्याव या अरुण वर्ण का स्राव होता है। लिंग के अग्रभाग मुष्टिभाग (सुपारी प्रदेश) पर परिग्रह (घाव) हो जाता है। [सुपारी का भाग सूज जाता है एक गोल छल्ला सा बन जाता है और उपरि त्वचा इस सुपारी प्रदेश पर चिपक जाती है, तथा कठिन हो जाता है] रोगी को ज्वर, तृष्णा (प्यास) भ्रम, मूर्छा और वमन हो जाता है। पके सूजन से लाल, काला, नीला, मैला रक्त स्रवित होता है, अग्नि से जलने के समान बस्ति, वृषण, सेवनी प्रदेश और वंक्षणों में तीव्र दाह होता है, कभी २ स्राव पिच्छिल और पाण्डुवर्ण (हलका पीला) होता है और जब कभी शोथ मन्द (थोड़ी) होती है, तब स्तिमित (जड़) और अल्प स्राव होता है। देर में या जल्दी शोथ अवश्य पक जाता है अथवा चिकित्सा करने पर यह सूजन अच्छी हो जाती है। उपेक्षा करने पर इसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, लिंग गल सा जाता है और बहुत दुर्गन्ध आती है। इस पुरुष के लिंग का अग्रभाग मणि, और अण्डकोष गलकर झड़ जाते हैं, यह ध्वजभंगकृत क्लीबता का उपदेश कर दिया। इस प्रकार ध्वजभंग (उपदंश) को कोई कोई आचार्य पांच प्रकार का (वात, पित्त, कफ, सन्निपात और रक्तजन्य) मानते हैं। ※

क्लैब्यं जरासंभवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु ॥ १७६ ॥
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते।
अथ प्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ॥ १७७ ॥
रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात्।
बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ॥ १७८ ॥

※ सुश्रुत में कहा है—स पंचविधः त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चैकः। तत्र वातिके पारुष्यं त्वक्परिपुटनं स्तब्धमेढ्रता परुषशोफता विविधाश्च वातवेदनाः पैत्तिके ज्वरः श्वयथुः पक्वोदुम्बरसंकाशस्तीव्रदाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनश्च ॥

परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात्क्लमात् ।
जरासंभवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ॥ १७९ ॥
जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः ।
विवर्णो विह्वलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ॥ १८० ॥
एतज्जरासंभवं हि चतुर्थं क्षयजं शृणु ।

इति जरासंभवं क्लैब्यम् ।

इसके आगे जरा (बुढापे) से उत्पन्न क्लैब्य का वर्णन करता हूं, उसको सुनो । प्राणियों की आयु तीन प्रकार की है—जघन्य, मध्य और प्रवर । [इसमें १६ वर्ष तक जघन्य वय इस अवस्था में शुक्र उत्पन्न नहीं होता, मध्यम ६० वर्ष की आयु तक, इसमें शुक्र उत्पन्न होता है, इसके आगे प्रवर वय है ।] वृद्धावस्था के प्रारम्भ क्रम से पुरुषों में स्वभावतः (जो पुरुष वाजीकरण औषध सेवन नहीं करते उनमें) वीर्य क्षीण होने लगता है । इसी प्रकार अवस्था के कारण रसादि धातुओं के क्षय से वृष्य प्रयोगों के सेवन न करने से, धीरे-धीरे बल वर्ण और इन्द्रियों के क्षीण होने से, आयु के क्षीण होने से, भोजन के कम होने से या बन्द हो जाने से, श्रम से, क्लम (थकान) से, पुरुषों में जरा (बार्धक्य) जन्य क्लीबता उत्पन्न हो जाती है ।

इस जराजन्य क्लीवता के कारण पुरुष की धातु जल्दी से क्षीण हो जाती है और वह निर्बल, विवर्ण, दुर्बल, दीन होकर शीघ्र व्याधिग्रस्त हो जाता है । यह जराजन्य क्लीवता है । चतुर्थ क्षयजन्य क्लीवता होती है उसके लक्षण भी सुनो ।

अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद्भयादपि ॥ १८१ ॥
ईर्ष्योत्कण्ठादथोद्वेगान्सदा विशति यो नरः ।
कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ॥ १८२ ॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि ।
असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥ १८३ ॥

रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम् ।
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥ १८४ ॥
शुक्रावसानास्तेभ्यो हि शुक्रं धाम परं मतम् ।
चेतसो वातिहर्षेण व्यवायं सेवते तु यः ॥ १८५ ॥
शुक्रं तु क्षीयते तस्य ततः प्राप्नोति स क्षयम् ।
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ॥ १८६ ॥
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ।
एतन्निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥ १८७ ॥
केचित्क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ।
वदन्ति शेफसश्छेदाद्वृषणोत्पाटनेन वा ॥ १८८ ॥

क्षयजन्य क्लीबता—जो पुरुष सदा अत्यधिक चिन्ता, शोक, क्रोध, भय या ईर्ष्या, उत्कण्ठा, अथवा मद के वशीभूत रहता है, अथवा कृश व्यक्ति जब रूक्ष खान-पान या रूक्ष औषध का सेवन करता है, या जो दुर्बल प्रकृति होकर भोजन नहीं करता, अथवा असात्म्य भोजन सेवन करने से पुरुष के हृदय में स्थित प्रधान धातु (ओज) रूपी रस क्षीण हो जाता है । इस रस के क्षीण होने से पुरुषों के रस से लेकर शुक्र तक सब (छः) धातु क्षीण हो जाते हैं, इससे पुरुष भी क्षीण हो जाता है। रसादि धातुओं की अन्तिम गति शुक्र ही है । यह अनुलोम क्षय है ।

प्रतिलोमक्षय—मानसिक अधिक कामोत्तेजना के कारण जो पुरुष अति मैथुन करता है, उस पुरुष का शुक्र शीघ्र क्षीण हो जाता है, शुक्रक्षय से पुरुष भी क्षीण हो जाता है । अथवा वह भयानक रोग में ग्रस्त हो जाता है या मृत्यु को प्राप्त करता है । इसलिये आरोग्यता की कामना करनेवाले पुरुष को शुक्र की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये ।

इस प्रकार से चारों प्रकार के क्लैब्य रोग के कारण और लक्षणों सहित कह दिये हैं ।

[कई मुनि लोग ध्वजभंगजन्य और क्षयजन्य इन दो क्लैब्य रोगों को असाध्य मानते हैं ।]

आगन्तुक क्लैब्य—शिश्न के कट जाने से और अण्डों के उत्पाटन (कैस्ट्रेशन अर्थात् बैलों के समान बधिया कर देने) से जो क्लीवता उत्पन्न होती है वह भी असाध्य ही होती है ।

मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ।
गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥ १८९ ॥
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद्रेतश्चाप्युपहन्यते ।
तत्र संपूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥ १९० ॥
एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ।
चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः शृणु ॥ १९१ ॥
शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयानघ ।
क्लैब्योपशान्तये कुर्यात्क्षीणक्षतहितं च यत् ॥ १९२ ॥
बस्तयः क्षीरसर्पिषि वृष्ययोगाश्च ये मताः ।
रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत् ॥ १९३ ॥
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित् ।
व्यवायहेतुजं क्लैब्यं यत्स्याद्धेतुविपर्ययात् ॥ १९४ ॥
दैवव्यपाश्रयैश्चैव भेषजैश्चाभिचारजम् ।
समासेनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्यशान्तये ॥ १९५ ॥
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैब्यानां भेषजं पुनः ।

कर्मजन्य क्लीवता—माता पिता के बीजदोष से, अकृत (सुकृत कर्मों) से तथा अशुभ पूर्व कर्मों से गर्भस्थ जीव के गर्भारम्भक दोष जब रेतोवह सिराओं में पहुंचकर सिराओं को शुष्क कर देते हैं तब सिराओं के नाश से शुक्र भी नष्ट हो जाता है । इस अवस्था में सम्पूर्ण अंगों से युक्त होता हुआ भी पुरुष पुंस्त्वहीन होता है । ये सब क्लैब्य सन्निपात से उत्पन्न होने के कारण असाध्य हैं ।

क्लैब्य-चिकित्सा

हे अनघ ! इन क्लीब रोगों की चिकित्सा संक्षेप और विस्तार में

सुनो। शुक्र दोषों में पहिले जो औषध कही है उनको तथा क्षीण और क्षत रोगियों के लिये हितकारी जो औषध हैं उनको क्लैब्यरोग की शान्ति के लिये बरतना चाहिये। बस्तियां, क्षीर सर्पि, वृष्य योग (वाजीकरणोक्त) तथा रसायन प्रयोगों को देह, दोष, अग्नि और बल को देखकर औषध और समय को जानने वाले वैद्य को इन सबों का प्रयोग करना चाहिये। व्यवायजन्य (अतिमैथुन से उत्पन्न) तथा धातु (शुक्रादि) विपर्य्यय (क्षय) से उत्पन्न और अभिचारजन्य क्लीबता रोग में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये। *

क्लीबरोग की शान्ति के लिये यह चिकित्सा कह दी है। अब क्लैब्य रोगों की चिकित्सा को विस्तार से कहते हैं।

सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥ १९६ ॥
अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः।
प्रदद्यान्मतिमान्वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ॥ १९७ ॥
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत्ततः।
वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ॥ १९८ ॥
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपघातजे।

(१) रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिये। इसके पीछे रोगी को भोजन देना चाहिये या आस्थापन बस्ति देनी चाहिये। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि फिर अनुवासन (स्नेह बस्ति) देवे। अनुवासन के पीछे पलाश (ढाक) एरण्डमूल, मुस्तादि (सिद्धिस्थान में कहे जाने वाले) द्रव्यों से आस्थापन करना चाहिये। बीजोपघातजन्य क्लीबता में प्रथम जो वाजीकरण योग कहे हैं, उनका वैद्य को प्रयोग करना चाहिये।

---

* श्रीगंगाधरसेनसम्मत पाठ 'धातु विपर्ययात्' है, चक्रपाणिसम्मत पाठ 'हेतुविपर्य्यात्' है। चक्रपाणिसम्मत पाठ 'भेषजैश्चाभिचारजम्' है, गंगाधरसम्मत पाठ 'भेषजं सम्प्रयोजयेत्' है।

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत्क्रियाम् ॥ १९९ ॥
प्रदेहान्परिषेकांश्च कुर्याद् वा रक्तमोक्षणम् ।
स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं वा विरेचनम् ॥ २०० ॥
अनुवासं ततः कुर्यादथवास्थापनं पुनः ।
व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः ॥ २०१ ॥

(२) ध्वजविनाश से उत्पन्न क्लीवता को जानकर (असाध्य होने से) इसमें प्रदेह, परिषेक और रक्तमोक्षण क्रिया करनी चाहिये । रोगी को स्नेह पान कराना चाहिये, स्नेह युक्त विरेचन देना चाहिये तथा बुद्धिमान वैद्य को व्रण के समान सब चिकित्साविधि करे ।

जरासंभवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ॥ २०२ ॥
क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा बस्तयश्चैव यापनाः ।
रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते ॥ २०३ ॥
विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लैब्यानां भेषजं परम् ।

इति क्लैब्यचिकित्सा ।

(३) जरा (बुढ़ापे) के कारण से उत्पन्न क्लीवता में और क्षयजन्य क्लीवता में रोगी को स्नेहन और स्वेदन कराके स्नेह मिश्रित (रूक्ष नहीं) विरेचन देना चाहिये । क्षीर से उत्पन्न सर्पि (मक्खन), वृष्य योग, यापना बस्तियां (सिद्धिस्थान में कथित), रसायन प्रयोग इन दोनों प्रकार की क्लीवता की चिकित्सा है ।

इस प्रकार से विस्तार रूप में क्लैब्य रोगों की चिकित्सा कह दी है ।

प्रदर रोग

यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिस्तु तम् ॥ २०४ ॥

प्रथम जिस प्रदर को उपद्रव रूप में कहा है, उसके कारण आदि अब पृथक् पृथक् सुनो ।

याऽत्यर्थ सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च ।

कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च ॥ २०५ ॥
ग्राम्यौदकानि मेध्यानि कृशरां पायसं दधि ।
शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः ॥ २०६ ॥
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः ।
रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय यद्रजः ॥ २०७ ॥
यस्माद्विवर्धयत्याशु रक्तपित्तं समारुतम् ।
तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ॥ २०८ ॥
रजः प्रदीर्यते यस्मात्प्रदरस्तेन स स्मृतः ।

कारण—जो स्त्री लवण, अम्ल, गुरु, कटु, विदाहि, स्निग्ध, ग्राम्य मांस, औदक मांस, मेध्य पदार्थों और पायस, कृशरा, दहि, शुक्त, मत्स्य,* सुरादि का अत्यधिक रूप में सेवन करती है, उस स्त्री के शरीर में वायु कुपित होकर अपने वास्तविक प्रमाण से अधिक मात्रा में रक्त (आर्त्तव) को बढ़ा देता है। यह रज गर्भाशय में स्थित रजोवहा सिराओं का आश्रय लेकर, रक्त के साथ मिलकर वायुसहित रक्त पित्त को शीघ्र बढ़ाता है, इससे स्त्री में रज अपने वास्तविक परिमाण से अधिक बढ़ जाता है, आयुर्वेद तंत्र को जानने वाले इसको 'असृग्दर' कहते हैं। रज, रक्त के मेल से बहुत बढ़ता है मानो रक्त कट २ कर आता है इसलिये इसको 'प्रदर' भी कहते हैं।

सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च ॥ २०९ ॥
चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपाततः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम् ॥ २१० ॥

प्रदर रोग के कारण और लक्षण सामान्य रूप में कह दिये हैं। विस्तार में प्रदर रोग चार प्रकार का है। यथा वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपातजन्य; इसके आगे कारण, लक्षणों तथा चिकित्सा को कहूंगा।

---

* 'मस्तु' इति पा० ।

रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत् ।
कुपितः प्रदरं कुर्याल्लिङ्गं तस्य च मे शृणु ॥ २११ ॥
फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च ।
किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ॥ २१२ ॥
कटीवंक्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः ।
कुरुते वेदनां तीव्रामेतद्वातात्मकं विदुः ॥ २१३ ॥

रूक्ष आदि प्रकोपक कारणों से कुपित वायु पूर्व की भाँति रक्त को लेकर प्रदर रोग उत्पन्न करता है इसके लक्षणों को सुनो।

लक्षण—वातजन्य आर्त्तव तनु (पतला) झागदार, रूक्ष, श्याम वर्ण या अरुण वर्ण, ढाक के फूल के रंग के समान केसरिया, दर्दयुक्त या बिना वेदना के आता है। कटि, वंक्षण, हृदय, पार्श्व, पृष्ठ और कमर में वायु तीव्र वेदना उत्पन्न करता है, इसको वातजन्य प्रदर कहते हैं।

अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा ।
पूर्ववत्प्रदरं कुर्यात्पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ॥ २१४ ॥
सनीलमथ वा पीतमत्युष्णमसितं तथा ।
नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरथार्तिमत् ॥ २१५ ॥
विदाहरागतृण्मोहज्वरभ्रमसमायुतम् ।
असृग्दरं पैत्तिकं तत् श्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते ॥ २१६ ॥

पित्तजन्य प्रदर अम्ल लवण क्षार उष्ण वस्तुओं के सेवन से प्रकुपित पित्त पूर्व की भाँति रक्त को साथ में लेकर प्रदर उत्पन्न करता है, उसके लक्षण सुनो। आर्त्तव नीला या कृष्ण वर्ण, अति उष्ण तथा पीला होता है, निरन्तर रक्त बहता रहता है, ठहर-ठहर के (क्षण-क्षण में) वेदना होती है। रोगी को रक्तिमा दाह, प्यास, मूर्च्छा, ज्वर, भ्रम होता है, इसको पैत्तिक असृग्दर कहते हैं, अब कफजन्य के लक्षण कहते हैं।

गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत्कुपितः कफः ।

प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु ॥ २१७ ॥
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम् ।
स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च तथा मन्दरुजाकरम् ॥ २१८ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम् ।
वक्ष्यते क्षीरदोषाणां सामान्यमिह कारणम् ॥ २१९ ॥

कफजन्य प्रदर गुरु आदि आहार के कारण प्रवृद्ध कफ पूर्व की भाँति प्रदर को उत्पन्न करता है उसके लक्षण सुनो।

आर्त्तव पिच्छिल, पाण्डु वर्ण, भारी, स्निग्ध, शीतल और कफयुक्त होता है, इसमें वेदना मन्द (थोड़ी) होती है। रोगी को वमन, जी मचलाना, अरोचक, श्वास, कास रोग रहते हैं।

यत्तदेव त्रिदोषस्य कारणं प्रदरस्य तु ।
त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम् ॥ २२० ॥

जो रक्त प्रदर नाना रूप वाला (जो एक स्थिति में नहीं रहता) हो उसको सन्निपातज प्रदर जानना चाहिये।

नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता ।
सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदाऽनिलः ॥ २२१ ॥
रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीककरं कफम् ।
दुर्गन्धं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा ॥ २२२ ॥
वसां मेदश्च यावद्धि समुपादाय वेगवान् ।
सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ॥ २२३ ॥
शश्वत्स्रवत्यथास्रावं तृष्णादाहज्वरान्वितम् ।
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विवर्जयेत् ॥ २२४ ॥

सन्निपातज प्रदर के लक्षण—जिस स्त्री का रक्त अति क्षीण हो चुका है, या जो स्त्री अति परिक्लिष्ट (रुग्ण या निर्बल) हो, वह स्त्री जब वातादि सब दोषों के प्रकोपक कारणों का सेवन करती है, तब उस स्त्री में वायु कुपित होकर बलहानि करने वाले, दुर्गन्धि युक्त, पिच्छिल

एवं शीत कफ को सन्तान मार्ग (योनि मार्ग) से बाहर निकालता है। यह वेगवान् वायु पित्त के तेज से विदग्ध घृत, वसा और मज्जा के समान जितनी भी वसा और मेद शरीर में होते हैं, उस सब को लेकर आर्त्तव मार्ग से बाहर कर देता है। यह वायु स्राव को निरन्तर बहाता है, स्त्री को प्यास, दाह और ज्वर रहता है। सन्निपातज प्रदर वाली जो स्त्री दुर्बल और क्षीण आर्त्तव वाली होती है वह असाध्य है उसकी चिकित्सा न करे।

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत ॥ २२५ ॥
गुञ्जाफलसवर्णं च यद्वाऽलक्तकसन्निभम्।
इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमादिशेत ॥ २२६ ॥

शुद्ध आर्त्तव का लक्षण—जो आर्त्तव एक मास में प्रवृत्त होता है, जिस आर्त्तव में पिच्छा, दाह या पीड़ा नहीं होती, पांच दिन तक रहे, न तो बहुत थोड़ा, न बहुत अधिक, वह आर्त्तव शुद्ध होता है। अथवा जो आर्त्तव गुञ्जाफल (रत्तियों) के वर्ण के समान, अथवा जो आर्त्तव कमल वा आलक्तक (महावर) के समान या इन्द्रगोप (वीरबहूटी) कीट के समान चमकता लाल वर्ण का होता है वह आर्त्तव शुद्ध है।

प्रदर-चिकित्सा

योनीनां वातलाढ्यानां यदुक्तमिह भेषजम्।
चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक् ॥ २२७ ॥

योनि-व्यापत् रोगों में वातप्रधान योनिरोगों की जो चिकित्सा इस अध्याय में कही है, वही चिकित्सा चारों प्रकार के प्रदर रोगों की करनी चाहिये।

रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्।
रक्तार्शसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥ २२८ ॥

इति प्रदरचिकित्सा।

रक्तातिसार रोगियों की, रक्तपित्त रोगियों की और रक्तार्श रोगियों की जो चिकित्सा कही है वह चिकित्सा प्रदर रोगियों की करनी चाहिये ।

अथ स्तन्यदोषचिकित्सा

धात्रीस्तनस्तन्यसंपदुक्ता विस्तरतः पुरा ।
स्तन्यसंजननं चैव स्तन्यस्य च विशोधनम् ॥ २२९ ॥
वातादिदुष्टे लिङ्गं च क्षीणस्य च चिकित्सितम् ।

प्रथम जातिसूत्रीय अध्याय में धात्री के स्तन और स्तन्य (दूध) के विशेष गुणों का वर्णन कर चुके हैं । स्तन्य संजनन, स्तन्यशोधन, वातादि दोषों से दूषित दूध के लक्षण, और क्षीण दूध की चिकित्सा को प्रथम कह चुके हैं ।

तत्सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्तिताः ॥ २३० ॥
वातादिष्वेव तान्विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषग्वरः ।
त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ २३१ ॥

अष्टोदरीय अध्याय में जो आठ क्षीरदोष कहे हैं [विवर्णता, विगन्धता, पिच्छिलता, फेनसंघात, रूक्षता, भारीपन, और अति स्नेह] इन दोषों को शास्त्र चक्षु वाले भिषक को वातादि दोषों से उत्पन्न ही समझने चाहिये ।

क्योंकि बुद्धिभेद से शिष्य भी तीन प्रकार के हैं इसलिये मध्यम और अवर शिष्यों के ज्ञान के लिये वातादि दोषों के अनुसार इसका विस्तार से वर्णन करता हूं ।

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात् ।
लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात् ॥ २३२ ॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात् ।
प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥ २३३ ॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि मत्स्यकम् ।
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥ २३४ ॥

भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातङ्ककर्षणैः ॥ २३५ ॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च ।
कुर्युरष्टविधं भूयो दोषतस्तन्निबोध मे ॥ २३६ ॥

सामान्य कारण—अजीर्ण असात्म्य भोजन, विषम भोजन, विरुद्ध भोजन और अति भोजन से, लवण अम्ल कटु क्षार प्रक्लिन्न (सड़े) अन्न के सेवन से, मन के सन्ताप से, शरीर के सन्ताप से, रात में न सोने से, चिन्ता से, मल मूत्रादि के उपस्थित वेग को रोकने से, मल मूत्रादि के अनुदीर्ण वेगों को बलात् प्रवृत्त करने से, परमान्न (हलुवा मालपुए आदि श्राद्ध अन्न) गुड़ घृत मछली (तिल कल्क) दाही अभिष्यन्दी पदार्थ, ग्राम्य मांस आनूप मांस और औदक मांस को खूब खाकर दिन में सोने से, मद्य के अति सेवन से, अभिचार क्रिया से, परिश्रम न करने से तथा रोगों से उत्पन्न कमजोरी से, कुपित वातादि दोष दूध का आश्रय लेकर स्तन्यवहा सिराओं में पहुंच कर दूध में विवर्णता विरसता आदि आठ दोष उत्पन्न कर देते हैं। इन दोषों को वातादि भेद से इस प्रकार जानो ।

वैरस्यं फेनसंघातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।
पित्ताद्वैवर्ण्यदौर्गन्ध्ये स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥ २३७ ॥
कफाद्भवति रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः ।
क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥ २३८ ॥

वात से दूषित स्तन्य में विरसता, फेनसंघात और रूक्षता, तीन दोष होते हैं। पित्त से दूषित स्तन्य में विवर्णता और दुर्गन्ध होती है कफ से दूषित स्तन्य में स्नेह, पिच्छ और भारीपन होता है ।

विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत्पिबन् ।
न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥ २३९ ॥
तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।

करोति फेनसंघातं ततः कृच्छ्रात्प्रवर्तते ॥ २४० ॥
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।
वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति ॥ २४१ ॥
पूर्ववत्कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः ।
रूक्षं तत्पिबतो रौक्ष्याद्बलह्रासश्च जायते ॥ २४२ ॥

वातजन्य तीन दोषों की सम्प्राप्ति—अपने प्रकोपक कारणों से कुपित वायु दूध के आश्रय स्थान रस धातु का आश्रय लेकर दूध को दूषित कर देता है। इससे दूध बिरस बन जाता है। इस दूध के पीने से शिशु पतला, वात से युक्त रहता है, बच्चे को दूध अच्छा नहीं लगता और बच्चा कठिनाई से बढ़ता है। इसी प्रकार अपने कारणों से प्रकुपित वायु दूध को स्तनों के अन्दर मथकर झाग समूहों को उत्पन्न कर देता है। इसको पीने से बच्चा कठिनाई से बढ़ता है। इससे बच्चे का स्वर क्षीण हो जाता है, मल मूत्र और वायु का अवरोध रहता है, वातरोग या शिरोरोग अथवा पीनस रोग बच्चे को हो जाता है। पूर्व की भांति अपने कारणों से कुपित वायु दूध के स्नेह भाग को शुष्क करके रूक्ष दोष उत्पन्न करता है। इस दूध को पीने से बच्चे का बल कम होता जाता है और उस में रूक्षता आ जाती है।

पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याशयमभिप्लुतम् ।
करोति स्तन्यवैवर्ण्यंनीलपीतासितादिकम् ॥ २४३ ॥
विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात्तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः ।
नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तत्स्तनम् ॥ २४४ ॥
पूर्ववत्कुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति ।
पाण्ड्वामयस्तत्पिबतः कामला च भवेच्छिशोः ॥ २४५ ॥

पित्तजन्य दो दोषों की सम्प्राप्ति—उष्णादि अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु स्तन्य (दूध) में आश्रित वर्ण (स्वाभाविक रंग) को नष्ट करके स्तन में विवर्णता, नीला-पीला या काला आदि रंग

उत्पन्न कर देता है। इस दूध को पीने से शिशु के शरीर में विवर्णता पसीने का अधिक आना, प्यास का रहना, होता है और बच्चे को अतिसार रहता है। बच्चे का शरीर सदा गरम रहता है और बच्चा स्तन को पीना पसन्द नहीं करता। पूर्व की भाँति अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त दूध को दूषित करके इस में दुर्गन्ध उत्पन्न कर देता है। इस दूध के पीने से शिशु में कामला (पीलिया) या पाण्डुरोग हो जाता है।

क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः।
स्नेहान्वितत्वात्तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति सः॥ २४६॥
छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः।
नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्लमसमन्वितः॥ २४७॥
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः।
अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा॥ २४८॥
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात्तत् पिबन् शिशुः।
कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात्क्षीरगौरवम्॥ २४९॥
कुर्यात्स्नेहान्वितं पीतं तद्भावात्कफरोगवान्।
अन्यांश्च विविधान् रोगान् कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान्॥ २५०॥

कफजन्य तीन दोषों की सम्प्राप्ति—गुरु आदि कफ-प्रकोपक कारणों से कुपित कफ दूध के आश्रय स्तन में पहुंचकर दूध के स्नेह के साथ मिलकर अतिस्नेह को उत्पन्न करता है। इसके पीने से बच्चों को बार-बार वमन होता है, मुख से लार बहती है, नाक आदि स्रोत सदा कफ (मैल) से लिप्त रहते हैं, बच्चों को निद्रा, क्लम, श्वास, कास, प्रसेक और तमक होता है। पूर्व की भांति अपने कारणों से कुपित कफ स्तन्य (दूध) को तिरस्कृत करके इसमें पिच्छा उत्पन्न कर देता है। इसको पीने से शिशु लार-स्राव से युक्त, जड़ (मन्दबुद्धि) तथा बच्चे के मुख और आंख सूज जाते हैं। अपने गौरवादि कारणों से कुपित कफ दूध के आश्रय

स्तन में पहुंचकर दूध में भारीपन उत्पन्न कर देता है। स्नेह से युक्त इस भारी दूध के पीने से शिशु में कफ रोग तथा इससे उत्पन्न दूध में आश्रित अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

स्तन्यरोग चिकित्सा

क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे संभवन्ति तदात्मकाः।
तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम् ॥ २५१ ॥

वातादि दोषों से दूषित दूध में जिस-जिस प्रकार के विवर्णता आदि दोष उत्पन्न हुए हों, उनके लिये प्रथम दूध के शोधन के लिये धात्री को स्नेहन और स्वेदन देकर पीछे से वमन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये—

संस्वेद्य विधिवद्वैद्यो वमनेनोपपादयेत्।
वचाप्रियङ्गुयष्ट्याह्वफलवत्सकसर्षपैः ॥ २५२ ॥
कल्कैर्निम्बपटोलानां क्वाथैः सलवणैर्वमेत्।
सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां ततः ॥ २५३ ॥
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत्।
त्रिवृतामभयां वापि त्रिफलारससंयुताम् ॥ २५४ ॥
पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां चापि केवलाम्।
अथ सम्यग्विरिक्तां च कृतसंसर्जनां पुनः ॥ २५५ ॥
ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत्।

(१) धात्री को स्नेहन और स्वेदन देकर नीम की छाल और पटोल के क्वाथ में वचा, प्रियंगु, मुलहठी, कफ (श्लेष्मातक, लसूड़ा) वत्सक (इन्द्रजौ), सरसों और लवण इनके कल्क को मिलाकर इससे वमन देना चाहिये। भली प्रकार से वमन हो जाने पर यथोचित रीति से पेयादि रूप में आहार देना चाहिये। धात्री का फिर स्नेहन करके दोष काल और बल का विचार करते हुए उसको विरेचन देना चाहिये। विरेचन के लिये—त्रिवृत् चूर्ण को त्रिफला रस के साथ और मधु में मिला

कर देना चाहिये, अथवा अभया (हरड़) के चूर्ण को त्रिफला रस और मधु के साथ देना चाहिये । भली प्रकार से विरेचन हो जाने पर बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि पुनः पेयादि रूप में आहार देवे । इसके पीछे शेष दोषनाशक खानपान से चिकित्सा करनी चाहिये ।

शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाका भोजने हिताः ॥ २५६ ॥
प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा ।
वंशवेत्रकलायाश्च सस्नेहा यूषसंस्कृताः ॥ २५७ ॥
मुद्गान् मसूरान् यूषार्थं कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत् ।

पथ्य—भोजन के लिये शालि, सांठी चावल, सांवक के चावल, प्रियंगु, कोरदूष, जौ, वेणुयव (जवे), भोजन के लिये हितकारी हैं । शाक के लिये वंशकरीर, बेंत का अग्रभाग, कलाय (मटर) इनको घृतादि स्नेह से संस्कृत करके देना चाहिये । यूष के लिये मूंग, मसूर और कुलत्थी का प्रयोग करना चाहिये ।

निम्बवेत्राग्रकुलकवार्त्ताकामलकैः शृतान् ॥ २५८ ॥
सव्योषसैन्धवान्यूषान् दापयेत्स्तन्यशोधनान् ।
शशान् कपिञ्जलानेणान्संस्कृतांश्च प्रकल्पयेत् ॥ २५९ ॥

यूष-संस्कार—नीम, बेंत का अग्रभाग, कुलक (पटोल) वार्त्ताक (बैंगन) और आंवला इनके कल्क या क्वाथ से संस्कृत यूषों में सोंठ, मरिच, पिप्पली और सैंधा नमक मिला देना चाहिये । खरगोश, कपिंजल, एण (मृग) इनके मांस रसों को निम्बादि के क्वाथ से संस्कृत करके देना चाहिये ।

शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्वग्वस्तगन्धाशृतं जलम् ।
पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम् ॥ २६० ॥

(२) स्तन शुद्धि के लिये पीने के वास्ते शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा), सप्तपर्ण का छाल, अजगन्धा इनके जल को षडंगपानीय विधि से पकाकर देना चाहिये अथवा कटुकी से क्वथित जल पीने के लिये देना चाहिये ।

अमृतासप्तपर्णत्वक्क्वाथं चैव सनागरम् ।
किराततिक्तकक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत् ॥ २६१ ॥
त्रीनेतान्स्तन्यशुद्ध्यर्थमिति सामान्यभेषजम् ।

(३) तीन योग—अमृता (गिलोय) और सप्तपर्ण की छाल इनको जल के साथ पीसकर कल्क बना कर पीना चाहिये । (२) अमृता, सप्तपर्ण की छाल और नागर (सोंठ) इनके क्वाथ को पीना चाहिये । (३) किराततिक्त (चिरायता) के क्वाथ को पीना चाहिये । श्लोक के एक एक चरण में कहे हुए इन तीन योगों को स्तन शुद्धि के लिये पीना चाहिये ।

कीर्तितं स्तन्यदोषाणां पृथगन्यं निबोध मे ॥ २६२ ॥
पाययेद् द्विरसक्षीरा द्राक्षामधुकसारिवाः ।

इन से अतिरिक्त स्तन्य दोषों की अन्य सामान्य ओषधियों को मुझ से सुनो ।

(४) दूध में दुगना जल और द्राक्षा, मुलहठी और शारिवा का अष्टमांश कल्क मिला कर पकाना चाहिये । केवल दूध मात्र रह जाने पर छानकर पीना चाहिये ।

श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च समालोड्य सुखाम्बुना ॥ २६३ ॥
स्तन्यसंशोधनार्थं तु धात्रीं तु पाययेद्भिषक् ।

(५) पयस्या (विदारी या क्षीरकाकोली) को बारीक पीसकर गरम पानी में घोलकर स्तन्य शुद्धि के लिये धात्री को पिलाना चाहिये ।

पञ्चकोलकुलत्थैश्च पिष्टैरालेपयेत्स्तनौ ॥ २६४ ॥
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात्तथा स्तन्यं विशुध्यति ।

(६) स्तनों पर पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) और कुलत्थी को पीसकर लेप करना चाहिये । जिस समय यह लेप सूख जाये तब इसको धोकर स्तनों से सब दूध निकाल देना चाहिये, इस प्रकार करने से स्तन शुद्ध हो जाते हैं ।

फेनसङ्घातवत्क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम् ॥ २६५ ॥
पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना ।

(७) जिस स्त्री का दूध फेनसंघात वाला (झागदार) हो उसको पाठा, सोंठ, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा), मूर्वा इनको पीसकर कल्क बनाकर गरम पानी से पीना चाहिये ।

अञ्जनं तगरं दारु बिल्वमूलं प्रियङ्गवः ॥ २६६ ॥
स्तनयोः पूर्ववत्कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम् ।

(८) अंजन (रसांजन), सोंठ, देवदारु, बेल की जड़, प्रियंगु इनको पीसकर स्तन पर लेप करना चाहिये । शुष्क हो जाने पर इस लेप को पानी से धोकर सम्पूर्ण दूध निकाल देना चाहिये । इस लेप से क्षीर का शोधन होता है ।

किराततिक्तकं शुण्ठीं सामृतां क्राथयेद्भिषक् ॥ २६७ ॥
तं क्राथं पाययेद्धात्रीं स्तन्यदोषनिबर्हणम् ।
स्तनौ चालेपयेत्पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः ॥ २६८ ॥

(९) चिरायता, सोंठ, अमृता (गिलोय) इनके क्राथ को वैद्य स्तन्य-दोष की शान्ति के लिये धात्री को पिलाये । स्तनों पर जौ, गेहूं और सरसों इनको पीसकर इनका लेप करना चाहिये ।

षड्विरेकाश्रितीयोक्तैरौषधैः स्तन्यशोधनैः ।
रूक्षक्षीरा पिबेत्क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत् ॥ २६९ ॥

(१०) जिस स्त्री का दूध रूक्ष हो उसको दूध पीना चाहिये, अथवा षड्विरेकाश्रितीय अध्याय में वर्णित स्तन्यशोधक ओषधियों से सिद्ध घृत पीना चाहिये ।

पूर्ववज्जीवकाद्यं च पञ्चमूलं प्रलेपनम् ।

(११) पूर्वोक्त जीवकादि गण की दस ओषधियों को तथा बिल्वादि बृहत्पंचमूल की ओषधियों को जल के साथ पीसकर इनको गरम करके स्तनों पर लेप करना चाहिये ।

स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम् ॥ २७० ॥

(१२) शुष्क हो जाने पर पानी से धोकर सब दूध बाहर निकाल देना चाहिये, इससे स्तन्य (दूध) का शोधन होता है !

यष्टीमधुकमृद्वीकापयस्यासिन्धुवारिकाः ।
शीताम्बुना पिबेत्कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम् ॥ २७१ ॥

(१३) मुलहठी, मृद्वीका, पयस्या (क्षीरविदारी), सिन्धुवार (निर्गुण्डी) इनको शीतल जल के साथ पीसकर इनके कल्क को शीतल जल से ही दूध के विवर्णता दोष को नष्ट करने के लिये पीना चाहिये ।

द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ वास्याः प्रलेपयेत् ।
प्रक्षाल्य वारिणा चैव निर्दुह्यात्तौ पुनः पुनः ॥ २७२ ॥

(१४) मुलहठी और द्राक्षा को पीसकर स्तनों पर लेप करना चाहिये । इसके शुष्क हो जाने पर पानी से धोकर सम्पूर्ण दूध निकाल देना चाहिये । इस प्रकार बार बार करना चाहिये ।

विषाणिकाजश्रृङ्ग्यौ च त्रिफलां रजनीं वचाम् ।
पिबेत्क्षीराम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ २७३ ॥

(१५) दूध के दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिये—विषाणिका और अजश्रृंगी (अजश्रृंगी दो प्रकार की है इसलिये दो भाग), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), हल्दी और वच इनको मिलित दूध और पानी के साथ पीसकर पीना चाहिये ।

लिह्याद्वाऽप्यभयाचूर्णं सव्योषं माक्षिकाप्लुतम् ।
क्षीरदौर्गन्ध्यनाशार्थं धात्री पथ्याशिनी तथा ॥ २७४ ॥
सारिवोशीरमञ्जिष्ठाश्लेष्मातकसचन्दनैः ।
पत्राम्बुचन्दनोशीरैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥ २७५ ॥

(१६) धात्री को हितकारी अन्न खाते हुए हरड़ के चूर्ण को सोंठ, मरिच, पिप्पली के चूर्ण में तथा मधु में मिलाकर चाटना चाहिये, इससे दूध का दुर्गन्ध नष्ट हो जाता है । दुर्गन्धयुक्त दूध वाली स्त्री के स्तनों पर

सारिवा, खस, मजीठ, श्लेष्मातक (लसूड़ा) और चन्दन को पीसकर लेप करना चाहिये । अथवा तेजपत्र, अम्बु (बालक); चन्दन और खस इनका लेप स्तनों पर करना चाहिये ।

स्निग्धक्षीरा दारुमुस्तपाठाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना ।
पीत्वा ससैन्धवाः क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २७६ ॥

(१७) जिस स्त्री का दूध अति स्निग्ध हो उसको देवदारु, मुस्ता, पाठा इनको पीसकर गरम पानी में सैन्धव लवण मिला कर उसके साथ पीना चाहिये । इससे दूध का शोधन हो जाता है ।

पाययेत्पिच्छिलक्षीरां शार्ङ्गेष्टामभयां वचाम् ।
मुस्तनागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः ॥ २७७ ॥
तक्रारिष्टमपि पिबेदर्शसां यन्निदर्शितम् ।
विदारीबिल्वमधुकैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥ २७८ ॥

(१८) जिस स्त्री का दूध पिच्छिल हो उसको शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा), हरड़, वच, मुस्ता, सोंठ और पाठा इनका क्वाथ पीना चाहिये । [श्रीगंगाधर सेन इनको तीन योग मानते हैं ।] अथवा अर्श रोग में कथित तक्रारिष्ट पीना चाहिये । पिच्छिल दूध वाली स्त्री के स्तनों पर विदारी, बेलगिरी और मुलहठी इनका लेप करना चाहिये ।

त्रायमाणामृतानिम्बपटोलत्रिफलाशृतम् ।
गुरुक्षीरा पिबेदेतत्स्तन्यदोषविशुद्धये ॥ २७९ ॥
पिबेद्वा पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् ।
बलानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत्स्तनौ ॥ २८० ॥
पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ।
अष्टावेते क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः ॥ २८१ ॥
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तथोक्ताः केचिदामयाः ।

(१९) जिस स्त्री के दूध में गुरु (भारीपन) दोष हो उसको त्रायमाणा, गिलोय, नीम, पटोल और त्रिफला इनका क्वाथ पीना चाहिये ।

अथवा पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ इनका क्वाथ पान करे। भारी दूध वाली स्त्री के स्तनों पर बला, सोंठ, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा) और मूर्वा इनका लेप अथवा पृश्निपर्णी और पयस्या (विदारी) इन दो वस्तुओं का लेप करना चाहिये।

दूध के आठ दोषों और उनसे उत्पन्न कई रोगों का कारण, लक्षण और चिकित्सा सहित उपदेश कर दिया है।

बाल-चिकित्सा

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये ॥ २८२ ॥
त एव सर्वे बालानां मात्रा स्वल्पतरा मता।

प्रसंगात् बाल-चिकित्सा—बड़े (युवा तथा वृद्ध) पुरुषों में दोष, दूष्य तथा मल और उनसे उत्पन्न जो रोग होते हैं, वे ही सब रोग बालकों में भी हो जाते हैं। इसलिये इनकी चिकित्सा भी बड़े पुरुषों के समान ही है। केवल मात्रा बड़े पुरुषों से छोटी मानी जाती है। बालकों की आयु के अनुसार मात्रा दी जाती है।

निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम् ॥ २८३ ॥
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित्।
भेषजं चाल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् ॥ २८४ ॥
मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च।
प्रयोजयेद्भिषग्बाले मतिमानप्रमादतः ॥ २८५ ॥

[बालक स्वतन्त्रवृत्ति और परतन्त्रवृत्ति भेद से दो प्रकार के होते हैं। छः मास तक बच्चा पूर्ण परतन्त्रवृत्ति रहता है, इसके आगे १॥ साल तक स्वतन्त्र और परतन्त्र उभयवृत्ति, इसके अनन्तर पूर्ण स्वतन्त्रवृत्ति हो जाता है।] इस दृष्टि से परतन्त्रवृत्ति बालकों में रोगों की निवृत्ति वमन, विरेचनादि संशोधनों से हो जाती है। क्योंकि एक तो बच्चा मृदु प्रकृति तथा दूसरे परतन्त्रवृत्ति होता है। बालक में जब वाणी की चेष्टा (बोलना) आरम्भ हो जाय अर्थात् बालक स्वतन्त्रवृत्ति हो जाये तब शास्त्र को जानने

वाले वैद्य को चाहिये कि मृदु वमन आदि से संशोधन करे और रोगानुसार संशमन औषध को थोड़ी मात्रा में देवे अथवा स्वतन्त्रवृत्ति बालकों में संशमन चिकित्सा, परतन्त्रवृत्ति बालकों में संशोधन चिकित्सा करनी चाहिये। बालकों की चिकित्सा में मधुर, मृदु तथा दूध मिश्रित कषाय प्रयोग करने चाहियें।

अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटु विपाकि च ।
गुरु चौषधपानान्नमेतद् बालेषु गर्हितम् ।। २८६ ।।
समासात्सर्वरोगाणामेतद् बालेषु भेषजम् ।
निर्दिष्टं शास्त्रविद्वैद्यः प्रविविच्य प्रयोजयेत् ।। २८७ ।।

इति स्तन्यदोषबालरोगौ

त्याज्य औषध—बालकों के लिये अति स्निग्ध, अति रूक्ष, उष्ण, अम्ल, विपाक में कटु तथा कटु रस, गुरु औषध या खानपान गर्हित है।

संक्षेप में बालकों के सब रोगों की चिकित्सा कह दी है, शास्त्रविद् वैद्य को चाहिये कि इनका विभाग करके (विचार कर) इनका प्रयोग करे।

सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः ।
उक्ता विस्तरशः सम्यग्मुनिना तत्त्वदर्शिना ।। २८८ ।।
इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम् ।
स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुच्यते ।। २८९ ।।
अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च ।
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ।। २९० ।।
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत् ।
तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ।। २९१ ।।

उपसंहार—इस चिकित्सा स्थान में योनि की व्यापत्ति लक्षणों सहित, निदान और चिकित्सा विस्तार से कह दी है। इसी प्रकार समस्त रोगों की चिकित्सा भी कह दी है। इस तन्त्र में चिकित्सित

स्थान इस तन्त्र का रहस्य, परम सारवान् है। अग्निवेश से बनाये तथा चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत इस शास्त्र में, चिकित्सा स्थान के अन्तिम १७ अध्याय, सिद्धि स्थान के १२ अध्याय और कल्प स्थान के १२ अध्याय नहीं मिलते थे। इन अध्यायों को कपिलबलि के पुत्र दृढ़बल ने इस महान् अर्थ वाले शास्त्र को पूर्ण करने के लिये ठीक २ रचना कर पूर्ण किया।

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः।
तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ॥ २९२ ॥
दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ॥ २९३ ॥

अनुक्त रोगों की चिकित्सा—रोगों के बहुत होने से सब रोगों के नाम और लक्षण नहीं कहे जा सकते, इसलिये जिन रोगों के लक्षण या नाम यहां पर नहीं कहे, उन सब रोगों की भी दोष आदि को देखकर यही चिकित्सा बरतनी चाहिये। क्योंकि, दोष-विपरीत, दूष्य-विपरीत, निदान-विपरीत चिकित्सा का सम्यग् योग, उक्त या अनुक्त सब प्रकार के रोगों में निश्चित रूप से हितकारी है।

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चैव हि।
सम्यग्योगोऽन्यथाऽन्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत् ॥ २९४ ॥

देश (आतुर, रोगी), काल, प्रमाण (औषध मात्रा), सात्म्य और असात्म्य इनका सम्यग् योग सब प्रकार के उक्त और अनुक्त दोनों प्रकार के रोगों को नष्ट करता है। अन्यथा देश, काल, प्रमाण आदि के असम्यग् योग होने पर दोष-विपरीत, दूष्य-विपरीत, निदान-विपरीत पथ्य भी अपथ्य रूप हो जाता है।

आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तः शिरोगतान्।
गुदात्पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु दत्तमौषधम् ॥ २९५ ॥
शरीरावयवोत्थेषु वीसर्पपिडकादिषु।
यथादोषं प्रदेहादि शमनं स्याद्विशेषतः ॥ २९६ ॥

आमाशय में स्थित रोगों को मुख द्वारा ही (वामक) द्रव औषध शिर में स्थित रोगों को नासा द्वारा दी गई (नस्य रूप) द्रव औषध, पक्वाशय में स्थित रोगों को गुदा से ही द्रव औषध (बस्ति) नष्ट करती है। यह संशोधन चिकित्सा, संशमन चिकित्सा शरीर के अवयवों में उत्पन्न विसर्प, पिड़का आदि में दोषानुसार * प्रदेह आदि संशमन चिकित्सा विशेष रूप में बरतनी चाहिये।

दीनातुरौषधव्याधिजीर्णलिङ्गर्त्ववेक्षणाम्।
कालं विद्याद्दिनापेक्षः पूर्वाह्णे वमनं यथा ॥ २९७ ॥
रोग्यवेक्ष्य यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत्।
भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ॥ २९८ ॥
भैषज्यकालो भक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः।
सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरे तथा ॥ २९९ ॥

काल के छः प्रकार—चिकित्सा क्रिया में काल छः प्रकार का है। यथा—दिन, आतुर, औषध, रोग, जीर्ण लक्षण और ऋतु का देखना यह छः प्रकार का काल है। यथा—दिन की दृष्टि से काल जैसे—पूर्वाह्ण में रोगी को वमन देना चाहिये। रोगी की दृष्टि से काल—बलवान् रोगी को प्रातःकाल विना भोजन के औषध पीनी चाहिये। दुर्बल रोगी को लघु पथ्यादि से युक्त औषध देनी चाहिये। भेषज काल दस प्रकार का है, यथा—भोजन से पूर्व औषध देना, भोजन के मध्य में औषध देना, भोजन के पीछे औषध देना, बार बार औषध को देना, सामुद्ग (सम्पुट दोनों आहारों के बीच में) औषध देना, भोजन के साथ मिश्रित करके देना, ग्रास में औषध रख के देना और एक एक ग्रास के बीच में औषध देना, ये आठ काल और प्रायः विना भोजन के औषध देना और लघु पथ्य के साथ औषध देना यह दस औषध काल हैं।

अपाने विगुणे पूर्वं समाने मध्यभोजनम्।

* 'यथादेशम्' इति पाठः।

व्याने तु प्रातरेवाद्यमुदाने भोजनोत्तरम् ॥ ३०० ॥
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्तरिष्यते ।
श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः ॥ ३०१ ॥
सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम् ।
सभोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ॥ ३०२ ॥

अपान वायु के विगुण होने पर भोजन से पूर्व औषध देनी चाहिये । समान वायु के विगुण होने पर भोजन के मध्य में, व्यान वायु के विगुण होने पर प्रातःकाल में प्रातराश (कलेवा) के साथ मिलाकर, उदान वायु के विगुण होने पर भोजन के पीछे, प्राण वायु के दुष्ट होने पर प्रति ग्रास के बीच में औषध देनी चाहिये, श्वास, कास और प्यास में बार बार औषध देनी चाहिये । हिक्का रोगी को लघु अन्न के साथ औषध मिलाकर सामुद्ग रूप से (दोनों आहारों के बीच में) देनी चाहिये । अरुचि रोग में नाना प्रकार के भोजनों के साथ औषध मिलाकर खिलानी चाहिये ।

ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम् ।
षडहे षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य तु ॥ ३०३ ॥

ज्वर में प्रथम लंघन, लंघन के पीछे पेया, प्रथम सप्ताह में आठवें दिन से दूसरे सप्ताह तक कषाय, १४ वें दिन से लेकर २० वें दिन तक दूध, २१ वें दिन से लेकर २८ वें दिन तक घृत, २९ वें दिन से प्रारम्भ करके ३५ वें दिन तक विरेचन, इस प्रकार से छः छः दिन के समय को देखकर पेयादि क्रम ज्वर में बरतना चाहिये ।

क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम् ।
तदा भेषजमादेयं स्याद्दोषवदतोऽन्यथा ॥ ३०४ ॥

रोगी को मुख की प्रतीति, मल, मूत्र, वायु के वेगों का मोक्ष (प्रवृत्ति), शरीर और उदर में लघुता, उद्गार की शुद्धि होना, जीर्ण,

लक्षण (रोग के जीर्ण होने के लक्षण) हैं, जीर्ण लक्षणों में ही औषध का सेवन करना चाहिये, अन्यथा औषध दोषयुक्त होता है ।

चयादयश्च दोषाणां वर्ज्यं सेव्यं च यत्र यत् ।

जिस जिस ऋतु में जिस जिस दोष का संचय, प्रकोप या प्रशमन होता है, वह सूत्रस्थान में प्रथम कह चुके हैं । जिस ऋतु में जो त्याज्य है और जो सेव्य है, उसको भी 'तस्याशितीय' अध्याय में कह दिया है। इसको देखकर कार्य करना चाहिये ।

ऋतावपेक्ष्यं यत्कर्म पूर्वं सर्वमुदाहृतम् ।। ३०५ ।।
उपक्रमाणां करणं प्रतिषेधे च कारणम् ।
व्याख्यातमबलानां सविकल्पानामवेक्षणे ।। ३०६ ।।
मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्थामातुरस्य च ।
अवेक्षमाणस्तु भिषक् चिकित्सायां न मुह्यति ।। ३०७ ।।

जिस जिस उपक्रम को जहां जहां नहीं वरतना चाहिये, न करने के कारणों को षड्-उपक्रमणीय अध्याय में प्रथम कह चुके हैं । भिन्न भिन्न निर्बल रोगियों के लिये जो बातें देखनी चाहियें उनको प्रथम कह चुके हैं।

रोगी और रोग की अवस्था को बार बार देखने वाला वैद्य चिकित्सा कार्य में धोखा नहीं खाता ।

इत्येवं षडविधं कालमनपेक्ष्य भिषग्जितम् ।
प्रयुक्तमहिताय स्यात्सस्यस्याकालवर्षवत् ।। ३०८ ।।

जिस प्रकार अकाल में पड़ी हुई वर्षा धान्य के लिये अहितकर होती है इसी प्रकार इन उपरोक्त छः कालों को देखे बिना की हुई चिकित्सा अहितकारी होती है ।

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य तु ।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते ।। ३०९ ।।

जिससे वातादि जन्य रोगों का विशेष भेद, जिससे दिन का विशेष भेद, जिससे रात्रि का विशेष भेद, जिससे आयु का विशेष भेद, जिससे

भोजन का विशेष भेद होता है, जिससे ऋतु का विशेष भेद होता है, उसको 'कालापेक्ष' कहते हैं, जो वैद्य इनका भेद कर सकता है, वह काल को देखता है, समझता है।

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः।
वर्षासु वातजाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ३१० ॥

प्रायः वसन्त में कफजन्य रोग, वर्षा में वातजन्य और शरद् ऋतु में पित्तजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥ ३११ ॥
वयोन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद्वयसो नृणाम् ॥ ३१२ ॥
जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥ ३१३ ॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में, दिन के अन्तिम प्रहर में वातजन्य रोग बढ़ते हैं। प्रातःकाल तथा रात्रि के प्रथम प्रहर में कफजन्य रोग, दिन के मध्य में और रात्रि के मध्य में पित्तजन्य रोग बढ़ते हैं। आयु के अन्तिम भाग (वृद्धावस्था) में वातजन्य रोग, आयु के मध्य भाग (युवावस्था) में पित्तजन्य रोग, आयु के प्रारम्भ भाग (बाल्यावस्था) में कफजन्य रोग बढ़ते हैं। भोजन के जीर्ण हो जाने पर वातजन्य रोग, भोजन के जीर्ण होते समय पित्तजन्य रोग, भोजन के खाते समय कफजन्य रोग प्रायः बलवान् होते हैं।

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम्।
दोषवच्चातिमात्रं स्यात्सस्यस्यात्युदकं यथा ॥ ३१४ ॥
संप्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च।
नैवातिबहुलात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत् ॥ ३१५ ॥

जिस प्रकार थोड़ा सा जल बड़ी भारी आग को बुझा नहीं सकता,

उसी प्रकार से थोड़ी औषध रोग को शान्त नहीं कर सकती। अथवा अधिक मात्रा में दी हुई औषध भी उसी प्रकार दोष युक्त होती है जिस प्रकार बहुत अधिक पानी धान्यों को नष्ट कर देता है। इसलिये रोग और औषध दोनों के बल का विचार करके न तो बहुत अधिक और न बहुत कम औषध देनी चाहिये।

औचित्याद्यस्य यत्सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च।
अपथ्यमपि नैकान्तात्तत्त्यजँल्लभते सुखम्॥ ३१६॥

जिस पुरुष को देश के औचित्य के कारण जो द्रव्य सात्म्य रूप हो, जिस पुरुष को प्रकृति के औचित्य के कारण जो द्रव्य सात्म्य रूप हो, उस द्रव्य को उपस्थित रोगों में अपथ्य होने पर भी पूर्ण रूप से नहीं छोड़ देना चाहिये। एकान्त वा पूर्ण रूप में छोड़ देने से रोगी स्वस्थ नहीं होता।

बाह्लीकाः शाद्वलाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः॥ ३१७॥
मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्या क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः।
अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते॥ ३१८॥
कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्।
सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे॥ ३१९॥
मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः।
तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भैषजान्यवचारयेत्॥ ३२०॥

बाह्लीक, शाद्वल, चीन, शुलीक, यवन और शक जाति के पुरुषों को मांस, गेहूं और माध्वीक मद्य, शस्त्रकर्म और अग्निकर्म सात्म्य होता है। प्राच्यलोगों को मछलियां सात्म्य होती हैं, सिन्धुदेशवासियों को दूध सात्म्य होता है। अश्मक तथा अवन्तिका वासियों को तैल अम्ल सात्म्य होता है। मलयवासियों को कन्द, मूल, और फल सात्म्य होते हैं। दक्षिणी लोगों को पेया, उत्तर पश्चिम देश वासियों को मण्ड, मध्य देश

वासियों को जौ, गेहूं और गोरस (दूध दही) सात्म्य होता है।

सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि ।
योगैरेवं चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ॥ ३२१ ॥
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः ।

सात्म्य वस्तु शरीर में बल देती है। मात्रा में बहुत तथा अति दोष युक्त बल नहीं देती। देश आदि को जानने वाला वैद्य इन योगों से (सिद्धान्तों से) चिकित्सा करने पर भूल नहीं करता। सात्म्य के कारण, वय के कारण, आयु, बल शरीरादि के कारण इनके बहुत से भेद हैं।

तथान्तः सन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम् ॥ ३२२ ॥
भवेत्कदाचित्कुत्रापि विरुद्धाभिमता क्रिया ।
पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसंकोपनाहनैः ॥ ३२३ ॥
नीयन्ते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते ।

अन्तर्गत दोषों में, सन्धिगत दोषों में, गूढचारी (छिपे हुए) दोषों में कभी कभी किसी किसी रोग में विरुद्ध क्रिया अभीष्ट होती है। यथा अन्दर पहुंचे, छिपे, गहरे उष्ण पित्त को स्वेद, परिसेचन और उपनाहन द्वारा बाहर लाकर उष्ण वस्तुओं से उष्ण पित्त को शान्त करते हैं।

बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ॥ ३२४ ॥
सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति शीतं शीतैस्तथा जयेत् ।
श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ॥ ३२५ ॥
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथा गुरोः ।

बाह्य शीतल परिसेचन से जो अन्तः उष्णिमा पीड़ित होती है, वह उष्णिमा सूक्ष्म गूढ़ (छिपे) कफ को नष्ट करती है। शीतल उपचार से शीतल कफ शान्त होता है यथा दाहनाशक, शीतल चन्दन को भी बारीक पीसकर यदि यह लेप किया जाता है, तो वह भी दाह उत्पन्न करता है। क्योंकि इस चन्दन के लेप से त्वचा में स्थित उष्णिमा रुक जाती है।

इसी प्रकार दाह कारक उष्ण अगरू को बारीक पीसकर यदि उसका पतला लेप किया जाये तो वह दाह को नष्ट करता है।

छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिकैव तु वामयेत् ॥ ३२६ ॥
द्रव्येषु च विदग्धेषु चैवं तत्त्वेव विक्रिया।
तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः ॥ ३२७ ॥
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलैः।

इसी प्रकार से अंग विशेष में भी कर्म की भिन्नता हो जाती है। यथा मक्खी की विष्ठा वमन नाशक है और मक्खी वमनकारक है इसी प्रकार से विदग्ध द्रव्यों में विपरीत क्रिया हो जाती है। इसलिये विमान स्थान में कथित औषध आदि दस बातों की वास्तविक रूप में परीक्षा करके चिकित्सा करनी चाहिये, केवल योगों से ही चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना ॥ ३२८ ॥
क्षीणे मार्गीकृते दोषे शेषः सूक्ष्म इवानलः।

निवृत्त हुआ रोग थोड़े से भी कारण से पुनः उत्पन्न हो जाता है। दोष के मार्ग बना लेने पर क्षीणरोग शेष बना रहता है। जिस प्रकार सूक्ष्म अग्नि वायु आदि कारणों से पुनः प्रदीप्त हो जाती है।

तस्मात्तमनुबध्नीयात्प्रयोगेणानपायिना ॥ ३२९ ॥
दार्ढ्यार्थं प्राक् प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु।

इसीलिये रोगी की अनपायी (किसी प्रकार की हानि न पहुंचाने वाले) प्रयोग द्वारा चिरकाल तक किचित्सा करनी चाहिये। जिससे कि पूर्व प्रयुक्त सिद्ध (सफलभूत) औषध में दृढ़ता (बल) आये। रोग के शान्त होने पर रोगी की देर तक अनपायी प्रयोगों द्वारा चिचित्सा करनी चाहिये।

काठिन्यादूनभावाद्वा दोषोऽन्तःकुपितो महान् ॥ ३३० ॥
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुदोषकरो भवेत्।

कठिनाई के कारण तथा कम होने पर भी अन्तः कुपित महान् दोष पथ्य द्वारा मृदु और अल्प हो जाने पर मृदु (कोमल) होते हुए भी दोषकारक होता है। इसलिये पथ्य का सेवन (पथ्य भोजन) करने वाले पुरुष में जो रोग उत्पन्न होता है, उससे रोग की वृद्धि को जानकर दूसरे पथ्य का अभ्यास कराना चाहिये।

पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद्यो व्याधिरुपजायते ॥ ३३१ ॥
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवाऽन्यस्य कारयेत्।
सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥ ३३२ ॥
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः।

निरन्तर एक ही वस्तु के प्रयोग से अथवा स्वाद न होने से जिस पथ्य से रोगी द्वेष करने लगे, उसी पथ्य को स्वादकारक कल्पना विधि (संस्कार विधियों) से बनाकर पुन प्रियः करना चाहिये।

मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ॥ ३३३ ॥
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षयः।

पथ्य के मन के अनूकूल होने पर तुष्टि, ऊर्ज, रुचि, बल, सुख होता है, इसलिये व्याधि के बल का क्षय होता है।

लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधेर्वैधर्म्याद्वापि या रुचिः ॥ ३३४ ॥
तासु पथ्योपचारः स्याद्योगेनाद्यं विकल्पयेत्।"

मन व जीभ की चंचलता से दोष का क्षय होने पर भी रोग उत्पन्न हो जाता है अथवा वैधर्म्य के कारण अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इन अवस्थाओं में पथ्य द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये, योगों द्वारा खाद्य वस्तु को बदल कर देना चाहिये, खाद्य वस्तु को नये रूप में देना चाहिये।

तत्र श्लोकाः।

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निदानं लिङ्गमेव च ॥ ३३५ ॥
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा शिष्याणां हितकाम्यया।
शुक्रदोषास्तथा चाष्टौ निदानाकृतिभेषजैः ॥ ३३६ ॥

क्लैब्यान्युक्तानि चत्वारि चत्वारः प्रदरास्तथा ।
तेषां निदानं लिङ्गं च भैषज्यं चैव कीर्तितम् ॥ ३३७ ॥
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ हेतुलिङ्गभिषग्जितैः ।
तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा समासव्यासतो मया ॥ ३३८ ॥
रेतसो रजसश्चैव कीर्तितं शुद्धिलक्षणम् ।
उक्तानुक्तचिकित्सा च सम्यग्योगस्तथैव च ॥ ३३९ ॥
देशादिगुणशंसा च कालः षडविध एव च ।
देशे देशे च यत्सात्म्यं यथा वैद्योऽपराध्यति ॥ ३४० ॥
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारिणाम् ।

उपसंहार—शिष्यों की हितकामाना से बीस योनि रोग, इनके कारण, लक्षण, और चिकित्सा कह दी है । आठ शुक्र दोष इनके कारण, लक्षण और चिकित्सा, चार प्रकार के क्लैव्य, चार प्रकार के प्रदर रोग, इनके कारण, लक्षण और चिकित्सा, आठ दुग्ध दोष, इनके लक्षण, चिकित्सा, शुद्ध शुक्र और शुद्ध आर्त्तव के लक्षण, उक्त और अनुक्त रोगों की चिकित्सा, सम्यग् योग, देश आदि के गुण योग, छः प्रकार के काल, भिन्न भिन्न देश में जो सात्म्य है, जिस प्रकार से वैद्य भूल करता है, गूढ छिपे हुए दोषों की चिकित्सा, ये सब इस 'योनि व्यापद्' अध्याय में पुनर्वसु ने उपदेश कर दिये हैं ।

यो हि सम्यङ् न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च ॥ ३४१ ॥
न कुर्यात्स क्रियां चित्रमचक्षुरिव चित्रकृत् ।

जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति चित्र बनाने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार शास्त्रार्थ को न समझने वाले वैद्य का चिकित्सा कर्म होता है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
व्यापच्चिकित्सित नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इति श्रीचरकसंहितायां चिकित्सितस्थानं समाप्तम् ।

कल्पस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो मदनकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'मदन-कल्प' नाम अध्याय की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है। ❀

अथ खलु वमनविरेचनार्थं मदनफलादित्रिवृतादीनां वमनविरेचनद्रव्याणां सुखोपभोग्यतमैः सहान्यैर्द्रव्यैः विविधैस्तद्योगानां क्रियाविधौ सुखोपायस्य सम्यगुपकल्पनार्थं कल्पस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ॥ ३ ॥

हे अग्निवेश ! [दीर्घंजीवितीय नामक प्रथम अध्याय में शणपुष्पी आदि तीन मूलिनी ओषधियां, धामार्गव इक्ष्वाकु आदि आठ फलिनी ओषधियां वमन के लिये हस्तिदन्ती, श्यामा आदि ग्यारह मूलिनी ओषधियां, शंखिनी, विडंग आदि दस फलिनी ओषधियां विरेचन के लिये कही हैं।] इन दोनों प्रकार की ओषधियों में से वमन विरेचन के लिये वमन द्रव्य मदनफल आदि और विरेचन द्रव्यों से त्रिवृत् आदि द्रव्यों में से क्रिया विधि में सब से अधिक सुखपूर्वक उपयोग करने योग्य अन्य सब विविध द्रव्यों

❀ चिकित्सास्थान में वमन और विरेचन के प्रयोगों का वर्णन होने से, विस्तार से इनका वर्णन करने के लिये कल्पस्थान का अवतरण करते हैं। वमन विरेचन पूर्वक ही पंचकर्मों में बस्ति आदि कर्म होते हैं, इसलिये सिद्धिस्थान से पूर्व इसको कहा है। वमन द्रव्यों में भी सब से प्रधान द्रव्य मदनफल ही है। यथा—'वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि' इसलिये सब से प्रथम मदनकल्प का अवतरण किया है।

के साथ तथा अन्य द्रव्यों [षड् विरेचनशताश्रितीय अध्याय में कहे हुए छः सौ] योगों का सुखजनक चिकित्सा में ठीक प्रकार से उपयोग करने के लिये इस कल्पस्थान का उपदेश करेंगे ।

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकं, अधोभागं विरेचनसंज्ञकं, उभयं वा शरीरमलविरेचनसंज्ञां लभते ॥ ४ ॥

ऊर्ध्व भाग (मुख) से दोषों का निकलना वमन और अधोभाग अर्थात् गुदा मार्ग से दोषों का निकलना विरेचन कहाता है । अथवा शरीर के मल को विरेचन से वमन और विरेचन दोनों 'विरेचन शब्द' से कहे जाते हैं ।

तत्रोष्णतीक्ष्णश्लक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य सम्यग् युक्त्या स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वात् विष्यन्दयन्ति तैक्ष्ण्यात् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवः स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागत्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते, सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्च औषधस्याधः प्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुणत्वात्, इति लक्षणोद्देशः ॥ ५ ॥

इनमें उष्ण, तीक्ष्ण, श्लक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी (व्यापनशील), विकाशी गुण वाले ओषधि अपने वीर्य (शक्ति) से हृदय में पहुंचकर धमनी मार्ग का अनुसरण करके ठीक २ प्रकार से प्रयोग करने पर, सम्पूर्ण शरीर के अनुस्रोतों से अपने आग्नेय गुण के कारण दोष समूहों को विलीन या द्रवभूत कर देते हैं, और तीक्ष्ण गुण के कारण दोष समूहों को टुकड़े २ कर देते हैं। जिस प्रकार स्नेह से स्निग्ध पात्र में मधु कहीं नहीं चिपकता उसी प्रकार विच्छिन्न और परिप्लव अर्थात् प्लावित या द्रव रूप यह दोषसमूह स्नेह से स्निग्ध शरीर में कहीं भी रुकने नहीं पाता । इसलिये दोष समूह कोष्ठ-गमनोन्मुख होने से आमाशय में पहुंच कर उदान वायु

से प्रेरित होकर द्रव्यों के ऊर्ध्व भाग में प्रभाव वाले होने से आग्नेय और वायव्य गुणयुक्त होने से ऊपर की ओर फेंका जाता है। अधोभाग में प्रभाव करने वाले द्रव्यों के जल और पृथिवी के गुणयुक्त होने से दोष समूह नीचे के रास्ते से प्रवृत्त होता है। जिन द्रव्यों में अग्नि, वायु, जल और पृथिवी चारों प्रकार के गुण रहते हैं, इन द्रव्यों के प्रभाव से दोष समूह ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है।

[अग्नि के ऊर्ध्व ज्वलन का स्वभाव होने से, वायु का प्लवन स्वभाव होने से आग्नेय और वायव्य गुण वाले द्रव्य वमनकारक होते हैं। पानी का स्वभाव नीचाई में बहने का होने से तथा पृथिवी के भारी होने से सलिल और पृथिवी गुण वाले द्रव्य विरेचक होते हैं। जिन द्रव्यों में दोनों गुण रहते हैं, वे वमन और विरेचन दोनों कार्य करते हैं।]

इस प्रकार से वमन विरेचन (के लक्षण) का संक्षेप से वर्णन कर दिया है।

तत्र फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनानां श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्तीद्रवन्तीनां च नानाविध-देश-कालसंभवास्वादरसवीर्यविपाकप्रभावग्रहणाद्देहदोषप्रकृतिवयोबलाग्निभक्तिसात्म्यरोगावस्थादिनानाप्रभाववत्वाच्च, विचित्रगन्धवर्णरसस्पर्शानामुपभोगसुखार्थम् परिसंख्येयसंयोगानामपि च सतां द्रव्याणां विकल्पमार्गोपदर्शनार्थं षड्विरेचनयोगशतानि व्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥

इन वमन-विरेचनकारक द्रव्यों में से मदन फल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन इन छः वमन द्रव्यों का और श्यामा, त्रिवृत, चतुरंगुल (अमलतास), तिल्वक, महावृक्ष, सप्तला, शंखिनी, दन्ती और द्रवन्ती नौ विरेचन द्रव्यों का नाना प्रकार के देशों में उत्पन्न, भिन्न भिन्न समयों में उत्पन्न, भिन्न भिन्न स्वाद, भिन्न भिन्न वीर्य, भिन्न भिन्न रस, भिन्न भिन्न विपाक, भिन्न भिन्न प्रभाव वाले इन वमन, विरेचन

कारक द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि देह (स्थूल और कृश), दोष, प्रकृति, वय, बल, अग्नि भुक्ति (इच्छा), सात्म्य, रोग की अवस्था आदि के कारण पुरुष भी अनेक प्रकार के हैं। इसलिये एक ही द्रव्य सम्पूर्ण देह दोषादि में यौगिक नहीं हो सकता और एक ही प्रकार का द्रव्य सब देशों में और सब समयों में प्राप्त नहीं होता। इसलिये देह, दोष आदि भेद वाले पुरुष में बहुत से द्रव्यों को बहुत प्रकार से प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये नाना प्रकार की भिन्न २ गन्ध, भिन्न भिन्न वर्ण, भिन्न भिन्न रस, भिन्न भिन्न स्पर्श वाले द्रव्यों का उपयोग काल तथा उत्तरकाल में सुखदायक होने से संग्रह करना चाहिये।

इन द्रव्यों के प्रयोग असंख्य हैं, अतः केवल विकल्पमार्ग अर्थात् अधिक प्रयोगों की कल्पना का मार्ग बताने के लिये केवल छः सौ विरेचन योगों की ही व्याख्या करेंगे। [क्योंकि मन्द बुद्धि वालों के लिये यही पर्य्याप्त है और अनुमान युक्ति में कुशल इस विकल्प मार्ग से अधिक प्रयोग भी बनाये जा सकते हैं।]

तानि तु द्रव्याणि देशकालगुणभाजनसंपद्वीर्यबलाधानात् क्रियासमर्थतमानि भवन्ति ॥ ७ ॥

ये उपरोक्त वमन-विरेचनकारक द्रव्य देश, काल, पात्र और वीर्य आदि की विशेषता से तथा सम्यग वीर्य एवं बल के आधान से चिकित्सा क्रिया में अति शक्तिशालि हो जाते हैं। ❀

तत्र त्रिविधः खलु देशो जाङ्गलोऽनूपः साधारणश्चेति।

देश—देश तीन प्रकार का होता है। (१) जांगल, (२) आनूप और (३) साधारण इनमें से—

तत्र जाङ्गलः पर्याकाशभूयिष्ठस्तरुभिरपि कदरखदिरासनाश्वकर्ण-

❀ श्री गंगाधरसेन ने 'भाजन-सम्पत्' के स्थान पर 'भोजन-सम्पत्' पाठ दिया है। परन्तु आगे प्रकरण को देखते हुए 'भाजन-सम्पत्' ही पाठ ठीक प्रतीत होता है।

धवतिनिशशल्लकीशालसोमवल्कबदरीतिन्दुकाश्वत्थवटामलकीवनगहनोऽनेकशमीककुभशिंशपाप्रायः स्थिरशुष्कपवनबलविधूयमानप्रनृत्यत्तरुणविटपः, प्रततमृगतृष्णाकूपोपगूढस्तनुखरपरुषसिकताशर्कराबहुलो लावतित्तिरिचकोरानुपचितभूमिभागो वातपित्तबहुलः स्थिरकठिनमनुष्यप्रायो ज्ञेयः ॥ ८ ॥

(१) जांगल देश—जिस देश में चारों दिशाओं में खुला आकाश दीखता है, जो स्थान में कदर, खैर, असन, अश्वकर्ण, धव, तिनिश, शल्लकी, शाल, सोमवल्कल (कट्फल या श्वेत खदिर), बेर, तिन्दुक, पीपल, बरगद, आंवला आदि वृक्षों के वनों से घना हो, जिसमें शमी (जंड़), अर्जुन और शीशम के वृक्ष बहुत हों, जिस स्थान में वायु के तीव्र झोंकों से स्थिर, शुष्क, तरुण वृक्ष बराबर हिलते जुलते नाचते से प्रतीत हों, निरन्तर जहां पर मृगतृष्णा का भान होता है, जहां के कुंए बहुत गहरे हों, जहां पर पतली, कर्कश, कठोर रेत या धूल बहुत हो, जिस स्थान में बटेर, तीतर, चकोर, अधिकतः विचरते हों, जहां पर वात, पित्त की प्रधानता है, जहां के मनुष्य स्थिर और कठोर हों उस स्थान को 'जांगल' देश समझना चाहिये।

अथानूपो हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहनः, सरित्समुद्रपर्यन्तप्रायः, शिशिरपवनबहुलो, वंजुलवनवानीरोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगतभूमिभागः, क्षितिधरनिकुञ्जोपशोभितो, मन्दपवनानुजितक्षितिरुहगहनोऽनेकवनराजीपुष्पितवनगहनभूमिभागः, स्निग्धतरुप्रतानोपगूढो, हंसचक्रवाकबलाकानन्दीमुखपुण्डरीककादम्बमद्गुकोयष्टिभृङ्गराजशतपत्रमत्तकोकिलानुनादिततरुणविटपः, सुकुमारपुरुषः पवनकफप्रायो ज्ञेयः ॥ ९ ॥

(२) आनूप देश—जो स्थान हिन्ताल (हरफा रेवड़ी), तमाल लवली), नारियल, केले का वनों से आर्द्र घना हो, नदी या समुद्र का किनारा हो, शीतल वायु बहती हो, जिस स्थान में नदी के किनारों

पर सुन्दर वन, वानीर (जलवेतस) समूह शोभित हो रहा हो, जो पर्वत और कुंजों से शोभित, मन्द वायु से चालित वृक्षों से घनी भूत, अनेक प्रकार के सुन्दर वनों और फुलवाड़ियों से घना हो, स्निग्ध वृक्षों के प्रतानों (शाखा समूहों) से आच्छादित, हंस, चक्रवाक, बलाका, नन्दीमुख, पुण्डरीक, कादम्ब, मद्‌गु, कोयष्टि, भृंगराज, शतपत्र, मत्त कोकिल आदि पक्षियों के कलरव से गुंजित सुन्दर फले फूले वृक्षों वाला, जहां के पुरुष कोमल, नाज़ुक प्रकृति के हों, जहां पर वात और कफ की प्रधानता हो वह आनूप देश है।

अनयोरेव द्वयोर्देशयोर्वीरुद्वनस्पतिवानस्पत्यशकुनिमृगगणयुतः स्थिरसुकुमारवर्णसंहननोपपन्नसाधारणगुणपुरुषः साधारणो ज्ञेयः ॥ १० ॥

(३) साधारण देश—जहां पर इन दोनों देशों के (जांगल और आनूप) वीरुध वनस्पति, वृक्ष, पक्षी, मृग (पशु) मिलते हों, जहां के पुरुषों का बल तथा शरीर की गठन कठोर तथा नाज़ुक दोनों प्रकार की तथा साधारण गुण वाले होते हैं, वह साधारण देश है।

तत्र देशे जाङ्गले साधारणे वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणोदके श्मशानचैत्यदेवयजनागारसभाश्वभ्रारामवल्मीकोषरविरहिते कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते ॥ ११ ॥

इन देशों में से साधारण या जांगल देश में ऋतु के अनुसार शिशिर (ठण्ड), आतप (सूर्य की घाम) वायु और जल से युक्त, पवित्र, अनुकूल स्थान में, श्मशान, चैत्य (ग्राम्य तरु), मन्दिर, घर, सभा (जन समूह जहां इकठ्ठा होता है), गढ़े, बाग, वल्मीक और ऊसर स्थानों से रहित, कुशा, रोहिष तृण, चिकनी मिट्टी, काली मिट्टी और सोम के समान वर्ण वाली मधुर रस की मिट्टी हो, जहां पर हल न चला हो, ऐसे स्थान में

अन्य बलवान् दृढ़ वृक्षों से जहां ओषधियां नष्ट न हुई हों, ऐसे स्थान में उत्पन्न ओषधियों को ग्रहण करना चाहिये। ये ओषधियां प्रशंसित हैं।

तत्र यानि कालजातान्यागतसंपूर्णप्रमाणरसवीर्यगन्धानि कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्धवर्णरसस्पर्शप्रभावाणि प्रत्यग्राण्युदीच्यां दिशि स्थितानि, तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षावसन्तयोर्ग्राह्यं, ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे च शीर्णप्ररूढपर्णानां, शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि, हेमन्ते साराणि पर्णपुष्पफलमिति।

काल-सम्पत्—इन ओषधियों में जो वनस्पतियां समय पर उत्पन्न हुई हों, जिनका प्रमाण, रस, वीर्य गन्ध सम्पूर्ण रूप में परिपाक हो गया हो, जो वनस्पतियां ऋतु, धूप, अग्नि, पानी, वायु और जन्तुओं से नष्ट न हुई हों, जिनमें गन्ध, वर्ण, स्पर्श और रस तथा प्रभाव और सम्पूर्ण गुण हों उन ओषधियों की शाखाओं और नूतन उत्पन्न पत्रों, को वर्षा और वसन्त में एकत्र करना चाहिये, आग्नेय गुण वाली वनस्पतियों के मूलों को ग्रीष्म ऋतु में, जिनके पुराने पत्ते झड़ गये और नये पत्ते उत्पन्न हो गये हों ऐसे सौम्य वृक्षों के मूल शिशिर ऋतु में, वृक्षों की त्वचा, कन्द और दूध शरद् ऋतु में, वनस्पतियों का सार, पत्ते पुष्प और फल हेमन्त ऋतु में एकत्र करने चाहियें।

मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः संपूज्य देवतामग्निमश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात् ॥ १२ ॥

रोगी मंगल आचरण और कल्याणकारक वृत्ति (शान्तप्रकृति) बनकर मन से पवित्र, श्वेत वस्त्रों को धारण करके, देवता, अग्नि, दोनों अश्वि, गौ और ब्राह्मण की पूजा कर उपवास (व्रत) करके पूर्व उत्तर की ओर मुख करके, ओषधियों की शाखा पत्ते आदि इनको तोड़ कर, द्रव्य के गुण के अनुकूल पात्र में (आग्नेय द्रव्यों को आग्नेय में, सौम्य द्रव्यों को सौम्य पात्रों में) रखकर, पूर्व या उत्तर दिशा में बने द्वार वाले तथा

जहां पर सीधा वायु न आसके, ऐसे एकान्त स्थान में बने मकानों में, तथा जिन मकानों में प्रतिदिन पुष्प, उपहार, बलि मंगल कर्म होता हो, जिन मकानों में अग्नि, पानी, उपस्वेद (मैल), धूवां, धूलि, चूहा, पशु आदि न पहुंच सकें, तथा भली प्रकार से ढंपे हुए (आच्छादित) मकानों में छींकों पर भली प्रकार लटका कर रखे ।

गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्भाजने संस्थाप्यागारेषु प्रागुदग्द्वारेषु निवातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहारबलिकर्मवत्सु अग्निसलिलोपस्वेदधूमरजोमूषिकचतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत् ॥ १३ ॥

इन वनस्पतियों का दोषानुसार प्रयोग करना चाहिये । इन शाखा पलाश आदि द्रव्यों को वातदोष में सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, धान्याम्ल, फलाम्बु, दधि आदि में आलोडित करके पीना चाहिये । पित्त दोष में मुनक्का, आंवला, मुलहठी, फालसा, फाणित (राब), दूध आदि में आलोडित करके पीना चाहिये । कफ दोष में मधु, मूत्र, कषाय आदि से भावना देकर या इनमें अलोडित करके पीना चाहिये ।

यह संक्षेप में कह दिया है । अब इसी की द्रव्य, दोष, देह, और सात्म्य आदि दृष्टि से विभक्त करके व्याख्या करते हैं ।

तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीत सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकधान्याम्लफलाम्लदध्यम्लादिभिर्वाते, मृद्वीकामलकमधुमधुकपरूषकफलफाणितक्षीरादिभिश्च पित्ते श्लेष्मणि तु मधुमूत्रकषायादिभिर्भावितान्यालोडितानि च इत्युद्देशः; तं विस्तरेण द्रव्यदेहदोषसात्म्यादीन् वसन्तादींश्च प्रविभज्य व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षते, अनपायित्वात्; तानि वसन्तग्रीष्मयोरन्तरे पुष्याश्वयुग्भ्यां मृगशिरसा वा गृह्णीयात् मैत्रे मुहुर्ते करणे च । यानि पक्वान्यहरितानि पाण्डून्यप्यक्रिमीकृशानि ह्रस्वानि पूतान्यजन्तुजग्धानि, तानि प्रगृह्य कुशपुटे बद्ध्वा गोमयेना-

नुलिप्य यवतुषमाषशालिव्रीहिकुलत्थमुद्गपलानामन्यतमे निदध्याद-ष्टरात्रं, अत ऊर्ध्वं मृदुभूतानि तानि मध्विष्टगन्धान्युद्धृत्य शोष-येत्, सुशुष्काणां फलपिप्पलीरुद्धरेत्, तासां घृतदधिमधुपललवि-मृदितानां पुनः शुष्काणां पूर्णं तासां नवकलशं सुप्रमृष्टवालुकमरज-स्कमाकण्ठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्ये आसज्य सम्यक् स्थापयेत् ॥ १५ ॥

वमन द्रव्यों में मैनफल को सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं। क्योंकि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा इनके सेवन से बहुत थोड़ा उपद्रव वा क्लेश उत्पन्न होता है। इन मदन फलों को वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के मध्य काल में (वसन्त की समाप्ति और ग्रीष्म के प्रारम्भ में चैत्र वैशाख मास में) पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र में, शुभ मुहुर्त्त तथा शुभ करण में एकत्र करना चाहिये। जो फल बिलकुल पक गये हों, जिनमें जरा भी हरा रंग न हो, पीले हो गये हों, कृमि रहित, न पतले, न छोटे हों ऐसे मैनफलों को लेकर इनकी रेत आदि को धोकर इनको कुशा के भीतर बांध कर उपर गोबर लेप देकर जौ, तुष, माष, चावल, व्रीहि धान्य, कुलत्थी, मुद्गपर्णी इन में से किसी एक वस्तु से ढांप कर आठ दिन तक रख देना चाहिये। आठ दिन के पीछे इन में मधु मधुर) तथा सुन्दर गन्ध उत्पन्न हो जायेगी, तब इनको निकाल कर शुष्क कर लेना चाहिये। मैनफलों की पिप्पली (मींगी) को निकाल ले, इन पिप्पली के आकार के (कण) को घृत, मधु, दधि पलल (तिलकल्क) में मिलाकर फिर शुष्क कर के, रेत और धूल पोंछ साफ़ करके, नये घड़े में इन पिप्पलियों (कणों) को गले तक भर कर, भली प्रकार से ढांप कर, सुरक्षित करके, छिकों पर दृढ़ता से लटका कर रखदे।

अथ च्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपपन्नं श्वश्छर्दयि-तव्य इति ग्राम्यानूपौदकमांसरसक्षीरदधिमाषतिलशाकादिभिः समु-त्क्लेशितश्लेष्माणं व्युषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे कृतबलिहोममङ्गलप्राय-

श्चित्तं निरन्नमनतिस्निग्धं यवाग्वा घृतमात्रां च पीतवन्तं, तासां फल-पिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद्वा साधु मन्येत जर्जरीकृत्य यष्टिमधु-कषायेण कोविदारकर्बुदारनीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्-पुष्पीकषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृदितं घृतमधुसैन्धव-युक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मन्त्रेणानेनाभिमन्त्रयेत् ।

इसके अनन्तर जिस रोगी को वमन देना हो उसको दो या तीन वार स्नेहन क्रिया से स्निग्ध, और स्वेदन क्रिया से स्वेद दे कर अगले दिन इस रोगी को वमन कराने का निश्चय करके प्रथम दिन ग्राम्य मांस रस, आनूप मांस रस, उदक मांस रस, दूध, दधि, तिल, माष, तण्डुल, पलल (तिलकल्क), शाक आदि वस्तुओं के खाने से जब कफ उत्क्लेशित (बाहर निकलने के लिये उन्मुख) हो जाये, रात्रि में किया हुआ आहर जीर्ण हो जाये, तब अगले दिन प्रातः काल पूर्वाह्न में होम बलि, मंगल, प्रायश्चित्तादि कर्म कराके, न बहुत स्निग्ध, और निरन्तर (खाली पेट) रोगी को यवागू में घृत मिलाकर पिलावे ।

जब रोगी घृतयुक्त यवागू को पी चुके तब मैनफल की पिप्पलियों की एक मुष्टि (नखों को अन्दर की ओर मोड़कर जितनी पिप्पली मुट्ठी में आजायें उतनी) परिमित मात्रा अथवा जितनी मात्रा से भली प्रकार वमन हो जाये उतनी मात्रा को जर्जरित (बारीक पीस) कर, मुलहठी के कषाय में या कोविदार (कचनार भेद), कर्बुदार (कचनार), नीम (निम्ब), विदुल (वेतस), बिम्बी (रक्त फल), शण पुष्पी (घण्टारव), सदापुष्पी (आक), प्रत्यकपुष्पी (अपामार्ग), इनमें किसी एक के कषाय में एक रात भर रख कर (शीत कषाय रूप में) इनको मलकर छान कर, इस शीत कषाय में मधु और सैन्धा नमक मिलाकर, थोड़ा सा गरम करके, शराव को पूर्ण भर कर, [मंगलकामना की दृष्टि से] इसे नीचे लिखे मन्त्र से अभि मंत्रित करे, [वमन योग होने से

मधु को गरम किया गया है, अन्यथा मधु उष्ण द्रव्यों के साथ विरोधी है] ॐ

"ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥"

अर्थ—परमेश्वर ब्रह्मा, दक्ष, अश्वि रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, ऋषि, सम्पूर्ण ओषधि समूह और भूत संघ तेरी रक्षा करें। जिस प्रकार ऋषियों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत, नागों के लिये सुधा उत्तम है, उसी प्रकार यह औषध तेरे लिये कल्याणकारी हो।

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेत श्लेष्मज्वरगुल्मशूलप्रतिश्यायवन्तं विशेषेण पुनः पुनरापित्तागमनात्, तेन साधु वमति ॥ १६ ॥

इस प्रकार से औषध को अभिमंत्रित करके वैद्य स्वयं उत्तर की ओर मुख करके तथा रोगी का मुख पूर्व की ओर कराके औषध को पिलाये। कफज्वर, गुल्म, प्रतिश्याय रोगी को जब तक पित्त नहीं आये तब तक बार बार औषध पिलानी चाहिये, इस प्रकार से रोगी को भली प्रकार वमन होता है। *

हीनवेगं तु पिप्पल्यामलकसर्षपवचाकल्कलवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनादित्ययं सर्वच्छर्दनयोगविधिः ॥ १७ ॥

सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्;

ॐ अष्टांगसंग्रह में 'कर्बुदार' के स्थान पर 'कच्छुदार' पाठ है और श्लेष्मातक (लसूड़ा) अर्थ लिया है।

* संग्रह में—'प्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु विशेषेण' पाठ है।

न चोष्णविरोधो मधुनश्छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपक्वप्रत्यागमनाद्दोषनिर्हरणाच्चेति ॥ १८ ॥

यदि वमन का वेग हीन हो (वमन भली प्रकार न हुआ हो) तो जब तक वमन में पित्त दिखाई न दे तब तक पिप्पली, आंवला, बचा, सरसों का कल्क, नमक इनको (इन में से किसी एक द्रव्य को) गरम पानी में मिलाकर बार बार पिलाना चाहिये। सब वमनों में कफ के खिलायन को तोड़ने के लिये मधु और सैन्धा नमक मिलाना चाहिये। यहां उष्ण वस्तु के साथ मधु के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मधु वमन योगों में अपक्व (अपच्यमान) अवस्था में ही फिर बाहर निकल आता है और दोष को भी बाहर निकालता है। [पच्यमान अवस्था में ही मधु, उष्ण द्रव्यों के साथ विरुद्ध पड़ता है।]

[इस प्रकार से मुलहठी, कोविदार आदि नौ द्रव्यों के कषाय से मदनफल के नौ योग हो जाते हैं।]

फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः स्रावयेत्, तेन रसेन तृतीयं भागं पिष्ट्वा मात्रां हरीतकीभिर्बिभीतकैरामलकैर्वा तुल्यां वर्तयेत् तासामेका द्वे वा पूर्वोक्तानां कषायाणामन्यतमस्याञ्जलिमात्रेण विमृद्य बलवच्छ्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरोदराऽरुचिषु पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥ १९ ॥

(१) अन्य आठ योग—मदनफल की पिप्पलियों को लेकर इनके तीन २ भाग करे। इनमें से दो २ भागों को एक साथ लेकर यष्टीमधु आठ द्रव्यों में से किसी एक के कषाय से इक्कीस बार भावना दे (कषाय पिप्पली मात्रा से छः गुणा लेना चाहिये) क्षार परिस्रावण विधि से भावित करे। फिर हरड़, बहेड़ा और आंवला इनको उसी कषाय से (जिस कषाय से पिप्पली के दो भागों को भावना दी है) पीसकर तीसरे भाग के बराबर इसकी मात्रा एक तिहाई पिप्पली के दो भागों में मिलाकर बत्ती बना ले।

इन वर्त्तियों में से एक या दो वर्त्ति को (कर्ष मात्रा को) पूर्वोक्त कोविदारादि आठ कषायों में से किसी एक कषाय की अंजलि परिमित (चार पल) मात्रा में मलकर बलवान् कफ स्राव, ग्रन्थि, ज्वर, उदर आदि रोगों में पिलावे, शेष विधि पूर्ण के समान जाने। इस प्रकार से आठ योग कोविदारादि आठ कषायों से बन जाते हैं।

फलपिप्पलीक्षीरं, तेन वा क्षीरयवागूमधोभागे रक्तपित्ते हृद्दाहे तज्जस्य वा दध्न उत्तरकं कफच्छर्दितमकमुखप्रसेकेषु पूर्णशरावं तस्यैव पयसः शीतस्य सन्तानिकाञ्जलिं पित्ते प्रकुपिते उरःकण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्ध इति समानं पूर्वेण ॥ २० ॥

(२) पांच योग—मैनफल की पिप्पली से साधित दूध पिलाना चाहिये। मैनफल की पिप्पलियों द्वारा क्षीरपाक विधि (पिप्पली चूर्ण २ तोले, पानी १६ तोले, दूध ४ तोले लेकर इसका पाक करना चाहिये, जब केवल दूध शेष रह जाये तब उतार लेना चाहिये।] से साधित दूध देना चाहिये। मैनफल पिप्पली से सिद्ध दूध को अधोगामी रक्तपित्त में पिलाना चाहिये। अथवा इसी फल-पिप्पली से सिद्ध दूध से यवागू सिद्ध करके हृदय दाह में पिलानी चाहिये। अथवा फल पिप्पली-सिद्ध दूध से उत्पन्न दही तृषा रोगी को देनी चाहिये। फल-पिप्पली-साधित दूध से शराव को पूर्ण भर कर (दो कुडव परिमाण) कफजन्य वमन, तमक श्वास, मुख से लाला स्राव होने पर पिलानी चाहिये। पिप्पली साधित इसी दूध के शीतल हो जाने पर ऊपर जमी हुई सन्तानिका (मलाई) की अंजलि (चार पल) परिमित मात्रा को पित्त के प्रकोप में और पित्त मिश्रित कफ से उरःकण्ठ और हृदय के लिप्त होने पर पिलानी चाहिये। शेष पूर्ववत्।

फलपिप्पलीशृतक्षीरान्नवनीतमुत्पन्नं फलादिकल्ककषायसिद्धं कफाभिभूताग्निं विशुष्यद्देहं च मात्रया पाययेदिति समानं पूर्वेण ।२१।

(३) एक योग—मदनफल पिप्पली के कल्क द्वारा सिद्ध दूध के मथने

से निकले हुए मक्खन (घृत) को, मदनफल, मुलहठी, कोविदार आदि द्रव्यों के चतुर्गुण कषाय में मदनफल, मुलहठी, कोविदार आदि के चतुर्थांश कल्क से साधित घृत को कफ के कारण मन्द अग्नि वाले रोगियों को तथा शुष्क शरीर वाले व्यक्तियों को मात्रा में पिलाना चाहिये। यहां पर भी पूर्व की भांति स्नेह स्वेदादि अभिमंत्रण विधि करनी चाहिये।

फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः परिभावितेन पुष्परजःप्रकाशेन चूर्णेन, बृहत्सरसि संजातं बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत्, तद्रात्रिपर्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृशरक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितयुक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत् सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्तकफमौषधद्वेषिणमिति समानं पूर्वेण।२२

(४) एक योग—मदनफल पिप्पलियों को खूब बारीक कूट कर पुष्प की धूलि (पराग) के समान सूक्ष्म कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को यष्टी मधु आदि नौ द्रव्यों के कषाय से इक्कीस बार भावना देनी चाहिये। बड़े भारी तालाब में उत्पन्न, बड़े कमल पुष्प को लेकर उस पुष्प के ऊपर इस चूर्ण को छिड़क कर एक रात भर रख देना चाहिये। अगले दिन प्रातः काल इस कमल पुष्प को पुनः इसी पिप्पली चूर्ण से अवचूर्णित करके, रोगी को गले तक (पेट भर कर) फाणित (राब) मिश्रित क्षीर में बनी यवागू अथवा सैन्धा नमक से मिश्रित हरिद्रा (हल्दी), कृशरा खूब गले तक पिला कर सुकुमार प्रकृति, कफ, पित्त के बाहर आने के लिये उन्मुख होने पर औषध द्वेषी रोगी को यह फूल सूंघने के लिये देना चाहिये। यहां पर स्वेदन, अभिमन्त्र कर्म पूर्व की भांति करना चाहिये। *

फलपिप्पलीनां भल्लातकविधिपरिस्रुतं स्वरसं पक्त्वा फाणिती-

---

* अष्टांगसंग्रह में पुष्प की भांति माला, गन्ध, प्रावरण आदि भी बनाकर देने के लिये लिखा है।

भूतमातन्तुलीभावाल्लेहयेत्; तदातपशुष्कं च चूर्णीकृतं जीमूतादिकषायेण पित्ते कफस्थानगते पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥ २३ ॥

(५) रसायनोक्त भल्लातक तैल स्राव विधि से मदनफल पिप्पली के स्वरस को फाणित (राब) के साथ मिलाकर पकाना चाहिये। जब इसमें तन्तुलीभाव अर्थात् तार सी छूटने लगे तब उतार लेना चाहिये। इस लेह को देना चाहिये, यह एक योग।

(६) मदनफल पिप्पली को शुष्क करके इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को जीमूतक, घोषादि के कषाय के साथ कफ स्थान में पहुंचे पित्त की अवस्था में रोगी को देना चाहिये। यहां पर भी स्नेह, स्वेद अभिमन्त्रण पूर्व की भांति करना चाहिये।

फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत्कोविदारादीनां षण्णामन्यतमकषायस्नुतानि वर्तिक्रिया कोविदारादिकषायोपसर्जनाः पेया इति समानं पूर्वेण ॥ २४ ॥

(७) छः योग—मदनफल पिप्पली के चूर्ण को कोविदारादि छः द्रव्यों में से किसी एक के कषाय से भावना देकर बर्त्ति (कर्ष परिमित मात्रा) बना लेनी चाहिये। इन में से एक या दो वर्त्ति को पीकर मदन फल, कोविदार आदि के कषाय में सिद्ध पेया आदि (सर्जन क्रम) को पीना चाहिये। यहां पर भी स्नेह, स्वेद अभिमंत्राणि आदि क्रियायें पूर्ववत् हैं।

[छः द्रव्य—कोविदार, कर्बुदार, नीम, विदुल, बिम्बी और शणपुष्पी।]

फलपिप्पलीनामारग्वधकुटजस्वादुकण्टकपाठापाटलिशार्ङ्गेष्टामूर्वासप्तपर्णनक्तमालपिचुमर्दपटोलसुषवीगुडूचीसोमवल्कलद्वीपिकानां पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेराणां चान्यतमकषायेण सिद्धो लेह इति समानं पूर्वेण ॥ २५ ॥

(८) अवलेह में २० योग—आरग्वध (अमलतास), कुटज,

स्वादु कण्टक (विकंकत), पाठा, पाटलि, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या गुंजा मूल), मूर्वा, सप्तपर्ण, नक्तमाल (करंज), पिचुमर्द (नीम), पटोल, सुषवी (करेला), गिलोय, सोमवल्कल (श्वेत खदिर या कायफल) दीपिका (कटेरी या अजवायन की जड़), पिप्पली, पिप्पलीमूल, गज-पिप्पली, चित्रक और सोंठ इनमें से किसी एक के कषाय में मदनफल पिप्पली का चूर्ण मिला कर अवलेह सिद्ध करना चाहिये। यहां पर भी स्नेह स्वेदादि पूर्ववत् करने चाहियें।

फलपिप्पलीष्वेलाहरेणुकाशतपुष्पाकुस्तुम्बुरुतगरकुष्ठत्वक्चोरक-मरुबकागुरुगुग्गल्वेलवालुकश्रीवेष्टकपरिपेलवमांसीशैलेयकस्थौणेय-कसरलपारावतपद्यशोकरोहिणीनां विंशतेरन्यतमस्य कषायेण साध-यित्वोत्कारिका उत्कारिकाकल्पेन तथा मोदकान् वा मोदककल्पेन यथादोषरोगभक्ति प्रयोज्या इति समानं पूर्वेण ॥ २६ ॥

(९) बीस मोदक योग—सातला (इन्द्रायण), हरेणुका, सौंफ, कस्तुम्बुरु (धनिया), तगर, कूठ, दालचीनी, चोरक, मरुवक (मरुवा), गुग्गुलु, अगरु, एलवालुक, श्रीवेष्टक (राल), परिपेलव (कैवर्त्तमुस्ता), जटामांसी, शैलेय (शिलापुष्प), स्थौणेय, सरलकाष्ठ, पारावतांघ्रि (मालकंगनी), अशोक रोहिणी (कटुकी), इन बीस द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के कषाय में मदनफल पिप्पली के चूर्ण को पका कर इन से उत्कारिका बनाने की रीति से उत्कारिकायें (गुंजियां) बना लेनी चाहिये, अथवा लड्डू बनाने की रीति से लड्डू बना लेने चाहियें। यहां पर भी स्नेह स्वेदादि पूर्ववत् करने चाहियें।

फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिभावितानि तिलशालितण्डुलपि-ष्टानि तत्कषायोपसर्जनानि शष्कुलीकल्पेन वापूपा इति समानं पूर्वेण ॥ २७ ॥

(१०) तिल तण्डुलों को (तिलों को) मदनफल पिप्पली के स्वरस कषाय से भावना देकर दालचीनी के कषाय के साथ पीस लेना

चाहिये। अब इन तिल तण्डुलों से शष्कुली (कचौरियां पिठ्ठी भर कर बनी पूरी) बनाने की रीति से शष्कुलियां, पूप (पूड़े) बनाने की रीति से पूप तैयार करने चाहियें। स्नेह, स्वेद अभिमंत्रण पूर्व की भांति है।

[इस प्रकार से तिल तण्डुलों को मैनफल-पिप्पली स्वरस से भावना देकर सुरस, समुख, कुठेरक, गण्डीरक (सब तुलसी भेद हैं) आदि पन्द्रह द्रव्यों में से किसी एक के कषाय से पीसकर इनसे कचौरी या पूए बनाने चाहियें। इस प्रकार से ये सोलह योग हो जाते हैं।

एतेनैव च कल्पेन सुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकगृञ्जनानां कासमर्दभृङ्गराजानामिक्षुबालिकेक्षुकाण्डेक्षूणां चान्यतमस्य कषायेण कारयेत् समानं पूर्वेण ॥ २८ ॥

(११) सोलह शष्कुली योग और सोलह पूप योग—बाल, शाल, पर्णास, क्षवक, कालक (कालशाक), गृंजनक (प्याज़), भूस्तृण, शाक (शाक वृक्ष, सागौन), कासमर्द भृंगराज, पोटा (नलसर), इक्षुवालिका, कालकण्टक, (डाऊक), काण्डेरक (या दाण्डेरक) इन चौदह वृक्षों में से किसी एक के कषाय से शष्कुली (कचौरी) या पूप तैय्यार करने चाहियें। [ये चौदह योग हैं, पिछले एक एक योग हैं इस से १६ शष्कुली और १६ पूप हो जाते हैं। स्नेह स्वेदादि कर्म पूर्व के समान है [१५ द्रव्यों के १५ योग है और सब का मिश्रित योग १६ वां एक]

तथा बदरषाडवरागलेहमोदकोत्कारिकातर्पणपानकमांसरसयूषमद्यानां मदनफलान्यतमेनोपसंसृज्य यथादोषरोगभक्तिदद्यात्तैः साधु वमतीति ॥ २९ ॥”

(१२) दस योग—षाड़व, राग, लेह, मोदक उत्कारिका, तर्पण सत्तू पानक, मांसरस, यूष और मद्य इन दस वस्तुओं में से प्रत्येक को मदन फल कषाय में पकाने कर इस में मदन फल-पिप्पली को मिलाकर दोष तथा रोग के अनुसार पिलाना चाहिये। इनसे भली प्रकार से वमन होता है।

तत्र श्लोकाः। मदनः करहाटश्च राठः पिण्डितकः फलम्।
श्वसनश्चेति पर्यायैरुच्यते तस्य कल्पना ॥ ३० ॥

मदन फल के पर्याय—मदनफल, करहाट, राठ, पिण्डीतक फल, और श्वसन ये मदन फल के पर्याय हैं। इसकी कल्पना विधि—

नव योगाः कषायेषु वर्तिष्वष्टौ पयोमुखाः।
पञ्चैकः फाणिते चूर्णे घ्रेये वर्तिक्रियासु षट् ॥ ३१ ॥
विंशतिर्विंशतिर्लेहमोदकोत्कारिकासु च।
शष्कुलीपूपयोश्चोक्ता योगाः षोडश षोडश ॥ ३२ ॥
दशान्ये खाण्डवाद्येषु त्रयस्त्रिंशदिदं शतम्।
योगानां विधिवद्दृष्टं फलकल्पे महर्षिणा ॥ ३३ ॥

कषायों में ९ योग, वर्त्तियों में आठ योग, दूध विधि में ५, सुंघने में १, लेह में १, चूर्ण में एक योग, वर्त्ति क्रिया में ६ योग, उत्कारिका में २०, मोदकों में २०, लेह में २०, कुशष्ली में १६, पूप में १६, पाड़व आदि में १०, इस प्रकार से फल कल्प अध्याय में महर्षि ने विधिपूर्वक एक सौ तैंतीस योगों का उपदेश किया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने मदनफल-
कल्पोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातो जीमूतककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे जीमूतकल्प की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

[दीर्घंजीवितीय अध्याय में फलिनी ओषधियों में वमन के लिये गिने जीमुत फल के योगों को नहीं गिनना, अतः फल और पुष्प दोनों के योग यहां कहे गये हैं।]

कल्पं जीमूतकस्येमं फलपुष्पाश्रयं शृणु ।
गरागरी च वेणी च तथा स्याद्देवताडकः ॥ ३ ॥
जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम् ।
प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काकोष्ठामयेषु च ॥ ४ ॥

फल-पुष्प पर आश्रित इस जीमूतक के कल्प श्रवण करो।

जीमूतक के पर्य्याय—गरागरी, वेण, देवताड़क भी हैं। वातहरादि द्रव्यों से युक्त जीमूतक (तुरई) का ज्वरादि रोगों में प्रयोग करना चाहिये, यह त्रिदोष नाशक है। ज्वर, श्वास, हिचकी तथा उदर रोगों में इसका प्रयोग करना चाहिये।

यथोक्तगुणयुक्तानां देशजानां यथाविधि ।
पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता ॥ ५ ॥
लोमशे क्षीरसन्तानं दध्युत्तरमलोमशे ।
शृते पयसि दध्यम्लं जातं हरितपाण्डुके ॥ ६ ॥
जीर्णानां च सुशुष्काणां न्यस्तानां भाजने शुचौ ।
चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितः पिबेत् ॥ ७ ॥
आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वा प्रस्नुतं पिबेत् ।
कफजेऽरोचके कासे पाण्डुरोगे सयक्ष्मणि ॥ ८ ॥

(१) योग—(१) यथोक्त गुण वाले जीमूतों (तुरई) के पुष्पों को यथाविधि तोड़कर उनसे सिद्ध दूध वमन के लिये देना चाहिये। इसी प्रकार (२) जीमूतों के फलों को यथाविधि संगृहीत करके उनसे सिद्ध दूध वमन के लिये देना चाहिये। (३) रोमश (लोमश जिन फलों पर रूंवा आगये हों ऐसे) जीमूत फलों से साधित दूध की सन्तानिका (मलाई) वमन के लिये पीनी चाहिये।* (४) अरोमश (रूंरहित

---

* चक्रपाणि और अष्टांग-संग्रह में क्रमशः 'रोमशे', 'अरोमशे' और 'हरित-पाण्डुरे' यह पाठ है। परन्तु श्री गंगाधर सेन ने 'लोमने' 'अलोमने' और 'हरितपाण्डरे' यह पाठ करके अर्थ भी और प्रकार से किया है।

जिनपर से बाल झड़ गये हों), जीमूतफल से साधित दूध से दही जमा कर उसकी मलाई पीनी चाहिये। ये चार योग हैं। (५) जो जीमूतक फल हरे तथा पाण्डुर वर्ण (पीले) हों उनसे दूध को सिद्ध करके इससे दही जमाकर दध्यम्ल पीना चाहिये। यह पांचवां योग है। (६) पवित्र पात्र में रक्खे पुरातन और शुष्क जीमूतक फलों का चूर्ण कर लेना चाहिये इस चूर्ण की शुक्ति (आधा पल) मात्रा को वात-पित्त रोगी को दूध से पीना चाहिये।

इस प्रकार से दूध के छः योग कह दिये हैं।

जीमूत फल का आसव बनाकर इस आसव की एक प्रसृत मात्रा को सुरा-मण्ड (मदिरा के उपरितन स्वच्छभाग) में मलकर कफजन्य रोगों में, अरुचि में, कास में, पाण्डुराग में और यक्ष्मारोग में देना चाहिये।❀

(लोमने) दोषों का अनुलोमन होने पर दूध की मलाई पीनी चाहिये। (अलोमने) दोषों का प्रतिलोम होने पर दधि पर जमी मलाई पीनी चाहिये। शरीर के हरापाण्डुर होने पर दध्यम्ल पीना चाहिये। परन्तु प्रकरण तथा संग्रह को देखते हुए कविराजजी का पाठ चिन्तनीय है। अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने स्पष्ट कर दिया है—

"तानि च फलानि किञ्चित् कालेन लोमशानि भवन्ति कर्कटिकावत्। पुनः कालेन लोमशत्वं त्यजन्ति। अलोमशत्वादनन्तरं परिहीणहरितत्वानि पाकाभिमुखत्वाच्च गृहीतपाण्डुत्वानि भवन्ति॥"

अर्थात् जीमूतक फल पर पहले ककड़ी के समान लोम होते हैं फिर वे झड़ जाते हैं उसके बाद पकने के पूर्व समय वह हरा पीला होजाता है।

❀ अष्टांगसंग्रह में मदिरामण्ड के योग को जीमूत के आसव के स्थान में कषाय के साथ मिलाकर देने के लिये लिखा है। यथा—
'तत्कषायसंसृष्टां सुरां वा कफारोचककासपाण्डुरोगयक्ष्मासु प्रयुञ्जीत॥'

(२) अष्टांगसंग्रह में एक अन्य योग भी दिया है। यथा—जीमूतचूर्णकल्कं वा शीताम्बुना पित्तजे। तदेवोष्णेन वातकफजे कफजे वा।

द्वे चापोथ्याथवा त्रीणि गुडुच्यामलकस्य वा ।
कोविदारादिकानां वा निम्बस्य कुटजस्य वा ॥ ९ ॥
कषायेष्वासुतं पूत्वा तेनैव विधिना पिबेत् ।

(२) बारह योग—दो या तीन जीमूतक फलों को लेकर कूट लेना चाहिये । इनको गिलोय, मुलहठी, कोविदार, कर्बुदार, नीम, विदुल, विम्बी, शणपुष्पी, सदापुष्पी, प्रत्यक् पुष्पी, निम्ब (बकायन) और कुटज इन बारह द्रव्यों में से किसी एक के कषाय में भिगोना चाहिये । जब रस निकल जाय तब छानकर उसी कषाय में मिलाकर विधिपूर्वक पीना चाहिये । ये बारह योग हैं ।

अथवाऽऽरग्वधादीनां सप्तानां पूर्ववत्पिबेत् ॥ १० ॥
एकैकस्य कषायेण पित्तश्लेष्मज्वरार्दितः ।

(३) सात योग—आरग्वधवृक्ष (अमलतास), कुटज, स्वादुकण्टक, पाठा, पाटला, शार्ङ्गेष्टा और मूर्वा इन सात द्रव्यों में से किसी एक के कषाय में दो या तीन जीमूतक फलों को कूटकर भिगोना चाहिये । पीछे से रस निकल जाने पर इनको छानकर उसी कषाय के साथ मिला कर पीलेना चाहिये । ये सात योग हैं । कफ-पित्तजन्य ज्वर में देना चाहिये ।

वर्तयः फलवच्चाष्टौ कोलमात्रास्तु ता मताः ॥ ११ ॥
जीमूतकस्य वा कल्कं चूर्णं वा शिशिराम्बुना ।
ज्वरे पित्ते पिबेद्वाते कफे चोष्णोदकेन तु ॥ १२ ॥

(४) आठ वर्त्तियोग—मदनफल को वर्त्तियों के समान जीमूतक से आठ वर्त्तियां (कोल कर्ष परिमित) बनानी चाहियें । यथा—कोविदार आदि आठ द्रव्यों में से किसी एक से जीमूतक फल के दो भागों को इक्कीस वार भावना देनी चाहिये । फिर तृतीय भाग के बराबर त्रिफला के

जीमूत के चूर्ण या कल्क पित्तजन्य रोग में शीतल जल से, वात-कफजन्य रोग में गरम पानी से पीना चाहिये ।

चूर्ण को उसी कषाय से भावना देकर जीमूतक चूर्ण में मिला देनी चाहिये। इस चूर्ण से कोल मात्र परिमित वर्ति बनानी चाहिये। इस प्रकार से आठ वर्तियां बनानी चाहियें।

जीवकर्षभकेक्षूणां शतावर्या रसेन वा।
पित्तश्लेष्मज्वरे दद्याद्वातपित्तज्वरेऽथवा ॥ १३ ॥
तथा जीमूतकक्षीरात्समुत्पन्नं पचेद्घृतम्।
फलादीनां कषायेण श्रेष्ठं तद्वमनं मतम् ॥ १४ ॥

(५) चार योग—जीमूतक के फल को कल्क रूप करके जीवक, ऋषभक, ईक्षु और शतावरी इन चार द्रव्यों में से किसी एक के स्वरस के साथ वमन के लिये पित्त-कफज्वर में, वात-पित्तज्वर में देना चाहिये।

जीमूतक फलों से सिद्ध दूध को मथकर घृत बनाना चाहिये। मदनफल, कोविदार आदि का कषाय करके इन्हींके कल्क से इस घृत को सिद्ध करना चाहिये। यह उत्तम वमन है।

तत्र श्लोकौ। षट् क्षीरे मदिरामण्डे एको द्वादश चापरे।
सप्त चारग्वधादीनां कषायेऽष्टौ च वर्तिषु ॥ १५ ॥
जीवकादिषु चत्वारो घृतं चैकं प्रकीर्तितम्।
कल्पे जीमूतकानां च योगास्त्रिंशन्न वाधिकाः ॥ १६ ॥

उपसंहार—जीमूतक क्षीर में छः योग, मदिरामण्ड में एक, गिलोय आदि में बारह, आरग्वधादि में सात, वर्त्तियों में आठ, जीवकादि में चार, और घृत में एक योग, इस प्रकार से जीमूतक कल्प में ३९ योग कहे हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
जीमूतककल्पो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथात इक्ष्वाकुकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'इक्ष्वाकु कल्प' की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

सिद्धं वक्ष्याम्यथेक्ष्वाकुकल्पं तेषां प्रशस्यते ।
पञ्चचत्वारिंशदुक्ता योगा अस्मिन्महर्षिणा ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर 'सिद्ध इक्ष्वाकु कल्प' का उपदेश करता हूँ जिनके लिये यह उपयोगी है । इस इक्ष्वाकु कल्प में महर्षि ने पैंतालीस योग कहे हैं ।

लम्बाऽथ कटुकालावू तुम्बी पिण्डफलं तथा ।
इक्ष्वाकुः फलिनी चैव प्रोच्यते तस्य कल्पना ॥ ४ ॥
कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्शिते ।
प्रताम्यति नरे चैव वमनार्थं तदिष्यते ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकु के पर्याय—लम्बा, कटुका अलावु, तुम्बी, पिण्डफला, इक्ष्वाकु और फलिनी ये पर्याय हैं । हिन्दी में इसको कडुवी तुरई कहते हैं । अब इसकी कल्पना कहते हैं—

कास, श्वास, कफजन्य वमन, प्यास में कफ के कारण कृश होने पर तथा जिस पुरुष को मूर्च्छा आती हो उसके वमन के लिये यह 'इक्ष्वाकु कल्प' देना चाहिये ।

अपुष्पस्य प्रवालानां मुष्टिं प्रादेशसंमिताम् ।
क्षीरप्रस्थे शृतं दद्यात्पित्तोद्रिक्ते कफज्वरे ॥ ६ ॥

(१) जिस इक्ष्वाकु में फूल न आये हों, उसके प्रवाल भागों (नूतन अग्रभागों) को एक बालिश्त लम्बा आगे से तोड़कर इनकी एक मुष्टि परिमित मात्रा (पल मात्रा) एक प्रस्थ दूध में पकानी चाहिये। इस दूध में चार गुणा पानी मिला कर दूध को सिद्ध करना चाहिये । यह दूध पित्त प्रबल कफ ज्वर में वमन के लिये देना चाहिये ।

पुष्पादिषु च चत्वारः क्षीरे जीमूतके यथा ।
योगा हरितपाण्डूनां,

(२) जीमूतक क्षीर की भांति इक्ष्वाकु के भी दूध में छः योग—यथा—(१) इक्ष्वाकु के पुष्पों को दूध में पकाकर (२) इक्ष्वाकु के

फलों को दूध में पकाकर, (३) इक्ष्वाकु के रोमश फलों को दूध में पकाकर उससे उत्पन्न मलाई को, (४) इक्ष्वाकु के अरोमश फलों को दूध में पकाकर उससे दधि जमाकर, उसकी मलाई खाकर पीछे से दही का पान करना चाहिये, ये चार योग हैं। (५) इक्ष्वाकु हरे पाण्डुर वर्ण फलों से सिद्ध दूध से बनाई दधि और अम्ल खाना चाहिये, ये पांच योगपूर्वोक्त प्रथम योग को मिला कर छः योग दूध के हैं।

सुरामण्डेन पञ्चमः ॥ ७ ॥

(३) सुरामण्ड के साथ प्रयोग—इक्ष्वाकु फल को सुरामण्ड में डालकर कुछ समय तक रखने के पीछे पकाना चाहिये। जब आसव हो जाये तब इसको सुरामण्ड में मिलाकर एक प्रसृति मात्रा कफजन्य अरुचि आदि में पीना चाहिये।

फलस्वरसभागं च त्रिगुणक्षीरसाधितम्।
उरःस्थिते कफे दद्यात्स्वरभेदे सपीनसे ॥ ८ ॥

(४) इक्ष्वाकु फल का स्वरस एक भाग, दूध तीन भाग इनको सिद्ध करके (दूध मात्र शेष रखकर) उरःस्थित कफ में, पीनस में तथा स्वरभेद में देना चाहिये। यह दूध का सातवां योग है।

हृतमध्ये फले जीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि।
जातं स्यात्कफजे कासे श्वासे वम्यां च तत् पिबेत् ॥ ९ ॥

(५) पुरातन इक्ष्वाकु फल को बीच में से गुदा बीज निकालकर खोखला कर लेना चाहिये। इसमें दूध भरकर इसकी दही जमानी चाहिये। इस दही को कफजन्य कास, श्वास और छर्दि में खाना चाहिये। * यह आठवां योग है।

* कविराज श्रीगंगाधरसेन ने यहां पाठान्तर दिया है। यथा—"जीर्णे सद्योद्धृते क्षीरे प्रक्षिपेत् तु तथा दधि" इसका अर्थ इस प्रकार से किया है। गौ का आहार जीर्ण होने पर प्रातःकाल उसका दूध निकालकर उस धारोष्ण (त्रिगुण) दूध में इक्ष्वाकु फल के स्वरस का एक भाग मिलाकर

मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डूकुष्ठविषार्दितः ।
तेन तक्रं विपक्कं वा सक्षौद्रलवणं पिबेत् ॥ १० ॥

(६) इक्ष्वाकु फल के मध्य भाग (गुद्दे) को दधि के मस्तु के साथ पकाकर पाण्डु, कुष्ट, विषरोगी को पीना चाहिये । इक्ष्वाकु के मध्य भाग के साथ तक्र को पकाकर इसमें मधु और नमक मिला कर पीना चाहिये ।

अजाक्षीरेण बीजानि भावयेत्पाययेत च ।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च ॥ ११ ॥

(७) इक्ष्वाकु के बीजों का चूर्ण करके इसको बकरी के दूध से भावना देनी चाहिये । इस भावित चूर्ण को बकरी के दूध के साथ विष रोग, गुल्म रोग, उदर रोग, ग्रन्थि, गण्ड और श्लीपद में पिलाना चाहिये ।

तुम्ब्यः फलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम् ।
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गन्धसंपत्सुखोचितः ॥ १२ ॥

(८) इक्ष्वाकु के फूलों का, इक्ष्वाकु फल के स्वरस के साथ शुष्क करके चूर्ण बना लेना चाहिये । इस चूर्ण को पुष्पों की माला पर छिड़कर कर सुंघने से सुखोचित (नाज़ुक शरीर वाले) पुरुष को वमन हो जाता है ।

भक्षयेत्फलमध्यं वा गुडेन पललेन च ।
इक्ष्वाकुफलतैलं वा सिद्धं वा पूर्ववद्घृतम् ॥ १३ ॥

(९) इक्ष्वाकु फल के मध्य भाग को गुड़ के साथ खाना चाहिये । अथवा इक्ष्वाकु फल के मध्य भाग को पलल (तिल कल्क के साथ अथवा मांस के साथ पकाकर) खाना चाहिये । इक्ष्वाकु फल के बीजों का तैल पीना चाहिये । अथवा जीमूत घृत की भांति सिद्ध इक्ष्वाकु घृत पीना

दहि जमानी चाहिये, इस दही का प्रयोग करे । परन्तु अष्टांगसंग्रह में "जीर्णे वा समुद्धृतबीजे क्षीरं प्रक्षिपेत् । तत्र जाते दधि श्लेष्मकासश्वासच्छर्दिषु' यह पाठ दिया है ।

चाहिये। अर्थात् इक्ष्वाकु फलों से सिद्ध दूध को मथकर मक्खन निकाल लेना चाहिये। मदनफल, कोविदार आदि का चतुर्गुण कषाय लेकर इन्हीं के चतुर्थांश कल्क से यह घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत उत्तम वामक है। गुड़, पलल, तैल और घृत के चार योग।

पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलिनीनां यथोत्तरम्।
पिबेद्विमृद्य बीजानि कषायेष्वाशु तं पृथक्॥ १४॥

(१०) छः योग—इक्ष्वाकु फल के दस बीजों को पीसकर पीना चाहिये। इस प्रकार से उत्तरोत्तर दस दस बीज प्रति दिन बढ़ा कर पचास तक पहुंचाने चाहियें। द्वितीय दिन २०, तृतीय दिन ३०, चतुर्थ दिन ४० और पाचवें दिन ५०, इस प्रकार से बढ़ाने में पांच योग हैं।*

वमनोपयोगी इक्ष्वाकु फल के कषाय से आसव करके पीना चाहिये, यह पृथक् योग इस प्रकार से वर्तमान क्रिया और आसव में छः योग हैं।

यष्ट्याह्वकोविदाराद्यैर्मुष्टिमन्तर्नखं पिबेत्।

(११) नौ योग—ईक्ष्वाकु फ़ल के बीजों की एक मुष्टि (पल परिमित मात्रा (नखों को अन्दर की ओर मोड़कर भरी हुई मुट्ठी), मात्रा को मुलहठी, कोविदार आदि नौ कषायों के साथ पीसकर मुलहठी आदि के कषाय के साथ पीनी चाहिये, ये नौ योग हैं।

कषायैः कोविदाराद्यैर्मात्राश्च फलवत्स्मृताः॥ १५॥
बिल्वमूलकषाये च तुम्बीबीजाञ्जलिं पचेत्।

(१२) आठ वर्तियां—कोविदार आदि आठ वस्तुओं के कषाय से मदनफल के साथ आठ वर्त्तियां इक्ष्वाकुफल के बीजों से बनानी चाहिये। यथा—इक्ष्वाकु फल के बीजों के चूर्ण के दो भाग करके इनको कोविदार

---

* चक्रपाणि ने—'त्रयस्त्रिकटुकस्य च' के स्थान पर 'चतुर्थं फाणितस्य च' यह पाठ दिया है। यहां पर फाणित से आधा पका इक्षु रस लिया है। अष्टांग संग्रह में—क्वाथ के बराबर त्रिकटु डालने को लिखा है। यथा—क्वाथतुल्यमावपेत् त्रिकटुकम्।

आदि आठ द्रव्यों में से किसी एक से भावना देकर, फिर तीसरे भाग के समान कोविदार आदि के कषाय से भावित त्रिफला चूर्ण मिलाकर वर्त्ति (कर्ष मात्रा) बनानी चाहियें। यह आठ वर्त्तियां हैं।

पूतस्यास्य त्रयो भागाश्चतुर्थः फाणितस्य तु ॥ १६ ॥
सघृता बीजभागाश्च पिष्टा अर्धांशिकांस्तथा।
महाजालिनिजीमूतकृतवेधनवत्सकान् । १७ ॥
तं लेहं साधयेद्दर्व्या घट्टयन्मृदुनाऽग्निना।
यावत्स्यात्तन्तुमत्तोये पतितं च न शीर्यते ॥ १८ ॥
तं लिह्यान्मात्रया लेहं प्रमथ्यां च पिबेदनु।

(१३) लेह—इक्ष्वाकु फल के बीजों का चूर्ण एक अंजलि (कुडव), घृत तीन भाग (तीन कुडव), मिलित त्रिकटु तीन भाग (तीन कुडव), महाजालिनी (बड़ी घोषा, तुरई), जीमूत, कृतवेधन (तुरई का भेद) और इन्द्र जौ इन चारों के बीज प्रत्येक वस्तु आधा कुडव, विल्वमूल का कषाय ८ कुड़व (३२ पल) लेकर मृदु अग्नि पर अवलेह सिद्ध करना चाहिये। पकाते समय कड़छी से बराबर चलाते जाना चाहिये। जिस समय इस लेह में तार उत्पन्न हो जायें तथा पानी में डालने से लेह घुलता नहीं (सीधा नीचे बैठ जाता है), तब इसको सिद्ध समझना चाहिये। त्रिकटु का चूर्ण (३ कुडव) पाक के समीप होने पर तब मिलाना चाहिये। इस लेह को मात्रा में चाटना चाहिये। ऊपर से दीपन पाचन रूपी प्रमथ्या को पीना चाहिये। यह एक लेह है।

कल्प एषोऽग्निमन्थादौ चतुष्के पृथगुच्यते ॥ १९ ॥

(१४) पांच अलेवह—इसी प्रकार से विल्वमूल कषाय के स्थान पर अग्निमन्थ, श्योनाक, काश्मरी और पाटला इन चार वस्तुओं के मूल कषाय में अवलेह सिद्ध करने चाहियें। ये पांच अवलेह हैं।

प्रमथ्या—अतिसार चिकित्सा में 'पिप्पली नागरं, धान्यम्' इत्यादि से वर्णित प्रमथ्याओं में से कोई एक प्रमथ्या पीनी चाहिये।

शक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः ।
कफजेऽथ ज्वरे कासे कण्ठरोगेष्वरोचके ॥ २० ॥

(१५) मन्थ—पक्व तुम्बी के स्वरस से भावित सत्तुओं का मन्थ पीना चाहिये, यह एक योग है । कफजन्य ज्वर में, श्वास में, कण्ठ रोग में, अरुचि में इस मन्थ को पीना चाहिये ।

गुल्मे मेहे प्रसेके च कल्कं मांसरसैः पिबेत् ।
नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ॥ २१ ॥

(१६) गुल्म में, प्रमेह में, मुख से कफ स्राव होने पर मांस रस में इक्ष्वाकु कल्प पीना चाहिये । इस प्रकार पीने से पुरुष को भली प्रकार से वमन होता है और उसको निर्बलता नहीं आती ।

तत्र श्लोकाः । पयस्यष्टौ सुरामण्डमस्तुतक्रेषु च त्रयः ।
घ्रेयं च पललं तैलं वर्धमानाः फलेषु षट् ॥ २२ ॥
घृतमेकं कषायेषु नवान्ये मधुकादिषु ।
अष्टौ वर्तिक्रिया लेहाः पञ्च मन्थो रसस्तथा ॥ २३ ॥
योगा इक्ष्वाकुकल्पेऽस्मिंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
उक्ता महर्षिणा सम्यक् प्रजानां हितकाम्यया ॥ २४ ॥

उपसंहार—इस इक्ष्वाकु कल्प में महर्षि ने प्रजाओं का हितकामना से पैंतालीस योग कहे हैं । यथा—दूध के आठ, सुरामण्ड, मस्तु और तक्र में एक एक कुल ३, सूंघने में १, पलल में १, वर्द्धमान इक्ष्वाकु में ६, आसव में १, तैल में १, घृत में १, मधुकादि कषायों में ६, वर्ति क्रिया में ८, लेह में ५, पक्वरस (मन्थ) में १, इस प्रकार से ४५ योग कहें हैं ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने इक्ष्वाकुकल्पो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो धामार्गवकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'धामार्गव कल्प' की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

कर्कोटकी कटुफला महाजालिनिरेव च ।
धामार्गवस्य पर्याया राजकोशातकी तथा ॥ ३ ॥
गरे गुल्मोदरे कासे वातश्लेष्मामये स्थिते ।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसंचयजेषु च ॥ ४ ॥
रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये ।

धामार्गव के पर्य्याय—कर्कोटकी, कटुफला, महाजालिनी और राजकोशातकी ये पर्य्याय हैं । गर विष में, गुल्मरोग में, उदर रोग में, कासरोग में, वात-कफ रोग में, कफ रोग में, कण्ठ रोग में, मुख के रोग में, कफ के संचयजनित रोगों में तथा स्थिर और गुरु रोगों में इसका प्रयोग करना चाहिये ।

फलं पुष्पं प्रवालं च विधिना तस्य संहरेत् ॥ ५ ॥
प्रवालस्वरसं शुष्कं कृत्वाश्च गुलिकाः पृथक् ।
कोविदारादिभिः पेयाः कषायैर्मधुकस्य च ॥ ६ ॥

(१) नौ योग—धामार्गव के पुष्प, फल तथा प्रवालों (नूतन अग्रभागों) को भेषज-ग्रहण-विधि से संगृहीत करना चाहिये । प्रवालों (धामार्गव के नूतन अग्रभागों) के स्वरस को निकाल कर इसको शुष्क करके कर्ष मात्रा की गुटिकायें करनी चाहियें । इन गुटिकाओं को कोविदार, कर्बुदार, नीम, विदुल, बिम्बी, शणपुष्पी, सदापुष्पी, प्रत्यक्पुष्पी और मुलहठी इनके कषाय के साथ पीना चाहिये । ये नौ योग हैं ।

पुष्पादिषु पयोयोगाश्चत्वारः पञ्चमी सुरा ।　　　　साथ

पूर्ववज्जीर्णशुष्काणामतः कल्पः प्रशस्यते ।। ७ ।।

(२) सुराकल्प—धामार्गव के पुष्पों से श्रृत दूध को, प्रवालों से श्रृत दूध को, धामार्गव के पत्तों से सिद्ध दूध को पकाकर जब घना हो जाये, इसके ऊपर मलाई आ जाये तो इस मलाई को पीना चाहिये । ये चार योग हैं । पांचवां योग सुरायोग—पूर्ण पके और शुष्क धामार्गव के फलों को पात्र में रख देना चाहिये । इनसे आसव बनाकर इनको सुरामण्ड में मलकर पिलाना चाहिये । पूर्व की भांति जीर्ण शुष्क धामार्गव के पुष्प, फल और प्रवालों का कल्क बनाकर सुरामण्ड में रखना चाहिये । इस प्रकार तीन कल्पों से एक 'सुराकल्प' है ।

मधुकस्य कषायेण बीजकण्ठोद्धृतं फलम् ।
सगुडं व्युषितं रात्रौ कोविदारादिभिस्तथा ।। ८ ।।
दद्याद् गुल्मोदरार्तेभ्यो ये चाप्यन्ये कफामयाः ।
दद्यादन्नेन वा युक्तं छर्दिहृद्रोगशान्तये ।। ९ ।।

(३) धामार्गव के फल से बीजों को कांटे द्वारा निकालकर इसके गुद्दे को और गुड़ को मुलहठी के कषाय में एक रातभर भीगा रहने देना चाहिये । प्रातःकाल इसको मथकर छानकर पीना चाहिये । इसी प्रकार से धामार्गव के गुद्दे को कोविदार आदि आठ वस्तुओं के कषाय में पृथक् पृथक् भिगोकर पीना चाहिये । इस प्रकार से ये ९ कषाय हो जाते हैं । इन कषायों को गुल्म रोग में, उदर रोग में, अन्य कफ रोगों में अथवा छर्दि तथा हृदयरोग की शान्ति के लिये अन्न के साथ मिलाकर देना चाहिये ।

चूर्णैर्वाऽप्युत्पलादीनि भावितानि प्रभूतशः ।
रसक्षीरयवाग्वादितृप्तो घ्रात्वा वमेत्सुखम् ।। १० ।।

(४) कमल आदि से पुष्पों को धामार्गव के चूर्ण से बहुत बार भावित करके रोगी को मांसरस, दूध या यवागू से तृप्त करके इन पुष्पों को सुंघाने से अनायास वमन होता है ।

चूर्णीकृतस्य वर्तिं वा कृत्वा बदरसंमिताम् ।
विनीयाञ्जलिमात्रे तु पिबेद् गोश्वशकृद्रसे ॥ ११ ॥

(५) दो योग—धामार्गव फल के बीजों का चूर्ण करके इनको जल के साथ पीसकर बेर के बराबर वर्त्ति (कर्ष मात्रा) बना लेनी चाहिये। इस वर्त्ति को चार पल गोमय रस में या चार पल घोड़े के विष्ठा के रस में घोलकर पीना चाहिये । ये दो योग हैं ।

पृषतर्ष्यकुरङ्गाश्वतरगोकर्णरासभे ।
हरिणाजश्वदंष्ट्राविसम्भवे च शकृद्रसे ॥ १२ ॥

(६) दस योग—इसी प्रकार से पृषत (हरिण विशेष), ऋष्य (हरिणजाति), कुरंग (चित्रित हरिण), अवि (भेड़), गज (हाथी), ऊंट, अश्वतर (खच्चर), श्वदंष्ट्रा (क्षुद्र व्याघ्र), गर्दभ हरिण इन दस पशुओं में से किसी एक के चार पल परिमित शकृद् (गोबर) रस में इन वर्त्ति को घोलकर पीना चाहिये । इस प्रकार से ये दस योग हैं ।

जीवकर्षभकौ वीरामात्मगुप्तां शतावरीम् ।
काकोलीं श्रावणीं मेदां महामेदां मधूलिकाम् ॥ १३ ॥
एकैकशोऽभिसंचूर्ण्य सह धामार्गवेण तु ।
शर्करामधुसंयुक्ता लेहा हृद्दाहकासिनाम् ॥ १४ ॥
सुखोदकानुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे ।

(७) दस लेह—जीवक, ऋषभक, वीरा (क्षीरकाकोली), आत्मगुप्ता (कौंच), शतावरी, काकोली, श्रावणी (गोरखमुण्डी), मेदा, महामेदा और मधूलिका इन दस द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के चूर्ण के साथ धामार्गव फल का चूर्ण मिलाकर शर्करा और मधु के साथ दश लेह सिद्ध करने चाहिये । शर्करा को पानी में घोलकर इसमें इस चूर्ण को मिलाकर पकाना चाहिये । जब लेह तैयार हो जाये तो शीतल होने पर इसमें मधु मिलाकर देना चाहिये । इस लेह को गरम पानी के साथ

हृदयदाह, कास रोग में उद्यत उष्णमा गुण वाले पित्त से युक्त कफ में देना चाहिये। अथवा पित्तज्वर में देना चाहिये।

धान्यतुम्बुरुयूषेण कल्कस्तस्य विषापहः॥ १५॥

(८) धनिये के क्वाथ के साथ अथवा तुम्बरू के क्वाथ से या मुद्गादि के यूष के साथ धामार्गव फल के कल्क को पीना चाहिये इससे सब प्रकार के विषों का नाश होता है।

[चक्रपाणि ने कल्कयोग एक माना है। इसमें जतूकर्ण का निम्न वचन प्रमाण में दिया है। यथा—'धान्यतुम्बरू-रसेन कल्को विषनुत्'। परन्तु कविराज श्रीगंगाधरसेन ने तीन योग माने हैं।]

जात्याः सौमनसायिन्या रजन्याश्चोरकस्य वा।
वृश्चिकस्य महाक्षुद्रसहाहैमवतस्य च॥ १६॥
बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा पृथक्।
एकं धामार्गवं द्वे वा कषाये परिमृद्य तु॥ १७॥
तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः।
पूतं मनोविकारेषु पिबेद्वमनमुत्तमम्॥ १८॥

(९) दस लेह—जाती (चमेली), सौमनस्यायिनी (मालती), रजनी (हल्दी) चोरक, वृश्चिक (श्वेत पुनर्नवा), महासहा (माषपर्णी) क्षुद्रपर्णी (मुद्गपर्णी), हैमवती (श्वेत वच), विम्बी, पुनर्नवा (लाल पुनर्नवा), कासमर्द इनमें से किसी एक के कषाय में धामार्गव के एक या दो फलों को मथकर इसके साथ दूध पकाना चाहिये। इस दूध से उत्पन्न घृत को मदनफल कोविदार आदि के कषाय में (अपामार्ग तण्डुलीयोक्त मदनफल आदि के कल्क से) घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घृत से मानसिक विकारों में वमन देना श्रेष्ठ है।

तत्र श्लोकौ। पल्लवे नव चत्वारः क्षीर एकः सुरासवे।
कषाये विंशतिः कल्को दश द्वौ च शकृद्रसे॥ १९॥
अन्न एकस्तथा ग्रेये दश लेहास्तथा घृतम्।

कल्पे धामार्गवस्योक्ताः षष्टिर्योगा महर्षिणा ॥ २० ॥

उपसंहार—इस धामार्गव कल्प में महर्षि ने ६० योग कहे हैं। यथा—पल्लवों से ६, दूध से ४, सुरा आसव में १, क्राथ में ९, अन्न में १, घ्रेय (सूंघने) में १, शकृद्रस में १२, लेह में १०, कल्क में ३, घृत में १०, इस प्रकार से ६० योग कहे हैं।*

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने धामार्गवकल्पो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो वत्सककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'वत्सक कल्प' की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है।

अथ वत्सकनामानि भेदं स्त्रीपुंसयोस्तथा ।
कल्पं चास्य प्रवक्ष्यामि विस्तरेण यथातथम् ॥ ३ ॥

अब वत्सक (इन्द्रजौ) के पर्य्याय तथा स्त्री और पुरुष भेद से इसके भेदों और कल्पना विधि की विस्तार से व्याख्या करता हूं।

वत्सकः कुटजः शक्रो वृक्षको गिरिमल्लिका ।
बीजानीन्द्रयवास्तस्य तथोच्यन्ते कलिङ्गकाः ॥ ४ ॥

---

* श्री गंगाधर सेन ने पाठ निम्न दिया है यही ठीक भी है—

"क्राथे नवैकोऽन्ने घ्रेये दश द्वौ च शकृद्-रसे ।
दश लेहास्त्रयः कल्का दश चैव घृते तथा ॥"

परन्तु चक्रपाणि ने निम्न पाठ दिया है—

"कषाये विंशतिः कल्को दश द्वौ च शकृद् रसे ।
अन्न एकस्तथा घ्रेये दश लेहास्तथा घृतम् ॥

चक्रपाणि ने कल्क में एक योग माना है।

पर्य्याय—वत्सक, कुटज, शक्र, वृक्षक, गिरिमल्लिका, बीज, इन्द्रयव और कलिङ्गक ये इन्द्रजौ के पर्य्याय हैं।

बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत्।
श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलवृन्तैस्तथाऽणुभिः ॥ ५ ॥

पुरुष वृक्ष बड़े फल वाला, श्वेत पुष्प और स्निग्ध पत्र का होता है। स्त्री वृक्ष श्यामा और लाल पत्तों वाला, सूक्ष्म पतले फलों के गुच्छों वाला होता है।

रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः।
हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते ॥ ६ ॥

यह वत्सक रक्त-पित्तनाशक, कफनाशक, सुकुमार कोमल प्रकृतिवालों के लिये निर्दोष, हृदयरोग, ज्वर, वातरक्त तथा वीसर्प रोग में उत्तम है।

काले फलानि संगृह्य तयोः शुष्काणि संक्षिपेत्।
तेषामन्तर्नखं मुष्टिं जर्जरीकृत्य भावयेत् ॥ ७ ॥
मधुकस्य कषायेण कोविदारादिभिस्तथा।
निशि स्थितं विमृद्यैतल्लवणक्षौद्रसंयुतम् ॥ ८ ॥
पिबेत्तद्वमनं श्रेष्ठं पित्तश्लेष्मनिबर्हणम्।

(१) नौ कषाय योग—कुटज वृक्ष के फलों को उचित काल में एकत्र करके शुष्क करना चाहिये। इनकी एक मुष्टि परिमित (पल मात्रा को, नखों को अन्दर की ओर मोड़कर) मात्रा को कूटकर मुलहठी या कोविदार आदि आठ द्रव्यों में से किसी एक के कषाय से भावना देनी चाहिये। एक रात भर इस कषाय से भीगे रहने पर इन बीजों को प्रातः काल एक पल मात्रा में लेकर सैन्धव नमक और मधु के साथ मिलाकर पीना चाहिये। यह वमन पित्त और कफ को निकालने के लिये श्रेष्ठ है। ये नौ कषाय योग हैं।

अष्टाहं पयसाऽऽर्केण तेषां चूर्णानि भावयेत् ॥ ९ ॥
जीवकस्य कषायेण ततः पाणितलं पिबेत्।

(२) पांच योग—इन्द्रजौ के बीजों के चूर्ण को आठ दिन तक आक के दूध से भावना देनी चाहिये। इस चूर्ण की पाणितल (कर्ष) मात्रा को जीवक के कषाय से पीना चाहिये। इसी प्रकार से अर्क के दूध से भावित इन्द्र जौ के बीजों के चूर्ण की कर्ष मात्रा को मदन फल, जीमूतक, इक्ष्वाकु और जीवन्ती इनमें से किसी एक के कषाय के साथ पीना चाहिये। ये चार योग हैं। इस प्रकार से चूर्णों में ५ योग हैं।

फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीनां पृथक् तथा ॥ १० ॥
सर्षपाणां मधुकानां लवणस्याथवाऽम्बुना ।

(३) तीन योग—इन्द्रजौ के बीजों के कल्क को, नमक के पानी से, या मधूक (महुवे) के कषाय या स्वरस से, अथवा सरसों के पानी के साथ देना चाहिये। ये तीन योग हैं।

कृशरेणाथवा युक्तं विदध्याद्वमनं भिषक् ॥ ११ ॥

(४) एक योग—अथवा कृशरा (तिलकल्क) से युक्त इन्द्र जौ के बीजों के कल्क को वमन के लिये देना चाहिये, यह एक योग है।

इस प्रकार से वत्सक कल्प में कुल अट्ठारह योग हैं।

तत्र श्लोकः । कषायैर्नव चूर्णैश्च पञ्चोक्ताः सलिलैस्त्रयः ।
एकश्च कृशरायां स्याद्योगास्तेऽष्टादश स्मृताः ॥ १२ ॥

उपसंहार—वत्सक कल्प में अट्ठारह योग कहे हैं। यथा—कषाय में ९, चूर्ण में ५, पानी में ३ और कृशरा में १ इस प्रकार से १८ योग हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने वत्सक-
कल्पो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः कृतवेधनकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'कृतवेधन कल्प' की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

कृतवेधननामानि कल्पं चास्य निबोधत।
क्ष्वेडः कोशातकी चोक्तं मृदङ्गफलमेव च ॥ ३ ॥

पर्य्याय—कृतवेधन कल्प में पर्य्यायों को कहता हूं। क्ष्वेड, कोषातकी, जाली, मृदंगफल, ये कृतवेधन के पर्य्याय हैं। भाषा में 'तुरई' कहते हैं। बंगला में 'लटा पुटिका' कहते हैं।

अत्यन्तकटुतीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ॥ ४ ॥

कृतवेधन अति कटु, तीक्ष्ण, उष्ण है। यह अत्यन्त गूढ़ रोगों में (कुष्ठ आदि में) कुष्ठ, पाण्डुरोग, प्लीहा, शोफ, गुल्म और गर (संयोगज विष) विषादि में हितकारी है।

क्षीरादिकुसुमादीनां सुरा चैतेषु पूर्ववत्।

(१) पांच योग—कृतवेधन के पुष्प, फल और प्रवाल (अग्र भागों) से पूर्व की भांति दूध आदि सिद्ध करने चाहियें। यथा—कृतवेधन के पुष्प से दूध सिद्ध करना चाहिये, कृतवेधन के फल से, अथवा कृतवेधन के अग्र भाग से दूध सिद्ध करना चाहिये, या कृतवेधन के फल को दूध में पकाकर उसको घट्ट बनाकर उससे उत्पन्न मलाई को खाना चाहिये। ये चार योग हैं। सुरासव में एक योग—सुरामण्ड में कृतवेधन फल के कल्क को मिलाकर पात्र में रखना चाहिये। जब रस निकल आये तब इसको मथकर पीना चाहिये, ये पांच योग हैं।

सुशुष्काणां तु बीजानामेकं द्वे वा यथाबलम् ॥ ५ ॥

(२) नौ योग—कृतवेधन के एक वा दो फलों को शुष्क करके चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण में से बलानुसार मात्रा को मुलहठी, कोविदार, कर्बुदार आदि नौ द्रव्यों के कषाय में से किसी एक के कषाय के साथ मैनफल के कषाय की भांति पीना चारिये। इस प्रकार से क्वाथ में नौ योग हैं।

कषायैर्मधुकादीनां नवभिः फलवत्पिबेत् ।
क्वाथयित्वा फलं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत् ॥ ६ ॥
कृतवेधनकल्कांशं फलार्धार्धांशसंयुतम् ।
पृथक्चारग्वधादीनां त्रयोदशभिरासुतम् ॥ ७ ॥

(३) तेरह क्वाथ आसव—कृतवेधन के फल का क्वाथ करके उसको छान लेना चाहिये । इसको पुनः पकाकर अवलेह तैयार करना चाहिये । इस अवलेह में कृतवेधन फल का कल्क क्वाथ से आधा मिला देना चाहिये । इस अवलेह को आरग्वध, स्वादुकण्टक, कुटज आदि तेरह द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ में मिलाकर रख देना चाहिये, जब तक कि इसका रस निकल आये इसको पीना चाहिये । इस प्रकार से ये तेरह क्वाथ आसव हैं ।

शाल्मलीमूलचूर्णानां पिच्छाभिर्दशभिस्तथा ।

(४) दस पिच्छा योग—शाल्मली मूल से लेकर शाल्मली वृन्त तक दस (मूल, फल, पुष्प, त्वचा, सार, पत्र, कण्टक, मज्जा, वेष्टक और वृन्त) में से प्रत्येक के क्वाथ के साथ कृतवेधन फल की पिच्छा बनाकर देना चाहिये । अथवा विमान स्थान में कथित, शाल्मली मूल, आंवला, भद्रपर्णी (भादली), एलापर्णी (नागबला), उपोदिका, उद्दालक, धन्वन, राजादन (क्षीरिणी), उपचित्रा (दन्ती), गोपि (शारिवा)। इन दस द्रव्यों में से प्रत्येक के चूर्ण के साथ पिच्छा बनाकर देना चाहिये ।

वर्तिक्रियाः षट् फलवत् फलादीनां घृतं तथा ॥ ८ ॥

(५) छः बर्तियां—मदनफल की बर्तियों के समान कृतवेधन फल के चूर्ण को कोविदारादि छः द्रव्यों के कषाय में से किसी एक के कषाय में पकाकर वर्त्तियां (कर्ष मात्रा) बनानी चाहियें । इनको मदन फल मधुक आदि के कषाय में मिला कर पीना चाहिये । अथवा बर्ति पीकर मदनादि का कषाय पीना चाहिये, ये छः योग हैं ।

घृत—अपामार्ग तण्डूलीयोक्त मदन, मधुक आदि के चतुर्गुण कषाय

में कृतवेधन फल के कल्क से सिद्ध दूध में से उत्पन्न घृत को पकाना चाहिये यह एक योग है ।

कोशातकानि पञ्चाशत्कोविदाररसे पचेत् ।
तं कषायं फलादीनां कल्कैर्लेहं पुनः पचेत् ॥ ९ ॥
क्ष्वेडस्य तत्र भागः स्याच्छेषाण्यर्धांशिकानि च ।
कषायैः कोविदाराद्यैरेवं पक्त्वा पिबेत् पृथक् ॥ १० ॥

(६) आठ अवलेह—कोशातकी फल (कृतवेधन फल) ५० लेकर कोविदार आदि के रस में पका कर क्वाथ करना चाहिये । इस क्वाथ को छानकर इस में अपामार्ग तण्डूलीयोक्त मदनफल, यष्टी मधु, निम्ब, जीमूतक, कृतवेधन, पिप्पली, कुटज फल, इक्ष्वाकु, एला, धामार्गव इनके कोशातकी फल से अर्धांश कल्क से इस अवलेह को पुनः पकाना चाहिये । कोशातकी का एक भाग और मदन फलादि शेष सब द्रव्य मिलित आधा भाग लेने चाहिये । इसी प्रकार से कोविदार आदि आठ द्रव्यों में से प्रत्येक के साथ लेह बनाना चाहिये ।

कषायेषु फलादीनामानूपं पिशितं पृथक् ।
कोशातक्याः समं पक्त्वा रसं सलवणं पिबेत् ॥ ११ ॥

(७) मांस रस में सात योग—अपामार्ग तण्डुलीयोक्त मदनफल, यष्टीमधु, निम्ब, जीमूतक, कृतवेधन, पिप्पली, कुटज फल, इक्ष्वाकु, एला, धामार्गव इन दस द्रव्यों से पृथक् पृथक् कषाय बनाना चाहिये । इन सब के कषाय को मिलाकर इसमें आनूप मांस (वराहादि के मास) को कोशातकी फल के बराबर लेकर पकाना चाहिये । पीछे से इस में सैन्धा नमक मिलाकर पीना चाहिये, यह एक योग है ।

फलादिपिप्पलीतुल्यं तद्वन्मांसरसं पिबेत् ।
क्ष्वेडक्वाथं पिबेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन च ॥ १२ ॥

(८) छः योग—मदनफल, यष्टी मधु, निम्ब, जीमूतक, कृतवेधन और पिप्पली इनके प्रत्येक के क्वाथ में आनूप मांस रस और कोशातकी

फल समान भाग पृथक् पृथक् पकाने चाहियें। इन में सैन्धव लवण मिलाकर पीना चाहिये, ये छः योग हैं।

मदन फल आदि छः द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध कृतवेधन फल को इक्षु रस में मिला कर पीना चाहिये, यह एक योग है।

इस प्रकार से कुल साठ योग हैं।

तत्र श्लोकौ। क्षीरे द्वौ द्वौ सुरा चैका क्वाथा द्वाविंशतिस्तथा।
दश पिच्छा घृतं चैकं षट् च वर्तिक्रियाः शुभाः ॥ १३ ॥
लेहेऽष्टौ तप्त सांसे च योग इक्षुरसेऽपरः।
कृतवेधनकल्पेऽस्मिन् षष्टिर्योगाः प्रकीर्तिताः ॥ १४ ॥

उपसंहार—इस कृतवेधन कल्प मे ६० योग कहे हैं। यथा—दूध में ४, सुरा में १, क्वाथ में २२ (९ और १३), पिच्छा में १९, घृत में १, वर्त्ति क्रिया में ६, लेह आठ, मांस रस में ७, इक्षु रस में १ इस प्रकार से साठ योग हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थान कृतवेधन-
कल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातः श्यामात्रिवृत्कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'श्यामा त्रिवृत्' कल्प की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है। *

---

* वमन कल्प के अनन्तर विरेचन कल्प का अवतरण करते हैं। विरेचन द्रव्यों में त्रिवृत् ही सब से श्रेष्ठ है, इसलिये सब से प्रथम उसी का उपदेश करते हैं। त्रिवृत् में भी सब से श्रेष्ठ अरुण मूल की त्रिवृत् श्रेष्ठ है। परन्तु शीघ्रता से दोषनाशक शक्ति श्यामा में होने के कारण प्रथम श्यामा का नाम दिया है।

विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ।
तस्याः संज्ञा गुणाः कर्म भेदः कल्पश्च वक्ष्यते ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् लोगों ने विरेचन द्रव्यों में त्रिवृत् मूल को सुख विरेचन होने से सब से श्रेष्ठ बतलाया है। इसकी संज्ञा, गुण, कर्म और भेदों का इस कल्प स्थान में वर्णन करेंगे ।

त्रिभण्डी त्रिवृता चैव सुरण्डी कोटरा तथा ।
सर्वानुभूतिः सुवहा शब्दैः पर्यायवाचकैः ॥ ४ ॥

पर्य्याय—त्रिभण्डी, त्रिवृता, श्यामा, कोटरा, सुरण्डी, सुवहा इन नाम पर्य्यायों से त्रिवृत् (निशोथ) को कहा जाता है ।

कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा ।
कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥ ५ ॥
सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः ।
कल्पे वैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत् ॥ ६ ॥

त्रिवृत्, कषाय, मधुर रस, रूक्ष गुण, विपाक में कटु, कफ, पित्त-नाशक और रूक्ष होने से वातप्रकोपक है। यही त्रिवृत् जब अन्य ओषधियों से युक्त हो जाता है, तब वात, पित्त और कफ तीनों को नष्ट करता है। विशेष विशेष कल्पनाओं में प्रयोग करने पर वात, कफ, पित्त-हर द्रव्यों से मिलने पर सब रोगों को नष्ट करती है ।

मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च ।
तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम् ॥ ७ ॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तच्छुभम् ।

त्रिवृत् के मूल दो प्रकार के होते हैं। यथा—श्याम वर्ण और अरुण (लाल) वर्ण। इन दोनों में लाल रंग का मूल श्रेष्ठ एवं मुख्य है। यह लाल वर्ण मूल सुकुमार प्रकृति पुरुषों में, बालकों में, वृद्धों में तथा मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों के लिये उत्तम है ।

मोहयेदाशुकारित्वाच्छ्यामा कण्ठं क्षिणोत्यपि ॥ ८ ॥

तैक्ष्ण्यात्कषति हृत्कण्ठमाशु दोषं हरत्यपि ।
शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः ॥ ९ ॥

श्यामा—श्याम वर्ण का मूल, आशुकारि होने से मूर्च्छा उत्पन्न करती है, कण्ठ का नाश करती है, तीक्ष्ण होने से हृदय और कण्ठ को पकड़ लेती है और दोष को शीघ्र नष्ट करती है। बहुत दोष वाले तथा क्रूर कोष्ठ वाले पुरुषों के लिये उपयोगी है।

गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत् ।
उपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः ॥ १० ॥
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् ।
तद्विपाट्योद्धरेद् गर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥ ११ ॥

जांगल या साधारण देश में गुणवती कृष्ण मृत्तिका या स्वर्णमृत्तिका वाली भूमि में, श्मशानादि से रहित स्थान में उत्पन्न मूल ग्रहण करना चाहिये। मूल को उखाड़ने के लिये शुक्लपक्ष में, शुक्ल वस्त्र धारण करके प्रयत्न पूर्वक गहराई में पहुंचे हुए, चिकने-सीधे मूल को उखाड़ना चाहिये जो मूल भूमि में तिरछी फैली हो उसको नहीं उखाड़ना चाहिये। मूल को उखाड़कर इसके गर्भ को निकाल लेना चाहिये और त्वचा को अलग सुखा लेना चाहिये। सुखाकर इसको सुरक्षित स्थान में रख देना चाहिये।

स्निग्धस्विन्नो विरेच्यस्तु पेयामात्रोषितः सुखम् ।

विरेचन विधि—रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर पेय मात्रा (जितनी मात्रा पीनी हो) जो सुखपूर्वक पी जा सके ऐसी मात्रा पिलानी चाहिये। अथवा जिस दिन विरेचन देना हो उससे प्रथम दिन पुरुष को पेया का पान करवाना चाहिये।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं विनीयाम्लेन ना पिबेत् ॥ १२ ॥
गोव्यजामहिषीमूत्रसौवीरकतुषोदकैः ।
प्रसन्नया त्रिफलया शृतया च पृथक् पिबेत् ॥ १३ ॥

(१) नौ योग—श्यामा और त्रिवृत् की अक्ष मात्रा (कर्ष परि

मित) को पीसकर अम्ल (कांजी) में घोलकर पुरुष को पीना चाहिये। अथवा त्रिवृत् (निशोथ) की अक्षमात्रा को पीसकर गाय का मूत्र, भैंस का मूत्र, बकरी का मूत्र, भेड़ का मूत्र, सौवीरक कांजी, तुषोदक, प्रसन्ना और त्रिफला के श्रृत :कषाय में पृथक् २ घोलकर पीना चाहिये। इस प्रकार से ये नौ योग हैं।

एकैकं सैन्धवादीनां द्वादशानां सनागरम् ।
त्रिवृद् द्विगुणसंयुक्तं चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ १४ ॥

(२) बारह योग—(दीर्घंजीवतीय अध्याय में कथित सैन्धव, विड्, उद्भिद और सामुद्र ये चार नमक तथा आठ मूत्र इनको मिलाकर बारह, अथवा रोग-भिषग-जितीय अध्याय में गिने लवण स्कन्धोक्त बारह द्रव्यों में से प्रत्येक का चूर्ण तथा सैन्धव आदि प्रत्येक से त्रिगुण त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर शर्करामिश्रित पानी के साथ पीना चाहिये।

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली ।
सरलः किलिमं हिङ्गु भार्गी तेजोवती तथा ॥ १५ ॥
मुस्तं हैमवती पथ्या चित्रको रजनी वचा ।
स्वर्णक्षीर्यजमोदा च शृङ्गवेरं च तैः पृथक् ॥ १६ ॥
एकैकार्धांशसंयुक्तं पिबेद्गोमूत्रसंयुतम् ।

(३) अट्ठारह योग—पिप्पली, पिप्पलीमूल, मरिच, गजपिप्पली, सरल काष्ठ, किलिम (देवारू), हींग भार्गी, तेजबल, मुस्ता, हैमवती (वच), पथ्या (हरड़), चित्रक, हल्दी, वच, स्वर्णक्षीरी, अजमोदा और श्रृङ्गवेर (सोंठ) इन अट्ठारह द्रव्यों में से प्रत्येक के चूर्ण को त्रिवृत् के चूर्ण से अर्धांश लेकर त्रिवृत् चूर्ण में मिलाकर गोमुत्र के साथ पीना चाहिये। इस प्रकार से ये अट्ठारह योग हैं।

मधूकार्धांशसंयुक्तं शर्कराम्बुयुतं पिबेत् ॥ १७ ॥
जीवकर्षभकौ मेदां श्रावणीं कर्कटाह्वयम् ।
मुद्गमाषाख्यपर्ण्यौ च महतीं श्रावणी तथा ॥ १८ ॥

काकोलीं क्षीरकाकोलीमिन्द्रां छिन्नरुहां तथा ।
क्षीरशुक्लां पयस्यां च यष्ट्याह्वं विधिना पिबेत् ॥ १९ ॥
वातपित्तहितान्येतान्यन्यानि तु कफानिले ।

(४) त्रिवृत् के चूर्ण में यष्टी मधु का चूर्ण आधा भाग मिलाकर शर्करामिश्रित पानी के साथ पीना चाहिये । जीवक, ऋषभक, मेदा, श्रावणी (रक्तमुण्डेरी), कर्कटशृङ्गी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, महती श्रावणी (श्वेतमुण्डेरी), काकोली, क्षीरकाकोली, क्षुद्रा (तालमखाना), छिन्नरुहा (गिलोय), क्षीर शुक्लां (क्षीर विदारी), पयस्या (अर्कपुष्पी) और मुलहठी इन पन्द्रह द्रव्यों में से प्रत्येक के चूर्ण को, त्रिवृत् के चूर्ण में समान मात्रा में मिलाकर शर्करा मिश्रित पानी के साथ पीना चाहिये । मुलहठी के दो योग हैं एक में अर्धांश और दूसरे में त्रिवृत् चूर्ण के समान है । ये चूर्ण वात-पित्त में हितकारी है ।

क्षीरमांसेक्षुकाश्मर्यद्राक्षापीलुरसैः पृथक् ॥ २० ॥
सर्पिषा वा तयोश्चूर्णमभयार्धांशिकं पिबेत् ।

(५) कफ वायु के लिये हितकारी क्षीरादि में सात योग—श्यामा और त्रिवृत् का चूर्ण समान भाग, अभया (हरड़) का चूर्ण आधा भाग लेकर सबको मिलाकर दूध, मांसरस, काश्मरी फल रस, द्राक्षा रस, पीलु रस, गन्ने का रस इन छः द्रव्यों के साथ अथवा घृत में मिलाकर पीना चाहिये । अथवा

लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं ससितोपलम् ॥ २१ ॥
अजगन्धा तुगाक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत् ।
चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ॥ २२ ॥
सन्निपातज्वरस्तम्भदाहतृष्णार्दितो नरः ।

(६) श्यामा और निशोथ के चूर्ण को समान भाग लेकर सम्पूर्ण चूर्ण के बराबर शर्करा को मिलाकर मधु और घृत के साथ चाटना चाहिये । अजगन्धा (यमानीमूल), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), विदारीकन्द, शर्करा

और निशोथ इनमें प्रत्येक का चूर्ण समान भाग लेकर मधु और घृत के साथ मिलाकर चाटने से सन्निपात ज्वर रोगी को, स्तम्भ दाह तृष्णा से पीड़ित व्यक्ति को भली प्रकार से रेचन हो जाता है।

श्यामात्रिवृत्कषायेण कल्केन च सशर्करम् ॥ २३ ॥
साधयेद्विविवल्लेहं लिह्यात्पाणितलं ततः ।

(७) श्यामा और त्रिवृत् उनमें से किसी एक के कषाय में इन्हींके कल्क से तथा कल्क के बराबर शर्करा मिलाकर इससे लेह तैयार करना चाहिये। उस लेह की पाणितल मात्रा (कर्षपरिमित) को चाटना चाहिये।

सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा कुर्यान्मृद्भाजने नवे ॥ २४ ॥
क्षिपेच्छीते त्रिवृच्चूर्णं त्वक्पत्रमरिचैः सह ।
मात्रया लेहयेदेतदीश्वराणां विरेचनम ॥ २५ ॥

(८) त्रिवृत् चूर्ण के बराबर शर्करा लेकर, शर्करा को पानी में घोल कर, पकाकर अवलेह तैयार करना चाहिये। इस अवलेह के शीतल हो जाने पर, दालचीनी, तेजपात और मरिच मिलित एक भाग, त्रिवृत् चूर्ण १ भाग और मधु १ भाग (तीनों समांश) मिला देना चाहिये। इस अवलेह को राजा लोगों में मात्रा से देना चाहिये।

कुडवांशान् रसानिक्षुद्राक्षापीलुपरूषकान् ।
सितोपलापलं क्षौद्रात्कुडवार्धं च साधयेत् ॥ २६ ॥
तं लेहं योजयेच्छीतं त्रिवृच्चूर्णेन शास्त्रवित् ।
एतदुत्सन्नपित्तानामीश्वराणां विरेचनम् ॥ २७ ॥
शर्करामोदकान् वर्तिर्गुलिकामांसपूपकान् ।
अनेन विधिना कुर्यात्पैत्तिकानां विरेचनम् ॥ २८ ॥

(९) इक्षु, द्राक्षा, पीलु और फालसा इन चारों में से प्रत्येक वस्तु का रस पृथक् पृथक् एक एक कुड़व, सितोपला एक पल लेकर पाक करना चाहिये। जब अवलेह तैय्यार हो जाये तब इस में मधु आधा कुड़व मिला देना चाहिये। इस अवलेह में त्रिवृत् के चूर्ण को मात्रा में

मिलाकर चाटने के लिये देना चाहिये, ये चार अवलेह हैं। ये अवलेह उद्भूत पित्त वाले सुकुमार प्रकृति धनी व्यक्तियों के लिये उत्तम विरेचन हैं।

(१०) सिता (मिश्री) की भांति शर्करा से भी अवलेह तैयार करके (यहां पर त्रिवृत् चूर्ण के बराबर शर्करा को इक्षु रस आदि द्रव्यों के एक कुडव रस में पकाकर अवलेह बनाना चाहिये) उससे मोदक वर्ति, गुटिकायें, मांस, पूप बनाने चाहियें। ये पित्त-प्रकृति वालों के लिये उत्तम विरेचन हैं।

पिप्पलीं नागरं क्षारं श्यामात्रिवृतया सह।
लेहयेन्मधुना सार्धं श्लेष्मलानां विरेचनम् ॥ २९ ॥

(११) पिप्पली १ भाग, सोंठ १ भाग, यवक्षार १ भाग, त्रिवृत् चूर्ण १ भाग, श्यामा चूर्ण १ भाग सब समान भाग, और सब के बराबर शर्करा मिला कर मोदक आदि बना लेने चाहियें। इन मोदक आदि को मधु के साथ चाटना चाहिये। कफ प्रकृति वालों के लिये यह उत्तम विरेचन है।

मातुलुङ्गाभयाधात्रीश्रीपर्णीकोलदाडिमात्।
सुमृष्टान् स्वरसांस्तैले साधयेत्तत्र चावपेत् ॥ ३० ॥

(१२) मातुलुंग (बिजौरा), अभया (हरड़), धात्री (आंवला), श्रीपर्णी (काश्मरी), कोल (बेर) और अनार इनके एक एक कुडव स्वरस में एक कुडव शर्करा मिलाकर पकाना चाहिये। जब लेह तैयार हो जाये तो तैल में भूना त्रिवृत् चूर्ण इस लेह में मिला देना चाहिये। यह अवलेह कफ रोगियों के लिये उत्तम है।

सहकारात्कपित्थाच्च मध्यमम्लं च यत्फलम्।
पूर्ववद्बहलीभूते त्रिवृच्चूर्णं समावपेत ॥ ३१ ॥
त्वक्पत्रकेशरैलानां चूर्णं मधु च मात्रया।
लेहोऽयं कफपूर्णानामीश्वराणां विरेचनम् ॥ ३२ ॥

पानकानि रसान् यूषान् मोदकान् रागषाडवान् ।
अनेन विधिना कुर्याद्विरेकार्थं कफाधिके ॥ ३३ ॥

(१३) सहकार फल (आम) का गुद्दा (मध्य भाग), कैथ का मध्य भाग, अम्ल फलों (बेर, अनार, करमर्द, इमली आदि) का मध्य भाग (गुद्दा) लेकर इसके बराबर शर्करा चूर्ण लेकर पकाना चाहिये । जब लेह तैयार हो जाये तब इसमें तैल में भूना त्रिवृत् चूर्ण, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर इनका मिलित चूर्ण त्रिवृत् चूर्ण के बराबर मिला देना चाहिये । इस अवलेह से मोदक आदि बनाकर मधु के साथ चाटने चाहिये ।*

इसी उपरोक्त विधि से कफबहुल रोगियों के विरेचन के लिये पानक (शर्बत), मांसरस, यूष, मोदक, राग षाड़व आदि बनाने चाहियें ।

भृङ्गैलाभ्यां समा नीली तैस्त्रिवृत्तैश्च शर्करा ।
चूर्णं फलरसक्षौद्रशक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ॥ ३४ ॥

(१४) भृंग (दालचीनी), एला (बड़ी इलायची), मिलित एक भाग, नीली दो भाग, त्रिवृत् चूर्ण तीनों के बराबर ३ भाग और शर्करा सब के बराबर ६ भाग लेकर अम्ल फलों (अनार, बेर, इमली, आम्र आदि) में से किसी एक के रस में इस चूर्ण को, मधु को और यवादि सत्तुओं को उचित परिमाण में मिला कर तर्पण पानक पीना चाहिये । ※

---

* अष्टांगसंग्रह में यह पाठ कुछ अन्तर से है । यथा—एभिरेव च द्रव्यैः (विरेचन द्रव्यैः) यथा स्वं घृतशर्कराद्राक्षेक्षुरसतुगाक्षीरीमधुराणि मातुलुंगदाडिमामलककोलकरमर्दकपित्थरसतक्राम्लानि सैन्धवलवणानि व्योषतीक्ष्णानि विविधवेशवारपरिपूरितानि सहकाररसत्रिजातनागकेसरकर्पूरसुरभीणि लेहगुटिकामोदकभक्ष्याणि उपकल्पयेत् ॥

※ कविराज श्रीगंगाधरसेन यहां पर 'नीली' को नहीं पढ़ते, उनका पाठ 'भृंगैलाभ्यां समं नीतं त्रिवृतायाः सशर्करम्' पाठ है । इसमें दालचीनी और इलायची के बराबर निशोथ का चूर्ण और सब के बराबर शर्करा चाहिये । परन्तु संग्रह में भी चरक के पाठ को उद्धृत किया है ।

वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च ।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ॥ ३५ ॥

(१५) इसी प्रकार से मांस रस, यूष आदि को पकाना चाहिये। यथा—मांस को पाक योग्य जल में रखकर पकाना चाहिये। जब आधा शेष रह जाये तब छानकर इसमें दालचीनी आदि का चूर्ण मिला कर स्वच्छ, मध्य या घन कोई सा मांसरस सिद्ध करना चाहिये। इसके शीतल होने पर इसमें मधु मिलाकर पीना चाहिये। इसी प्रकार से मूंग आदि दालों को चौदह गुणे पानी में पकाना चाहिये। जब आधा शेष रह जाये तब छानकर इसमें दालचीनी आदि का चूर्ण उचित परिमाण में मिलाना चाहिये। शीतल होने पर इसमें मधु मिला कर पीना चाहिये। इसी प्रकार दालचीनी आदि के प्रक्षेप से मोदक तैयार करने चाहियें।]

ये फल रस, मांस रस, यूषादि, वात, पित्त, कफजन्य रोगों में, मन्दाग्नि वालों और सुकुमार प्रकृति वाले पुरुषों के लिये निर्दोष विरेचन हैं।

शर्करा त्रिफला श्यामा त्रिवृन्मागधिका मधु ।
मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहः ॥ ३६ ॥

(१६) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आंवला), श्यामा त्रिवृत (अरुण मूल वाली निशोथ) और पिप्पली प्रत्येक वस्तु समान भाग, सब से द्विगुण शर्करा लेकर इनमें मधु मिलाकर मोदक बांधने चाहियें। ये मोदक सन्निपात ज्वर, ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त को नष्ट करते हैं।

त्रिवृच्छाणा मतास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः ।
विडङ्गक्षारपिप्पल्यः शाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥ ३७ ॥
लिह्यात्सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन च ।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छोधनमुत्तमम् ॥ ३८ ॥
गुल्मं प्लीहोदरं श्वासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद् व्यपोहति ॥ ३९ ॥

(१७) त्रिवृत् का चूर्ण ३ भाग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला इनके फलों) की त्वचा ३ भाग, बायविडंग, यवक्षार और पिप्पली मिलित ३ भाग सब का चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण से दुगना गुड़ मिला कर मोदक बांध लेने चाहियें । इन मोदकों को मधु और घृत के साथ मिलाकर चाटना चाहिये । इनको खाते समय आहार का परित्याग करना चाहिये । यह उत्तम विरेचक है । गुल्म, प्लीहा, उदर रोग, कास, हलीमक, अरोचक तथा कफ-वातजन्य अन्य रोगों को यह नष्ट करता है ।

विडङ्गपिप्पलीमूलत्रिफलाधान्यचित्रकान् ।
मरिचेन्द्रयवाजाजीपिप्पलीहस्तिपिप्पलीः ॥ ४० ॥
लवणान्यजमोदा च चूर्णितं कार्षिकं पृथक् ।
तिलतैलत्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ ॥ ४१ ॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलां तथा ।
पक्त्वा मृद्वग्निना खादेद् बदरोदुम्बरोपमान् ॥ ४२ ॥
गुडान् कृत्वा, न चास्य स्याद्विहाराहारयन्त्रणा ।

(१८) कल्याणक गुड—बायविडंग, पिप्पलीमूल, त्रिफला मिलित, धनिया, चित्रक, मरिच, इन्द्रजौ, अजाजी (जीरा), पिप्पली, गजपिप्पली, पांचों लवण और अजमोदा (अजवायन) प्रत्येक वस्तु का चूर्ण एक एक कर्ष, तिल तैल ८ पल, त्रिवृत् का चूर्ण ८ पल, धात्री फल रस (आंवले का स्वरस) ३ प्रस्थ (१२ शराव), गुड ५० पल लेना चाहिये । इसमें आंवले के रस में गुड़ को घोलकर वस्त्र में से छानकर मृदु अग्नि पर पाक करना चाहिये । जब पकाने से घट्ट बन जाये तब इसमें बायविडंग आदि वस्तुओं का तथा त्रिवृत् का चूर्ण मिलाकर उतार लेना चाहिये । इस से बेर के बराबर बड़ी बड़ी गुटिकायें बना कर खानी चाहियें । इनको खाते समय आहार या विहार में किसी प्रकार के नियंत्रण रखने की आवश्यकता नहीं होती ।

मन्दाग्नित्वं ज्वरं मूर्च्छां मूत्रकृच्छ्रमरोचकम् ॥ ४३ ॥

अस्वप्नं गात्रशूलं च कासं श्वासं भ्रमं क्षयम् ।
कुष्ठार्शःकामलामेहगुल्मोदरभगन्दरम् ॥ ४४ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्युः पुंसवनाश्च ते ।
कल्याणका इति ख्याताः सर्वेष्वृतुषु योगिकाः ॥ ४५ ॥

ये कल्याणक नामक गुड़, मन्दाग्नि, ज्वर, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र, अरोचक, नींद का न आना, गात्र वेदना, कास, श्वास, भ्रम, क्षय, कुष्ठ, अर्श, कामला, प्रमेह, गुल्म, उदर रोग, भगन्दर, ग्रहणी, पाण्डु रोगों को नष्ट करते हैं, तथा पुमान संतति को उत्पन्न करते हैं। सब ऋतुओं में इनका उपयोग हो सकता है।

व्योषत्वक्पत्रमुस्तैलाविडङ्गामलकाभयाः ।
समभागा भिषग्दद्याद् द्विगुणं च मकूलकम् ॥ ४६ ॥
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं शर्करायाश्च षड् गुणम् ।
चूर्णितं गुडिकाः कृत्वा क्षौद्रेण पलसंमिताः ॥ ४७ ॥
भक्षयेत्कल्यमुत्थाय शीतं चानु पिबेज्जलम् ।

(१९) व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली) १ तोला, दालचीनी १ तोला, तेजपात १ तोला, इलायची १ तोला, मुस्ता १ तोला, बायबिडंग १ तोला, आंवला १ तोला, अभया (हरड़) १ तोला, मूकूलक (दन्ती) २ तोला, त्रिवृत् चूर्ण ८ तोला, शर्करा ६ तोला मिला कर मधु को मिश्रित करके पल परिमित गोलियां बांध लेनी चाहियें। इन गोलियों को रोगी के बलानुसार कर्षादि परिमाण में प्रातःकाल खाली पेट देनी चाहिये ऊपर से शीतल जल पीना चाहिये। *

* कोई २ आचार्य व्योषादि के मिलित चूर्ण से द्विगुण दन्ती लेते हैं, अष्टांगसंग्रह में हरड़ तथा मुकूल का पाठ नहीं है और मात्रा परिमाण में भी भेद हैं। यथा—

व्योषत्रिजातकाम्भोदकृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् ।
सर्वे समा समसिता क्षौद्रेण गुडिका कृताः ॥

मूत्रकृच्छ्रे ज्वरे वम्यां कासे श्वासे भ्रमे क्षये ॥ ४८ ॥
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्ता निर्यन्त्रणाशिनः ।
योगः सर्वविषाणां च मतः श्रेष्ठो विरेचने ॥ ४९ ॥
मूत्रजानां च रोगाणां विधिज्ञेनावचारितः ।
नाशयेन्मूत्रजान् रोगान् कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥ ५० ॥

(२०) मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, कास, श्वास, भ्रम, क्षय, संताप (ज्वर) में, पाण्डु रोग में, मन्दाग्नि में प्रशस्त हैं, इसमें भोजन का नियंत्रण करना चाहिये। सब प्रकार के विषों में ये उत्तम विरेचन हैं। मूत्रजन्य रोगों में विधि को जानने वाले से दिये जाने पर उत्तम रेचक हैं।

तन्त्रान्तर में इनको अभयादि मोदक कहा है।

त्रिवृत्पलं द्विप्रसृतं पथ्या धान्योरुबूकयोः ।
द्राक्षाधात्र्युरुबूकानां प्रसृतौ द्वौ त्रिवृत्पलम् ॥ ५१ ॥
दश तान्मोदकान् कुर्यादीश्वराणां विरेचनम् ।

(२१) त्रिवृत् चूर्ण १ पल, हरड़ फल की छाल १ प्रसृत (दो पल), ऊरूवक (एरण्ड फल) एक प्रसृति (दो पल) लेकर दस मोदक बना लेने चाहियें। यह मात्रा उत्तम पुरुष की दृष्टि से है। साधारण पुरुष के अनुसार मात्रा बनानी चाहियें। ईश्वर धनी पुरुषों के लिये यह उत्तम विरेचक है।

त्रिवृद्धैमवती श्यामा नीलिनी हस्तिपिप्पली ॥ ५२ ॥
समूला पिप्पली मुस्तमजमोदा दुरालभा ।
कार्षिकं नागरपलं गुडस्य पलविंशतिम् ॥ ५३ ॥
चूर्णितं मोदकान्कुर्यादुदुम्बरफलोपमान् ।
हिङ्गुसौवर्चलव्योषयमानीबिडजीरकैः ॥ ५४ ॥
वचाजगन्धात्रिफलाचव्यचित्रकधान्यकैः ।
मोदकान् वेष्टयेच्चूर्णैस्तान् सतुम्बुरुदाडिमैः ॥ ५५ ॥

त्रिकवंक्षणहृद्बस्तिकोष्ठार्शःप्लीहशूलिनाम् ।
हिक्काकासारुचिश्वासकफोदावर्तिनां शुभाः ॥ ५६ ॥

(२३) श्यामा, त्रिवृत्, हैमवती (श्वेत वचा), नीलनीमूल, गज पिप्पली, पिप्पली, पिप्पली मूल, मुस्ता, अजमोदा, दुरालभा, प्रत्येक द्रव्य एक एक कर्ष, सोंठ १ पल, गुड़ २० पल लेकर सब को पकाकर गूलर के समान बड़े मोदक बना लेने चाहियें। इन मोदकों को हींग, संचल नमक, क्लोष, बिड् नमक, अजाजी (जीरा), अजवायन, वच, अजगन्धा, त्रिफला, चव्य, चित्रक, धनिया, तुम्बरू और अनार की छाल इनके चूर्णों से लपेट कर खाना चाहिये ।

ये मोदक त्रिक शूल, वंक्षणशूल, हृदय शूल, बस्ति शूल, कुष्ठ, अर्श, प्लीहा, हिक्का, कास, अरुचि, श्वास और कफ रोगों में तथा उदावर्त्त रोगियों के लिये हितकारी है ।

त्रिवृतां कौटजं बीजं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ।
क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षास्वेतद्विरेचनम् ॥ ५७ ॥

(२४) त्रिवृत् चूर्ण, इन्द्रजौ के बीजों का चूर्ण पिप्पली चूर्ण और सोंठ का चूर्ण इनको मुनक्के के रस में पकाकर मोदक बनाकर मधु के साथ खाना चाहिये । यह वर्षा ऋतु में उत्तम विरेचन है ।

त्रिवृद्दुरालभामुस्ताशर्करोदीच्यचन्दनम् ।
द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वासातलं जलदात्यये ॥ ५८ ॥

(२५) त्रिवृत्, दुरालभा, मुस्ता, शर्करा, उदीच्य (खस) और चन्दन तथा मुलहठी प्रत्येक वस्तु समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को द्राक्षा क्वाथ में पकाकर मोदक बना लेना चाहिये । इन मोदकों को शरद् ऋतु में शीतल जल से खाना चाहिये ।

त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम् ।
स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते पिष्ट्वा तूष्णाम्बुना पिबेत् ॥ ५९ ॥

(२६) त्रिवृत्, चित्रक, पाठा, अजाजी (जीरा), सरलकाष्ठ और

वच तथा स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) इनको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को हेमन्त ऋतु में गरम पानी से पीना चाहिये।

शर्करा त्रिवृता तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ।
त्रिवृतां त्रायन्ती राधां सातलां कटुरोहिणीम् ॥ ६० ॥
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत् त्र्यहम् ।
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धायां मलदोषहृत् ॥ ६१ ॥

(२७) त्रिवृत् चूर्ण के बराबर शर्करा मिला कर ग्रीष्म ऋतु में गरम जल से पीना चाहिये । त्रिवृत्, त्रायन्ती, हवुषा (हाऊ बेर), सातला (चर्मकषा), कुटकी और स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) इनके चूर्ण को गोमूत्र से तीन दिन तक भावना देनी चाहिये । रोगी को स्नेहन करके यह योग सब ऋतुओं में पिलाना चाहिये । यह योग शरीर के मल और दोष को नष्ट करता है ।

दुरालभा त्रिवृच्छ्यामा वत्सकं हस्तिपिप्पली ।
नीलिनी त्रिफला मुस्तं कटुका च सुचूर्णितम् ॥ ६२ ॥
सर्पिर्मांसरसोष्णाम्बुयुक्तं पाणितलं ततः ।
पिबेत्सुखतमं ह्येतद् रूक्षाणामपि शस्यते ॥ ६३ ॥

(२८) श्यामा, त्रिवृत्, धमासा, वत्सक (इन्द्रजौ), गजपिप्पली, नलिनी मूल, त्रिफला, मुस्ता, कटुकी इन सब का चूर्ण करके घृत, मांस रस, गरम पानी इन में से किसी एक के साथ एक कर्ष मात्रा में पीना चाहिये । ये उपरोक्त योग रूक्ष शरीर वालों के लिये सब ऋतुओं में हितकारी हैं । वसन्त आदि सब ऋतुओं में उत्तम हैं ।

त्र्यूषणं त्रिफला हिङ्गु कार्षिकं त्रिवृतापलम् ।
सौवर्चलार्धकर्षं च पलार्धं चाम्लवेतसात् ॥ ६४ ॥
तच्चूर्णं शर्करातुल्यं मद्येनाम्लेन वा पिबेत् ।
गुल्मपार्श्वार्तिनुत्सिद्धं जीर्णे चाद्याद्रसौदनम् ॥ ६५ ॥

(२९) त्र्युषण (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिफला, हींग प्रत्येक

वस्तु एक एक कर्ष, त्रिवृत् एक पल, संचल नमक आधा कर्ष, अम्लवेतस आधा पल लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। सम्पूर्ण चूर्ण के बराबर इसमें शर्करा मिलानी चाहिये। इस चूर्ण को मद्य के साथ अथवा अन्य किसी अम्ल के साथ पाना चाहिये। इसके जीर्ण होने पर मांस रस के साथ चावल खाने चाहियें। यह चूर्ण गुल्म रोग, पार्श्व शूल को नष्ट करता है।

सप्तलां त्रिफलां दन्तीं त्रिवृतां व्योषसैन्धवम्।
कृत्वा चूर्णं तु सप्ताहं भाव्यमामलकीरसे ॥ ६६ ॥
तद्योज्यं तर्पणे यूषे पिशिते रागयुक्तिषु।

(२८) त्रिवृता, त्रिफला, दन्तीमूल, सातला (इन्द्रायण), व्योष, सैन्धव इनको समान भाग लेकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को एक सप्ताह तक आंवले के रस से भावना देनी चाहिये। इस चूर्ण को दोष की अपेक्षा से सत्तू आदि तर्पणों में, यूष में, मांस रस में राग-षाडव में मिला कर देना चाहिये!

तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्महरं घृतम् ॥ ६७ ॥

(२९) घृत—घृत १ सेर, कांजी आदि अम्ल १ सेर, जल १ सेर, कल्कार्थं—त्रिवृत् का कल्क २० तोला लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत गुल्मनाशक है।

मूलं श्यमात्रिवृतयोः पचेदामलकैः सह।
जले तेन कषायेण पक्त्वा सर्पिः पिबेन्नरः ॥ ६८ ॥

(३०) श्यामा और त्रिवृत् दोनों प्रकार की मूल, आंवला तीनों परस्पर समान भाग लेकर अष्ट गुण जल में क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये। घृत से चतुर्गुण कषाय लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। घृत में दो योग हैं।

श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः पिबेत्तथा।
साधितं वा पयस्ताभ्यां सुखं तेन विरिच्यते ॥ ६९ ॥

(३१) दूध के दो योग—श्यामा और त्रिवृत् दोनों की मूल लेकर

अष्ट गुण जल में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश क्वाथ रहने पर छान लेना चाहिये । इस कषाय में दूध पाक विधि से दूध सिद्ध करके पीना चाहिये । श्यामा और त्रिवृत् का कल्क अष्टमांश लेकर चतुर्गुण जल में दूध सिद्ध करना चाहिये । इससे सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है । ये दो योग हैं ।

त्रिवृन्मुष्टींस्तु सनखानष्टौ द्रोणे जले पचेत् ।
पादशेषं कषायं तं शीतं गुडतुलायुतम् ॥ ७० ॥
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्रपिप्पलीफलचित्रकैः ।
प्रलिप्ते मधुना मासं जातं तन्मात्रया पिबेत् ॥ ७१ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं गुल्मश्वयथुनाशनम् ।
सुरां वा त्रिवृतायोगकिण्वां तत्क्वाथसंयुताम् ॥ ७२ ॥

(३२) मद्य के दो योग—नखों को अन्दर करके मुट्ठी बांधे, इस प्रकार से त्रिवृत् की आठ मुट्ठी लेकर (त्रिवृत् आठ पल) एक द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर इसको छान लेना चाहिये । इस क्वाथ में गुड़ १०० पल मिला देना चाहिये । फिर मधु पिप्पली, मैनफल, चित्रक के चूर्ण से लिप्त स्निग्ध घड़े में इस गुड़ मिश्रित क्वाथ को डालकर एक मास तक रख देना चाहिये । एक मास के पीछे जब इसमें रस उत्पन्न हो जाय तब ग्रहणी, पाण्डु रोग, गुल्म, श्वयथु में मात्रापूर्वक पीना चाहिये ।

अथवा पूर्व की भांति आठ पल त्रिवृत का चतुर्थांश क्वाथ करके इसमें १ तुला गुड़ मिलाकर तथा त्रिवृत् कल्क चतुर्थांश (क्वाथ से) मिलाकर स्निग्ध पात्र में एक मास तक रखना चाहिये । इसके पीछे इस को पीना चाहिये । ❀

यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथस्विन्नैः कुल्माषमम्भसा ।

❀ अष्टांगसंग्रह में 'त्रिवृता पादकल्का' के स्थान पर 'त्रिवृता पादकिण्वा' पाठ है । त्रिवृता का कल्क ही किण्व रूप से काम करता है ।

आसुतं षडहं पल्ले जातं सौवीरकं पिबेत् ॥ ७३ ॥

(३३) कांजी में दो योग—तुष रहित जौ को लेकर श्यामा और त्रिवृत् के कषाय से अर्ध स्विन्न बनाकर कुल्माष रूप (उबले हुए, गले हुए जौ जो कि हाथ से न चूरे जा सकें) में घड़े के अन्दर रख कर धान्य राशि में छः दिन के लिये रख देना चाहिये । जब इनमें रस उत्पन्न हो जाये तब इस सौवीरक कांजी को पीना चाहिये । * अथवा—

भृष्टान् वा सतुषान् क्षुण्णान्यवांस्तच्चूर्णसंयुतान् ।
आसुतानम्भसा तद्वत्पिबेज्जातं तुषोदकम् ॥ ७४ ॥

(३४) तुषयुक्त जौ को शुद्ध करके भून लेना चाहिये । जौ के बराबर त्रिवृत् का चूर्ण मिला कर पानी में घोल कर इनको घड़े में बन्द करके छः दिन तक धान्यराशि में रख देना चाहिये । जब रस उत्पन्न हो जाय तब इस तुषोदक को पीना चाहिये ।

तथा मदनकल्पोक्तान् खाण्डवादीन् पृथग्दश ।
त्रिवृच्चूर्णेन संयोज्य विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥ ७५ ॥

(३५) दस योग—मदन कल्पोक्त षाडव, राग, लेह, मोदक, उत्कारिका, तर्पण, पानक, मांसरस, यूष और मद्य इन दस योगों में त्रिवृत् चूर्ण दोषादि के अनुकूल मात्रा में मिला कर प्रयोग करना चाहिये ।

त्वक्केशराम्रातकदाडिमैलासितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गैः ।
मद्यैस्तथाऽन्यैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि॥७६॥
शीताम्बुनाऽपीतवतश्च तस्य सिञ्चेन्मुखं छर्दिविघातहेतोः ।
हृद्यांश्च मृत्पुष्पफलप्रवालानन्यांश्च दद्यादुपजिघ्रणार्थम् ॥७७॥

प्रमाण श्लोक—त्वक् (दालचीनी), केशर, आम्रातक, अनार, इलायची, मिश्री, मधु, मातुलुंग, मद्य, कांजी आदि अम्ल द्रव्यों एवं अन्य मन के अनुकूल द्रव्यों के साथ मिला कर विरेचन देना चाहिये ।

* श्री गंगाधरसेन ने—'षडहं पल्ले' के स्थान पर 'षडहंपूर्णे' पाठ दिया है ।

जिस समय रोगी विरेचक औषध पी रहा हो उस समय शीतल पानी से मुख (शिर) का परिषेचन करना चाहिये, जिससे कि रोगी को वमन न हो। हृदय के लिये प्रिय, मिट्टी, पुष्प, फल, प्रवाल (अग्र भाग) तथा अन्य सुगन्धित द्रव्य सूंघने के लिये देने चाहियें।

तत्र श्लोकाः। एकोऽम्लादिभिरष्टौ च दश द्वौ सैन्धवादिभिः।
मूत्रेऽष्टादश यष्ट्या द्वौ जीवकादौ चतुर्दश ॥ ७८ ॥
क्षीरादौ सप्त लेहेऽष्टौ चत्वारः सितयाऽपि च।
पानकादिषु पञ्चैव षड्तौ पञ्च मोदकाः ॥ ७९ ॥
चत्वारश्च घृतक्षीरे द्वौ चूर्णे तर्पणे तथा।
द्वौ मद्ये काञ्जिके द्वौ च दशान्ये खाडवादिषु ॥ ८० ॥
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कल्पेऽस्मिन्समुदाहृतम्।
शतं दशोत्तरं सिद्धं योगानां परमर्षिणा ॥ ८१ ॥

उपसंहार—इस श्यामा-त्रिवृत् नामक कल्प में महर्षि ने एक सौ दश योगों को कहा है। यथा—अम्लादि में ९, सैन्धवादि में १२, मूत्र में १८, यष्टीमधु के २, जीवकादि के १४, दूध आदि में ७, लेह में ८, शर्करा मोदकादि में ४, पानकादि में ५, ऋतुओं में मोदक आदि कुल ९, घृतों में २, दूध में २, कांजी में २, मद्य में २, तर्पणादि में ४, षाडव आदि में दस, इस प्रकार से ११० योग हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने श्यामात्रिवृत्कल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथातश्चतुरङ्गुलकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'चतुरंगुल-कल्प' की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है।

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः ।
प्रग्रहः कृतमालश्च कर्णिकारोऽवघातकः ॥ ३ ॥

पर्य्याय—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरंगुल, प्रग्रह, कृतमाल, कर्णिकार, उपघातक ये अमलतास के पर्य्याय हैं ।

ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु ।
राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ॥ ४ ॥
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे ।
योज्यो मृदुनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः ॥ ५ ॥

आरग्वध ज्वर, हृदयरोग, वातरक्त, उदावर्त आदि रोगों में अधिक पथ्य है । मृदु-मधुर और शीतल होने से बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण, कोमल प्रकृति मनुष्यों में विशेष रूप से अमलतास का उपयोग करना चाहिये, चूंकि यह मृदु और दोषरहित है ।

फलकाले परिणतं फलं तस्य हरेद् बुधः ।
तेषां गुणवतां जातं सिकतासु निधापयेत् ॥ ६ ॥
सप्तरात्रात्समुद्धृत्य शोषयेदातपे भिषक् ।
ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत् ॥ ७ ॥

अमलतास के फल जब पक जायें तब फल ग्रहण काल में अव्यापन्न गुणशाली फलों का बहुत-सा संग्रह करके रेत के अन्दर दबा देना चाहिये। सात दिन के पीछे इनको रेत में से निकालकर सुखा लेना चाहिये । सुखा कर इनकी मज्जा (गुद्दे) को निकालकर पवित्र बरतन में रख देना चाहिये ।

द्राक्षारसयुतो देयो दाहोदावर्तपीडिते ।
चतुर्वर्षमुखे बाले यावद्द्वादशवार्षिके ॥ ८ ॥

(१) चार साल के बच्चे से लेकर बारह वर्ष के लड़के तक को अथवा दाह उदावर्त से पीड़ित पुरुष को द्राक्षा (मुनक्का) के स्वरस या कषाय के साथ अमलतास की मज्जा पिलानी चाहिये । स्वरस में मथकर, छानकर मज्जा को देना चाहिये ।

चतुरंगुलमज्ज्ञस्तु प्रसृतं वाऽथवाऽञ्जलिम् ।
सुरामण्डेन संयुक्तमथवा कोलसीधुना ॥ ९ ॥
दधिमण्डेन वा सम्यग्रसेनामलकस्य वा ।
कृत्वा शीतकषायं तं पिबेत्सौवीरकेण वा ॥ १० ॥

(२) कोष्ठ की अपेक्षा से अमलतास की मज्जा प्रसृत (दो पल) परिमित या अंजलि (कुड़व) परिमित मात्रा में सुरामण्ड के साथ या कोल (बेर) की सीधु के साथ, या दधिमण्ड के साथ, अथवा आंवले के रस के साथ, या सौवीरक (निस्तुष कांजी) के साथ पीना चाहिये, अथवा अमलतास की मज्जा का शीत कषाय बनाकर पीना चाहिये ।

त्रिवृतो वा कषायेण मज्जकल्कं तथा पिबेत् ।

(३) त्रिवृत् का कल्क और अमलतास की मज्जा को कल्करूप करके त्रिवृत्त और अमलतास की मज्जा के कषाय से पीना चाहिये । अथवा अमलतास के मज्जारूप कल्क में सैन्धव लवण और मधु मिलाकर बिल्व-मूल के कषाय के साथ पीना चाहिये ।

तथा बिल्वकषायेण लवणक्षौद्रसंयुतम् ॥ ११ ॥
कषायेणाथवा तस्य त्रिवृच्चूर्णं गुडान्वितम् ।
साधयित्वा शनैर्लेहं लेहयेन्मात्रया नरम् ॥ १२ ॥

(४) बिल्वमूल का कषाय करके, त्रिवृत् चूर्ण और गुड़ दोनों परस्पर समान भाग, दोनों के बराबर अमलतास को मज्जा का कल्क मिलाकर धीरे २ लेह सिद्ध करना चाहिये । इसको मात्रा में पीना चाहिये ।

चतुरंगुलसिद्धाद्वा क्षीराद्यदुदियाद्घृतम् ।
मज्ज्ञः कल्केन धात्रीणां रसे तत्साधितं पिबेत् ॥ १३ ॥

(५) घृत—चतुरंगुल की मज्जा से अष्टगुण दूध, दूध से चतुर्गुण जल लेकर दूध सिद्ध करना चाहिये । इस दूध से घृत निकालना चाहिये । इस घृत से चतुर्गुण आंवले का स्वरस या कषाय, घृत से चतुर्थांश अमलतास की मज्जा का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करना चाहिये । यह एक योग ।

तद्देव दशमूलस्य कुलत्थानां यवस्य च ।
कषाये साधितं सर्पिः कल्कैः श्यामादिभिः पिबेत् ॥ १४ ॥

(६) चतुरंगुल की मज्जा से उत्पन्न घृत, क्वाथार्थ—दशमूल का क्वाथ, कुलत्थी का क्वाथ और जौ का क्वाथ, तीनों मिलित घृत से चतुर्गुण, कल्कार्थ—मदनकल्प में पठित नौ द्रव्य—श्यामा आदि नौ द्रव्यों को घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । ये दो घृत हैं ।

[श्री गंगाधर सेन श्यामादि पद से अपामार्ग तण्डुलीयोक्त त्रिवृत्, त्रिफला, दन्ती आदि का ग्रहण करते हैं ।]

दन्तीक्वाथेऽञ्जलिं मज्ज्ञः शम्पाकस्य गुडस्य च ।
दत्त्वा मासार्धमासस्थमरिष्टं पाययेत च ॥ १५ ॥

(७) दन्तीमूल के क्वाथ में चतुरंगुल की मज्जा १ अंजलि (कुडव गुड़ एक कुडव, क्वाथ चतुर्गुण लेकर एक मास पर्यन्त या- पन्द्रह दिनों तक रखकर जब रस आ जाये तब इस अरिष्ट को पीना चाहिये ।

भवति चात्र । यस्य यत्पानमन्नं च हृद्यं स्वाद्वपि वा कटु ।
लवणं वा भवेत्तेन युक्तं दद्याद्विरेचनम् ॥ १६ ॥

(८) जिस पुरुष को पीने में जो पान और अन्न हृदय के अनुकूल प्रतीत हो, उस पुरुष को चतुरंगुल मज्जा के प्रयोग को स्वादु, कटु, या लवण बनाकर देना चाहिये । रोगी की इच्छा के अनुसार ही चतुरंगुल के प्रयोग में मधुर, कटु, लवण रस बनाकर देना चाहिये ।

मदनकल्पोक्त नौ द्रव्य—श्यामा, त्रिवृत्, चतुरंगुल, तिल्वक, महावृक्ष, सप्तला, शंखिनी, दन्ती, द्रवन्ती । ये नौ द्रव्य हैं ।

तत्र श्लोकौ । द्राक्षारसे सुरासौवीरोदध्नि चामलकीरसे ।
सौवीरके कषाये च त्रिवृतो विल्वकस्य च ॥ १७ ॥
लेहेऽरिष्टे घृते द्वे च योगा द्वादश कीर्तिताः ।
चतुरङ्गुलकल्पेऽस्मिन्सुकुमाराः प्रकीर्तिताः ॥ १८ ॥

उपसंहार—इस चतुरंगुल कल्प में बारह योग कहे हैं । यथा—द्राक्षा

रस में १, सुरा सीधु दधिमस्तु, आमलक स्वरस, सौवीर में पांच, त्रिवृत् कषाय, विल्व कषाय, लेह, अरिष्ट में ४; और घृत में दो इस प्रकार से बारह प्रयोग कहे हैं। ये बारह योग सुकुमार प्रकृति वालों के लिये सुखदायक हैं।

'इत्याग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने चतुरङ्गुलकल्पो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथातस्तिल्वककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे तिल्वक कल्प की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

तिल्वकस्तु मतो लोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः।

पर्य्याय—तिल्वक, लोध्र, बृहत्पत्र, तिरीटक ये तिल्वक के पर्य्याय हैं।

तस्य मूलत्वचं शुष्कामन्तर्वल्कलवर्जिताम् ॥ ३ ॥
चूर्णयेत्तु त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ श्चोतयेत्ततः।
लोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ॥ ४ ॥
भागं तं दशमूलस्य पुनः क्वाथेन भावयेत्।
शुष्कं चूर्णं पुनः कृत्वा तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥ ५ ॥
दधिमण्डसुरामण्डमूत्रैर्बदरसीधुना।
रसेनामलकानां वा ततः पाणितलं पिबेत् ॥ ६ ॥
सुरां लोध्रकषायेण जातां पक्षस्थितां पिबेत्।

(१) तिल्वकमूल की छाल को इस प्रकार से लेना चाहिये कि अन्दर की कठिन त्वचा साथ में न आ जाये। इस तिल्वकमूल की छाल को लेकर इसके तीन भाग करने चाहिये। इनमें दो भागों का क्वाथ करना चाहिये

[पाठान्तर के अनुसार पानी के अन्दर घोल लेना चाहिये ।]*

एक भाग का चूर्ण कर लेना चाहिये । इस तीसरे चूर्ण भाग को तिल्वक के कषाय से भावना देनी चाहिये । फिर दशमूल कषाय से (लोध्र तुल्य कषाय से) इस चूर्ण को भावना देनी चाहिये । फिर इस चूर्ण को शुष्क करके स्निग्ध और स्विन्न रोगी को इस चूर्ण की कर्ष मात्रा दही के साथ, अथवा तक्र के साथ, या सुरामण्ड के साथ, या बेर के सीधु के साथ अथवा आमलकी रस के साथ देना चाहिये, ये पांच योग हैं । ※

(२) लोध्र के कषाय के समान सुरा को लेकर पन्द्रह दिन तक धान्यराशि में रख देना चाहिये । जब रस आ जाये तब इसको पीना चाहिये ।

मेषशृङ्ग्यभयाकृष्णाचित्रकैः सलिले शृते ॥ ७ ॥
मरुजान् सुनुयात्तच्च जातं सौवीरकं यदा ।
भवेदञ्जलिना तस्य लोध्रकल्कं पिबेत्तदा ॥ ८ ॥

(३) मरुजा (जौ), मेषशृङ्गी (मेढासींङ्गी), अभया (हरड़), पिप्पली और चित्रक इनको अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर इसको छान लेना चाहिये । इस क्वाथ की एक तुला (१०० पल) को पवित्र शुद्ध पात्र में रख देना चाहिये । कालान्तर में जब यह सौवीरक (कांजी) रूप बन जाय तब इसकी अंजलि मात्रा के साथ लोध्रमूलत्वक् के कल्क को मात्रा में पीना चाहिये ।*

दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक् ।

* तिल्वकमूल की अन्तः त्वचा कठोर होती है, इसलिये उसका निषेध है । विरेचन द्रव्यों में—मूलों में त्रिवृत्, त्वचाओं में तिल्वक्, दूधों में स्नुही, जलों में हरीतकी श्रेष्ठ है ।

※ 'गालयेत्' इति पा० । अष्टांगसंग्रह में मूत्र के साथ देना भी लिखा है । वहां पर तक्र का पाठ नहीं है ।

* अष्टांगसंग्रह में 'तत्तुला' के स्थान पर 'मरुजाः सुनुयात्तच्च' पाठ है । मरुजा का अर्थ जौ है ।

समुत्क्वाथ्य गुडस्यैकां तुलां लोध्रस्य चाञ्जलिम् ॥ ९ ॥
आवपेत्तत्परं पक्षान्मद्यपानां विरेचनम् ।

(४) दन्ती १ आढ़क, जल १ द्रोण, चित्रक १ आढ़क, जल १ द्रोण लेकर पृथक् २ क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर दोनों क्वाथों को मिला देना चाहिये । इस क्वाथ में गुड़ एक तुला, लोध्र मूल त्वक् एक कुड़व मिलाकर पन्द्रह दिनों तक रख देना चाहिये । एक पक्ष के पीछे यह मद्य-पान विरेचक होता है ।

तिल्वकस्य कषायेण दशकृत्वः सुभाविताम् ॥ १० ॥
मात्रां कम्पिल्लकस्यैव कषायेण पुनः पिबेत् ।

(५) तिल्वकमूल की त्वचा के चूर्ण को तिल्वक मूलत्वक् के कषाय से दस वार भावना देनी चाहिये । फिर इसीकी कम्पिल्लक कषाय से दस वार भली प्रकार से भावना देनी चाहिये । इसको मात्रा में पीना चाहिये ।

चतुरङ्गुलकल्पेन लेहोऽन्यः कार्य एव च ॥ ११ ॥
त्रिफलायाः कषायेण ससर्पिर्मधुफाणितः ।
लोध्रचूर्णयुतः सिद्धो लेहः श्रेष्ठो विरेचने ॥ १२ ॥
तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः ।
सघृतः साधितो लेहः स च श्रेष्ठो विरेचने ॥ १३ ॥

(६) चतुरंगुल के कल्प के समान एक लेह बनाना चाहिये । तथा—तिल्वक-मूलत्वक् कषाय में गुड़ मिलाकर त्रिवृत् का चूर्ण मिलाकर पाक करना चाहिये । इस प्रकार से अवलेह तैयार करना चाहिये । त्रिफला के क्वाथ में घृत और फाणित (राब) मिलाकर पाक करना चाहिये । जब पाक अवशिष्ट रह जाये तब प्रक्षेप विधि से लोध्र का चूर्ण मिलाकर लेह बनाना चाहिये, शीतल होने पर मधु मिलाना चाहिये । अथवा तिल्वक-मूलत्वक् कषाय में तिल्वकमूलत्वक् का कल्क और शर्करा दोनों समान भाग तथा थोड़ा-सा अनुकूल मात्रा में घृत मिलाकर लेह सिद्ध करना चाहिये । यह लेह उत्तम विरेचक है ।

अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनां मुष्टींश्च सनखान्पृथक् ।
द्रोणेऽपां साधयेत्पादशेषे प्रस्थं घृतात्पचेत् ॥ १४ ॥
पिष्टैस्तैरेव बिल्वांशैः समूत्रलवणैर्भिषक् ।
ततो मात्रां पिबेत्काले श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ १५ ॥

(७) अपामार्ग में तण्डुलीयोक्त त्रिवृतादि (त्रिवृत्, त्रिफला, दन्ती, नीलिनी और सप्तला) सात द्रव्यों में से पृथक् २ द्रव्य की आठ-आठ मुट्ठियां लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिये । जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब इस क्वाथ को छान लेना चाहिये । इस क्वाथ में एक प्रस्थ घृत, तथा कल्कार्थ—त्रिवृत्, त्रिफला आदि सात द्रव्य प्रत्येक बिल्व परिमाण (पल परिमाण) में, मूत्र लवण (बिड् लवण) एक पल लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । इस घृत को मात्रा में पीना चाहिये, यह उत्तम विरेचक है ।

लोध्रकल्केन मूत्राम्ललवणैश्च पचेद् घृतम् ।

(८) घृत १ प्रस्थ, लोध्रमूलत्वक् कल्क घृत से चतुर्थांश क्काथार्थं, और बेर, अनार आदि अम्ल द्रव्यों का रस घृत से त्रिगुण, गोमूत्र घृत के समान एक प्रस्थ, मिलित क्काथार्थं रस स्नेह से चतुर्गुण लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । जब घृत सिद्ध हो जाये तब इसमें अष्टमांश सैन्धव लवण मिलाकर रख देना चाहिये ।

चतुरङ्गुलकल्पेन सर्पिषी द्वे च साधयेत ॥ १६ ॥

( ) चतुरंगुल कल्प के विधान से दो घृत पकाने चाहियें । यथा— तिल्वकमूलत्वक् कल्क से दूध को सिद्ध करके उसको मथकर घृत उत्पन्न कर लेना चाहिये । इस घृत से चतुर्थांश तिल्वकमूलत्वक् कल्क लेकर चतुर्गुण आमलकी रस में घृत सिद्ध करना चाहिये । इसी प्रकार तिल्वक-मूलत्वक् कल्क से सिद्ध दूध में घृत निकालकर, दशमूल कषाय, कुलत्थ कषाय, और यव कषाय मिलित स्नेह से चतुर्गुण लेकर अपामार्ग तण्डुली-

योक्त त्रिवृता, त्रिफला, दन्ती आदि द्रव्यों के कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार से घृत में चार योग हैं।

तत्र श्लोकौ। पञ्च दध्यादिभिस्त्वेका सुरा सौवीरकेण च।
एकोऽरिष्टस्तथा योग एकः कम्पिल्लकेन च॥ १७॥
लेहास्त्रयो घृतेनापि चत्वारः संप्रदर्शिताः।
योगास्ते लोध्रमूलानां कल्पे षोडश दर्शिताः॥ १८॥

उपसंहार—इस लोध्रमूल कल्प में सोलह योग कहे हैं। यथा—दधि आदि से ५, सुरा सौवीर अरिष्ट और कम्पिल्लक में १, कुल ४, लेह में ३, घृत में ४। इस प्रकार से सोलह योग हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने
तिल्वककल्पो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

दशमोऽध्यायः

अथातः सुधाकल्पं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

इसके आगे 'सुधाकल्प' की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है।

विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता।
संघातं तु भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा॥ ३॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन।
न दोषनिचये चाल्पे सति मार्गपरिक्रमे॥ ४॥

सब विरेचन द्रव्यों में सुधा (सेहुण्ड दूध) अति तीक्ष्ण है। अति-तीक्ष्ण होने से, तथा दुःख साध्य विभ्रमजनक होने से दोषों के समूहों को शीघ्रता से तोड़ती है। इसलिये मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति में इस सुधा का प्रयोग कभी न करना चाहिये। अतः दोष समूह के थोड़ा होने पर

अथवा मार्गपरिक्रम (मार्ग के परिवृत होने पर गत्यन्तर होना जहां पर सम्भव हो) होने की सम्भावना में सुधा का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते।
श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि ॥ ५ ॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम्।
प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक् स ह्यवचारितः ॥ ६ ॥
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम्।

प्रयोगार्ह—पाण्डुरोग, उदररोग, गुल्म, कुष्ठ, दूषीविष से पीड़ित, श्वयथु, मधुमेह, दोषों के कारण चित्त में भ्रम होने में (चित्त की विक्षिप्तता में), अथवा अन्य इसी प्रकार के रोगों से पीड़ित होने पर रोगी के प्रमाण (बल) को जानकर, महावृक्ष (सुधा) को भली प्रकार से प्रयोग करना चाहिये। सम्यक् विधि से प्रयोग करने पर बड़े भारी दोष समूह को भी शीघ्र नष्ट कर देता है।

द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः ॥ ७ ॥
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः।

यह महावृक्ष दो प्रकार का है। एक—बहुत से कण्टकों से युक्त होता है। दूसरा—अति तीक्ष्ण अल्प कण्टकों से युक्त। इनमें बहुत कण्टकों वाला वृक्ष श्रेष्ठ है।

स नाम्ना स्नुग्गुडानन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः ॥ ८ ॥

पर्य्याय—गुडा, नन्दी, सुधा, निस्त्रिंश पत्रक (खड्ग पत्रक) ये महावृक्ष के पर्य्याय हैं।

तं विपाट्याहरेत्क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक्।
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ ९ ॥

दो वर्ष वाले या तीन वर्ष वाले सुधावृक्ष को उखाड़ कर शस्त्र के द्वारा दूध को निकालना चाहिये। इसका दूध विशेष कर शिशिर के अन्त (वसन्त ऋतु) में संग्रह करना चाहिये।

बिल्वादीनां बृहत्याश्च कण्टकार्यास्तथैकशः ।
कषायं तं समांशेन कृत्वाऽङ्गारेषु शोषयेत् ॥ १० ॥

दूध का शोधन—अंगारों के ऊपर पात्र में सुधा का दूध रखना चाहिये । इस दूध में दूध के समान बिल्वादि महापंचमूल का कषाय मिलाकर शुष्क करना चाहिये । इसके शुष्क हो जाने पर बृहती (बड़ी कटेरी) का कषाय मिलाकर शुष्क करना चाहिये । फिर कण्टकारी का कषाय मिलाकर उसको शुष्क करना चाहिये ।

ततः कोलसमां मात्रां पिबेत्सौवीरकेण वा ।
तुषोदकेन कोलानां रसेनामलकस्य वा ॥ ११ ॥
सुरया दधिमण्डेन मातुलुङ्गरसेन वा ।

(१) इस शोधित दूध का कोल (बेर) के बराबर गोली बनाकर निस्तुष सौवीरक कांजी के साथ, तुषोदक के साथ, बेर के रस के साथ, आंवले के रस के साथ, सुरा के साथ, दधिमण्ड के साथ, बलगल के रस के साथ पीना चाहिये । ये सात योग हैं—

सातलां काञ्चनक्षीरीं श्यामादीनि कटुत्रिकम् ।
यथोपपत्ति सप्ताहं सुधाक्षीरेण भावयेत् ॥ १२ ॥
कोलमात्रं घृतेनातः पिबेन्मांसरसेन वा ।

(२) सातला, कांचनक्षीरी (स्वर्णक्षीरी), श्यामा, दन्ती, त्रिफला इनमें से जो द्रव्य मिल जायें उनको सात दिन तक सुधा-दूध से भावना देनी चाहिये । फिर इस चूर्ण की कोल मात्रा को कोष्ठादि के अपेक्षा से अल्प मात्रा में घृत या मांस रस के साथ पीना चाहिये ।

[अष्टांग-संग्रह में त्रिवृत् आदि नव द्रव्यों को (त्रिवृत्, श्यामा, राजवृक्ष, आरग्वध, तिल्वक, सुधा, शंखिनी, द्रवन्ती और दन्ती सुधा दूध से भावना देना लिखा है ।]

त्र्यूषणं त्रिफलां दन्तीं चित्रकं त्रिवृतां तथा ॥ १३ ॥
स्नुक्क्षीरभावितं सम्यग्विदध्याद् गुडपानकम् ।

(३) इसी प्रकार से त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पिप्पली) त्रिफला, दन्ती, चित्रक और त्रिवृत् इन द्रव्यों के चूर्ण को स्नुक दूध से सात दिन तक भावना देनी चाहिये । इस भावित चूर्ण को गुड़ के शर्बत के साथ मिलाना चाहिये । पानक में एक योग है ।

त्रिवृतारग्वधं दन्तीं शङ्खिनीं सप्तलां समाम् ॥ १४ ॥
निशि स्थितं गवां मूत्रे शोषयेदातपे ततः ।
सप्ताहं भावयित्वैवं स्नुक्क्षीरेणापरं पुनः ॥ १५ ॥
सप्ताहं भावयेच्छुष्कं ततस्तेनापि भावितम् ।
गन्धमाल्यं तदाघ्राय प्रावृत्य पटमेव च ॥ १६ ॥
सुखमाशु विरिच्यन्ते मृदुकोष्ठा नराधिपाः ।

(४) त्रिवृता, अमलतास, दन्ती, सप्तला, शंखिनी, इन सबको समान भाग लेकर रात्रि में गोमूत्र के अन्दर भिगो देना चाहिये । प्रातःकाल इसको शुष्क करना चाहिये । इस प्रकार से एक सप्ताह तक प्रतिदिन करना चाहिये । दूसरे सप्ताह में इस चूर्ण को सुधा दूध में रात में भिगोकर रखना चाहिये और प्रातःकाल शुष्क करना चाहिये । इस प्रकार से एक सप्ताह तक करना चाहिये । फिर इस चूर्ण को स्नुक् दूध से एक सप्ताह तक पुनः भावना देनी चाहिये । इस प्रकार तीन सप्ताह के पीछे इस चूर्ण से गन्ध, (पद्मपुष्प) माला आदि को भावित करके इसको सूंघने से अथवा शरीर के वस्त्र को इस चूर्ण से भावित करके शरीर पर धारण करने से मृदु कोष्ठ वाले ऐश्वर्यवान व्यक्तियों को सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है, (क्रूर कोष्ठ वालों को नहीं होता) ।

श्यामात्रिवृत्कषायेण स्नुकक्षीरघृतफाणितैः ॥ १७ ॥
लेहं पक्त्वा विरेकार्थं लेहयेन्मात्रया नरम् ।

(५) श्यामा (अरुणमूल) और त्रिवृत् दोनों का कषाय करके, इनमें सुधा दूध, घृत, फाणित (आधा पका इक्षुरस या राब) उचित

मात्रा में मिलाकर पकाना चाहिये। जब यह लेह तैयार हो जाय तब इसको मात्रा में चाटना चाहिये।

पाययेत सुधाक्षीरं यूषैर्मांसरसैर्घृतैः ॥ १८ ॥
भावितान् शुष्कमत्स्यान् वा मांसं वा भक्षयेन्नरः।

(६) कोष्ठादि की अपेक्षा से सुधा दूध को मुद्गादि यूष के साथ, या मांस रस के साथ अथवा घृत के साथ पीना चाहिये। सुधा दूध से भावित शुष्क मछलियों को खाना चाहिये अथवा सुधा दूध से भावित मांस को खाना चाहिये।

क्षीरेणामलकैः सर्पिश्चतुरङ्गुलवत्पचेत्।

(७) चतुरंगुल कल्प के समान दो घृत यथा सुधा दूध से सिद्ध गाय के दूध से घृत निकाल कर घृत से चतुर्गुण आमलकी रस में, सुधा दूध का कल्क चतुर्थांश मिलाकर घृत सिद्ध करना चाहिये। अथवा इस घृत को, दशमूल कषाय, कुलत्थ कषाय, यव कषाय घृत से चतुर्गुण अपामार्ग तण्डुलीयोक्त श्यामादि का कल्क घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। दो घृत हैं।

सुरां वा कारयेत्क्षीरे घृतं वा पूर्ववत्पचेत् ॥ १९ ॥

(८) सुरा—सुधा दूध में सुरामण्ड को डालकर पात्र में रख देना चाहिये। जब रस उत्पन्न हो जाये तब इसको पीना चाहिये।

इस प्रकार से बीस योग हैं—

तत्र श्लोकौ। सौवीरकादिभिः सप्त सर्पिषा च रसेन च।
पानकं प्रेयलेहौ च योगा यूषादिभिस्त्रयः ॥ २० ॥
द्वौ शुष्कमत्स्यमांसानां सुरैका द्वे च सर्पिषी।
महावृक्षस्य योगास्ते विंशतिः समुदाहृताः ॥ २१ ॥

उपसंहार—सौवीरक आदि से सात योग, घृत से एक, मांस रस से एक, पानक से एक, प्रेय में एक, लेह में एक, यूषादि में तीन, शुष्क

मत्स्य और मांस से दो, घृत में दो, सुरा में एक, इस प्रकार से बीसयोग महावृक्ष के कल्प में कहे हैं।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने सुधाकल्पो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः सप्तलाशङ्खिनीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'सप्तला-शंखिनी कल्प' की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है।

सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा।

सप्तला के पर्य्याय—सप्तला, चर्मसाह्व, बहुफेनरसा, ये सातला या चीकाखाई के पर्य्याय हैं। महाराष्ट्र में और ब्रह्मा में इसकी फलियों से शिर धोते हैं।

शङ्खिनी तिक्तला चैव यवतिक्ताऽक्षिपीडकः ॥ ३ ॥

शंखिनी के पर्य्याय—तिक्तला, यवतिक्ता अक्षिपीड़क ये शंखिनी (कालमेघ) के पर्य्याय हैं।

ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु।
विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ॥ ४ ॥

ये दोनों द्रव्य गुल्मरोग, हृदयरोग, कण्ठरोग, प्लीहारोग, उदररोग तथा कफप्रबल रोगों में विकाशी, रूक्ष और तीक्ष्ण गुण होने से श्रेष्ठ है। ❀

नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम्।

❀ विकाशी—'विकसन् धातून् सन्धिबन्धवान् विमुञ्चति'। सन्धिबन्धनों और धातुओं को शिथिल करती है।

सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत् ॥ ५ ॥

फलिनी द्रव्यों में गिनती होने से शंखिनी का बहुत सूखा फल नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसके फल तुषरहित बनाकर पात्र में रखना चाहिये इसी प्रकार से सप्तला के मूलों को ग्रहण करके पात्र में रखना चाहिये।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं प्रसन्नालवणायुतम् ।
हृद्रोगे वातकफजे गुल्मे चैव प्रयोजयेत् ॥ ६ ॥

(१) सातला और शंखिनी दोनों से एक अक्ष परिमित पिण्ड (मात्रा) लेकर प्रसन्ना और नमक के साथ, हृदयरोग, वात गुल्म, कफ-जन्य गुल्म में प्रयोग करना चाहिये ।

पियालपीलुकर्कन्धूकोलाम्रातकदाडिमैः ।
द्राक्षापनसखर्जूरबदराम्लपरूषकैः ॥ ७ ॥

(२) पियाल, पीलु, कर्कन्धु (बेर), कोषाम्र (ओडि आम्र), अम्ल दाडिम (खट्टे अनार के रस), द्राक्षा, पनस (कटहल) खजूर, बदराम्ल (खट्टे बेर के कषाय), फालसा इन दस द्रव्यों के साथ सातला और शंखिनी की अक्षमात्रा को पीना चाहिये । *

मैरेये दधिमण्डेऽम्ले सौवीरकतुषोदके ।
शीधौ चाप्येष कल्पः स्यात्सुखं शीघ्रविरेचनः ॥ ८ ॥
तैलं विदारिगन्धाद्यैः पयसि कथिते पचेत् ।

(३) मैरेय, दधिमण्ड, अम्लकांजी, सौवीरक, तुषोदक और सीधु इनमें से किसी एक के साथ सप्तला और शंखिनी की अक्षमात्रा को नमक के साथ पीना चाहिये ।

सप्तलाशङ्खिनीकल्के त्रिवृच्छ्यामार्धभागिके ॥ ९ ॥
दधिमण्डेन सन्धाय सिद्धं तत्पाययेत च ।

(४) छः तैल योग—शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कटेरी और

---

* चक्रपाणि ने 'कोषाम्राम्लक' के स्थान पर कोषाम्रातक पाठ दिया है ।

गोखरू इन पांच वस्तुओं से दूध को सिद्ध करके इस चतुर्गुण दूध में कल्कार्थ—सप्तला और शंखिनी एक एक भाग, श्यामा और त्रिवृत् मिलित दोनों एक भाग चारों का मिलित कल्क तैल से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। इस सिद्ध तैल को दधिमण्ड के साथ मिलाकर पिलाना चाहिये।

शङ्खिनीचूर्णभागौ द्वौ तिलचूर्णस्य चापरः ॥ १० ॥
हरीतकीकषायेण तैलं तत्पीडितं पिबेत्।
अतसीसर्षपैरण्डकरञ्जेष्वेष संविधिः ॥ ११ ॥

(५) शंखिनी चूर्ण दो भाग, तिल चूर्ण एक भाग दोनों को मिलाकर कोल्हू में पीड़कर तैल निकालना चाहिये। इस तैल को मात्रा में हरीतकी कषाय के साथ पीना चाहिये। इसी प्रकार से अलसी, सरसों, एरण्ड और करञ्ज, इनका तेल पीना चाहिये। यथा—शंखिनी चूर्ण दो भाग, अलसी एक भाग दोनों को मिलाकर कोल्हू में पीड़कर तेल निकालना चाहिये। इस तैल को मात्रा में हरीतकी कषाय से पीना चाहिये। इसी तरह शङ्खिनी चूर्ण दो भाग, एरण्ड बीज एक भाग लेकर कोल्हू में तेल निकालकर हरीतकी कषाय के साथ पीना चाहिये। शंखिनी चूर्ण दो भाग सरसों दो भाग लेकर तेल निकाल कर हरीतकी कषाय के साथ पीना चाहिये। जीवनी चूर्ण दो भाग करंज, एक भाग कोल्हू से पीड़कर तेल निकाल लेना चाहिये। इस तेल को हरीतकी कषाय के साथ पीना चाहिये।

शङ्खिनीसप्तलासिद्धात्क्षीराद्यदुदियाद्घृतम्।
कल्कभागं तयोरेव त्रिवृच्छ्यामार्धसंयुतम ॥ १२ ॥
क्षीरेणालोड्य संपक्वं पिबेत्तच्च विरेचनम्।

(६) स्नेहार्थ—शंखिनी और सप्तला से सिद्ध दूध के मथने से उत्पन्न घृत, कल्कार्थ—शंखिनी और सप्तला का कल्क दो भाग, त्रिवृत् और श्यामा का कल्क मिलित एक भाग, स्नेह से चतुर्थांश, क्वाथार्थ घृत से चतुर्गुण दूध लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये।

तथा दन्तीद्रवन्त्योः स्याद् ।

(७) सप्तला और शंखिनी से सिद्ध दूध से उत्पन्न घृत का जो कल्प अजगन्धा, अजशृंगी आदि पांच में कहते हैं उसी कल्प को दन्ती द्रवन्ती कल्प के घृतों में भी समझना चाहिये ।

अजशृङ्ग्यजगन्धयोः ॥ १३ ॥

(८) घृत योग—(१) शंखिनी और सप्तला के पक्व दूध से उत्पन्न घृत को शंखिनी और सप्तला के दो भाग कल्क तथा अजगन्धा और अजशृंगी के एक भाग कल्क चारों का मिलित कल्क स्नेह से चतुर्थांश लेकर चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करना चाहिये ।

क्षीरिण्या नीलिकायाश्च

(२) शंखिनी सप्तला से पक्वदूध से उत्पन्न घृत, शंखिनी और सप्तला का मिलित कल्क दो भाग, सीरिणी और नीलिनी मूल का मिलित कल्क एक भाग लेकर चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करना चाहिये ।

तथैव च करञ्जयोः ।

(३) शंखिनी और सप्तला से पक्व दूध से उत्पन्न घृत, कल्कार्थ—शंखिनी, सप्तला का कल्क दो भाग, करंज और नाटाकरंज का कल्क एक भाग, दूध चतुर्गुण लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये ।

मसूरविदलायाश्च

(४) शंखिनी और सप्तला से पक्व दूध में से उत्पन्न घृत, कल्कार्थ—शंखिनी और सप्तला का कल्क दो भाग, मसूर का कल्क एक भाग लेकर चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करना चाहिये ।

प्रत्यक्श्रेण्यास्तथैव च ॥ १४ ॥

द्विवर्गार्धांशकल्केन तद्वत्साध्यं घृतं पुनः ।

(५) शंखिनी और सप्तला से पक्वदूध में से उत्पन्न घृत, कल्कार्थ—शंखिनी और सप्तला का कल्क दो भाग, प्रत्यक्श्रेणी (द्रवन्ती) का कल्क १ भाग लेकर चतुर्गुण दूध में घृत सिद्ध करना चाहिये ।

शङ्खिनीसप्तलाधात्रीकषाये चापरं घृतम् ॥ १५ ॥

(६) सप्तला, शंखिनी और आंवला इनके चतुर्गुण कषाय में घृत पाक करना चाहिये ।

त्रिवृत्कल्पेन सर्पिश्च

(७) शंखिनी और सप्तला का चतुर्थांश कल्क, अम्ल फलादि रस घृत समान, जल घृत से त्रिगुण लेकर घृतपाक (त्रिवृत्त कल्पना विधि) करना चाहिये । प्रथम को मिला कर आठ घृत योग हैं ।

त्रयो लेहाश्च पूर्ववत् ।

(८) त्रिवृत्त कल्प के समान तीन लेह । यथा—(१) शंखिनी और सप्तला के कषाय में, शंखिनी और सप्तला के समान शर्करा मिलाकर लेह पकाना चाहिये । इसकी पाणितल मात्रा चाटनी चाहिये । (२) शर्करा को जल में घोलकर पकाना चाहिये । जब इस में तार उत्पन्न होजाये तब शंखिनी सप्तला का चूर्ण, इसके बराबर दालचीनी, तेजपत्र, मरिच का चूर्ण मिलाना चाहिये । शीतल होने पर मधु मिलाकर ऐश्वर्य्य वालों के लिये विरेचन देना चाहिये । (३) इक्षु, द्राक्षा, पीलु और फालसा प्रत्येक का एक एक कुड़व रस, सितोपला पल लेकर पकाना चाहिये । जब तार उत्पन्न हो जाये तो उतार कर ठण्डा होने पर मधु आधा कुड़व मिलाना चाहिये । इस लेह को शंखिनी और सातला के चूर्ण से मिला कर मात्रा में खाना चाहिये ।

सुराकम्पिल्लयोर्योगः कार्यो लोध्रवदेत्र च ॥ १६ ॥

(९) सुरा में लोध्र कल्प के समान एक योग सप्तला, शंखिनी के कषाय के समान सुरा को लेकर पन्द्रह दिनों तक रख देनी चाहिये । इस प्रकार से उत्पन्न सुरा को पीना चाहिये ।

(१०) सप्तला और शंखिनी के चूर्ण को सप्तला और शंखिनी के कषाय से दशवार भावना देनी चाहिये । इस को पुनः कम्पिल्लक कषाय से दस वार भावना देकर मात्रा में पीना चाहिये ।

दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन सौवीरकतुषोदके ।
अजगन्धाजशृङ्गयोश्च तद्वत्स्यातां विरेचने ॥ १७ ॥

(११) दन्ती द्रवन्ती के कल्प से चार योग (१) अजगन्धा का कषाय चतुर्गुण लेकर निष्तुष यवों को दरकच करके, सप्तला शंखिनी के कल्क के समान मिलाकर पात्र में रख देना चाहिये । यह सौवीरक कांजी है । (२) इसी प्रकार से तुष सहित जौ को सप्तला शंखिनी के कल्क के समान अजगन्धा कषाय में रखने से तुषोदक बनता है । इसी प्रकार से अजश्रृंगी के कषाय से सौवीरक और तुषोदक बनाने चाहिये । ये चार मद्ययोग हैं, प्रथम को मिलाकर पांच योग हैं ।*

तत्र श्लोकौ । कषाया दश षट् चैव षट् तैलेऽष्टौ च सर्पिषि ।
पञ्च मद्यास्त्रयो लेहा योगः कम्पिल्लके तथा ॥ १८ ॥
सप्तलाशङ्खिनीभ्यां ते त्रिंशदुक्ता नवाधिकाः ।
योगाः सिद्धाः समस्ताभ्यामेकशोऽपि च ते हिताः ॥ १९ ॥

उपसंहार—इस अध्याय में ३९ योगों का उपदेश किया है । यथा कषायआदि में १०, मैरेय आदि में ६, तैल में ६, घृत में ८, लेह में ३, मद्य में ५, और कम्पिल्ल में १ । इस प्रकार से ३९ प्रयोग सप्तला शंखिनी कल्प में कहे हैं ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने सप्तला शंखिनी-
कल्पो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातो दन्तीद्रवन्तीकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

---

* आगे कहेंगे—तथा दन्ती द्रवन्त्योश्च कषायेणाजगन्धायाः ।
गौडः कार्योऽजश्रृंग्या वा रसै सुख विरेचनः ॥

इसके आगे 'दन्ती-द्रवन्ती कल्प' की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

दन्त्युदुम्बरपर्णी स्यान्निकुम्भोऽथ मकूलकः।

दन्ती के पर्य्याय—दन्ती, उडूम्बरपर्णी, निकुम्भ और मुकूलक ये दन्ती के पर्य्याय हैं।

द्रवन्ती नामतश्चित्रा न्यग्रोधी मूषिकाह्वया ॥ ३ ॥
तथा मूषिकपर्णी चाप्युपचित्रा च शम्बरी।
प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी दन्ती रण्डा च कीर्तिता ॥ ४ ॥

द्रवन्ती के पर्य्याय—द्रवन्ती, चित्रा, न्यग्रोधि, मूषिकाह्वा, मूषिक पर्णी, उपचित्रा, शम्बरी, प्रत्यक् श्रेणी, सुत श्रेणी, दन्ती और रण्डा ये द्रवन्ती के पर्य्याय हैं।

तयोर्मूलानि संगृह्य स्थिराणि बहलानि च।
हस्तिदन्तप्रकाराणि श्यावताम्राणि बुद्धिमान् ॥ ५ ॥
पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे।
शोषयेदातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्येषां विकाशिताम् ॥ ६ ॥
तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च।
विलापयन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च ॥ ७ ॥

इन दोनों के स्थिर (कठिन) एवं बहल (घन, मोटे) तथा दन्ती (हाथी) के दांतों के समान (नाग दन्ती) और श्याव वर्ण या ताम्र वर्ण मूलों को एकत्रित करके इन पर पिप्पली कल्क को मधु में मिलाकर मल देना चाहिये। फिर इन को कुशाओं से लपेट कर ऊपर मिट्टी का लेप करके अग्नि द्वारा स्वेदन देना चाहिये। जब ये स्विन्न हो जाये तब जल से धोकर इन को धूप से सुखा लेना चाहिये। जिससे कि इन मूलों का विकाशी गुण अग्नि और सूर्य के कारण से नष्ट हो जाता है। ये मूल तीक्ष्ण गुण, उष्ण वीर्य, आशुकारि, विकाशी गुरु हैं, पित्त और कफ इन

दो दोषों को नष्ट करते हैं और वायु को प्रकुपित करते हैं, [द्रव्यान्तर योग से तीनों दोषों को नष्ट करते हैं।]

दधितक्रसुरामण्डैः पिण्डमक्षसमं तयोः।
प्रियालकोलबदरपीलुशीधुभिरेव च ॥ ८ ॥
पिबेद्गुल्मोदरी दोषैरतिखिन्नश्च यो नरः।

(१) दन्ती और द्रवन्ती इन में से किसी एक मूल के कल्क को एक अक्ष मात्रा में दधि या तक्र अथवा मण्ड के साथ या पियाल, कोल (झाड़ी का बेर), बेर, पीलु और सीधु इनमें से किसी एक के साथ गुल्म रोग, उदर रोग में अथवा तीनों दोषों से आक्रान्त व्यक्ति को पीना चाहिये।*

गोमृगाजरसैः पाण्डुः कृमिकुष्ठी भगन्दरी ॥ ९ ॥

(२) पाण्डु, कृमि, कुष्ठी और भगन्दर रोगी को दन्ती या द्रवन्ती की अक्ष मात्रा को गाय के मांस रस, मृगमांस रस अथवा बकरी के मांस रस के साथ पीना चाहिये।

तयोः कल्के कषाये च दशमूलरसायुते।
कक्षालजीवसर्पेषु दाहे च विपचेद् घृतम् ॥ १० ॥

(३) घृत १ प्रस्थ, क्वाथार्थं दशमूल क्वाथ दो प्रस्थ, दन्ती और द्रवन्ती का कषाय दो प्रस्थ, कल्कार्थं दन्ती और द्रवन्ती का कल्क घृत से चतुर्थांश लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घृत को विसर्प, अलजी, कक्षा और दाह रोग में पीना चाहिये।

तैलं मेहे च गुल्मे च सोदावर्ते कफानिले।

(४) तैल १ प्रस्थ, क्वाथार्थं दशमूल क्वाथ दो प्रस्थ, दन्ती, द्रवन्ती कषाय दो प्रस्थ, कल्क दन्ती द्रवन्ती का घृत से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल प्रमेह, गुल्म, उदावर्त्त, कफ और वायु रोग में हितकारी है।

* चक्रपाणि ने सीधु शब्द से पियाल सीधु, कोल सीधु इत्यादि लेकर चार योग गिने हैं।

चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलार्तिषु ॥ ११ ॥

(५) घृत, तैल, वसा और मज्जा मिलित चारों स्नेह १ प्रस्थ, (प्रत्येक एक एक शराव), दन्ती, द्रवन्ती इन में से किसी के मूल का कल्क (दो शराव), इनका कषाय दो प्रस्थ और दशमूल कषाय दो प्रस्थ लेकर चतुः स्नेह सिद्ध करना चाहिये। इस स्नेह को शकृत्-रोध, शुक्र-रोध, वातसंग तथा वात रोगों में प्रयोग करना चाहिये।

रसे दन्त्यजशृंग्योश्च गुडक्षौद्रघृतान्वितः।
लेहः सिद्धो विरेकार्थे दाहसन्तापमेहनुत् ॥ १२ ॥

(६) दन्तीमूल और मेषशृङ्गी का मूल दोनों का मिलित कषाय लेकर इसमें गुड़ और घृत मिलाकर पकाना चाहिये। जब इसमें तार उत्पन्न हो जाये तब इसको उतार कर शीतल होने पर इसमें मधु मिला कर लेह सिद्ध करना चाहिये। इस लेह को विरेचन के लिये देना चाहिये, यह लेह सन्ताप और दाह को नष्ट करता है।

वाततर्षे ज्वरे पैत्ते स्यात्स एवाजगन्धया।

(७) पित्त ज्वर और वातजन्य तृषा में दन्तीमूल और अजगन्धा दोनों का मिलित कषाय करके इसमें गुड़ और घृत डालकर पाक करना चाहिये। शीतल होने पर मधु मिलाना चाहिये। अजगन्धा (यमानी मूल) और दन्तीमूल का अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये।

मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च पचेदामलकीरसे ॥ १३ ॥
त्रींस्तु तस्य कषायस्य भागौ द्वौ फाणितस्य च।
तप्ते सर्पिषि तैले वा भर्जयेत्तत्र चावपेत् ॥ १४ ॥
कल्कं दन्तीद्रवन्त्योश्च श्यामादीनां च भागशः।
तत्सिद्धं प्राशयेल्लेहं सुखं तेन विरिच्यते ॥ १५ ॥

(८) अन्य चार लेह—आंवलों का रस, दन्ती, द्रवन्ती के मूल से अष्टगुण लेकर क्वाथ करना चाहिये। इस कषाय के ३ भाग, फाणित (अर्धपक्व इक्षुरस) दो भाग लेकर दोनों को मिलाकर गरम घृत या

गरम तेल में इसको भून लेना चाहिये। इस तप्त कषाय में दन्ती, द्रवन्ती एवं श्यामादि द्रव्यों (श्यामा, त्रिवृत्, चतुरंगुल, तिल्वक, महावृक्ष, सप्तला, शंखिनी) का कल्क प्रत्येक वस्तु सम भाग में, मिलित क्वाथ-फाणित से चतुर्थांश कल्क मिला देना चाहिये। इससे लेह सिद्ध करना चाहिये। इस लेह से सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

[श्रीगंगाधरसेन अपामार्ग तण्डुलीयोक्त श्यामा (त्रिवृत्), त्रिफला, नीलिनी, सप्तला, वचा, कम्पिल्ल, गवाक्षी, क्षीरिणी, उदकीर्या, पीलु, आरग्वध, द्राक्षा, निचुल इन पन्द्रह द्रव्यों का तथा दन्ती और द्रवन्ती इन दो द्रव्यों का कल्क प्रक्षेप करने को कहते हैं।]

रसे च दशमूलस्य तथा वैभीतके रसे।
हरीतकीरसे चैव लेहानेवं पचेत्पृथक् ॥ १६ ॥

(९) अन्त तीन लेह—दन्ती और द्रवन्ती का अष्टगुण दशमूल कषाय में क्वाथ करना चाहिये। यह क्वाथ ३ भाग, फाणित दो भाग इनको तप्त घृत या तेल में भूनकर पूर्व की भांति दन्ती, द्रवन्ती, श्यामादि का कल्क मिलाना चाहिये। इस लेह को पिलाना चाहिये। (२) दन्ती, द्रवन्ती को बिभीतक के अष्ट गुण रस में क्वाथ करके, इस क्वाथ के ३ भाग, फाणित दो भाग लेकर तप्त घृत या तैल में भूनकर इसमें त्रिवृत्, श्यामा आदि एवं दन्ती, द्रवन्ती का कल्क मिलाना चाहिये। (३) इसी प्रकार से दन्ती द्रवन्ती का हरीतकी के अष्टगुण रस में क्वाथ करके इस क्वाथ के ३ भाग, फाणित दो भाग लेकर तप्त घृत या तेल में भूनकर पूर्व की भांति, दन्ती, द्रवन्ती और श्यामादि का कल्क मिला देना चाहिये इस सिद्ध लेह को खाना चाहिये।

तयोर्बिल्वसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम्।
असृष्टविषि वातोत्थे गुल्मे चाम्लयुतं शुभम् ॥ १७ ॥

(१०) दन्ती और द्रवन्ती की बिल्व (पल समान) समान मात्रा को चूर्ण करके, द्रवन्ती और दन्ती इनके क्वाथ से भावना देनी चाहिये।

इस चूर्ण को अम्ल में मिलाकर पीना चाहिये। इसे असृष्ट विघू (पट्ट धुरीष में मल के रुक जाने पर) में, वात गुल्म में पीना चाहिये।

पाटयित्वेक्षुकाण्डं वा कल्केनालिप्य चान्तरा।
स्वेदयित्वा ततः खादेत्सुखं तेन विरिच्यते ॥ १८ ॥

(११) इक्षु काण्ड (गन्ने) को चीरकर इसके अन्दर दन्ती, द्रवन्ती के मूल कल्क को लिप्त करके पुनः दोनों खण्डों को मिलाकर कुशा से बांध कर, मिट्टी से लेप करके, अग्नि से स्वेद देना चाहिये। पीछे से इस इक्षु काण्ड को खाना चाहिये। इससे सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च सह मुद्गैर्विपाचयेत्।
लावतित्तिरिकाणां च ते रसाः स्युर्विरेचनाः ॥ १९ ॥

(१२) दन्ती, द्रवन्ती के मूलों के बराबर मूंग लेकर एक साथ जल में पाक करना चाहिये, यह मुद्ग-रस है। लाव (बटेर) मांस के साथ दन्ती द्रवन्ती के मूलों को पकाने से लाव-रस बनता है। तीतर के मांस के साथ दन्ती, द्रवन्ती के मूलों को पकाने से तीतर-रस बनता है।

तयोर्वापि कषायेण यवागूं जाङ्गलं रसम्।
माषयूषांश्च संस्कृत्य दद्यात्तैश्च विरिच्यते ॥ २० ॥

दन्ती, द्रवन्ती के मूलों के कषाय से यवागू सिद्ध करके इसको घृतादि से संस्कृत करके देना चाहिये। अथवा दन्ती, द्रवन्ती के मूल कषाय से जांगल मांस रस पका कर घृतादि से संस्कृत करके देना चाहिये। अथवा इस कषाय से माषयूषों को पकाकर संस्कृत करके देना चाहिने।

तत्कषायात्त्रयो भागा द्वौ सितायास्तथैव च।
एको गोधूमचूर्णानां कार्या चोत्कारिका शुभा ॥ २१ ॥

(१३) दन्ती, द्रवन्ती के मूल के कषाय के ३ भाग, शर्करा दो भाग, गेहूं का आटा १ भाग लेकर सब को मिलाकर पकाना चाहिये। इन से उत्कारिकायें बनानी चाहियें।

मोदको वाऽस्य कल्पेन कार्यस्तच्च विरेचनम् ।

(१४) इसी प्रकार से मोदक भी बनाने चाहियें । यथा—कषाय ३ भाग, शर्करा दो भाग, गेहूं का आटा १ भाग लेकर पकाकर इनसे मोदक बनाने चाहियें ।

तयोश्चापि कषायेण मद्यमस्योपकल्पयेत् ॥ २२ ॥

(१५) दन्ती और द्रवन्ती मूल को कूटकर सुरामण्ड में रखना चाहिये । जब इनसे मद्य बन जाये तब इसको पीना चाहिये ।

दन्तीकाथेन चालोड्य दन्तीतैलेन साधितान् ।
गुडलावणिकान्भक्ष्यान्विविधान्भक्षयेन्नरः ॥ २३ ॥

(१६) दन्ती, द्रवन्ती के कषाय में आटे को मथकर इसमें गुड़ और सैन्धव लवण मिला कर इससे पूप-पिष्टक आदि नाना प्रकार के भक्ष्य बना कर इनको दन्ती तैल में सिद्ध करके (तल कर) खाना चाहिये ।

दन्तीं द्रवन्तीं मरिचं यवानीमुपकुञ्चिकाम् ।
नागरं हेमदुग्धां च चित्रकं चेति चूर्णितम् ॥ २४ ॥
सप्ताहं भावयेन्मूत्रे गवां पाणितलं ततः ।
पिबेद् घृतेन चूर्णं तु विरिक्तश्चापि तर्पणम् ॥ २५ ॥
सर्वरोगहरं मुख्यं सर्वेष्वृतुषु यौगिकम् ।
चूर्णं तदनपायित्वाद् बालवृद्धेषु पूजितम् ॥ २६ ॥
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्तिगुल्मप्लीहोदरेषु च ।
गण्डमालास्रवाते च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥ २७ ॥
पलं चित्रकदन्त्योश्च हरीतक्याश्च विंशतिः ।
त्रिवृत्पिप्पलीकर्षौ द्वौ कुडस्याष्टपलेन तत् ॥ २८ ॥
विनीय मोदकान्कुर्याद्दशैकं भक्षयेत्ततः ।
उष्णाम्बु च पिबेच्चानु दशमे दशमेऽहि च ॥ २९ ॥
एते निष्परिहाराः स्युः सर्वरोगनिबर्हणाः ।
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकण्डूकुष्ठानिलापहाः ॥ ३० ॥

(१७) दन्ती, द्रवन्ती, मरिच, यमानी (अजवायन), उपकुञ्चिका (काला जीरा), सोंठ, स्वर्णक्षीरी और चित्रक इनके चूर्ण को समान भाग लेकर कूठ कर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को सात दिन तक गो-मूत्र से भावना देनी चाहिये। फिर इसको पाणितल (कर्ष) मात्रा को घृत में मिला कर पीना चाहिये। विरेचन होने पर सत्तू आदि तर्पण खाना चाहिये।

यह चूर्ण सब रोगों का नाशक, सब ऋतुओं में प्रयोग करने योग्य, निर्दोष होने से बालक और वृद्धों के लिये भी उत्तम है। दुर्भक्त, अजीर्ण, पार्श्वशूल, गुल्म, प्लीहा, उदर रोग, गण्डमाला, वातरक्त और पाण्डु रोग में प्रशस्त है :

चित्रक एक पल, दन्ती १ पल, हरीतकी संख्या में २०, त्रिवृत १ कर्ष पिप्पली एक कर्ष, गुड़ ८ पल लेकर सबका चूर्ण करके पानी में पकाकर इनसे दस मोदक बना लेने चाहिये। इनमें से एक मोदक खाकर ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये। इस प्रकार से दसवें-दसवें दिन मोदक खाकर ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये। इनको खाते समय किसी प्रकार के आहार का परिहार नहीं करना चाहिये, ये मोदक सब रोगों को नष्ट करते हैं। ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श, कण्डू, कोठ, वातरोग को नष्ट करते हैं, पित्त-जनित कास में और पाण्डुरोग में उत्तम विरेचन हैं।

तन्त्रान्तर में इनको अगस्त्य मोदक के नाम से कहा है।

दन्तीद्विपलनिर्यूहो द्राक्षार्धप्रस्थसंयुतः।
शोधनं पित्तकासे च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥ ३१ ॥
दन्तीकल्कं समगुडं शीतवारियुतं पिबेत्।
विरेचनं मुख्यतमं कामलाहरमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

(१९) दन्तीमूल दो पल, द्राक्षा आधा प्रस्थ लेकर अष्टगुण जल में क्वाथ सिद्ध करना चाहिये। यह पित्तजनित कास और पाण्डुरोग में उत्तम विरेचक है।

दन्ती कल्क के समान भाग गुड़ लेकर इसको शीतल जल से पीना चाहिये। यह मुख्य विरेचन है और कामला रोग को नष्ट करता है।

[परन्तु यहां पर कविराज श्री गंगाधर सेन इन दोनों योगों को एक मानकर इनका आसव बनाते हैं। यथा

दन्तीमूल दो पल लेकर अष्टगुण जल में पकाकर चतुर्थांश क्वाथ रखना चाहिये, द्राक्षा का आधा प्रस्थ क्वाथ दोनों को मिलाकर, दन्ती का कल्क दो पल, गुड़ दो पल इसमें प्रक्षेप करके एक घड़े में रख देना चाहिये। जब इसमें रस उत्पन्न हो जाये तब पीना चाहिये।]

शुण्ठीमरिचपिप्पल्यः कार्षिकाः स्युः पृथक् पृथक्।
द्विगुणे शर्करैलै च शंखिनी स्याच्चतुर्गुणा॥ ३३॥
नीलिनीमष्टगुणितां द्विरष्टगुणितां तथा।
दन्तीं द्रवन्तीं त्वक्शाणमेकं चात्र प्रदापयेत्॥ ३४॥
तस्मादर्धपलं चूर्णाल्लिह्यान्माक्षिकसंयुतम्।
शीतोदकानुपानं तु निरपायं विरेचनम्॥ ३५॥

(२०) शुण्ठी, मरिच, पिप्पली प्रत्येक एक-एक कर्ष, शर्करा दो कर्ष बड़ी इलायची दो कर्ष, शंखिनी ४ कर्ष, नीलिनी ८ कर्ष, द्रवन्ती ८ कर्ष, दालचीनी एक शाण, सबको कूटकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण में से अर्धपल मात्रा को माध्वीक के साथ पीना चाहिये। ऊपर से शीतल जल का अनुपान करना चाहिये। यह दोषरहित विरेचन है।*

श्यामादन्तीरसे गौडः पिप्पलीफलचित्रकैः।
लिप्तेऽरिष्टोऽनिलश्लेष्मप्लीहपाण्डूदरापहः॥ ३६॥

(२१) पिप्पली, मदनफल और चित्रक के कल्क से लिप्त घड़े में श्यामा (त्रिवृत्), दन्तीमूल और गुड़ का रस (पानी में घुला हुआ गुड़) डालकर रख देना चाहिये। जब अरिष्ट उत्पन्न हो जाये तब पीना चाहिये। वायु, कफ, पाण्डु, प्लीहा और उदर रोग को नष्ट करता है।

* कविराज श्री गंगाधरसेन ने यह पाठ नहीं पढ़ा है।

तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः ।
गौडः कार्योऽजशृङ्ग्या वा स वै सुखविरेचनः ॥ ३७ ॥

(२२) इसी प्रकार से अजगन्धा (यमानी मूल), दन्ती, द्रवन्ती मूलों का कषाय करके इस कषाय को, गौड़ रस से मिलाकर पूर्व की भांति घड़े में रखकर अरिष्ट तैयार करना चाहिये । इसी भांति अजशृङ्गी, दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल इनके कषाय को गौड़ रस के साथ पात्र में रखकर अरिष्ट बनाना चाहिये । ये अरिष्ट सुखविरेचक हैं ।

तच्चूर्णकाथमाषाम्बुकिण्वतोयसमुद्भवा ।
मदिरा कफगुल्माल्पवह्निपार्श्वकटिग्रहे ॥ ३८ ॥

(२३) दन्ती, द्रवन्ती के मूल का चूर्ण, दन्ती द्रवन्ती के मूल का कषाय, माष कषाय क्वाथ, किण्व (सुरा-किट्ट), जल और सुरा इन सबको मिलाकर पात्र में रख देना चाहिये । इनसे उत्पन्न मदिरा को कफ गुल्म, अग्निमांद्य, पार्श्वग्रह, कटिग्रह में पीना चाहिये ।

अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके ।
सुराकाम्पिल्लके योगो लोध्रवच्च तयोः स्मृतः ॥ ३९ ॥

(२४) अजगन्धा (यमानी) के मूल के कषाय में, दन्ती, द्रवन्ती मूल का कल्क और निस्तुष यव (जौ) को कूटकर दोनों को सम भाग लेकर कषाय में मिलाकर रख देना चाहिये । फिर उत्पन्न सौवीरक कांजी को पीना चाहिये । इसी प्रकार से अजशृङ्गी के कषाय में निस्तुष यवों से सौवीरक कांजी बनानी चाहिये ।

(२५) अजगन्धा के मूल कषाय में तुषयुक्त जौ, और जौ के बराबर दन्ती, द्रवन्ती के मूल का कल्क मिलाकर रख देना चाहिये । इससे उत्पन्न तुषोदक को पीना चाहिये । इसी प्रकार से अजशृङ्गी के कषाय में तुषयुक्त यवों से तुषोदक बनाना चाहिये । लोध्र कल्प के समान यहां पर भी सुरा योग और कम्पिल्लक योग करना चाहिये । यथा—

दन्ती द्रवन्ती का चूर्ण करके सुरामण्ड के साथ मिलाकर पाणितल (कर्ष) मात्रा को पीना चाहिये।

(२६) दन्ती द्रवन्ती के मूल के चूर्ण को दन्ती द्रवन्ती मूल कषाय से दस बार भावना देकर पीछे से कम्पिल्ल कषाय से दस भावनायें देकर पीना चाहिये।

[इस प्रकार से ये ४३ योग हैं। पांच योग सप्तला शंखिनी कल्प में दन्ती द्रवन्ती मूल कल्क से साधित दूध से उत्पन्न घृत को, अजगन्धा, अजशृङ्गी, क्षीरिणी नलिनी, करंज नाटा करंज, मसूर विदल और प्रत्येकश्रेणी, इनके कल्क से चतुर्गुण दूध में पृथक् २ पकाना चाहिये। इस प्रकार से ये पांच घृत मिलाकर दन्ती द्रवन्ती कल्प में ४८ प्रयोग हैं।]

तत्र श्लोकाः।

दध्यादिषु त्रयः पञ्च प्रियालाद्यैस्त्रयो रसे।
स्नेहेषु वै त्रयो लेहाः षट् चूर्णे त्वेक एव च ॥ ४० ॥
इक्षावेकस्तथा मुद्गमांसानां च रसास्त्रयः।
यवाग्वादौ त्रयश्चैक उक्त उत्कारिकाविधौ ॥ ४१ ॥
एकश्च मोदके मद्ये चैकस्तत्काथतैलकं।
चूर्णमेकं पुनश्चैको मोदकः पञ्च चासवे ॥ ४२ ॥
एकः सौवीरकेऽथैको योगः स्यात्तु तुषोदके।
एका सुरा कम्पिल्लके चैकः पञ्च घृते स्मृताः ॥ ४३ ॥
दन्तीद्रवन्तीकल्पेऽस्मिन् प्रोक्ताः षोडशकास्त्रयः।
नानाविधानां योगानां भक्तिदोषामयान् प्रति ॥ ४४ ॥

उपसंहार—दधि आदि में ३, पियाल आदि में ५, रस में ३, स्नेह में ३, लेह में ६, चूर्ण में १, ईक्षु में १, मुद्ग मांसरस में ३, यवागू में ३, उत्कारिका में १, मोदक में १, मद्य में १, क्वाथ तैल में १, चूर्ण में १, मोदक में १, आसव में ५, सौवीरक में १, तुषोदक में १, सुरा में १, कम्पिल्लक में १, घृत में ५, इस प्रकार से इस दन्ती द्रवन्ती कल्क

में तीन गुना सोलह (१६ + १६ + १६ = ४८) योगों को आहार दोष से उत्पन्न रोगों के लिये कहा है।*

भवन्ति चात्र।

त्रिशतं पञ्च पञ्चाशद्योगानां वमने स्मृतम्।
द्वे शते नवकाः पञ्च योगानां तु विरेचनं॥ ४५॥
ऊर्ध्वानुलोमभागानामित्युक्तानि शतानि षट्।

इन छः सौ योगों में से तीन सौ पचपन (३५५) योग वमनकल्प में कहे हैं। और दो सौ पैंतालीस (२४५) योग विरेचन में कहे हैं। इस प्रकार से ऊर्ध्वभाग (वमन) और अनुलोम भाग (विरेचन) के लिये छः सौ योग कहे हैं।

प्राधान्यतः समाश्रित्य त्रयाणि दश पञ्च च॥ ४६॥
यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते।
तत्संज्ञकः स संयोगो भवतीति विनिश्चितम्॥ ४७॥

---

* अष्टांग-संग्रह में हरीतकी कल्प भी दिया है। यथा—

हरीतकीमपि त्रिवृद् विधानेनोपकल्पयेत्।
पिबेत् पथ्यां ससिन्धूत्थविडङ्गोषण नागरम्॥
मूत्रेण वत्सकादेर्वा निर्यूहेण हरीतकीम्।
पथ्यानागरचूर्णं वा संयुतं नीलिनीफलैः॥
गुडेन भक्षयेत्तोयं कवोष्णं च पिबेदनु।
पथ्यात्रिवृद्भ्यां गुलिकाः कार्याद्राक्षारसाप्लुता॥
माषप्रमाणास्ताः शुष्काः लिह्याद्यक्ष्मी घृतद्रुता।
पथ्यात्रिवृत्पटूष्णाम्बू सर्वश्रेष्ठं विरेचनम्॥
स्नुक्क्षीरभाविते पथ्याचूर्णे कुर्वंति मोदकान्।
कोलास्थिमात्रान् शुष्कांश्च नवनीतेन लेहयेत्॥
लिह्यादेरण्डतैलेन कुष्ठं त्रिकटुकान्वितम्।
सुखोदकं चानु पिबेत् सुखमेतद् विरेचनम्॥

मदन फल त्रिवृत् आदि वमन विरेचन द्रव्यों में—अन्य भी पन्द्रह द्रव्य फलिनी ओषधियों में गिने हैं, उनकी यहां पर कल्पना नहीं कही है। चूंकि इन पन्द्रह द्रव्यों में से जो भी कोई द्रव्य प्रधान द्रव्य के साथ संयुक्त हो जाता है, वह अप्रधान द्रव्य, उसी प्रधान द्रव्य की संज्ञावाला हो जाता है। यही सिद्धान्त या निश्चय है, इसलिये इनका कल्प पृथक् नहीं कहा है।

फलादीनां प्रधानानां गुणभूताः सुरादयः।
ते हि तान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ॥ ४८ ॥

प्रधान और अप्रधान द्रव्य—मदनफलादि प्रधान द्रव्यों में सुरा आदि अप्रधान द्रव्य रूप होते हैं। क्योंकि ये सुरा आदि मदन फलादि प्रधान द्रव्यों का अनुसरण (उसके पीछे चलते) करते हैं। जिस प्रकार कि पुरुष राजा का अनुसरण करते हैं, राजा के पीछे चलते हैं। इन अप्रधानभूत द्रव्यों का वीर्य-विरुद्ध होने पर भी (प्रधान द्रव्यों के वीर्य के विरोधी) प्रधान द्रव्यों का बाधक नही होता। और समान वीर्य होने पर प्रधान द्रव्य के साथ मिलाकर अधिक शक्तिशाली बन जाता है और एक समान क्रिया को करता है।

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकम्।
अधिकं तुल्यवीर्येऽपि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ॥ ४९ ॥
इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धार्थं प्रति चामयम् ॥ ५० ॥
अतो विरुद्धवीर्याणा प्रयोग इति निश्चितम् ॥ ५० ॥

विरुद्ध वीर्यों के प्रयोग करने का कारण—रोग के लिये जो जो इष्ट वर्ण, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श और इष्ट गन्ध अभिप्रेत होती है, उसके लिये ही हेतु विरुद्ध वीर्य द्रव्यों का प्रधान द्रव्यों के साथ प्रयोग किया जाता है। प्रधान द्रव्य रोग का नाश करता है और विरुद्ध वीर्य द्रव्य (अप्रधान द्रव्य) इष्ट वर्ण आदि को उत्पन्न करता है, यह सिद्धान्त है।

भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः ॥

सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् ॥ ५१ ॥
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।

भावना का कारण—इन प्रधान अप्रधान द्रव्यों में बल का आधान करने के लिये बार-बार स्वरस से भावना देनी चाहिये। चूंकि थोड़ा-सा भी द्रव्य तुल्य वीर्य स्वरसों से अच्छी प्रकार में भावना देने से बलवान् होकर बहुत कर्म को करता है। इसलिये तुल्यवीर्य वाले स्वरसों से भावना देनी चाहिये।

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम् ॥ ५२ ॥
कुर्यात्संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः ।
प्रदेशमात्रमेतावद् द्रष्टव्यमिह षट्शतम् ॥ ५३ ॥
स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटीर्वापि प्रकल्पयेत् ।

द्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ संयोग, विश्लेष, काल-संस्कार युक्तिपूर्वक करने पर अल्प द्रव्य में भी महान् कार्यशक्ति को उत्पन्न कर देते हैं और महान् द्रव्य में भी अल्पकार्यशक्ति को उत्पन्न कर देते हैं।

बहुद्रव्यविकल्पत्वाद्योगसंख्या न विद्यते ॥ ५४ ॥
तीक्ष्णमध्यमृदूनां तु तेषां शृणुत लक्षणम् ।
सुखं क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत्प्रवर्तते ॥ ५५ ॥
नातिग्लानिकरं पायौ हृदये न च रुक्करम् ।
अमेराशयमक्षिण्वन्कृत्स्नं दोषं निरस्यति ॥ ५६ ॥

यहां पर छः सौ द्रव्यों को प्रदेश रूप (बीज रूप में एकदेशीयरूप) में कहा है, सम्पूर्ण रूप में नहीं कहा है। इस प्रकार से इन द्रव्यों से बहुत से हज़ारों या करोड़ों योग अपनी बुद्धि से वैद्य को बना लेने चाहियें। चूंकि द्रव्यों के बहुत भेद होने से योगों की कोई गिनती नहीं है। इन असंख्य योगों में भी तीक्ष्ण, मृदु, मध्य योगों के लक्षण सुनो।

विरेचनं निरूहं वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ।

तीक्ष्ण द्रव्य—जो विरेचन या निरूह द्रव्य जल्दी से, बड़े वेग के

साथ, विना किसी रुकावट के सुखपूर्वक दोषों को प्रवृत्त करता है, बहुत अधिक ग्लानि को उत्पन्न नहीं करता, पायु (गुदा) या हृदय में किसी प्रकार की वेदना नहीं करता, अन्नाशय (आमाशय) को विना तकलीफ दिये सम्पूर्ण दोष को निकाल देता है, वह तीक्ष्ण द्रव्य है ।

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ॥ ५७ ॥
ईषन्मात्राधिकैर्युक्तं तुल्यवीर्यैः सुभावितम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ॥ ५८ ॥

जल अग्नि कीट आदि से अदूषित, देश काल के गुणों से युक्त, साधारण मात्रा से थोड़ी अधिक मात्रा में समान वीर्य द्रव्यों से अच्छी प्रकार से भावना देने पर रोगी को स्नेहन और स्वेदन कराके दी गई विरेचन औषध तीक्ष्ण बन जाती है ।

किञ्चिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मात्रया तथा ।
स्निग्धस्विन्नस्य वा सम्यङ्मध्यं भवति भेषजम् ॥ ५९ ॥

पूर्वोक्त गुणों से कुछ हीन तथा पूर्वोक्त मात्रा में देने से स्निग्ध और स्विन्न शरीर वाले रोगी को दी गई औषध मध्यम वीर्य होती है ।

मन्दवीर्यं तु रूक्षस्य हीनमात्रं तु भेषजम् ।
अतुल्यवीर्यैः संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ॥ ६० ॥

रूक्ष पुरुष में मन्दवीर्य, मात्रा में न्यून दी गई औषध तथा अतुल्य-वीर्य औषधियों से संयुक्त औषध मन्द वेग होने से मृदु होती है ।

अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धी ते बलीयसाम् ।
मध्यावरबलानां तु प्रयोज्ये सिद्धिमिच्छता ॥ ६१ ॥

बलवान् पुरुषों में मध्य और मृदु औषध सम्पूर्ण दोषों को बाहर नहीं निकालती, इसलिये अशुद्धि होती है । मध्य और मृदुवीर्य औषधियों को मध्यम और अवर बलों में सिद्धि सफलता चाहने वाले वैद्य को प्रयोग करना चाहिये ।

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः ।

तीक्ष्णादीनि बलापेक्षी भेषजान्येषु योजयेत् ॥ ६२ ॥

जिस व्याधि में सम्पूर्ण लक्षण होते हैं वह तीक्ष्ण, मध्यम लक्षणों वाला रोग मध्यम, अल्प लक्षणों वाला रोग मृदु होता है। इन तीक्ष्ण, मध्यम और मृदु रोगों में रोगी के बल को देखकर तीक्ष्ण, मध्यम और मृदु ओषधियां देनी चाहियें।

देयं त्वनिर्हृते पूर्वे पीते पश्चात्पुनः पुनः।
भेषजं वमनार्थाय प्राय आपित्तदर्शनात् ॥ ६३ ॥

प्रथम वमन ओषधि के पान करने पर यदि दोष पूर्ण रूप में बाहर न निकलें तो पुनः वमन भेषज देनी चाहिये। औषध पीने के पश्चात् उस औषध को बार-बार वमन के लिये देना चाहिये, जब तक कि वमन में पित्त न आये। सम्पूर्ण मात्रा को एक साथ नहीं पिलाना चाहिये।

बलत्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च।
पुनः प्रदद्याद्भैषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत् ॥ ६४ ॥

दोषों के और रोगी के तीन प्रकार के (तीक्ष्ण, मध्य, और मृदु) बल को देखकर संशोधन औषध को पुनः देना चाहिये, अथवा सर्वथा बन्द कर देना चाहिये। रोगी बलवान् हो तो संशोधन औषध पुनः देनी चाहिये, अल्प बल हो तो औषध बन्द कर देनी चाहिये।

निर्हृते वापि जीर्णे वा दोषनिर्हरणे बुधः।
भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत प्रार्थयन्सिद्धिमुत्तमाम् ॥ ६५ ॥

दोषों के निकालने के लिये दी गई औषध के दोषों को विना निकाले ही वमनादि से बाहर आ जाने पर अथवा औषध के शरीर में जीर्ण (पच-जाने) हो जाने पर पुनः अन्य ओषध उत्तम सफलता की इच्छा से रोगी को देनी चाहिये।

अपक्वं वमनं दोषं पच्यमानं विरेचनम्।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ॥ ६६ ॥
पीते प्रस्रंसने दोषान्न निर्हृत्य जरां गते।

वमिते चौषधे धीरः पाययेदौषधं पुनः ॥ ६७ ॥

वमन औषध अपक्व अवस्था में ही दोषों को निकालती है और विरेचन औषध पच्यमान अवस्था में दोषों को निकालती है। इसलिये वमन औषध का पाक नहीं कल्पना करना चाहिये। वमन औषध के जीर्ण होने पर या वमन हो जाने पर पुनः वमन औषध देनी चाहिये।

दीप्ताग्निं बहुदोषं च दृढस्नेहगुणं नरम्।
दुःसिद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत्पुनः ॥ ६८ ॥

जिस रोगी में दोषों की अधिकता हो, अग्नि प्रबल हो, दृढ़ स्नेह के गुण वाले, कठिनाई से शोधन किये जाने वाले पुरुष को प्रथम दिन दोषोत्क्लेदक आहार खिलाकर अगले दूसरे दिन उसको वमन औषध पिलानी चाहिये।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेण यो नरः।
विरिच्यते रसैर्भोज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत् ॥ ६९ ॥
वमनैश्च विरेकैश्च विशुद्धस्याप्रमाणतः।
भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत् ॥ ७० ॥

जो पुरुष दोषों के पक्व होने पर निर्बल एवं बहुत दोष वाला हो, उसको भोज्य मांस रसों का आहार देकर पीछे से विरेचन देना चाहिये।

वमन और विरेचनों द्वारा जो रोगी अप्रमाण रूप (सम्पूर्ण रूप) मे शुद्ध न हुआ हो, उसके शेष दोषों को भोजन (यवागु आदि भोजनों) से और अन्तरपान (कषाय पान) से निकालना चाहिये।

दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम्।
अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेदौषधं मृदु ॥ ७१ ॥
श्रेयो मृद्वसकृत्पीतमल्पबाधं निरत्ययम्।
न चातितीक्ष्णं यत्क्षिप्रं जनयेत्प्राणसंशयम् ॥ ७२ ॥

दुर्बल और पूर्व शोधन के कारण जो अल्प दोष वाला हो अथवा जिस पुरुष के कोष्ठ का ज्ञान नहीं कि कोष्ठ क्रूर है या मृदु उसको मृदु

औषध देनी चाहिये। क्योंकि मृदु भेषज थोड़ी सी पीड़ा उत्पन्न करती है, बार बार पीने पर दोष रहित है, इसी लिये श्रेयस्कर है। अति तीक्ष्ण औषध देने पर प्राण-संशय को उत्पन्न कर देती है, इसलिये दुर्बल व्यक्ति को तीक्ष्ण औषध नहीं देनी चाहिये। अथवा जो अति तीक्ष्ण औषध देने पर प्राणसंशय को उत्पन्न न करे वह ही श्रेयस्कर है।

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः।
मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युर्ह्यनमनिर्हृताः॥ ७३॥

यदि दुर्बल व्यक्ति में दोषों की अधिकता हो तो मृदु औषधियों को थोड़ा थोड़ा करके बहुत बार विरेचन देना चाहिये। क्योंकि जो दोष शरीर में से नहीं निकलते हैं, वे मनुष्य को मार देते हैं।

यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम्।
वमितं कवलैः शुद्धं लङ्घितं पाययेत्तु तम्॥ ७४॥

जिस पुरुष में आनुलोमिक (विरेचक) पित्त कफ से मिलकर ऊपर को (मुख की ओर) आता हो, उस पुरुष को लंघन कराके तथा उसके मुख और कण्ठ को कवलों द्वारा (मुख में संचारी गण्डूषों से) शोधन करके, वमन करवा कर औषध पिलानी चाहिये।

विबन्धेऽल्पं चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम्।
सतेनाध्मानं तृट्छर्दिर्विबन्धश्चैव शाम्यति॥ ७५॥

दोषों के देर में थोड़ा थोड़ा रुक रुककर स्रवित होने पर उष्ण जल पीना चाहिये। इस उष्ण पानी से आध्मान, तृषा, वमन और विबन्ध शान्त होता है।

भेषजं दोषरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते।
सोद्गारं च सशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत्॥ ७६॥

दोषों के अवरुद्ध होने पर जब औषध न तो ऊपर जाये और न नीचे जाये तो रोगी को उद्गार तथा शूल हो तो स्वेद देना चाहिये।

सुविरिक्तस्तु सोद्गारमाश्वेवौषधमुल्लिखेत्।

अतिप्रवृत्तं जीर्णे तु सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक् ॥ ७७ ॥

जिस रोगी को भली प्रकार से विरेचन हो जाये तथा उद्गार आते हों, तो औषध को वमन द्वारा शीघ्र बाहर निकाल देना चाहिये। यदि विरेचन अति मात्रा से हो रहे हों तथा औषध जीर्ण हो गई हो तो शीतल जल से स्तम्भन (विरेचन को रोकना) करना चाहिये।

कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम्।
क्षीणे श्लेष्मणि धायाह्ने रात्रौ वा तत्प्रवर्तते ॥ ७८ ॥

यदि कभी कफ से अवरुद्ध औषध छाती (उरःस्थल) में रुक जाती है, तब उस औषध से कफ का क्षय होने पर सायंकाल था रात्रि में मल प्रवर्त्तित होते हैं।

रूक्षानाहारयोर्जीर्णे विष्टभ्योर्ध्वं गतेऽपि वा।
वायुना भेषजे त्वन्यत्सस्नेहलवणं पिबेत् ॥ ७९ ॥

रूक्ष शरीर रोगी में आनाह होने पर, औषध के जीर्ण होने पर, वायु के अवरोध के कारण औषध के ऊपर की ओर जाने पर स्नेह और लवण मिश्रित अन्य विरेचन देना चाहिये।

तृण्मोहभ्रममूर्च्छाद्याः स्युश्चेज्जीर्यति भेषजे।
पित्तघ्नं स्वादु शीतं च भेषजं तत्र शस्यते ॥ ८० ॥

विरेचन औषध के जीर्ण होने के समय रोगी को प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, मोह आदि होते हैं, इसके लिये पित्तनाशक, स्वादु और शीतल औषध हितकारी है।

लालाहृल्लासविष्टम्भलोमहर्षाः कफावृते।
भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम् ॥ ८१ ॥

विरेचन औषध के कफ से आवृत होने पर रोगी में लालास्राव, जी मचलाना, विष्टम्भ, रोमांचता होती है। इसके लिये तीक्ष्ण, उष्ण, कफनाशक कटु तिक्त औषध हितकारी है।

सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लंघयेदविरेचितम्।

तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मासङ्गश्चैवोपशाम्यति ॥ ८२ ॥

सुस्निग्ध रोगी में विरेचन औषध देने पर भी क्रूर कोष्ठ होने के कारण यदि विरेचन न हो तो उसको लंघन करना चाहिये । इस लंघन के कारण स्नेहजन्य श्लेष्मा का आंसग (आसक्ति, लगाव) नष्ट होता है ।

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशूलिनाम् ।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति ॥ ८३ ॥

जो व्यक्ति रूक्ष, बहुत वायु प्रकृति, क्रूरकोष्ठ, व्यायाम करने वाले, प्रबल अग्नि वाले होते हैं, उनमें विरेचक औषध बिना विरेचन उत्पन्न किये ही जीर्ण हो जाती है ।

तेभ्यो बस्तिं पुरा दत्त्वा पश्चाद्द्याद्विरेचनम् ।
बस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम ॥ ८४ ॥

इस प्रकार के व्यक्तियों के लिये प्रथम बस्ति देकर पीछे से विरेचन देना चाहिये । क्योंकि बस्ति द्वारा प्रवृत्त दोषों को विरेचन औषध भली प्रकार से बाहर निकालती है ।

रूक्षाशनाः कर्मनित्या ये नरा दीप्तपावकाः ।
तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मवातातपाग्निभिः ॥ ८५ ॥
विरुद्धाध्यशनाजीर्णान् दोषानपि जयन्ति ते ।
स्नेह्यास्ते मारुताद्रक्ष्या नाव्याधौ तान्विशोधयेत् ॥ ८६ ॥
नातिस्निग्धशरीराय दद्यात्स्नेहविरेचनम् ।
स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद्विरेचनम् ॥ ८७ ॥

जो पुरुष रूक्ष भोजन करते हैं, नित्य मजदूरी मेहनत करते हैं, जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त है, इन पुरुषों में रूक्ष भोजन से जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे नित्यप्रति की मेहनत से तथा धूप और वायु के जीवन के कारण नष्ट हो जाते हैं । इन पुरुषों में विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण भोजन भी दोषों को उत्पन्न नहीं कर सकता । इन पुरुषों का सदा स्वेदन

करना चाहिये। क्योंकि वायु से इनकी सदा रक्षा करनी चाहिये। विना व्याधि के इनको विरेचन कभी नहीं देना चाहिये।

एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो देशकालप्रमाणवित्।
विरेचनं विरेच्येभ्यः प्रयच्छन्नापराध्यति ॥ ८८ ॥

इस प्रकार से विधि को जानकर देश काल तथा प्रमाण को समझने वाला धीर व्यक्ति, विरेचनयोग्य पुरुष को विरेचन देने में किसी भी प्रकार का अपराध नहीं करता।

अति स्निग्ध शरीर वाले पुरुष को स्निग्ध विरेचन नहीं देना चाहिये स्नेह से क्लिष्ट शरीरवाले अतिस्निग्ध रोगी को रूक्ष विरेचन देना चाहिये।

विभ्रंशो विषवद्यस्य सम्यग्योगो यथामृतम्।
कालेष्ववश्यं पेयं च तस्माद्यत्नात्प्रयोजयेत् ॥ ८९ ॥

विरेचन का विभ्रंश (असम्यग् योग) विष के समान आदमी को मार देता है और विरेचन का सम्यक् योग अमृत के समान रोगी को जीवन देता है। समय पर विरेचन को अवश्य पीना चाहिये, इसलिये यत्नपूर्वक सम्यक् योग में विरेचन प्रयोग करना चाहिये।

भवन्ति चात्र।

द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तमस्मिन्मध्येषु तत्कोष्ठवयोबलेषु।
तन्मूलमालम्ब्य भवेद्विकल्पस्तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभावः ॥९०॥

उपसंहार—इस शास्त्र में द्रव्यों का प्रमाण (परिमाण) मात्रा जो कही है, वह मात्रा मध्यम कोष्ठादि को लक्ष्य में रखकर कही है। इसलिये मृदु कोष्ठादि, तीक्ष्ण कोष्ठादि में मात्रा को मध्यम मात्रा से न्यून या अधिक करके देना चाहिये। मृदु कोष्ठादि में न्यून मात्रा, तीक्ष्ण कोष्ठादि में अधिक मात्रा देनी चाहिये।

परिमाण

जालान्तरगतैर्भानुकरैर्वंशी विलोक्यते।
षड्वंश्यस्तु मरीचिः स्यात्षण्मरीच्यस्तु सर्षपः ॥ ९१ ॥

अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ।
धान्यमाषो भवेदेको धान्यमाषद्वयं यवः ॥ ९२ ॥
अण्डिकास्ते तु चत्वारस्ताश्चतस्त्रस्तु माषकः ।
हेमश्च धान्यकश्चोक्तो भवेच्छाणस्तु ते त्रयः ॥ ९३ ॥
शाणौ द्वौ द्रंक्षणं विद्यात्कोलं बदरमेव च ।
विद्याद्द्वौ द्रंक्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च ॥ ९४ ॥
बिडालपदकं तच्च पिचुं पाणितलं तथा ।
तिन्दुकं च विजानीयात्कवलग्रहमेव च ॥ ९५ ॥
द्वे सुवर्णौ पलार्धं स्याच्छुक्तिरष्टमिका तथा ।
द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका ॥ ९६ ॥
बिल्वं षोडशिकं चाम्रं द्वे पले प्रसृतं विदुः ।
पलं चतुर्गुणं विद्यादञ्जलिं कुडवं तथा ॥ ९७ ॥
अष्टमानं तु विज्ञेयं कुडवौ द्वौ तु मानिका ।
चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम् ॥ ९८ ॥
पात्रं तदेव विज्ञेयं कंसः प्रस्थाष्टकं तथा ।
कंसश्चतुर्गुणो द्रोणश्चार्मणं नल्वनं च तत् ॥ ९९ ॥
स एव कलशः ख्यातो घट उन्मानमेव च ।
घटस्तु द्विगुणः शूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च ॥ १०० ॥
गोणी शूर्पद्वयं विद्यात्खारीं भारीं तथैव च ।
द्वात्रिंशतं विजानीयाद्वाहं शूर्पाणि बुद्धिमान् ॥ १०१ ॥
तुलां शतपलं विद्यात्परिमाणविशारदः ।

छः वंशी (छः त्रसरेणु) से एक मरीची* छः मरीची से एक

---

* तीन प्रकार की सरसों होती है राज सर्षप, मध्यम सर्षप और बृहत्सर्षप । मध्य सरसों को गौर सर्षप कहते हैं । यथा—त्रिसरेण चोऽष्टौ विज्ञेया लिख्यैका परिणामतः । ता राजिसर्षपा स्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षणाः ।

सरसों (श्वेत सरसों), आठ रक्त सरसों (मध्यम सरसों) से एक तण्डुल, दो तण्डुल से एक धान्य माष, या माष कलाय होता है। दो धान्य माषों से एक यव, चार यव से एक अन्डक, चार अण्डक से एक माषा होता है। माषा को ही हेम या धान्लक पर्य्याय में कहते हैं। तीन माषों से एक शाण, दो शाण से एक द्रंक्षण, इसी को कोल, बदर कहते हैं। * दो द्रंक्षण से एक कर्ष, सुवर्ण, अक्ष, विडालपदक, पिचु, पाणितल, तिन्दुक, कवड़ग्रह होता है, ये सब कर्ष के पर्य्याय हैं। दो सुवर्ण (दो कर्ष) से पलार्द्ध होता है, इसी को शुक्ति, अष्टमिका कहते हैं। दो पलार्द्ध से एक पल होता है, इसी को मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, विल्व, षोड़षिका आम्र और निष्क भी कहते हैं। दो पल से एक प्रसृत होता है, इसी को अष्टमान कहते हैं। दो कुड़व से एक मानिका होती है, इसी को शराव कहते हैं। चार पल से एक कुड़व होता है, इसी को अंजलि कहते हैं। चार कुड़व से एक प्रस्थ, चार प्रस्थ से एक आड़क, इसी को घट कहते हैं। इसी को अष्टशरावक, पात्री, पात्र, कंस कहते हैं। चार द्रोण से एक आढक होता है, इसको कलश, घट, उन्मान, मर्म्मण कहते हैं। द्रोण से दुगुना शूर्प होता है, इसी को कुम्भ कहते हैं। दो शूर्प से एक गोणी होती है, इसको खारी, भारी भी कहते हैं। बत्तीस शूर्पों से वाह बनता है, सौ पल की एक तुला होती है।

शुष्कद्रव्येष्विदं मानमेवमादि प्रकीर्तितम ॥ १०२ ॥
द्विगुणं तद्‌द्रवेष्विष्टं तथा सद्योद् धृतेषु च ।

(२) वंशी—जालस्थार्कमरीचिगतं रज त्रिसरेणु संज्ञितम् ।
जालान्तरगते भानौ करे वंशी विलोक्यते ॥
त्रिसरेणुक संज्ञा सा प्रमाणे प्रथमात्तु सा ॥

* अन्यत्र—गुञ्जाभिर्दशको प्रोक्तो माषको ब्रह्मणापुरा ।
चत्वारो माषकाः शाणस्तद्‌द्वयंकोलमुच्यते ॥
वटकं द्रंक्षणञ्चैव कर्षस्तद् द्विगुणेन तु ।

शुष्क द्रव्यों के लिये यह उपरोक्त मान है। द्रव (तरल) द्रव्यों में तथा सद्यः (तुरन्त) उद्धृत द्रव्यों से (आर्द्र द्रव्यों में) द्विगुणमान समझना चाहिये। ❀

यद्धि मानं तुला प्रोक्ता पलं वा तत्प्रयोजयेत् ॥ १०३ ॥
अनुक्ते परिमाणे तु तुल्यं मानं प्रकीर्तितम्।
द्रवकार्येऽपि चानुक्ते सर्वत्र सलिलं स्मृतम् ॥ १०४ ॥
यत्तश्च पादनिर्देशश्चतुर्भागस्ततश्च सः।

जिस स्थान पर तुला शब्द से या पल शब्द से मान कहा हो, वहां पर वही मान बरतना चाहिये, दुगना नहीं करना चाहिये। जहां पर मान नहीं कहा हो वहां पर समान मान ग्रहण करें, जहां पर द्रव द्रव्य का कोई उल्लेख न हो वहां पर पानी समझना चाहिये और जहां पर पाद

❀ मान परिभाषा का नियम—

न द्वैगुण्यं तुलामाने पलोल्लेखा गते तथा।
रक्तिकादिषु मानेषु योवन्न कुडवो भवेत् ॥
शुष्के द्रवार्द्रयोश्चापि न द्वैगुण्यं तथेष्यते।
सर्पिः खण्डगुडक्षौद्र क्षीरतैलास वादिषु ॥
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले तथैव च।
प्रस्थादि मानमारभ्य तुवार्द्रे द्विगुणं स्मृतम् ॥

आर्द्रद्रव्य—वासानिम्ब पटोल केतकी बला कुष्माण्डु केन्दी वरी।
कर्षाभूकुटजाश्वगन्ध सहिते हे पूति गन्धामृते।
मांसं नाग बला सहाचार पुरौ हिग्वार्द्रके नित्यशः।
ग्राह्यास्तत क्षणमेव न द्विगुणिता ये चेक्षुजाता घनाः ॥
वासा कुटज कुष्माण्ड शतपुत्री सहास्मृता।
प्रसारण्यश्वगन्धा च नागाख्या च बला तथा ॥
नित्यमार्द्रा प्रयोक्तान्या न तासांद्विगुणं भवेत्।
कुडवेऽपि क्वचिद् द्वित्वं यथा दन्तीघृते स्मृतम् ॥

शब्द का निर्देश हो वहां पर चतुर्थ भाग समझना चाहिये।

जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम् ॥ १०५ ॥
तत्र स्यादौषधात्स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम्।

स्नेहपाक में नियम—जहां पर जल (द्रव द्रव्य), स्नेह और औषध (कल्क) का परिमाण न कहा हो वहां पर स्नेहपाक में औषध (कल्क) से चतुर्गुण स्नेह और स्नेह से चतुर्गुण जल (तरल द्रव्य) लेना चाहिये।

स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो मृदुर्मध्यः खरस्तथा ॥ १०६ ॥
तुल्ये कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः।
सयाव इव निर्यासे मध्यो दर्वीं विमुञ्चति ॥ १०७ ॥
शीर्यमाणे तु निर्यासे वर्त्यमाने खरस्तथा।
खरोऽभ्यङ्गे मृदुर्नस्ये पाने ः स्तौ च मध्यमः ॥ १०८ ॥

स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है, मृदु, मध्य और खर। जब ओषधियों के निर्यास के समान कल्क हो, तो उसको मृदु स्नेहपाक कहते है [जब अंगुलि के साथ कल्क चिपके बत्ती न बने तब मृदु स्नेह पाक कहते हैं]। जब स्नेह ओषधियों का निर्यास, शम्पाक (अमलतास के गुद्दे के समान) के समान है, कड़छी को छोड़ दे, कड़छी के साथ न चिपटे उसको मध्यम स्नेहपाक कहते हैं। तब कल्क की बत्ती सुगमता से बन जाती है और अंगुली के साथ नहीं लगता। जब स्नेह निर्य्यास शीर्यमान (खुरदरा) गिरने लगता है और इससे बत्ती नहीं बन सकती तब खरपाक होता है। ※

खर स्नेहपाक वाले स्नेह का उपयोग अभ्यंग में, मृदु स्नेहपाक

※ चक्रपाणि ने शम्पाक के स्थान पर संयाव का पाठ करके समघृत गुड़ गोधूम कृत पिण्ड अर्थ किया है। घृत, गुड़ और गेहूं को बराबर लेकर बनाये पिण्ड के समान कल्क हो जाये तो मध्यम पाक समझना चाहिये।

स्नेह का उपयोग नस्य क्रिया में, मध्यमपाक स्नेह का उपयोग पान बस्ति में करना चाहिये।

मानवादि धर्म्म शास्त्र में और सुश्रुत में कालिंगमान कहा है, इस शास्त्र में मागध मान कहा है। मान दो प्रकार का है, कालिंग और मागध। इनमें कालिंग मान से मागध मान को मानविद् लोग श्रेष्ठ कहते हैं।

तत्र श्लोकौ। कल्पार्थः शोधनं संज्ञा पृथग्घेतुः प्रवर्तने।
देशादीनां फलादीनां गुणा योगाः शतानि षट्॥ १०९॥
विकल्पहेतुर्नामानि तीक्ष्णमध्याल्पलक्षणम्।
विधिश्चावस्थिको मानं स्नेहपाकश्च दर्शितम्॥ ११०॥

उपसंहार—इस कल्पस्थान के प्रथम अध्याय में शोधन (विरेचन वमन) की पृथक् पृथक् संज्ञा को, जांगल आनूप आदि देश, काल आदि के गुण, मदनफलादि के गुणों को, मदनफलादि के छः सौ योगों को, बारह अध्यायों में कहा है। इस अध्याय में विकल्प के कारण, नाम, तीक्ष्ण, मध्य-अल्प लक्षणों को, आवस्थिकी (लक्षणानुसार चिकित्सा) विधि, मान परिभाषा और स्नेहपाक विधि को कह दिया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पस्थाने दन्तीद्रवन्तीकल्पो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इति सप्तमं कल्पस्थानं समाप्तम्।

सिद्धिस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः कल्पनासिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे कल्पनासिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

शिष्यवर अग्निवेश ने आत्रेय ऋषि से निम्न बारह प्रश्नों को पूछा ।

का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता क्रमश्च कः किं च कृताकृतेषु ।
लिङ्गं तथैवातिकृतेषु संख्या का किं गुणाः केषु च कश्च बस्तिः ॥३॥
किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले कृते कियान् वा परिहारकालः ।
प्रणीयमानश्च न याति बस्तिः केनैति शीघ्रं सुचिराच्च केन ॥ ४ ॥
साध्या गदाः स्वैः शमनैश्च केचित्कस्मात्प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति ।
प्रचोदितः शिष्यवरेण सम्यगित्यग्निवेशेन भिग्वरिष्ठः ॥ ५ ॥
पुनर्वसुस्तन्त्रविदाह तस्मै सर्वप्रजानां हितकाम्ययेदम् ।

(१) पञ्च कर्मों में क्या कल्पना है, (२) क्रम क्या है, (३) कृत, अकृत के क्या लक्षण हैं एवं आकृतियों में क्या लक्षण हैं, (४) संख्या क्या है, (५) बस्ति के क्या गुण हैं, (६) किन में किस प्रकार की बस्ति देनी चाहिये, (७) प्रतिकर्म्म के समय क्या क्या त्याज्य हैं, (८) पंच कर्म करने पर कितने समय तक पथ्य (परहेज) पालना चाहिये, (९) बस्ति के देने पर फिर किस कारण से बस्ति नहीं जाती, (१०) किस कारण से जल्दी आ जाती है, (११) किस कारण से बहुत देर में आती है और (१२) अपनी शमन चिकित्सा करने पर

साध्य रोग किस कारण से शान्त नहीं होते। इस प्रकार शिष्यवर अग्निवेश ने ये बारह प्रश्न पूछे।

इस पर तत्वविज्ञ पुनर्वसु ने समस्त प्रजाओं की हित-कामना से उसको उपदेश किया।

पञ्चकर्म

त्र्यहावरं सप्तदिनं परंतु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः ॥ ६ ॥
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत्सप्तदिनात्परं तु ।

(१) स्नेहन कर्म—मृदु कोष्ठ व्यक्ति तीन रात में स्नेह से स्नेहित हो जाता है, यह स्नेह का अवर काल है। क्रूर कोष्ठ सात दिन में स्नेह से स्निग्ध होता है, यह स्नेह का श्रेष्ठ काल है। इस (स्नेहन) के पीछे रोगी को स्वेदन देना चाहिये। सात दिन से अधिक रोगी को स्नेहन नहीं करना चाहिये। क्योंकि सात दिन के पीछे स्नेह सेवन से स्नेह सात्म्य रूप हो जाता है। इसलिये शरीर में अधिक स्निग्धता को उत्पन्न नहीं करता।

[और यदि कोई रोगी सात दिन में भी स्निग्ध नहीं होता तो वैद्य लोग बीच में कुछ समय के लिये विश्राम देकर पुनः स्नेहन देते हैं।]

[मध्यम कोष्ठको पांच दिन में स्नेहन होता है। जहांपर स्नेह की हीन मात्रा प्रयोग की जाती है, वहां रोगी को ६ दिनों में भी स्नेहन होता है।]

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदुं करोति देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम् ॥७॥
स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम् ।

स्नेह वायु को नष्ट करता है, शरीर में कोमलता उत्पन्न करता है, शरीरस्थ मलों के संग (जडाव) को नाश करता है (तोड़ता है)। स्निग्ध पुरुष के सूक्ष्म अयनों (स्रोतों) में छिपे दोष को स्वेद द्रव रूप कर देता है।

ग्राम्योदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः ॥ ८ ॥
रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः स्निग्धः कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः ।

श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखं विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक् ॥ ९ ॥
अधः कफेऽल्पे वमनं हि गच्छेद्विरेचनं वृद्धकफे तथोर्ध्वम् ।

(२) वमन—जो रोगी वमन के योग्य हो उसको ग्राम्य मांस, औदक मांस, आनूप मांस रस और दूध आदि (कफ वर्धक वस्तुओं) से स्निग्ध करके वमन देना चाहिये । जो रोगी विरेचन के योग्य हो उसको जांगल मांस रस, मुद्गादि यूषों से स्निग्ध करके, कफ को न बढ़ाने वाले पदार्थों से स्नेहन देकर विरेचन देना चाहिये । क्योंकि कफप्रधान व्यक्ति बिना दुःख, सुखपूर्वक वमन करता है और कफहीन (मन्द कफ) व्यक्ति को भली प्रकार से विरेचन होता है । क्योंकि कफ के कम होने पर वमन नीचे पक्वाशय की ओर जाती है और कफ के अधिक होने पर विरेचन ऊपर को जाता है ।

स्निग्धाय देयं वमनं यथोक्तं वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च । १० ॥
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद्विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम् ।
पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च ॥ ११ ॥
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ।

स्निग्ध शरीर वाले रोगी को वमन देना चाहिये और भली प्रकार से वमन हो जाने पर पेया विलेपी आदि को क्रमपूर्वक देना चाहिये । रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन देकर विरेचन देना चाहिये । भली प्रकार से विरेचन हो जाने पर पेयादि अनुक्रम से बरतना चाहिये ।

प्रधान, मध्य और अवर मात्रा से शरीर के दोषों का शोधन हो जाने पर विशुद्ध शरीर वाले पुरुष को पेया, विलेपी, अकृत यूष या मांस रस (स्नेह, लवणादि से असंस्कृत), कृत यूष या मांस रस को (स्नेह लवणादि से संस्कृत), तीन अन्न-समयों में, दो अन्न समयों में या एक अन्न काल में सेवन करना चाहिये । यह समयों को विभाग प्रधान, मध्य और अवर शरीर-शुद्धि के अनुसार है । यथा—प्रधान शुद्धि से शुद्ध व्यक्ति को तीन अन्न लाल में तीन बार पेया पीनी चाहिये । इसके पीछे

दूसरे अन्न काल में तीन वार विलेपी, पीछे से तीन अन्न काल में कृत अकृत यूष के साथ अन्न को, इसके पीछे तीन अन्न काल में कृत अकृत मांस रस से अन्न देना चाहिये। इस प्रकार से वमन देने के दिन से लेकर सात दिन तक बारह भोजन-कालों में (एक दिन में दो वार) पेयादि क्रम बरतना चाहिये। इसी प्रकार से मध्य शुद्धि और अवर शुद्धि में अन्न-काल समझना चाहिये। *

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ॥ १२ ॥
महान्स्थिरः सर्वसहस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तिराग्निः।

जिस प्रकार से अणु (सूक्ष्म) अग्नि, क्रमशः धीरे धीरे तृण, गोबर, लकड़ी आदि के थोड़ा थोड़ा योग करने पर तीव्र बनकर महान्, स्थिर तथा सब कुछ सहन करने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार से पेयादि के क्रम से अन्तराग्नि धीरे धीरे बढ़कर महान्, स्थिर और सब कुछ सहने योग्य हो जाती है।

जघन्यमध्यप्रवरेषु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ॥ १३ ॥
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च।

वमन के जघन्य वेग में चार वेग, वमन के मध्यम वेग में छः और वमन के प्रवर वेग में आठ वेग होते हैं। विरेचन में जघन्य वेग दस,

---

* मण्ड, पेया, विलेपी का लक्षण---
सिक्थकैरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
यवागुर्बहुसिक्था स्याद् विलेपी विरलद्रवा॥
(२) भोजन विधि के लिये उपकल्पनीय अध्याय में—
'ततः सायाह्ने लोहितशालि तण्डुलानाम्' यहां से प्रारम्भ करके 'द्वादशे चान्न काले' यहां तक पाठ देखिये। पेया, विलेपी, कृताकृत यूष, कृताकृत मांस रस इन चारों को तीन तीन अन्न कालों में देना चाहिये। इस प्रकार से दिन में दो वार देने पर छः दिन तक यह आहार विधि देनी चाहिये।

विरेचन में मध्यम वेग बीस और विरेचन में प्रवर वेग तीस होते हैं। मान के अनुसार शुद्धि, वमन में प्रवर शुद्धि १ प्रस्थ, मध्यम शुद्धि तीन चौथाई प्रस्थ और जघन्य शुद्धि आधा प्रस्थ। विरेचन में प्रवर शुद्धि चार प्रस्थ, मध्यम शुद्धि तीन प्रस्थ और जघन्य शुद्धि—दो प्रस्थ होती है।

[यहां पर प्रस्थ शब्द से साढ़े बारह पल का ग्रहण करना चाहिये। कहा है—

वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे।
अर्द्धं त्रयोदश पलं प्रस्थमाहुर्मनिषिणः॥

वमन में, विरेचन में और रक्त मोक्षण में प्रस्थ से अभिप्राय साढ़े बारह पल लेना चाहिये। कोई कोई 'अर्द्धं त्रयोदश' के स्थान पर 'सार्द्धं त्रयोदश पलं' पाठ पढ़कर साढ़े तेरह पल अर्थ करते हैं।]

पित्तान्तमिष्टं वमनं तथोर्ध्वमधःकफान्तं च विरेकमाहुः॥ १४॥
द्वित्रीन् सविट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके वमने तु पीतम्।

बाह्य शुद्धि को कहकर आन्तरिक शुद्धि कहते हैं—

(३) विरेचन—वमन अर्थात् ऊर्ध्व शोधन में पित्त का आना ही इष्ट है, वमन में प्रथम कफ और फिर पित्त वमन होना चाहिये। विरेचन (अधःशोधन) में कफ का आना इष्ट है। विरेचन में प्रथम पित्त और कफ आना चाहिये। विरेचन में मल मिश्रित दो या तीन (मल मिश्रित) वेगों को छोड़कर शेष वेगों को गिनना या मापना चाहिये। वमन में पी हुई औषध को छोड़ कर (वमन में प्रथम पी हुई औषध आती है उसको छोड़कर) वेगों को गिनना या मापना चाहिये।

क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः॥ १५॥
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे।

जिस रोगी को वमन में प्रथम कफ फिर पित्त और अन्त में वायु आती है तथा हृदय, पार्श्व, शिर और इन्द्रियों के मार्गों का शोधन हो

जाये और शरीर में लघुता (हल्कापन) स्पष्ट होने लगे तो उसको सम्यक् प्रकार से वमन हो गया ऐसा समझना चाहिये।

दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च ॥ १६ ॥

असम्यक् प्रकार से वमन होने पर शरीर में स्फोट, कोठ, कण्डू हो जाती है, हृदय और इन्द्रियों में अशुद्धता, शरीर में भारीपन रहता है।

तृण्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्राबलातिहानिर्वमनेऽति च स्यात्।

वमन का अतियोग होने पर—तृषा, मोह, मूर्च्छा, वायु का प्रकोप, नींद का आना, बल की अति क्षीणता होती है।

स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसंप्रसादो लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम् ॥ १७ ॥
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण।

भली प्रकार से विरेचन होने के लक्षण—स्रोतों का शोधन, इन्द्रियों में निर्मलता, शरीर में लघुता, जाठराग्नि का बलवान् होना, रोग का न रहना, विरेचन में प्रथम मल, फिर पित्त, फिर कफ और अन्त में वायु का क्रमशः आना ये विरेचन के सम्यग् योग के लक्षण हैं।

स्याच्छ्लेष्मपित्तानिलसंप्रकोपः स्वेदोऽल्पवह्निर्गुरुगात्रता च ॥१८॥
तन्द्रा तथा छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते।

विरेचन के असम्यक् होने पर—कफ, पित्त और वायु का प्रकोप होता है, पसीना आता है, अन्तराग्नि मन्द हो जाती है, शरीर में भारीपन, तन्द्रा, छर्दि, अरोचकता तथा वायु का अनुलोमन न होना (वायु की प्रतिकूलता) ये असम्यक्-विरेचन के लक्षण हैं।

कफास्रपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः ॥ १९ ॥
निद्राबलाभावतमःप्रवेशाः सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति।

विरेचन के अतियोग होने पर—कफ, रक्त, पित्त के क्षय से, वात जन्य सुप्ति (संज्ञानाश), अंगमर्द, क्लम, वेपन आदि लक्षण, निद्रा, बल की न्यूनता, रोगी का अन्धेरे में प्रविष्ट के समान शिथिल या सुस्त रहना, उन्माद और हिक्का रोग होते हैं।

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा ॥ २० ॥
दद्यात्त्र्यहान्नातिबुभुक्षिताय तैलाक्तगात्राय ततो निरूहम् ।

(४) अनुवासन—सात दिन तक रोगी को पेयादि संसर्जन क्रम पर रखकर, आठवें दिन भोजन (भात) देकर, नवें दिन घृतपान या अनुवासन देना चाहिये । भक्त (भात या आहार) के साथ घृतपान, अथवा रोगी को अनुवासन वस्ति दे चुकने पर तीन दिन के पीछे शरीर पर तैल का अभ्यंग कराके तथा रोगी को बहुत अधिक बुभुक्षा प्रतीत न होने पर निरूह देना चाहिये।

प्रत्यागते मांसरसेन भोज्यः समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम् ॥ २१ ॥
नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो नात्याशितः स्यादनुवासनीयः ।

निरूह वस्ति के वापिस आ जाने पर दोष, बल के अनुसार धन्व मांस रस के साथ योग्य भोजन देना चाहिये और यदि रोगी अनुवासन के योग्य हो तो उसको रात्रि में थोड़ा लघु भोजन देकर अनुवासन देना चाहिये ।

शीते वसन्ते च दिवानुवास्यो रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु ॥ २२ ॥
तानेव दोषान्परिरक्षता ये स्नेहस्य पानं प्रति कीर्तिताः प्राक् ।

शीत ऋतु और वसन्त में दिन के समय अनुवासन देना चाहिये । शरद् ऋतु, ग्रीष्म ऋतु तथा वर्षा ऋतु में (आषाढ और श्रावण) रात्रि के समय अनुवासन देना चाहिये । स्नेहपान के विषय में स्नेहाध्याय में आहार विहार विधि जिस प्रकार से बताई है, उस विधि का यहां पर भी उसी प्रकार से पालन करना चाहिये ।

प्रत्यागते चाप्यनुवासनीये दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम् ॥२३॥
सायं च भोज्यं परतस्त्र्यहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा ।
द्व्यवहे त्र्यहे वाप्यथ पञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनं च ॥ २४ ॥
एकं तथा त्रीन्कफजे विकारे पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वापि ।
वाते नवैकादश वा पुनर्वा बस्तीनयुग्मान्कुशलो विदध्यात् ॥ २५ ॥

अनुवासन स्नेह के वापिस आ जाने पर निर्विकार रोगी के लिये दिन में प्रातः काल एवं सायंकाल भोजन देना चाहिये। इस प्रकार से तीन तीन दिन के अन्तर से या पांचवें दिन अनुवासन देना चाहिये। इस प्रकार दूसरे दिन (वात की अति प्रबलता होने पर) या तीसरे दिन (वायु की बहुत अधिक प्रबलता न होने पर), पांचवें दिन (कफ और पित्त के बढ़ने पर) निरूह देकर अनुवासन देना चाहिये। अनुवासन रात्रि में देना चाहिये। इस प्रकार से कफजन्य रोगों में एक या तीन बस्तियां, पित्तजन्य रोगों में पांच या सात बस्ति, वायुजन्य रोगों में नौ या ग्यारह बस्तियों को देना चाहिये। कहीं पर भी युग्म (दो, चार, छः आदि) बस्तियां नहीं देनी चाहियें।

स्नेहनार्थ अनुवासन क्रिया करने में युग्म बस्ति देने का निषेध नहीं है।

नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत्सप्तदिनान्यवश्यम्।
शुद्धे विरेकेण निरूहदानं तद्ध्यस्य शून्यं विकृषेच्छरीरम् ॥ २६ ॥

जिस रोगी को विरेचन दिया हो उसको सात दिन तक निश्चित रूप में निरूहण नहीं देना चाहिये। क्योंकि विरेचन द्वारा शुद्ध होने पर निरूह, शून्य शरीर को कृश कर देता है। इसी प्रकार से निरूह से शुद्ध होने पर विरेचन शून्य शरीर को कृश कर देता है।

बस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च।
सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च ॥ २७ ॥
विट्श्लेष्ममूत्रानिलपित्तकर्षी स्थिरत्वकृच्छुक्रबलप्रदश्च।
विष्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान्विकारान् शमयेन्निरूहः ॥ २८ ॥
देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च।

बस्ति के गुण—बस्ति आयु की स्थापक, आयु, अग्नि, सुख, स्वर, ओज, बल, वर्ण और मेधा तथा सब वाञ्छित फलों (इच्छाओं) को देती है, शिशु, वृद्ध और युवा सब के लिये निर्दोष, सर्व रोगों का नाश

करने वाली, मल, कफ, पित्त, वायु और मूत्र का कर्षण करने वाली (बाहर निकालने वाली), शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करती है, शुक्रप्रद, बलप्रद, विश्वग् मार्ग (तिर्यक् मार्ग) में स्थित दोष को तथा स्थिर दोष समूह को निकाल कर निरूह शरीर के सब रोगों को शान्त करता है। निरूह बस्ति द्वारा शरीर का शोधन हो जाने पर स्नेहन क्रिया (अनुवासन) से बल, वर्ण बढ़ता है। इसलिये निरूह बस्ति के पीछे स्नेहन बस्ति (अनुवासन) देना चाहिये।

न तैलदानात्परमस्ति किञ्चिद् द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते ॥ २९ ॥
स्नेहाद्धि रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा।
तैलं ददात्याशु मनःप्रसादं वीर्यं बलं वर्णमथाग्निपुष्टिम् ॥ ३० ॥

वात की पीड़ा में तैल से उत्कृष्ट कोई अन्य द्रव नहीं है। क्योंकि तैल अपने स्नेह गुण के कारण से वायु की रूक्षता को, गुरुत्व गुण से लघुता को, उष्ण गुण से वायु के शैत्य गुण को नष्ट करके शरीर में वीर्य, बल, वर्ण और पुष्टि तथा मन की निर्मलता को उत्पन्न करता है। अनुवासन में पक्व तैल का ही प्रयोग करना चाहिये, अपक्व का नहीं।

मूले निषिक्ते हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रः।
काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥ ३१ ॥
अपत्यसन्तानविवृद्धिकारी काले यशस्वी बहुकीर्तिमांश्च।

जिस प्रकार कि नीले हरे पत्तों वाले वृक्ष की जड़ में जल का सिंचन करने पर नूतन कोमल पल्लव तथा अग्रभाग निकल आते हैं, समय पर बढ़ एवं फूल और फलों से लद जाता है, उसी प्रकार अनुवासन बस्ति से मनुष्य भी नये रूप को धारण कर लेता है।

[अनुवासन बस्ति अपत्य और सन्तान को बढ़ाती है, समय पर यशस्वी तथा बहुत कीर्ति को करती है] गुदा में अनुवासन बस्ति देने पर मनःप्रसाद आदि होकर, मनुष्य अपनी क्रियाओं को सुखपूर्वक करता है।

स्तब्धाश्च ये संकुचिताश्च येऽपि ये पङ्गवो येऽपि च रुग्णभग्नाः।

येषां च शाखासु चरन्ति वाताः शस्तो विशेषेण हि तेषु बस्तिः ॥३२॥

अनुवासन से नष्ट होने वाले रोग—जो पुरुष वायु के कारण स्तब्ध हैं, तथा वायु के कारण जिनके अंग-प्रत्यंग संकुचित हो गये हैं, जो पंगु (लंगड़े) हैं, जिनके हाथ-पांव टूट गये हैं, जो बीमार हैं, जिनकी शाखाओं में वातरोग हैं उन पुरुषों में खासकर अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले च भक्तानभिनन्दने च।
एवंप्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः ॥ ३३ ॥

आध्मान होने पर, पुरीष के ग्रथित (सख्त गांठदार) होने पर, उदर में शूल होने पर, भोजन में अनिच्छा तथा अन्य इस प्रकार के उदर विकार होने पर अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गाद् गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः।
क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च तेषां च बस्तिः परमः प्रदिष्टः ॥३४॥

पुरुष के साथ संयोग करने पर भी जो स्त्रियां वातजन्य उपद्रवों के कारण गर्भ का धारण नहीं करतीं, जिन पुरुषों की इन्द्रियां क्षीण हो गई हैं, जो पुरुष निर्बल हैं, उनके लिये स्नेह-बस्ति ही उत्तम है।

उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीतान् शीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्।
तत्प्रत्यनीकौषधसंप्रयुक्तान्सर्वत्र बस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात् ॥ ३५ ॥

उष्ण कारणों से उत्पन्न रोगों में उष्णिमा के विरुद्ध शीत द्रव्यों से युक्त बस्ति देनी चाहिये। शीत कारणों से उत्पन्न रोगों में शीत के विरुद्ध उष्ण ओषधियों से युक्त बस्ति देनी चाहिये। इस प्रकार सर्वत्र प्रत्यनीक (विरुद्ध) ओषधियों से युक्त बस्ति देनी चाहिये।

न बृंहणीयान्विदधीत बस्तीन्विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः।
कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ॥ ३६ ॥
क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान्न शोषिणां नो भृशदुर्बलानाम्।
न मूर्च्छितानां च न शोधितानां येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ॥ ३७ ॥

शोधन योग्य रोगों में बृंहणीय बस्तियां नहीं देनी चाहिये। शोधनीय रोग कुष्ठ, प्रमेह आदि (अरोचक, तन्द्रा, श्लीपद आदि), मेद वाले पुरुषों में अथवा अन्य जो शोधन योग्य हों, (अपकर्षण के योग्य), क्षीण क्षत रोगियों में, विशोधनीय पुरुषों में, शोष रोगियों में, जो बहुत निर्बल हों, जिनको मूर्च्छा आ जाती हो, जिनको अभी वमन विरेचन संशोधन दिया हो और जिन पुरुषों में संशोधन द्वारा दोषों के हरण करने मात्र से ही मृत्यु का भय हो उनमें बस्ति नहीं देनी चाहिये ।*

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवंगताश्च ।
ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ ३८॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात् ।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्बस्तेर्विना भेषजमस्ति किंचित् ॥ ३९ ॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ।

जो रोग शाखाओं में, कोष्ठ में, मर्मस्थानों में, ऊर्ध्वभाग (शिर) में शरीर के सब अवयवों में स्थित हैं, इन सब रोगों का वायु के बिना अन्य कोई उत्पत्ति कारण नहीं है, वायु ही इन सब रोगों को उत्पन्न करता है। (मर्म अस्थि और सन्धियां मध्यम रोग मार्ग हैं)। क्योंकि वायु ही मल, मूत्र, पित्त आदि मल तथा प्रसाद रूपी धातुओं का विक्षेप एवं संहार (वियोग एवं मेल) करता है। वायु ही दोष धातु और मल का संयोग और विभाग करता है। इस अतिवृद्ध वायु की शान्ति के लिये बस्ति के विना और कोई भी औषध नहीं है। इसलिये धन्वन्तरि आदि बस्ति को आधि चिकित्सा कहते हैं और दूसरे बस्ति को ही सम्पूर्ण चिकित्सा कहते हैं।

नाभिप्रदेशं च कटीं च गत्वा कुक्षिं समालोड्य पुनश्च पार्श्वम् ॥४०॥
संस्नेह्य कायं शिथिलांश्च कृत्वा दोषान् पुरीषं ग्रथितं विमथ्य ।
संसक्तवेगः सपुरीषदोषः प्रत्यागतो बस्तिरिति प्रशस्तः ॥ ४१ ॥

* श्रीगंगाधर मतेन 'निबद्ध वायु' इति पाठः ।

बस्ति प्रथम नाभि प्रदेश और कटि में पहुंचकर, कुक्षि (उदर) को मथकर, पीठ और शरीर को स्नेहन करके, दोषों को शिथिल बनाकर तथा ग्रथित मल को आलोड़ित करके, मल दोष के साथ अति वेग से वापिस आती है। इस प्रकार से आने वाली बस्ति प्रशस्त है।

जो बस्ति नाभि प्रदेश, कटि, पार्श्व, उदर में पहुंचकर संचित मल दोष को निकालकर, मल दोष के साथ संक्षिप्त वेग (थोड़े वेग) में भली प्रकार से सुख पूर्वक बाहर आ जाती है, यह उत्तम है।

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवादि।
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत्स्यात्सुनिरूढलिङ्गम् ॥४२॥

अच्छी प्रकार से निरूहण होने के लक्षण—मल मूत्र और वायु का अवरोध के प्रवृत्त होना, भोजन में रुचि, अग्नि का बढ़ना, आशयों में लघुता आदि होना, रोगों की शान्ति, शरीर का प्रकृति में स्थित होना, तथा शरीर में बल होना अच्छे निरूह के लक्षण हैं।

स्याद्धृच्छिरोरुग्गुदकुक्षिलिङ्गेष्वर्तिः प्रतिश्यायविकर्तिके च।
हृल्लासकासारुचिमूत्रसङ्गः श्वसो न सम्यक् च निरूहिते स्यात् ॥४३॥

भली प्रकार से निरूह न होने पर हृदयरोग, शिरोरोग, गुदा कुक्षि और लिंग (उपस्थ) में पीड़ा, प्रतिश्याय, विकर्त्तिका (गुदा में कर्त्तन के समान पीड़ा), हृल्लास, कास, अरुचि, मूत्र का अवरोध और श्वासरोग होता है।

लिङ्गं यदेवातिविरेचितस्य भवेत्तदेवातिनिरूहितस्य।

अति विरेचन के जो लक्षण हैं, वे ही लक्षण अतिनिरूहण के होते हैं।

प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं रक्तादिबुद्धीन्द्रियसंप्रसादः ॥ ४४ ॥
स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः।

सम्यग अनुवासन के लक्षण—अनुवासन में दिया हुआ तैल बिना किसी संग के स्वतंत्र रूप, तथा मल के साथ बाहर आता है, रक्तादि धातु बुद्धि, इन्द्रियां निर्मल हो जाती हैं। नींद खूब आती है, दृष्टि निर्मल,

शरीर में लघुता और बल आ जाता है, उत्पन्न हुए वेग (अवद्ध) बाहर आते हैं।

अधःशरीरोदरबाहुपृष्ठपार्श्वेषु रुग् रूक्षखरं च गात्रम् ॥ ४५ ॥
ग्रहश्च विण्मूत्रसमीरणानामसम्यगेतान्यनुवासिते स्युः।

असम्यग् रूप में अनुवासन देने पर कटि से निचले शरीर के अधोभाग में, उदर में, बाहु में, पृष्ठ में, पार्श्वों में वेदना, मल में कर्कशता तथा रूखापन, वायु मूत्र मल का अवरोध ये असम्यग् वमन के लक्षण हैं।

अनुवासन के अतियोग होने पर—जी मचलाना, मोह, क्लम (थकान) साद (पीड़ा), मूर्च्छा, विकर्त्तिका (गुदा में कर्तनवत् पीड़ा) होती है।

हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छा विकर्तिका चात्यनुवासिते स्युः ॥ ४६ ॥
यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन् स्नेहो नरः स्यात्स विशुद्धदेहः।
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः स्नेहो न संस्नेहयति ह्यतिष्ठन् ॥ ४७ ॥

सम्यग् अनुवासन में स्थितिकाल—जिस पुरुष में स्नेह स्नेह-दान, देने के तीन याम (प्रहर) पीछे बाहर आता है [तीन याम तक शरीर में रहता है] उस पुरुष को विशुद्ध शरीर समझना चाहिये। और यदि तीन याम से पूर्व स्नेह जल्दी से बाहर आ जाये तो पुनः स्नेहबस्ति देनी चाहिये। क्योंकि शरीर में विना रुके स्नेह शरीर को भली प्रकार से स्निग्ध नहीं करता।

त्रिंशत्स्मृताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः।
सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक् स्नेह एकः परतश्च पञ्च ॥४८॥
काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः।
योगे निरूहास्त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्याः ॥ ४९ ॥

चिकित्सा कर्म में १२ बस्तियां कही हैं। काल में छः बस्तियां और योग में छः बस्तियां हैं। चिकित्सा कर्म में अनुवासन के साथ निरूह बस्तियां बारह हैं। प्रथम एक स्नेह बस्ति, फिर निरूह बस्ति, फिर स्नेह बस्ति, फिर निरूह, फिर स्नेह बस्ति और फिर निरूह, फिर स्नेह बस्ति,

फिर निरूह बस्ति, फिर स्नेह बस्ति, फिर निरूह फिर स्नेह और फिर निरूह बस्ति, इस प्रकार से बारह बस्तियां चिकित्सा कर्म में हैं। काल में अनुवासन के साथ तीन, इस प्रकार से छ बस्ति। यथा-प्रथम स्नेह बस्ति, फिर निरूह, फिर स्नेह और निरूह, इस प्रकार से छः बस्तियां समय में हैं। योग में छः बस्तियां—यथा-तीन निरूह और पर आदि मध्य में तीन स्नेह बस्तियां इस प्रकार से छः बस्तियां। यथा-प्रथम एक अनुवासन बस्ति, फिर निरूह, फिर स्नेह बस्ति फिर निरूह, फिर स्नेह बस्ति और फिर निरूह, इस प्रकार से छः योग। पर मध्यम आदि रूप में तीन स्नेह और तीन निरूह बस्तियां हैं।*

त्रीन् पञ्च वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड्वा वाताधिकेभ्यस्त्वनुवासनीयान्।
स्नेहान्प्रदायाशु भिषग्विदध्यात्स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहान् ॥५०॥

वायु आदि दोषों की अधिकता होने पर अनुवासन के योग्य पुरुष को स्रोतों के शोधन के लिये तीन, पांच, चार या छः स्नेह बस्तियां देकर फिर निरूह बस्तियां देनी चाहियें।

विशुद्धकायस्य ततः क्रमेण स्निग्धं तु तैः स्वेदितमुत्तमाङ्गम्।
विरेचयेत्त्रिर्द्विरथैकशो वा बलं समीक्ष्य त्रिविधं मलानाम् ॥ ५१ ॥

शिरोविरेचन—इस प्रकार से प्रथम वमन से, फिर विरेचन से, तदन्तर अनुवासन से, फिर निरूह से रोगी के शरीर का शोधन हो जाने पर क्रमशः उत्तमांग (मस्तक, शिर), को स्नेह से स्निग्ध तथा पूर्वोक्त स्वेदनों से स्वेद देकर मलों के बल को देखकर उत्तम, मध्यम और अवर तीन प्रकार-दो, तीन या एक वार शिरोविरेचन देना चाहिये।

उरः शिरोलाघवमिन्द्रियाणां स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद्विशुद्धे।

शिरोविरेचन का सम्यग् योग होने पर-उर, शिर और इन्द्रियों में लघुता, तथा स्रोतों का शोधन शिर के शुद्ध हो जाने पर हो जाता है।

* 'द्विषण्मताः' के स्थान पर चक्रपाणि के 'त्रिशन्मता' पाठ दिया है, इसी प्रकार से 'षट् च परादि मध्याः' पाठ दिया है।

गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वं निष्ठीवनंचाप्यथ दुर्विरिक्ते ॥ ५२ ॥
शिरोऽक्षिशङ्खश्रवणार्तितोदश्चात्यर्थशुद्धे तिमिरं च पश्येत् ।
स्यात्तर्पणं तत्र मृदुद्रवं च स्निग्धस्य तीक्ष्णं तु पुनर्न योगे ॥ ५३ ॥
इत्यातुरस्वस्थविधिः प्रयोगे बलायुषोर्वृद्धिकृदामयघ्नः ।

शिरोविरेचन का असम्यग् योग होने पर गले का उपलेप (अवरोध), शिर में भारीपन, बार-बार थूक का आना होता है। शिरोविरेचन का अतियोग होने पर शिर, आंख, शंख, कान में पीड़ा, तोद, (चुभने समान वेदना), रोगी की आंखों के सामने अंधेरा रहता है। इसके लिये रोगी को पुनः स्नेहन देकर मृदु द्रव तर्पण देना चाहिये, तीक्ष्ण तर्पण नहीं देना चाहिये।

पांचों कर्मों की यह विधि आतुर (रोगी) एवं स्वस्थ दोनों के लिये बल और आयु की वृद्धि करती है और रोगों को नष्ट करती है।

कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावांस्तावान् भवेद् द्विः परिहारकालः ॥५४॥

वर्जनीयकाल—बस्ति आदि पांच कार्यों के करने में जितना समय लगता हो, उस समय से दुगना समय, अपथ्य सेवन का त्याग काल है, उससे दुगने समय तक पथ्य ही सेवन करना चाहिये, परहेज पालना चाहिये।

अत्याशनस्थानवचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान् ।
शीतोपचारातपशोकरोषांस्त्यजेदकालाहितभोजनं च ॥ ५५ ॥

त्याज्य—बहुत देर बैठना, बहुत अधिक स्नान, बहुतबोलना, बहुत अधिक सवारी, दिन में सोना, मैथुन, मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकना, शीत सेवन, धूप, शोक या क्रोध करना, अकाल में, अहित भोजन का सेवन करना त्याज्य है।

बद्धे प्रणीते विषमे च नेत्रे मार्गे तथाऽर्शःकफविड्विबन्धे ।
न याति बस्तिर्न सुखं निरेति दोषावृतोऽल्पो यदि वाऽल्पवीर्यः ॥५६॥

नेत्र (नौजल) को विषम रूप में बांधने से, नेत्र के विषम

रूप में गुदा में रखने पर तथा अर्श से या कफ या मल से मार्ग के अवरुद्ध होने पर बस्ति भली प्रकार से नहीं जाती। दोष से आवृत बस्ति या अल्प वीर्य्य वाली बस्ति सुखपूर्वक नहीं निकलती, अथवा देर से निकलती है।

प्राप्ते तु वर्चोनिलमूत्रवेगे वाते विवृद्धेऽल्पबले गुदे वा।
अत्युष्णतीक्ष्णश्च मृदौ च कोष्ठे प्रणीतमात्रः पुनरेति बस्तिः ॥५७॥

मल, वायु और मूत्र के वेग के उपस्थित होने से, वायु के अवरोध होने से गुदा के निर्बल होने पर, मदु कोष्ठ में अति उष्ण या तीक्ष्ण के देने पर बस्ति शीघ्रता से वापिस आजाती हैं।

मेदःकफाभ्यामनिलो निरुद्धः शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति।
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु तस्मै संवर्धयत्येव हि तान्विकारान् ॥ ५८ ॥

मेद और कफ से अवरुद्ध वायु, शूल, अंगमर्द और शोथ को उत्पन्न करती है। मूढ वैद्य शूल आदि लक्षणों को शुद्ध वायु से उत्पन्न जान कर स्नेह का प्रयोग कर बैठता है [वह आवरणों को नहीं जाता], इस लिये बस्ति इन विकारों को और भी अधिक बढ़ा देती है।

रोगास्तथाऽन्येऽप्यवितर्क्यमाणाः परस्परेणावगृहीतमार्गाः।
सन्दूषिता धातुभिरेव चान्यैः स्वभेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार से अन्य रोग भी परस्पर मार्ग का अवरोध करके दुर्ग्रह हो जाते हैं, इसीलिये भली प्रकार से जाने नहीं जाते। रक्तादि धातुओं से सम्मूर्च्छित होने के कारण रोग दुर्ज्ञेय होते हैं, इसी लिये अपनी चिकित्सा से शान्त नहीं होते।

सर्वं च रोगप्रशमाय कर्म हीनातिमात्र विपरीतकालम्।
मिथ्योपचाराच्च न तं विकारं शान्तिं नयेत्पथ्यमपि प्रयुक्तम् ॥ ६०॥

रोग का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर भी विपरीत (अयथा) समय में हीनकर्म या अति कर्म अथवा कर्म को मिथ्या रूप में करने से विकार (रोग) शान्त नहीं होता, इस अवस्था में दिया हुआ पथ्य भी

रोग को शान्त नहीं करता । यौगिक भैषज ही सम्यक् देने पर सफल होती है ।

तत्र श्लोकः ।

प्रश्ननिमान्द्वादश पञ्चकर्माण्युद्दिश्य सिद्धाविह कल्पनायाम् ।
प्रजाहितार्थं भगवान्महार्थान्सम्यग् जगादर्षिवरोऽत्रिपुत्रः ॥ ६१ ॥

समाहित शिष्य के लिये प्रजा की हित कामना से, ऋषिवर भगवान्, महात्मा अत्रिपुत्र ने पञ्च कर्मों को उपलक्षण करके इन बारह प्रश्नों को भली प्रकार से कहा है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
कल्पनासिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः पञ्चकर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे पंचकर्मीय सिद्धि की व्याख्या करते हैं ऐसा भगवान आत्रेय ने उपदेश किया है ।

येषाययस्मात्पञ्चकर्माण्यग्निवेश न कारयेत ।
येषां च कारयेत्तानि तत्सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥ ३ ॥

जिस कारण से इन सब पंच कर्मों को जिन पुरुषों में नहीं करना चाहिये और जिस कारण से इन सब कार्यों को जिन पुरुषों में करना चाहिये, इसी प्रकार से जिन में जिन कारणों से पंच कर्म नहीं किया जाता, जिनमें जिस कारण से इन पंच कर्मों को किया जाता है, इस सब को कहा जाता है । ❀

❀ कविराज श्री गंगाधरसेन ने 'येषां यस्माच्च कर्माणि' यह पाठ पढ़ कर कर्म का अर्थ चिकित्सा कर्म किया है । यह ठीक भी है । एक स्थान पर चिकित्सा कर्म और दूसरे स्थान पर पंच कर्म समझना चाहिये ।

[चक्रपाणि के अनुसार चिकित्सा कर्म में तीस, काल में १६ और योग में ८ बस्तियां हैं। इसमें प्रथम अनुवासन फिर निरूह इस प्रकार से बारह बस्तियां देकर निरूह को अन्तरित करके छः इस प्रकार से बस्तियां देनी चाहियें। परादि मध्य में पांच स्नेह बस्ति, आदि में दो स्नेह बस्ति, अन्त में दो स्नेह वस्ति और मध्य में एक अनुवासन (तीन निरूहों के बीच में) इस प्रकार से पांच स्नेह। गंगाधर के मत से चिकित्सा कर्म में बारह, काल में छः और योग में भी छः बस्तियां हैं।]

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च।
सद्राजनृपतिद्वेष्टा तद्द्विष्टः शोकपीडितः ॥ ४ ॥
याहच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्च यः।
वैरी वैद्याभिमानी च श्रद्धाहीनः सशङ्कितः ॥ ५ ॥
भिषजामविधेयश्च नोपक्रम्यो भिषग्विदा।
एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात् ॥ ६ ॥

निम्न पुरुषों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये—चण्ड, साहसिक, भीरु, कृतघ्न, व्यग्र दूसरी बातों में लिप्त], सज्जनों से, राजा से एवं वैद्य से द्वेष करने वाला, अथवा सज्जन पुरुष, राजा या वैद्य जिससे द्वेष करते हों, शोक से पीड़ित, जो पुरुष अपनी इच्छा से व्यवहार करता है, मरणासन्न पुरुष, साधनों (उपकरणों) से विहीन, वैरी (वैद्य का अपकारक], वैद्य विदग्ध (अपने को वैद्य समझने वाला], श्रद्धा रहित और शंकित वैद्यों के जो वश में न हो, ऐसे पुरुषों की वैद्य को चिकित्सा कर्म नहीं करना चाहिये। उपरोक्त पुरुषों में चिकित्सा कर्म करने से वैद्य को बहुत दोष पहुंचता है।

एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या नराः सर्वैरुपक्रमैः।
अवस्थां प्रविभज्यैषां कार्याकार्यं च वक्ष्यते ॥ ७ ॥

इन से अन्य पुरुषों की सब साधनों से चिकित्सा करनी चाहिये।

इन चिकित्सा योग्य पुरुषों की अवस्था का विभाग करके, कार्य्य, और अकार्य्य को कहेंगे।

अच्छर्दनीयास्तावत्—क्षतक्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलश्रान्तपिपासितक्षुधितकर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्दनोर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्द्यूर्ध्ववातास्थापितानुवासितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिपार्श्वशूलार्ताः ॥ ८ ॥

निम्न पुरुषों को वमन नहीं देना चाहिये—क्षत, क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, वृद्ध, बालक, दुर्बल, श्रान्त (थकित], पिपासायुक्त, भूखयुक्त, पंचकर्म्म, भार, अध्व, (मुसाफिरी) से थका, उपवास, मैथुन में प्रवृत्त अध्ययन में प्रवृत्त, अध्यशन में प्रवृत्त, व्यायाम में प्रवृत्त; चिन्ता में प्रसक्त, निर्बल, गर्भिणी, कोमल नाजुक प्रकृति, संवृत कोष्ठ (वायु से कोष्ठ के भरे होने पर, 'व्याप्त कोष्ठ' इस पाठ में, वायु से कोष्ठ के व्याप्त होने पर], दुःछर्दि, ऊर्ध्वरक्तपित्त, छर्दि, ऊर्ध्ववात, आस्थापित, अनुवासित हृदयरोग, उदावर्त्त, मूत्राघात, गुल्म, प्लीहा, उदर, अष्ठीला, स्वरभंग, तिमिर, शिरःशूल, शंखशूल, कर्णशूल, अक्षिशूल, पार्श्वशूल, से पीड़ित व्यक्तियों को वमन नहीं देना चाहिये।

तत्र, क्षतस्य च भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः स्यात्, क्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलानामौषधबलासहत्वात्प्राणोपरोधः, श्रान्तपिपासितक्षुधितानां च तद्वत्, कर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामाणां रौक्ष्याद्वातरक्तच्छेदक्षतभयं स्यात्, गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणा रोगप्राप्तिः, सुकुमारस्य हृदयस्य विकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरातिप्रवृत्तिः, संवृतकोष्ठदुश्छर्दनयोरतिमात्रप्रवाहनाद्दोषाः। समुत्क्लिष्टा ह्यन्तःकोष्ठे विसर्पन्तो जनयन्ति स्तम्भं जाड्यं वैचित्त्यं मरणं वा, ऊर्ध्वरक्तपित्तस्योदान ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं चातिप्रवर्तयेत्, प्रसक्तच्छर्देस्तु तद्वत्, ऊर्ध्ववातास्था-

पितानुवासितानामूर्ध्वं वातातिप्रवृत्तिः, हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः, उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः स्याच्छीघ्रतरहन्ता, मूत्रघातादिभिरार्तानां तीव्रतरः शूलप्रादुर्भावः, तिमिराणां तिमिरातिवृद्धिः, शिरःशूलादिषु शूलातिवृद्धिः, तस्मादेते न वाम्याः ॥ ९ ॥

उरः क्षत रोगी में वमन देने से क्षत होने पर अधिक रक्तस्राव होता है। क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, वृद्ध, और दुर्बल पुरुष औषध बल को सहन नहीं करसकते इसलिये प्राणों की मृत्यु का भय है। श्रान्त, प्यास युक्त और भूख वाले व्यक्ति भी औषध बल को सहन नहीं कर सकते इसलिये इन में भी प्राणों का भय रहता है। चिकित्सा (पंच) कर्म, भार, मुसाफिरी, उपवास, मैथुन, अध्ययन, अध्यशन, व्यायाम, और चिन्ता में प्रसक्त पुरुषों के निर्बल होने से, रूक्षता के कारण, वातरक्त, रक्तमोक्ष, तथा क्षत का भय रहता है। गर्भिणी स्त्री में वमन देने पर गर्भ की व्यायाम (चेष्टा) से, आम गर्भ के गिरने से भयंकर रोग होने की सम्भावना है। सुकुमार प्रकृति में हृदय के हिंसन से ऊपर या अधोमार्ग से रक्त-स्राव होता है। संवृत कोष्ठ और दुःछर्दि रोगों में अति प्रवाहण होने के कारण उत्क्लिष्ट (प्रकुपित) दोष अन्तः कोष्ठ में फैलकर, स्तम्भता, जड़ता, विमनस्कता, अथवा मृत्यु को उत्पन्न कर देते हैं। उर्ध्वरक्तपित्त में उदान वायु प्राणों को ऊपर की ओर फेंक कर मृत्यु का कारण बनती है तथा रक्त स्राव को बढ़ा देती है। निरन्तर छर्दि के लगने पर भी यही बात, होती है। ऊर्ध्ववात, आस्थापन, अनुवासन देने पर वमन देने से वात, पित्त, कफ आदि दोषों की ऊर्ध्व-प्रवृत्ति हो जाती है। हृदय रोगी को वमन देने पर हृदय का अवरोध होता है, उदावर्त्त रोगी को वमन देने से घोर उदावर्त्त होकर शीघ्र प्राणनाशक होता है। मूत्रघात, गुल्म, प्लीहा, उदर, अष्ठीला, स्वरभंग रोगी को वमन देने से तीव्र शूल (शूल का अधिक बढ़ना) होता है, तिमिर रोग में तिमिर रोग बढ़ जाता है, शिरः शूल आदि में, शूल की अतिवृद्धि होजाती है। इसलिये इन पुरुषों को वमन नहीं देना चाहिये।

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु विषगरविरुद्धाभ्यवहारामकृतेष्वप्रतिषिद्धं, शीघ्रकारित्वाद्दोषाणामिति ॥ १० ॥

इन सब अवस्थाओं में भी यदि मनुष्य ने विषपान, गरदोष या विरुद्ध भोजन किया हो, तो निषिद्ध होने पर भी वमन देना चाहिये। चूंकि दोषों के शीघ्रकारी होने से, वमन ही जल्दी से इनको बाहर निकाल सकता है।

शेषास्तु वाम्याः, पीनसकुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वासगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसकविषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधःशोणितपित्तकफप्रसेकदुर्नामहृल्लासारोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसारशोषपाण्डुरोगमुखपाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; तेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं, केदारसेतुभेदे शाल्याद्यशेषदोषविनाशवत्॥ ११ ॥

शेष सब वमन के योग्य हैं। निम्न अवस्थाओं में शेष सब पुरुषों को वमन देना चाहिये। यथा पीनस, कुष्ठ, नवज्वर, राजयक्ष्मा, कास, श्वास गलग्रह, गण्डमाला, श्लीपद, प्रमेह, मन्दाग्नि, विरुद्ध भोजन, अजीर्ण भोजन, विसूचिका, अलसक, विषपती, विष दिग्ध, अधोगाभि, रक्तपित्त, कफ-स्राव, अर्श, जी-मचलाना, अरोचक, अविपाक, अपची, अपस्मार, उन्माद, अतिसार, शोष, पाण्डुरोग, मुखपाक, दुष्ट स्तन्य आदि में वमन देना चाहिये। महारोगाध्याय में कथित कफजन्य बीस रोगों में विशेष कर वमन देना चाहिये। जिस प्रकार कि खेत की मेंढ के टूट जाने पर पानी के बह जाने से शालि षष्टि आदि सब अन्न पानी के न रहने से शुष्क हो जाते हैं, इसी प्रकार से वमन आशय में पहुंच कर सम्पूर्ण वैकारिक कफ के मूल को बाहर निकाल देती है, इस लिये कफ को शान्त किये विना भी शरीर के सब कफजन्य रोग शान्त हो जाते हैं।

अविरेच्यास्तु—सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तविलंघितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढकामादिव्यग्राजीर्णनवज्वरमदात्ययिताध्मात-

शल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः ॥ १२ ॥

निम्न पुरुष विरेचन के अयोग्य हैं—सुभग [ऐश्वर्यवान्], क्षत गुद, मुक्तनाल [जिस पुरुष की गुदा की नाल ढीली पड़ गई हो], अधोगामी रक्त पित्त में, उपवास में, दुर्बल इन्द्रिय, मन्दाग्नि, निरूह बस्ति दी हो, काम चिन्तादि में व्यग्र, अजीर्ण रोगों, नूतन ज्वर में, मदात्यय रोग में, आध्मान, शल्य से पीड़ित, चोट लगे, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, दारुण कोष्ठ, वमन के अयोग्य पुरुषों में पठित क्षत, क्षीण, दुर्बल अतिस्थूल, अतिकृश, वृद्ध, बालक, श्रान्त, पिपासित, क्षुधित, कर्म्म, भार, अध्वहत उपवास, मैथुन, अध्ययन, अध्यशन, व्यायाम, चिन्ता में प्रसक्त, क्षोभ, और गर्भिणी इनको विरेचन नहीं देना चाहिये। *

तत्र, सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोषः स्यात्, क्षतगुदस्य क्षते गुदे वायुः प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत्, मुक्तनालमतिप्रवृत्त्या हन्यात् अधोभागरक्तपित्तिनं च तद्वदेव, विलंघितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निनिरूढा औषधवेगं न सहेरन्, कर्मादिव्यग्रमनसो न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन आमदोषः स्यात्, नवज्वरस्य अविपक्वान् दोषान् न निर्हरेत् वातमेव च कोपयेत्, मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधं कुर्यात्, आध्मातस्य आध्मायमानस्य वा पुरीषकोष्ठनिचितो वायुर्विसर्पन् सहसा आनाहं तीव्रतरं मरणं वा जनयेत्, शल्यार्दिताभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्, अतिस्निग्धस्य अतियोगभयं भवेत्, रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहं कुर्यात्, दारुणकोष्ठस्य विरेचनोद्धता दोषा हृच्छूलपर्वभेदानाहाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः, क्षतादीनां गर्भिण्यन्तानां छर्दनोक्तो दोषः स्यात्, तस्मादेते न विरेच्याः ॥ १३ ॥

इनमें सुभग व्यक्ति को विरेचन देने पर हृदय के हिंसन (अपकर्षण)

---

* सुभग का अर्थ सुभग गुदा भी चक्रपाणि ने किया है।

से ऊर्ध्वगामी या अधोगामी रक्त पित्त चालू हो जाता है। क्षत गुदा रोगों में दिये गये विरेचन से वायु कुपित होकर क्षत में मर्मान्तिक वेदना को उत्पन्न करता है। मुक्त नाल रोगों में तथा अधोगामी रक्तपित्त में विरेचन से रक्त का अधिक स्राव होने पर मृत्यु होजाती है। विलंघित, दुर्बल-इन्द्रिय और अल्पाग्नि एवं निरूढ व्यक्ति औषध के वेग (शक्ति) को सहन नहीं कर सकते। काम, चिन्ता आदि में प्रसक्त व्यक्तियों में विरेचन नहीं होता, और यदि कठिनाई से विरेक प्रवृत्त भी हो जाये तो अयोग (मिथ्यायोग) जनित उपद्रवों को करता है। अजीर्ण में विरेचन देने से उभय दोष हो जाता है। नवज्वर में विरेचन देन से अविपक्व दोषों को बाहर नहीं निकालता, एवं वायु को कुपित करता है। मद्यपान किये रोगों में विरेचन देने पर मद्य के क्षीण होने पर शरीर में वायु कुपित होकर मृत्यु उत्पन्न कर देता है। जिस रोगी को आध्मान होगया हो या जिस पुरुष को आध्मान हो रहा हो उस के कोष्ठ में संचित मल से वायु कुपित होकर उदर में फैलती हुई सहसा आनाह को उत्पन्न करती है या मृत्यु का कारण बन जाती है। शल्य से पीड़ित या चोट लगे पुरुष में विरेचन देने से क्षत में आश्रित वायु जीवन का नाश कर देती है। अतिस्निग्ध पुरुष में विरेचन देने से विरेचन के अतियोग का भय है। रूक्ष पुरुष में विरेचन देने पर वायु अंग ग्रह (अंगों में जाम] उत्पन्न करता है। दारुण कोष्ठ व्यक्ति में विरेचन देने से दोष कुपित होकर हृदय-शूल, पर्व-भेद, आनाह, अंगमर्द, छर्दि, मूर्च्छा, क्लम को उत्पन्न करके प्राणों को नष्ट कर देती हैं। क्षतादि से लेकर गर्भिणी तक कथित पुरुषों में वमन में कहे हुए दोष विरेचन से उत्पन्न हो जाते हैं।

शेषास्तु विरेच्याः, कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभगन्दरोदरार्शोब्रध्नप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालसकमूत्राघातक्रिमिकोष्ठवीसर्पपाण्डुरोगशिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलिकानेत्रनासिकास्यश्रवणरोगगुदमेढ्रपाकहलीमकश्वासकासकामलापच्यपस्मारो-

न्मादवातरक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकाविपाकच्छर्दिश्वयथूदरविस्फोटकादयः पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेषु हि विरचनं प्रधानतममित्युक्तमग्न्युपशमेऽग्निगृहवत् ॥ १४ ॥

शेष पुरुषों में विरेचन देना चाहिये। यथा कुष्ठ, ज्वर, प्रमेह, ऊर्ध्वरक्तपित्त, भगन्दर, अर्श, ब्रध्न, प्लीहा, गुल्म, अर्बुद, गलगण्ड, ग्रन्थि विसूचिका (उत्तरकाल में विरेचन देना विशेष दोष के निकालने के लिये है), अलसक, मूत्राघात, कृमि, कोष्ठ, वीसर्प पाण्डुरोग, शिरोरोग, पार्श्व शूल, उदावर्त्त, नेत्ररोग, मुखरोग, दाह, हृदयरोग, नीलिका, व्यंग, कर्णपाक, गुदपाक, मेढ़पाक, हलीमक, श्वास, कास, कामला, अपची, अपस्मार, उन्माद, वातरक्त, योनिदोष, रेतोदोष, तिमिर, अरोचक, छर्दि, शोथ, उदर, विस्फोटक आदि रोगों में तथा महारोगाध्याय में कथित चालीस पित्त रोगों में विरेचन विशेष रूप में देना चाहिये। इन रोगों में विरेचन ही सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जिस प्रकार कि अग्नि से जले घर में (अग्नि-गृह में) अग्नि के शान्त होने पर घर में शान्ति होती है उसी प्रकार से पित्त के विरेचन द्वारा पित्त के निकल जाने पर शान्ति हो जाती है।

अनास्थाप्यास्तु—अजीर्णातिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्नियानक्लान्तातिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तातिकृशभुक्तभक्तपीतोदक-वमितविरिक्तकृतनस्तःकर्मक्रुद्धभीतमत्तमूर्छितप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्काबद्धच्छिद्रदकोदकोदराध्मानालसकविसूचिकामप्रजातातिसार-मधुमेहकुष्ठार्ताः ॥ १५ ॥

निम्न व्यक्ति आस्थापन क्रिया के अयोग्य हैं—अजीर्ण रोगी, अति स्निग्ध, जिसने स्नेहपान किया हो, उत्क्लेश रोगी (दोषों को उत्क्लेश बाहर निकलने के लिये उन्मुख), मन्दाग्नि, सवारी पर चढ़ा हुआ, अति दुर्बल, भूख, प्यास, श्रम से पीड़ित, अति कृश, भुक्त, भक्त-ओदक, जिसने पानी पिया हो, वमन, विरेचन या नस्य कर्म जिसने किया हो,

क्रुद्ध, भीत, मस्त, मूर्च्छित, जिसको निरन्तर वमन रहती हो, जिसको निष्ठीवन आता हो (थूक आता हो), कास, श्वास, हिक्का, बद्धोदर, छिद्रोदर, दकोदर, आध्मान, अलसक, विशूचिका, अप्रजाता (गर्भिणी), अतिसार रोगी तथा मधुमेह (प्रमेह रोगी) और कुष्ठ रोगी को आस्थापन नहीं देना चाहिये।

तत्र, अजीर्णातिस्निग्धपीतस्नेहानां दूष्योदरं मूर्च्छा श्वयथुर्वा स्यात्, उत्क्लिष्टदोषमन्दाग्न्योररोचकस्तीव्रः, यानक्लान्तस्य क्षोभव्यापन्नो बस्तिराशु देहं शोषयेत्, अतिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तानां पूर्वोक्तो दोषः स्यात, अतिकृशस्य कार्श्यं पुनर्जनयेत्, पीतोदकभुक्तभक्तयोरुत्क्लिश्योर्ध्वमधो वा वायुर्बस्तिमुत्थिाप्य क्षिप्रं बस्तौ घोरान् विकारान् जनयेत, वमितविरिक्तयोस्तु रूक्षशरीरं निरूहः क्षतं क्षार इव निर्दहेत्, कृतनस्तःकर्मणो विभ्रंशं भृशसंरुद्धस्रोतसं कुर्यात्, क्रुद्धभीतयोर्बस्तिरूर्ध्वमुपप्लवेत, मत्तमूर्च्छितयोर्भ्रंशं विचलितायां संज्ञायां चित्तोपघातव्यापत्स्यात्, प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं बस्तिं नयेत्, बद्धच्छिद्रदकोदराध्मातानां भृशतरमाध्माप्य बस्तिः प्राणान् हिंस्यात, अलसकविसूचिकामप्रजातातिसारिणामामकृतदोषः स्यात्, मधुमेहकुष्ठिनोर्व्याधेः पुनर्वृद्धिः, तस्मादेते नास्थाप्याः ॥ १६ ॥

अजीर्ण, अति स्निग्ध तथा उपहत स्नेह वालों को आस्थापन देने पर दूष्योदर (सन्निपातोदर), मूर्च्छा और श्वयथु होती है। उत्क्लिष्ट दोष, मन्दाग्नि को अरोचक आदि तीव्र रूप में होते हैं। यान पर सवारी करने से क्षोभ उत्पन्न होने पर बस्ति शीघ्रता से शरीर को शुष्क कर देता है। अति दुर्बल, भूख प्यास अथवा श्रम से पीड़ित व्यक्ति को पूर्वोक्त दोष होते हैं। अति कृश व्यक्ति में कृशता और भी बढ़ जाती है। जिसने पानी पिया हो, भुक्त, भक्त उत्क्लिष्ट रोगी में वायु बस्ति को ऊपर या नीचे को स्खलित करके बस्ति रोगों को शीघ्रता से उत्पन्न करती है। वमन

या विरेचन रोगी को दिया हुआ निरूह शरीर को जला देता है, जिस प्रकार कि क्षार क्षत को जला देता है। नस्य कर्म में इन्द्रियों की भ्रंशता तथा स्रोतों का अवरोध होता है। क्रुद्ध और अति भीत व्यक्ति में निरूह देने से वस्ति मुखादि सें बाहर आ जाती है। मत्त और मूर्च्छित व्यक्ति में संज्ञा (चेतना) के अतिशय चलायमान होने पर चित्त के उपघात रूप व्याधि (मानसिक रोग) हो जाते हैं। निरन्तर वमन, निष्ठीविका, कास, श्वास, हिक्कारोग में वायु ऊर्ध्व मुख होती है, इसलिये वायु वस्ति को ऊपर ले जाती है। बद्धोदर, छिद्रोदर, दकोदर, आध्मान रोगी में बस्ति अतिशय आध्मान उत्पन्न करके प्राणों को नष्ट कर देती है। अलसक, विसूचिका, अप्रजाता (गर्भिणी), अतिसार रोगियों में आम जन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं। मधुमेह (प्रमेह) और कुष्ठ रोगी में व्याधि और अधिक बढ़ जाती है, इसलिये इन पुरुषों में आस्थापन नहीं देना चाहिये।

शेषास्त्वास्थाप्याः, सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गब-लवर्णमांसरेतःक्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तस्तब्धाङ्गातिसा-रसर्वाङ्गाभितापप्लीहगुल्महृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरब्रध्नशिरःकर्णशूल-हृदय-पार्श्व-पृष्ठ कटी ग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजःक्षयानार्तववि-षमाग्निस्फिग्जानुजंघोरुगुल्फपार्ष्णिप्रपदयोनिबाह्वङ्गुलिस्तनाङ्गदन्तन-खपर्वास्थिशूलशोथस्तम्भान्त्रकूजनपरिकर्तिकल्पाल्पशब्दोग्रगन्धोत्था-नादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च, एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतेर्मूलच्छेदवत् ॥ १७ ॥

शेष सब अवस्थाओं में आस्थापन देना चाहिये। सर्वांग रोग, एकांग रोग, कुक्षि रोग, वात, मल, मूत्र और शुक्र का अवरोध, बलदोष, वर्णदोष, मांसदोष, रेतोदोष, क्षतदोष, आध्मान, अंगसुप्ति, कृमिकोष्ठ, उदावर्त्त, स्तब्धांगता, अतिसार, सर्वांग वात, अभिताप, प्लीहा, गुल्म रोग, शूल, हृदयरोग, गुदरोग, भगन्दर, उन्माद, ब्रध्न, शिरोरोग, कर्णरोग, हृदय

रोग, पार्श्वरोग, कटिग्रह, वेपन (कम्पन), आक्षेप, गौरव, अति लघुता तथा रजक्षय से पीड़ित व्यक्तियों को आस्थापन देना चाहिये। विषमाग्नि, नितम्बशूल, जानूशूल, जंघाशूल, उरूरोग, पार्ष्णिरोग, प्रपद (पांव का तलुआ) रोग, योनिरोग, अंगुलिरोग, स्तनरोग, अंगशूल, दन्तशूल, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, शोथ, स्तम्भ, अंगकूजन, परिकर्त्तिका, अल्प शब्द मल के साथ होना, मल में उग्र गन्ध का आना आदि रोगों में तथा महारोगाध्याय में कथित अस्सी वात रोगों में आस्थापन बस्ति उपयोगी है। इन रोगों में आस्थापन अति प्रधान चिकित्सा है, जिस प्रकार कि वनस्पति के मूल कट जाने पर शाखा आदि स्वयं शुष्क हो जाते हैं, इसी प्रकार से वात के शमन होने पर रोग भी शान्त हो जाते हैं।

य एवानास्थाप्याः त एवाननुवास्याः स्युः, विशेषतस्त्वभुक्तभक्तनवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहार्शःप्रतिश्यायारोचकमन्दाग्निदुर्बलप्लीहकफोदरोरुस्तम्भवर्चोभेदपीतविषगरपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठश्लीपदगलगण्डापचीक्रिमिकोष्ठिनः ॥ १८ ॥

जो व्यक्ति आस्थापन बस्ति के अयोग्य हैं, वे ही अनुवासन बस्ति के भी अयोग्य हैं। विशेषकर बिना भोजन किये या तुरन्त भोजन करने पर, नव ज्वर में, पाण्डु रोग में, कामला, प्रमेह, अर्श, अरोचक, मन्दाग्नि, दुर्बल, प्रतिश्याय; प्लीहा, कफोदर, उरूस्तम्भ, वर्चोभेद, विष के पीने पर, गर विष के पीने पर, कफ, अभिष्यन्द, गुरुकोष्ठ, श्लीपद, गलगण्ड, अपची, कृमिकोष्ठ रोगियों को अनुवासन नहीं देना चाहिये।

तत्राभुक्तभक्तस्यानावृतमार्गत्वादूर्ध्वमतिवर्तते स्नेहः, नवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहिणां दोषानुत्क्लेश्योदरं जनयेत्, अर्शसस्यार्शांस्यभिष्यन्द्याध्मानं कुर्यात्, अरोचकार्तस्य अन्नगृद्धिं पुनर्हन्यात्, मन्दाग्निदुर्बलयोर्मन्दतरमग्निं कुर्यात्, प्रतिश्यायप्लीहादिमतां च भृशतरमुत्क्लिष्टदोषाणां भूय एव दोषं वर्धयेत्, तस्मादेते नानुवास्याः ॥१९॥

इनमें अभुक्त और भक्त रोगी में मार्गों के खुले रहने से स्नेह ऊपर की ओर पहुंच जाता है। नवज्वर, पाण्डुरोग,, कामला प्रमेह रोगियों में दोषों को उत्क्लेशित करके उदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं। अर्श रोगी में अर्श अभिष्यन्दित होकर आध्मान रोग उत्पन्न करते हैं। अरोचक रोगी में अन्न की लिप्सा को नष्ट कर देता है। मन्दाग्नि और दुर्बल व्यक्ति की अग्नि को और भी मन्द कर देते हैं। प्रतिश्याय, प्लीहा आदि रोगियों में दोषों के अधिक उत्क्लेशित होने पर स्नेह बस्ति पुनः दोषों को बढ़ा देती है, इसलिये इनको अनुवासन नहीं देना चाहिये।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः, विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च। एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदनवत्, मूले द्रुमाणां प्रसेकवच्चेति ॥ २० ॥

जिन को आस्थापन बस्ति देनी है, उन को ही अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। विशेषकर जो कि रूक्ष, तीक्ष्णाग्नि तथा जो केवल (शुद्ध) वात रोग से पीड़ित हों उनको अनुवासन देना चाहिये। इन अवस्थाओं में अनुवासन ही मुख्य उपाय है, जिस प्रकार कि वृक्ष की मूल के कटने पर पत्ते आदि के शुष्क हो जाने पर पुनः मूल में जल का सिंचन करने से नये पल्लव लतादि निकल आते हैं। इसी प्रकार से रोगों के नष्ट हो जाने पर अनुवासन से नये धातु तथा शरीर का पोषण हो जाता है।

अशिरोविरेचनार्हास्तु पुनः-अजीर्णिभुक्तभक्तपीतस्नेहमद्यतोयपातुकामस्नातशिरःस्नातुकामक्षुत्तृष्णाश्रमार्तमत्तमूर्च्छितशस्त्रदण्डाहतव्यवायव्यायामपानक्लान्तनवज्वरशोकाभितप्तविरिक्तानुवासितगर्भिणीनवप्रतिश्यायार्ता अनृतुदुर्दिने चेति ॥ २१ ॥

निम्न व्यक्ति शिरोविरेचन के अयोग्य हैं—अजीर्ण रोगी, तुरन्त भोजन किया हुआ, जिसने स्नेह पिया हो, मद्य या जल पीना चाहता हो, शिर को धोया हो या स्नान करने की इच्छा हो, भूख, प्यास या श्रम से पीड़ित, मत्त, मूर्च्छित, शस्त्रहत, दण्डे से हत, मैथुन किया हो, व्यायाम

से थका, मद्य पान से उत्पन्न रोगों से पीड़ित, नवज्वर, शोक से पीड़ित, विरेचन देने पर, अनुवासन देने पर, गर्भिणी, नूतन प्रतिश्याय से पीड़ित, अनृतु (शीत, ग्रीष्म और वर्षा) में, बादलों से आच्छादित दुर्दिन में शिरोविरेचन नहीं देना चाहिये ।

तत्राजीर्णिभुक्तभक्तयोर्दोष ऊर्ध्ववहानि स्रोतांस्यावृत्य का - श्वासच्छर्दिप्रतिश्यायान् जनयेत्, पीतस्नेहमद्यतोयपातुकामानां कृते च पिबतां मुखनासास्रावाक्ष्युपदेहतिमिरशिरोरोगान् जनयेत्, स्नात-शिरसः कृते च स्नातस्य प्रतिश्यायं, क्षुधार्तस्य वातप्रकोपं, तृष्णा-र्तस्य पुनस्तृष्णाभिवृद्धिं मुखशोषं च, श्रमार्तमत्तमूर्च्छितानामास्था-पनोक्तो दोषः स्यात्, शस्त्रदण्डहतयोस्तीव्रतरां रुजं जनयेत्, व्यवा-यव्यायामपानक्लान्तानां शिरःस्कन्धनेत्रोरःपीडनं, नवज्वरशोकाभित-प्तयोरूष्मा नेत्रनाडीरनुसृत्य तिमिरं ज्वरवृद्धिं च कुर्यात्, विरिक्तस्य वायुरिन्द्रियोपघातं कुर्यात्, अनुवासितस्य कफः शिरोगुरुत्वं कण्डू-क्रिमिदोषांश्च जनयेत्, गर्भिण्या गर्भं स्तम्भयेत् स काणः कुणिः पक्षहतः पीठसर्पी वा स्यात्, नवप्रतिश्यायार्तस्य स्रोतांसि व्यापाद-येत्, अनृतुदुर्दिने शीतदोषात् पूतिनस्यं शिरोरोगश्च स्यात्, तस्मादेते न शिरोविरेचनार्हाः ॥ २२ ॥

इनमें अजीर्ण में भोजन करने वाले या भोजन करने पर शिरोविरेचन देने में ऊर्द्धवह स्रोतों को आवृत करके कास, श्वास, छर्दि, प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है । स्नेह, मद्य, जल पीने की इच्छा में शिरोविरेचन देने से मुख और नासा के स्राव आदि से लिप्त होने के कारण तिमिर और शिरोरोग उत्पन्न हो जाते हैं । शिर का स्नान करने पर या स्नान करने की इच्छा से प्रतिश्याय रोग, भूख से पीड़ित रोगी को वात प्रकोप, प्यास से पीड़ित व्यक्ति में तृष्णा की बढ़ती और मुख शोष, श्रम से पीड़ित, मस्त, मूर्च्छित पुरुषों में आस्थापनोक्त दोष, शस्त्रहत, दण्डहत में अति तीव्र पीड़ा को उत्पन्न कर देता है । व्यवाय, व्यायाम और मद्यपान

से क्लान्त पुरुषों में शिर, स्कन्ध, आंख और छाति के रोगों को उत्पन्न करता है, नवज्वर, शोक से अभितप्त रोगियों में उष्णिमा नेत्र-नाड़ियों का अनुसरण करके तिमिर और ज्वरवृद्धि को उत्पन्न करती है। विरेचन लिये पुरुष में वायु इन्द्रियों का नाश, अनुवासित पुरुष में कफ, शिर में भारीपन, कण्डू, कृमि दोषों को उत्पन्न कर देता है। गर्भिणी के गर्भ को जड़ कर देता है जिससे कि गर्भ काणा (एक आंख से अंधा), कुणि (टेढ़े हाथों वाला), पक्षहत (शरीर का एक भाग निश्चेष्ट हो), पीठसर्पी (पंगु) हो जाता है। नव प्रतिश्याय रोगी के स्रोतों को दूषित कर देता है। अनृतु और दुर्दिन में शीत दोष से पूतिनस्य और शिरोरोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये इनको शिरोविरेचन नहीं देना चाहिये। दुर्दिन में नस्य देने से पूतिनस्यता, ग्रीष्म वा वर्षा में नस्य देने से शिरोरोग उत्पन्न होते हैं।

शेषास्त्वर्हाः, विशेषतस्तु शिरोदन्तमन्यास्तम्भहनुग्रहपीनसगलशुण्डिकाशालूकशुक्रतिमिरवर्त्मरोगव्यङ्गोपजिह्विकार्धावभेदकग्रीवास्कन्धास्यनासिकाकर्णाक्षिमूर्धकपालशिरोरोगार्दितापतन्त्रकापतानकगलगण्डदन्तशूलहर्षचालाक्षिरागनाड्यर्बुदस्वरभेदवाग्ग्रहगद्गदकथनादय ऊर्ध्वजत्रुगता वातविकाराः परिपक्वाश्च; एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं, तद्ध्युत्तमाङ्गमनुप्रविश्य मज्जपेशीकासक्तं दोषं विकारकरमपकर्षति ॥ २३ ॥

शेष पुरुषों को शिरोविरेचन देना चाहिये। विशेषकर शिरोरोग, दन्तरोग, मन्यारोग, हनुग्रह, पीनस, गलशुण्डिका, शालूक, शुक्र, तिमिर, वर्त्म रोग, व्यंग, उपजिह्विका, अर्धावभेदक, ग्रीवा, स्कन्ध, मुख, नासिका, कान, आंख, मूर्द्धा, कपाल, शिर के रोगों से पीड़ित, अर्दित, अपतानक, अपतंत्रक, गलगण्ड, दन्तशूल, दन्तहर्ष, दन्तचाल (दांत का हिलना), अक्षि रोग, नाड़ी व्रण, अर्बुद, स्वरभेद, वाग्ग्रह, गद्गद् वाक् इन ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में तथा परिपक्व दोष वाले ऊर्ध्वजत्रुगत वात रोगों

में शिरोविरेचन मुख्य कहा है। यह शिरोविरेचन शिर में प्रविष्ट होकर दोष रूपी विकार को बाहर निकालता है, जिस प्रकार कि मूंज में चिपटी हुई ईषिका (शर) को खींचकर बाहर निकाला जाता है, इसी प्रकार से शिर में आसक्त दोष को नस्य बाहर निकाल देता है।

प्रावृट्शरद्वसन्तेष्वितरेष्वात्ययिकेषु रोगेषु नावनं कुर्याद् ग्रीष्मे पूर्वाह्णे, शीते मध्याह्ने, वर्षास्वदुर्दिने चेति ॥ २४ ॥

प्रावट् (आषाढ़, श्रावण) शरद् और वसन्त ऋतु में शिरोविरेचन साध्य रोगों में नावन (नस्य) कर्म करना चाहिये, इनसे भिन्न ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर ऋतु में भी शीतादि प्रतिकार के लिये कृत्रिम गुणों का आधान करने के लिये नस्य कर्म करना चाहिये। ग्रीष्मऋतु में पूर्वाह्ण में, शीतऋतु में मध्याह्न में और वर्षाकाल में जब दुर्दिन न हो तब मध्याह्न के समयनस्य देना चाहिये।

तत्र श्लोकाः। इति पञ्चविधं कर्म विस्तरेण निदर्शितम्।
येभ्यो यत्त्वहितं यस्मात्कर्म येभ्यश्च यद्धितम् ॥ २५ ॥
भवन्ति चात्र। न चैकान्तेन निर्दिष्टमेकान्तेन समाश्रयेत्।
स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत ॥ २६ ॥
उत्पद्यते हि सावस्था देशकालबलं प्रति।
यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्कर्म कार्यं च गर्हितम् ॥ २७ ॥
छर्दिहृद्रोगगुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सिते।
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां बस्तिकर्म च ॥ २८ ॥
तस्मात्सत्यपि निर्देशे कुर्यादूह्य स्वयं धिया।
विना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव सा ॥ २९ ॥

उपसंहार—इस प्रकार से वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन रूपी पंचकर्म विस्तार से कह दिया है, यह कर्म जिनके लिये अहितकारी, जिनके लिये हितकारी, एकान्त रूप में कहे हुए कर्म को एकान्तरूप में ही नहीं करना चाहिये, जैसा कहा वैसा आंख मींचकर नहीं

करना चाहिये । बुद्धिमान वैद्य को स्वयं इसमें तर्क (ऊहा-पोह सोच-विचार) करना चाहिये । चूंकि देश, काल और बल के कारण ऐसी स्थिति कई बार उत्पन्न हो जाती है, जब कि करने योग्य कार्य्य भी अकार्य्य (करने के अयोग्य) हो जाता है और अकार्य्य भी करने योग्य हो जाता है । यथा छर्दि, हृदयरोग तथा गुल्म रोग की अपनी-अपनी चिकित्सा में अवस्था विशेष से वमन देने का विधान किया है, तथा कुष्ठ-रोगियों के लिये बस्तिकर्म कहा है । इसलिये कथन उपदेश होने पर भी अपनी बुद्धि से ऊहापोह तर्क करके कार्य करना चाहिये । क्योंकि विना तर्क के (सोचे समझे विना) जो सफलता मिलती है, वह दृष्ट सिद्धि भी अदृष्ट सिद्धि के समान है । अन्धेरे में तीर लगाना, अचानक सफलता मिल जाना वह असफलता के समान ही है । [इसलिये शास्त्र के उपदेशानुसार अपनी बुद्धि से ही शास्त्र के अनुसार अनुक्त कार्य्य भी करना चाहिये । चूंकि पीछे कहा है—"प्रायो वमनमिवकर्षनस्य अल्पमप्यनल्पज्ञानाय भवति इति ।"]

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
पञ्चकर्मीयसिद्धिर्नाम द्वितायाऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो बस्तिसूत्रीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे बस्तिसूत्रीय सिद्धि अध्याय की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

कृतक्षणं शैलवरस्य रम्ये स्थितं धनेशायतनस्य पार्श्वे ।
महर्षिसंघैर्वृतमग्निवेशः पुनर्वसुं प्राञ्जलिरन्वपृच्छत ॥ ३ ॥

पर्वतों में श्रेष्ठ धनेशायत (कुबेर के निवासस्थान या वनस्पतियों

के निवास) हिमालय के रम्य पार्श्व में स्थित, महर्षिवृन्द से आवृत पुनर्वसु से हाथ जोड़कर अग्निवेश ने पूछा—

बस्तिर्नरेभ्यः किमपेक्ष्य दत्तः स्यात्सिद्धिमान् किम्मयमस्य नेत्रम् ।
कीदृक्प्रमाणाकृति किंगुणश्च केषां च किंयोनिगुणश्च बस्तिः ॥ ४ ॥
निरूहकल्पः प्रणिधानमात्राः स्नेहस्य वा काः शमने विधिः कः ।
के बस्तयः केषु मता इतीदं श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षिः ॥ ५ ॥

अग्निवेश के दस प्रश्न—किन बातों को देखकर दी गई बस्ति सिद्धिदायक होती है ? बस्ति का नेत्र किस प्रकार का है ? क्या प्रमाण आकृति इस नेत्र की है ? बस्ति के क्या गुण हैं ? बस्ति के गुण और योनि (प्रभव स्थान) क्या हैं ? निरूहबस्ति की प्रणिधान मात्रा क्या है, स्नेह की प्रणिधान मात्रा क्या है ? शमन में क्या विधि है ? किन पुरुषों के लिये किस प्रकार की बस्तियां हितकारी हैं ? इन दस प्रश्नों को सुनकर महर्षि ने कहा—

समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वादिवयोबलानि ।
बस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्युः सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ॥६॥

दोष, औषध, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्त्व, वय, बल आदि बातों को देखकर (इनका विचार करके) प्रयुक्त की गई बस्ति निश्चित गुणों को देती है तथा सब कार्यों में सफलता पहुंचाती है ।

सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिलोहद्रुमवेणुदन्तैः ।
नालैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैः कार्याणि नेत्राणि त्रिकर्णिकानि ॥ ७ ॥

स्वर्ण, चांदी, त्रपु (सीसा), ताम्र, कांसी, अस्थि, लोह, द्रुम (वृक्ष), वेणु (बांस), दांत, नड़सर, रीति (पित्तल), विषाण (सींग), मणि आदि वस्तुओं से सुन्दर तीन कर्णिका (उभार) वाले नेत्र (नौजल) बनाने चाहिये ।

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसंमितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् ।
स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहिच्छिद्राणि वर्त्या पिहितानि चापि ॥ ८ ॥

एक वर्ष से छः वर्ष के बच्चे के लिये छः अंगुल लम्बे, सात वर्ष से बारह वर्ष तक के बच्चे के लिये आठ अंगुल और तेरह से २० वर्ष के मनुष्य के लिये बारह अंगुल लम्बी नेत्र होनी चाहिये। इस नेत्र के छिद्र इतने बड़े होने चाहिये जिनमें मूंग, कर्कन्धु (झाड़ी के बेर) और सतीन (मटर) जा सकें। छः अंगुल लम्बी नेत्र का छेद मूंग के प्रवेश के योग्य, आठ अंगुल नेत्र का छेद मटर के योग्य, बारह अंगुल लम्बे नेत्र के छेद झरबेर के समान होते हैं।

इन छेदों को वर्त्ति (बत्ती) से ढांप कर रखना चाहिये, [जिससे कीड़ा आदि अन्दर न जांये]।

यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति।
ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि लक्ष्णानि च स्युर्गुलिकामुखानि ॥ ९ ॥
स्यात्कर्णिकैकाऽग्रचतुर्थभागे मूलाश्रितं बस्तिनिबन्धने द्वे।

पुरुष की जितनी आयु हो उसीके अनुसार नेत्र का मूलभाग अंगुष्ठ के बराबर परिणाह वाला, नेत्र का अग्रिम भाग कनिष्ठका अंगुलि के समान परिणाह वाला होना चाहिये। नेत्र सीधे, गाय की पूंछ के समान मूल में मोटे और अग्रिम भाग में पतले, चिकने होने चाहियें, इनके अग्रिम भाग पर एक गुटिका (गोली) होनी चाहिये। नेत्र में तीन कर्णिकाओं में एक कर्णिका तो अग्रिम भाग पर सम्पूर्ण नेत्र के चतुर्थ भाग पर होना चाहिये जिससे अधिक नेत्र गुदा में न जा सके। नेत्र के मूल प्रदेश में स्थूल भाग पर दो कर्णिकायें बस्ति को बांधने के लिये करना चाहिये।

जारद्गवो माहिषहारिणो वा स्याच्छौकरो बस्तिरजस्य वापि ॥१०॥
दृढस्तनुर्नष्टसिरो विगन्धः कषायरक्तः सुमृदुः सुशुद्धः।
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः ॥ ११ ॥

बस्तिद्रव्य—जरद्गव (वृद्ध गाय), भैंस, हरिण, शूकर, बकरी इनकी बस्ति (मूत्राशय) से बस्ति बनानी चाहिये। बस्ति दृढ़, तनु (पतली), नष्ट सिरा (सिरा जाल नष्ट कर दिये हों, साफ़-सुथरी),

विगन्धि (गन्ध रहित), कषाय-रक्त (कषाय भावना से रक्त वर्ण करके) कोमल, अच्छी प्रकार से बंधी होनी चाहिये । मनुष्यों की आयु को देखकर उसके अनुकूल ही बृहत्, मध्य या क्षुद्र बस्ति बनानी चाहिये, इस बस्ति को नेत्रों में दृढ़ सूत्र से भली प्रकार बांध देना चाहिये ।

बस्तेरभावे प्लवजो गलो वा स्यादङ्कपादः सुघनः पटो वा ।
नेत्रस्य चालाभत एव नाली हिताऽस्थिजा वंशभवा नलो वा ॥१२॥

बस्ति के अभाव में—प्लवज, गल (पक्षि विशेष, प्रसेवक गल पक्षी), अंकपाद (चिमगादड़) का चर्म (त्वचा) अथवा खूब गाढ़ा कपड़ा लेकर उसकी बस्ति बनाना चाहिये । नेत्र के अभाव से अस्थि से बनी नाड़ी, बांस से बनी नाड़ी अथवा नरसड़ का उपयोग करना चाहिये ।

आस्थापनार्हं पुरुषं विधिज्ञः समीक्ष्य पुण्येऽहनि शुक्लपक्षे ।
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्तयोगे जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत ॥ १३ ॥

विधि को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि आस्थापन बस्ति के योग्य पुरुष को देखकर पुण्य दिन में, शुक्लपक्ष में प्रशस्त नक्षत्र, प्रशस्त मुहूर्त्त में एकाग्र चित्त तथा अन्न के जीर्ण हो जाने पर बस्ति देवे ।

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां द्वे पञ्चमूले च पलोन्मितानि ।
अष्टौ पलान्यर्धतुलां च मांसाच्छागात्पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ॥ १४ ॥
पूतं यवानीफलबिल्वकुष्ठवचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम् ।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलैर्युतं सुखोष्णैस्तु पिचुप्रमाणैः ॥ १५ ॥
गुडात्पलं द्विप्रसृतां तु मात्रां स्नेहाच्च युक्त्या मधुसैन्धवं च ।
स्नेहं सुनिर्मथ्य ततोऽनुकल्पं प्रक्षिप्य बस्तौ मथितं खजेन ॥ १६ ॥
बस्तिं ततः सव्यकरे निधाय सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्व्यलीकम् ।
अङ्गुष्ठमध्येन मुखं पिधाय नेत्राग्रसंस्थामपनीय वर्तिम् ॥ १७ ॥

आस्थापन बस्ति—बला, गिलोय, त्रिफला, रास्ना, बृहत् पंचमूल (बिल्वादि पंचमूल) और लघु पंच मूल ये सोलह द्रव्य प्रत्येक एक एक पल, बकरी का मांस आठ पल, जल ५० पल लेकर क्वाथ करना चाहिये

(परिभाषा से १०० पल जल लेना चाहिये)। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये। इस क्वाथ में यमानी (अजवायन), फल (मदनफल), बेलगिरी, कूठ, वच, शताह्वा (सौंफ), घन (मुस्ता) और पिप्पली प्रत्येक द्रव्य पिचु प्रमाण (कर्ष प्रमाण) में कल्क रूप से मिलाना चाहिये। इसमें गुड़ १ पल, घृत २ पल, तैल २ पल (मिलित स्नेह दो प्रसृत), मधु और सैन्धव लवण युक्तिपूर्वक उचित मात्रा में मिलाकर खज (मन्थन) दण्ड से भली प्रकार मथकर सब को एक रूप बनाकर क्वाथ की उचित मात्रा को बस्ति में डालकर बस्ति को वाम हस्त में पकड़ना चाहिये। बस्ति को नेत्र के मूल भाग में दोनों कर्णिकाओं के मध्य में दृढ़ सूत्र से सीधा बांधना चाहिये, जिससे कि द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न वायु निकल जाये। फिर नेत्र के मुख को अंगुष्ठ के मध्य भाग से ढांपकर नेत्र में लगी वर्त्ति को निकाल लेना चाहिये। नेत्र के अगले भाग पर तैल लगाकर नेत्र को स्निग्ध कर लेना चाहिये।

तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम्।
समेऽथ किञ्चिन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने ॥ १८ ॥
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानम्।
निकुञ्च्य सव्येतरदस्य सक्थि सव्यं प्रसार्य प्रणयेच्छनैस्तम् ॥१९॥
स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं स्निग्धं शनैर्मृद्वृजुपृष्ठवंशम्।
अकम्पनावेपनलाघवादीन्पाण्योर्गुणांश्चापि हि दर्शयंस्तम् ॥ २० ॥
प्रपीडयेच्चैकग्रहणेन दत्तं नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत्।

रोगी मूत्र और मल का त्याग करके, भूख की पीड़ा से रहित मनुष्य को (स्वस्थ) समान शय्या पर अथवा शिर को कुछ नीचा किये तथा कटि प्रदेश को ऊपर को उन्नत किये हुए बिस्तर पर वाम पार्श्व पर सुख पूर्वक सीधे सरल रूप से लेटाना चाहिये। रोगी को अपना वाम हाथ सिर के नीचे तकिये के रूप में रखकर वाम पांव को कुछ मोड़ कर (घुटना पेट पर आ जाये), वाम टांग को फैला देना चाहिये। रोगी की गुदा को

तैल से चिकना करके, नेत्र के चतुर्थ भाग (कर्णिका) तक धीरे धीरे पृष्ठवंश के साथ सीधे रूप में गुदा के अन्दर प्रविष्ट करना चाहिये। बस्ति को न तो बहुत धीरे न बहुत जल्दी से, मृदुता से, पृष्ठवंश के समान सीधे रूप में कांपने के या हिलने के अथवा ढीलेपन के विना स्थिर और मजबूती से वाम हाथ में पकड़ कर दक्षिण हाथ द्वारा एक बार में ही इस प्रकार दबाये कि न तो बहुत तेजी से न बहुत जल्दी से बस्ति जाये। बस्ति में कुछ द्रव्य शेष रख लेना चाहिये। बस्ति देने के उपरान्त बस्ति के नेत्र को धीरे से निकाल लेना चाहिये।

तिर्यक्प्रणीते तु न याति धारा गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे ॥२१॥
दत्तः शनैर्नाशयमेति बस्तिः कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितश्च।

नेत्र को तिरछा करके बस्ति को दबाने से आस्थापन द्रव्य धारा रूप में गुदा के अन्दर नहीं जाता, इसलिये नेत्र को सीधी करके बस्ति देनी चाहिये। बस्ति के पीड़न काल में हाथ के कांपने से नेत्र के अग्र भाग के चुभ जाने से गुदा में व्रण हो जाते हैं, इसलिये बिना कांपे हुए बस्ति देनी चाहिये। बहुत धीरे धीरे दी गई बस्ति आशय में नहीं पहुंचती, बहुत जोर से दबाने पर बस्ति कण्ठ को पहुंच जाती है। इसलिये न तो बहुत धीरे न बहुत जोर से बस्ति दबा कर देनी चाहिये।

शीतस्त्वतिस्तम्भकरो विदाहं मूर्च्छां च कुर्यादतिमात्रमुष्णः ॥२२॥
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्षस्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम्।
करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगं क्षामस्तु सान्द्रः सुचिरेण चैति ॥२३
दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्यात्तस्मात्प्रयुक्तं सममेव दद्यात्।

शीतल बस्ति अतिशय स्तम्भकारक होती है, वापिस बाहर नहीं आती। अतिमात्र उष्ण बस्ति अतिदाह और मूर्च्छा को उत्पन्न करती है, इसलिये न तो बहुत शीतल न बहुत उष्ण बस्ति देनी चाहिये। अति स्निग्ध बस्ति जाड्यता उत्पन्न करती है, अति रूक्ष बस्ति वायु को उत्पन्न करती है, इसलिये युक्ति से स्नेह मिलाना चाहिये। अल्प मात्रा में

मिला नमक बस्ति को अयोग करता है। अधिक मात्रा में दी गई बस्ति अतियोग करती है, इसलिये न तो बहुत कम और न बहुत अधिक मात्रा में बस्ति देनी चाहिये। क्षीण और सान्द्र बस्ति देर में बाहर आती है, इसलिये अक्षीण और असान्द्र बस्ति देनी चाहिये। अति लवणयुक्त बस्ति दाह और अतिसार पैदा करती है, इसलिये युक्तिपूर्वक मात्रा में लवण मिला कर बस्ति देनी चाहिये।

पूर्वं हि योज्यं मधुसैन्धवाभ्यां स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनुकल्कम् ॥२४॥
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तद्बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन।

प्रथम मधु और सैन्धव नमक के साथ स्नेह द्रव्य मिलाना चाहिये। पीछे से उदकल्क (द्रव द्रव्य) और कल्क द्रव्य इसमें मिलाना चाहिये, फिर इसमें स्नेह मिला कर द्रव्यों से मिला कर अनुकूल मात्रा में लेकर खज (मन्थन दण्ड) से मथकर बस्ति पुटक में रखना चाहिये।

वामाश्रयोऽग्निर्ग्रहणी गुदं च तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः ॥ २५ ॥
लीयन्त एवं वलयश्च तस्मात्सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम्।

पुरुष के वाम पार्श्व में जाठराग्नि, ग्रहणी और गुदा ये तीन अवयव हैं, इसलिये वाम पार्श्व में लेटने से गुदा की उपलब्धि (बस्ति से भली प्रकार उपलब्धि) भली प्रकार से होती है। गुदा में तीन बलियां हैं, इसलिये वाम पार्श्व में लेटने से बस्ति भली प्रकार से लीन हो जाती हैं। इसलिये वाम पार्श्व में लेटाकर बस्ति देनी चाहिये।

विड्वातवेगो यदि चार्धदत्ते निष्कृष्य मुक्ते प्रणयेदशेषम् ॥ २६ ॥
उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नोति तथाऽस्य देहम्।

बस्ति के आधा देने पर यदि मल वायु का वेग बढ़ जाये तो नेत्र को निकाल लेना चाहिये। रोगी मल, वायु का त्याग कर चुके तब फिर शेष बस्ति को देना चाहिये। बस्ति ले चुकने पर रोगी को तकिया लगा कर उत्तान (चित्त) पीठ के भार लेटना चाहिये। इस प्रकार करने से बस्ति का वीर्य्य शरीर में फैल जाता है।

र्काऽपकर्षत्यनिलं स्वमार्गात्पित्तं द्वितीयस्तु कफं तृतीयः ॥ २७ ॥
प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः शाल्यन्नमद्यात्तनुना रसेन ।
जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं भुक्तेऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम् ॥२८॥
निरूहपादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन ।
दत्त्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात्स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम ॥ २९ ॥
ईषत्पदाङ्गुष्ठयुगं च कर्षेदुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात् ।
स्नेहेन पार्ष्ण्यङ्गुलिपिण्डिकाश्च ये चास्य गात्रावयवा रुगार्ताः ॥३०॥
तांश्चावमृज्यात्स सुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधानः ।

प्रथम बस्ति वायु को शान्त करती है, दूसरी बस्ति पित्त को और तीसरी बस्ति कफ को अपने स्थान से खींच कर बाहर करती है। बस्ति के वापिस आ जाने पर उष्ण जल से स्नान करके पतले (घन भाव रहित) मांस रस के साथ शालि भात खाना चाहिये। मध्याह्न भोजन के जीर्ण होने पर सायंकाल लघु और अल्प मात्रा में भोजन देना चाहिये। प्रातः काल बृंहण कार्य के लिये अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। अनुवासन के लिये अम्ल द्रव्य, वातघ्न द्रव्यों से साधित क्वाथ में निरूह से चतुर्थांश तैल मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। बस्ति देकर वैद्य को हथेली से नितम्बों पर थपेड़े (थपकन) लगाने चाहियें, इस से स्नेह जल्दी से वापिस नहीं आता। * रोगी को उत्तान लेटकर सौ मात्रा पर्य्यन्त बस्ति को रोकना चाहिये। रोगी की पार्ष्णि (एड़ी), अंगुलि और पिण्डिकाओं पर तथा शरीर के जिन भागों में पीड़ा हो वहां पर तैल मर्दन करना चाहिये। इसके पीछे रोगी को तकिया रखकर सुखपूर्वक सोना चाहिये।

---

* (१) कविराज श्री गंगाधरसेन 'पादांगुलियुग्ममानम्' यह पाठ करके पादाङ्गुलिद्वय परिमाण देहावयव को स्नेह से परिमार्जन करना चाहिये ऐसा अर्थ करते हैं।

(२) स्नेह-मात्रा—उत्तमा षट् पली प्रोक्ता, मध्यमा त्रिपली भवेद्।
कनीयसी सार्द्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने।

भागाः कषायस्य तु पञ्च पित्ते स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च ॥ ३१ ॥
वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः ।

द्रव्यमान—पैत्तिक रोग में या मनुष्य के प्रकृति में स्थित होने पर कषाय के पांच योग और स्नेह का एक भाग (कषाय के पांच भाग करके उनमें से एक भाग के बराबर स्नेह, घृत तैलादि) लेना चाहिये । वायु के विवृद्ध होने पर कषाय के चार भाग करके एक भाग के बराबर स्नेह मिलाना चाहिये । कफ रोगों में कषाय के आठ भाग करके इन में एक भाग के बराबर स्नेह मिलाकर बस्ति देनी चाहिये । *

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः ॥ ३२ ॥
आद्वादशात्स्यात्प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद्द्वादशतः परं स्युः ।
आसप्ततेरुक्तमिदं प्रमाणमतःपरं षोडशवद्विधेयम् ॥ ३३ ॥

आयु भेद से निरूहमात्रा—प्रथम वर्ष में निरूह की मात्रा आधा प्रसृत (एक पल) परिमित, बारह वर्ष तक प्रत्येक वर्ष में आधा प्रसृत (पल परिमाण) मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये । इससे बारह वर्ष में १२ पल मात्रा देनी चाहिये । बारह वर्ष के पीछे तेरहवें वर्ष से अट्ठारह वर्ष की आयु तक प्रत्येक वर्ष में एक प्रसृत (दो पल) मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये । इस प्रकार से अट्ठारहवें वर्ष में २४ पल मात्रा हो जाती है । सत्तर वर्ष की आयु तक यही २४ पल की मात्रा रखनी चाहिये । इसमें बढ़ती नहीं होती । इकहत्तर वर्ष से लेकर सोलह वर्ष की आयु के समान अर्थात् दस प्रसृत (२० पल) मात्रा रखनी चाहिये, इस प्रकार से ८६ वर्ष तक प्रत्येक वर्ष में एक एक प्रसृत मान घटाते जाना चाहिये । यथा—७१ वर्ष में १० प्रसृत, ७२ में ९ प्रसृत, ७३ में ८ प्रसृत, ७४ में ७ प्रसृत, ७५ में ६ प्रसृत इसी प्रकार से एक एक प्रसृत ४६ वर्ष की आयु तक घटाना चाहिये । इसके आगे सब वर्षों में एक पल मात्रा रखनी

* मात्रा प्रमाण—द्वादशप्रसृतं किञ्चित् त्रिंशत् पलमथापरे ।

चाहिये । बालक और वृद्ध में बस्ति विशेषकर मृदु वीर्य रखनी चाहिये । मात्रा प्रसृत (दो पल) रखनी चाहिये ।

निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृद्धे च मृदुर्विशेषः ।
नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं सपादपीठं शयनं प्रशस्तम् ॥ ३४ ॥
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम् ।

उत्तर कालिक शयन विधि—बस्ति ले चुकने पर रोगी को पांव को न तो ऊंचा करके और न बहुत नीचा करके, अपितु पीठ के समान रख कर सोना चाहिये । बिस्तर कोमल और बहुत बड़ा होना चाहिये, शिर पूर्व की ओर रखना चाहिये । ऊपर ओढ़ने की चादर शुक्ल सफेद होनी चाहिये ।

भोज्यं पुनर्व्याधिमवेक्ष्य सम्यक् प्रकल्पयेद्यूषपयोरसाद्यैः ॥ ३५ ॥

रोग के अनुसार मुद्गादि यूष, मांस रस आदि के साथ ओदन (भात) भोजन के लिये देनी चाहिये । इस विधि को सब बस्तियों में बरतना चाहिये ।

सर्वेषु विद्याद्विधिमेतदाद्यं वक्ष्यामि बस्तीनत उत्तरीयान् ।
सम्यक् प्रणीताः खलु बस्तयो ये वातामयघ्नाश्च बलप्रदाश्च ॥ ३६ ॥

इसके आगे अन्य वातनाशक और बलप्रद बस्तियों को कहता हूं, जिनके सम्यक् उपयोग से शरीर में बल आता है ।

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः सच्छागमांसस्य सपूर्वपेष्यः ।
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः ॥ ३७ ॥

बिल्वादि महापंचमूल और लघुपंचमूल मिलित दशमूल और बकरी का मांस समान भाग लेकर क्वाथ करना चाहिये । इसको छान कर इसमें अम्लादि कांजी मिला कर पूर्वोक्त यमानी, मदनफल, बिल्व, कुष्ठ, वच, शताह्वा, घन, पिप्पली इनका कल्क तथा तीन स्नेह (घृत, तैल और वसा) मिलाकर निरूह देना चाहिये । (इसमें क्वाथ तीन भाग, तीन

स्नेह एक भाग मिलाने चाहियें) यह निरूह सब वातरोगों को नष्ट करता है । ※

स्थिरादिवर्गस्य बलापटोलत्रायन्तिकैरण्डयवैर्युतस्य ।
प्रस्थो रसाच्छागरसार्धयुक्तः साध्यः पुनः प्रस्थरसश्च यावत् ॥३८॥
प्रियङ्गुकृष्णाघनकल्कयुक्तः सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च ।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च चक्षुर्बलं चापि ददाति सद्यः ॥ ३९ ॥

स्थिरादि वर्ग (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), बला, पटोल, त्रायन्तिका, एरण्ड और जौ इनको अष्टगुण जल में क्काथ करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये । बकरी का मांसरस आधा प्रस्थ लेकर क्काथ और मांस रस को मिलाकर दोनों को एक करके पुनः पकाना चाहिये । जब प्रस्थ भर रह जाये इसमें प्रियंगु, कृष्णा (पिप्पली), मुस्ता का कल्क मिलाकर तैल, घृत, मधु और सैन्धव सुश्रुतोक्त विधि से मिला खज से मथकर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति अग्निदीपक बल और मांस को बढ़ाने वाली तथा आंखों की ज्योति को तुरन्त बढ़ाती है ।

एरण्डमूलं त्रिपलं पलानि ह्रस्वानि मूलानि च यानि पञ्च ।
रास्नाश्वगन्धातिबलागुडूचीपुनर्नवारग्वधदेवदारु ॥ ४० ॥
भागाः पलांशा मदनाष्टयुक्ता जलद्विकंसे कथितेऽष्टशेषे ।
पेष्याः शताह्वा हपुषा प्रियङ्गु सपिप्पलीकं मधुकं वचा च ॥ ४१ ॥
रसाञ्जनं वत्सकबीजमुस्तमक्षप्रमाणं लवणांशयुक्तम् ।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो बस्तिर्नृणां दीपनलेखनीयः ॥ ४२ ॥
जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठशूलं कफावृतं मारुतनिग्रहं च ।
विण्मूत्रवातग्रहणं सशूलमाध्मानतामश्मरिशर्करे च ॥ ४३ ॥
आनाहमर्शोग्रहणीप्रदोषानेरण्डबस्तिः शमयेत्प्रयुक्तः ।

※ कविराज श्री गंगाधरसेन 'स पूर्वपेष्यः' के स्थान पर 'स पूर्वशेषः' पाठ करके अष्टमांश क्काथ शेष रखते हैं और यमानी आदि का कल्क नहीं देते परन्तु अष्टांगसंग्रह में कल्क का विधान है ।

क्वाथार्थ—एरण्ड मूल तीन पल, पलाशा (शठी) और लघुपंचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), रास्ना, अश्वगन्धा, अतिबला, गिलोय, पुनर्नवा, अमलतास, देवदारु प्रत्येक एक एक पल, मैनफल आठ पल लेकर जल दो आढ़क लेकर क्वाथ करना चाहिये। अष्टमांश शेष करके छान लेना चाहिये। कल्कार्थ—सौंफ, हउवेर, प्रियंगु, पिप्पली, मुलहठी, वचा, रसौंत, इन्द्र जौ और मुस्ता प्रत्येक अक्ष परिमाण लवण, मधु, तैल और गोमूत्र उचित रूप में मिला कर बस्ति देनी चाहिये।

यह एरण्ड बस्ति अग्निदीपक, लेखनीय है। जंघा, ऊरू, पांव, त्रिक, पीठ की शूल को, कफ से आवृत वायु के अवरोध को, वायु ग्रह, मूत्रग्रह, वातग्रह, शूल, आध्मान, अश्मरि, शर्करा, आनाह, अर्श, ग्रहणी रोग को कुशल वैद्य से भली प्रकार दिये जाने पर यह एरण्ड बस्ति नष्ट करती है। मनुष्यों पर दया करके आत्रेय ने इस एरण्ड बस्ति का उपदेश किया है।

चतुष्पले तैलघृतस्य भृष्टश्छागाच्छतार्धाद्दधिदाडिमाम्लः।
रसः सपेष्यो बलवर्णमांसरेतोग्निदश्चान्ध्यशिरोरुजाघ्नः ॥ ४४ ॥

बकरी का मांस ५० पल लेकर अष्टगुण जल में पकाना चाहिये। चतुर्थांश रह जाने पर इसमें दही और अनार का रस मिलाकर इसको खट्टा बनाकर तैल और घृत मिलित यमक चार पल लेकर उसमें भूनकर पीस लेना चाहिये। इसमें सैन्धव, मैनफल का कल्क मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति बल, वर्ण, मांस, रेत (शुक्र) और अग्नि को बढ़ाती है तथा आन्ध्य (अन्धत्व) तथा शिरोवेदना को नष्ट करती है।

जलद्विकंसेऽष्टपलं पलाशात्पक्त्वा रसोऽर्धाढकमात्रशेषः।
कल्कैर्बलामागधिकापलाभ्यां युक्तः शताह्वाद्विपलेन चापि ॥ ४५ ॥
ससैन्धवः क्षौद्रयुतः सतैलो देयो निरूहो बलवर्णकारी।
अनाहपार्श्वामययोनिदोषान् गुल्मानुदावर्तरुजं च हन्यात् ॥ ४६ ॥

पलाश (ढाक) फल आठ पल लेकर दो आढ़क जल में क्वाथ करना

चाहिये। जब अष्टमांस (३२ पल) शेष रह जाय तब छान लेना चाहिये इसमें बला १ पल, सौंफ दो पल कल्क रूप में, सैन्धव, मधु, तैल इनका उचित मात्रा में आवाप देकर निरूह देना चाहिये।

यह बस्ति वर्णकारक, बलकारक, आनाह, पार्श्वरोग, योनिरोग, गुल्म और उदावर्त्त को नष्ट करती है।

उपरोक्त पांच बस्तियां वात के लिये हितकारी है।

यष्ट्याह्वमूलाष्टपलेन सिद्धं पयः शताह्वाफलपिप्पलीभिः।
युक्तं ससर्पिर्मधु वातरक्तवैस्वर्यवीसर्पहितो निरूहः ॥ ४७ ॥

पित्तज रोगों के लिये चार बस्तियां—मुलहठी का कल्क आठ पल, दूध ६४ पल, पानी दूध से चतुर्गुण २५६ पल लेकर दुग्ध पाक करना चाहिये। इस सिद्ध दूध में सौंफ, मैनफल, पिप्पली, घृत और मधु अनुरूप मात्रा में मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति वातरक्त, स्वरभंग, वीसर्प को नष्ट करती है।

यष्ट्याह्वलोध्राभयचन्दनैश्च शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च।
सशर्करं क्षौद्रयुतं सुशीतं पित्तामयान् हन्ति सजीवनीयम् ॥४८॥
द्विकार्षिकाश्चन्दनपद्मकर्धियष्ट्याह्वरास्नावृषसारिवाश्च।

मुलहठी, लोध, हरड़, चन्दन, कमल, नीला कमल, जीवनीय गण की औषधियां मिलित सब द्रव्य कल्क रूप में दूध से अष्टमांश (आठ पल) दूध ६४ पल, पानी २५६ पल लेकर दूध पाक करना चाहिये। इस दूध में शर्करा, मधु और घृत मिलाकर शीतल निरूह देना चाहिये। यह बस्ति पित्तरोगों को नष्ट करती है।

सलोध्रमञ्जिष्ठमथाप्यनन्ताबलास्थिराद्यं तृणपञ्चमूलम् ॥ ४९ ॥
निःक्वाथ्य तोयेन रसेन तेन शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम्।
जीवन्तिमेदर्धिशतावरीभिर्वीराद्विकाकोलिकशेरुकाभिः ॥ ५० ॥
सितोपलाजीवकपद्मरेणुप्रपौण्डरीकैः कमलोत्पलैश्च।
लोध्रात्मगुप्तामधुकैर्विदारीमुञ्जातकैः केशरचन्दनैश्च ॥ ५१ ॥

पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरूहं ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात् ।
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन् क्षीरेण वाऽद्यात्परिषिक्तगात्रः ॥ ५२ ॥
दाहातिसारौ प्रदरास्रपित्तहृत्पाण्डुरोगान्विषमज्वरं च ।
सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन्सर्वामयान्पित्तकृतान्निहन्ति ॥ ५३ ॥

लोध, मंजीठ, अनन्ता (अनन्त मूल), बला, स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), तृग पंचमूल (कुश, काश, ईक्षु, शर दर्भ इनकी मूल) प्रत्येक द्रव्य दो कर्ष लेकर अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने में छान लेना चाहिये । इस क्वाथ से आधा आढ़क (३२ पल) दूध सिद्ध करना चाहिये । जब केवल दूध मात्र शेष रह जाये तब इसमें कल्कार्थ—मेदा, ऋद्धि, जीवन्ती, शतावरी, वीरा, पृश्निपर्णी या विदारी, काकोली, क्षीरकाकोली, राजकशेरू, सितोपला (मिश्री), जीवक, पद्मपराग (कमल का केशर), पुण्डरीक काष्ठ, कमल, नीला कमल, लोध, कौंच, मुलहठी, विदारीकन्द, मुञ्जातक कन्द, केशर, चन्दन इनको पीसकर घृत, मधु और सैन्धव नमक का आवाप उचित मात्रा में मिलाकर शीतल निरूह देना चाहिये । बस्ति के वापिस आने पर स्नान करके धन्व (जांगल) मांस रस या दूध के साथ शालि भात खाना चाहिये ।

यह बस्ति दाह, अतिसार, प्रबल रक्तपित्त, हृदयरोग, विषम ज्वर, गुल्मरोग, मूत्रावरोध, कामला आदि पित्तजनित सब रोगों को नष्ट करती है ।

द्राक्षादिकाश्मर्यमधूकसेव्यैः ससारिवाचन्दनशीतपाक्यैः ।
पयः श्रृतं श्रावणिमुदगपर्णीतुगात्मगुप्तामधुयष्टिकल्कैः ॥ ५४ ॥
गोधूमचूर्णैश्च तथाऽक्षमात्रैः सक्षौद्रसर्पिर्मधुयष्टितैलैः ।
पथ्याविदारीक्षुरसैर्गुडेन बस्तिं युतं पित्तहरं विदध्यात् ॥ ५५ ॥
हृन्नाभिपार्श्वोदरदेहदाहे दाहेऽन्तरस्थे च समूत्रकृच्छ्रे ।
क्षीणक्षते रेतसि चापि नष्टे पैत्तेऽतिसारे च नृणां प्रशस्तः ॥ ५६ ॥

द्राक्षादि (विरेचनोपयोगी दस द्राक्षादि द्रव्य), काश्मरी (गम्भारी दो बार पठित होने से दो भाग), मधूक (महुआ), सेव्य (उशीर), शारिवा, चन्दन, शीतपाकी (चावल का भेद है, चूड़ामणि पर्य्याय अष्टांग संग्रह में दिया है), इनका कल्क अष्टमांश (आठ पल), दूध ६४ पल और पानी २५६ पल लेकर दुग्ध पाक करना चाहिये। इस सिद्ध दूध में कल्कार्थ—श्रावणी, मुद्गपर्णी, वंशलोचन, कौंच, मुलहठी और गेहूं का आटा प्रत्येक द्रव्य का कल्क एक अक्ष, मधु, घृत और मधुयष्ठि साधित तैल, हरड़, विदारीरस, इक्षुरस और गुड़ मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति पित्तनाशक है।

हृदय, नाभि, पार्श्व, उदर और शरीर के दाह होने में शरीर के अन्तः दाह में, मूत्रकृच्छ्र रोग में, क्षीण-क्षत में, शुक्रक्षय में, पित्तातिसार में यह बस्ति उत्तम है। *

कोशातकारग्वधदेवदारुमूर्वाश्वदंष्ट्राकुटजार्कपाठाः।
पक्त्वा कुलत्थान्बृहतीं च तोये रसस्य तस्य प्रसृता दश स्युः॥५७॥
तान् सर्षपैलामदनैः सकुष्ठैरक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान्।

कफ के लिये चार बस्तियां—कोषातकी (तुरई), अमलतास, देवदारु, मूर्वा, गोखरू, कुटज, आक, पाठा, कुलत्थी और बड़ी कटेरी प्रत्येक द्रव्य पांच पल लेकर सोलह गुणे जल में पाक करके दस प्रसृत (२० पल) क्वाथ लेना चाहिये। इसमें सरसों, बड़ी इलायची और मैनफल एवं कुष्ठ प्रत्येक एक एक अक्ष कल्क रूप में, मधु एक प्रसृत, तिल तैल एक प्रसृत, मैनफल का कल्क १ प्रसृत, यवक्षार १ प्रसृत, सरसों का तेल एक प्रसृत मिलाकर निरूह देना चाहिये। ❀

---

* चक्रपाणि ने—पार्श्वोदर देह के स्थान पर पार्श्वोत्तमदेह पाठ दिया है। उत्तम देह मस्तक—

❀ 'मूर्वाश्वदंष्ट्रा' के स्थान पर चक्रपाणि ने मूर्वा शार्ङ्गेष्टा, श्रीगंगाधर सेनने 'दूर्वा श्वदंष्ट्रा' पाठ दिया है। संग्रह में यही पाठ है।

यह निरूह कफ रोगी के लिये, मन्दाग्नि पुरुष के वास्ते, जो भोजन से द्वेष करता हो, उसके लिये देना उत्तम है।

फलाह्वतैलस्य समाक्षिकस्य क्षारस्य तैलस्य च सार्षपस्य ॥ ५८ ॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिणे ज्ञो मन्दाग्नये चाप्यशनद्विषे च ।
पटोलपथ्यामरदारुभिर्वा सपिप्पलीकैः क्वथितैर्जलाख्यैः ॥ ५९ ॥

यहां पर शास्त्रानुसार मान अधिक हो जाता है। तथापि द्रव्यसंयोग करके बारह प्रसृत (२४ पल) ही रखना चाहिये, क्योंकि इससे अधिक मात्रा का निषेध है और जो तीस पल मात्रा मानते हैं, उनकी दृष्टि से मात्रा अधिक है।

पटोल, हरड़, देवदारु, पिप्पली इनके क्वाथ का निरूह कफ रोगी को, मन्दाग्नि रोगी को भोजन से द्वेष करने वाले को देना चाहिये।

द्विपञ्चमूले त्रिफलां सबिल्वां पलानि गोमूत्रयुतः कषायः ।
कलिङ्गपाठाफलमुस्तकल्कः ससैन्धवः क्षारयुतः सतैलः ॥ ६० ॥
निरूहमुख्यः कफजान्विकारान्सपाण्डुरोगालसकामदोषान् ।
हन्यात्तथा मारुतमूत्रसङ्गं वस्तेस्तथाटोपमथातिघोरम् ॥ ६१ ॥

दशमूल, त्रिफला, बेलगिरी, मदनफल इनको अष्ट गुण जल में क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। कषाय के अनुरूप गोमूत्र मिलाकर, कल्कार्थ इन्द्रजौ, पाठा, मुस्ता और मैनफल, सैन्धानमक, यवक्षार, तिल तैल उचित मात्रा में मिलाकर निरूह देना चाहिये। इससे कफजन्य रोग, पाण्डुरोग, अलसक, आमदोष, वायुसंग, मूत्रसंग बस्ति का आरोप नष्ट होता है।

रास्नामृतैरण्डविडङ्गदारुसप्तच्छदोशीरसुराह्वनिम्बैः ।
श्यामाकभूनिम्बपटोलपाठातिक्ताखुपर्णीदशमूलमुस्तैः ॥ ६२ ॥
त्रायन्तिकाशिग्रुफलत्रिकैश्च क्वाथः सपिण्डीतकतोयमूत्रः ।
यष्टयाह्वकृष्णाफलिनीशताह्वारसाञ्जनश्वेतवचाविडङ्गैः ॥ ६३ ॥
कलिङ्गपाठाम्बुदसैन्धवैश्च कल्कैः ससर्पिर्मधुतैलमिश्रः ।

क्वाथार्थ—रास्ना, गिलोय, एरण्डमूल, वायबिडंग, सप्तच्छद (सप्त पर्ण), खस, सुराह्वा (देवदारू), दारुहल्दी, बेलगिरी, शम्पाक (अमलतास, श्यामाक पाठ में सांवक); चिरायता, पटोल, पाठा, तिक्ता (कटु रोहिणी), आखुपर्णी, दशमूल, मुस्ता, त्रायन्तिका, शोभांजन और त्रिफला इनको अष्ट गुण जल में क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। इस क्वाथ में मदनफल का कल्क, मुलहठी, पिप्पली, फलिनी (प्रियंगु), सौंफ, रसौंत, श्वेत वच, वायबिडंग, इन्द्रजौ, पाठा, अम्बुद (बालक) और सैन्धव इनका कल्क, गोमूत्र, घृत, मधु और तैल मिलाना चाहिये।

अयं निरूहः क्रिमिकुष्ठमेहब्रध्नोदराजीर्णकफातुरेभ्यः ॥ ६४ ॥
रूक्षौषधैरत्यपतर्पितेभ्य एतेषु रोगेष्वपि सत्सु दत्तः।
निहत्य वातं ज्वलनं प्रदीप्य विजित्य रोगांश्च बलं करोति ॥ ६५ ॥

यह निरूह बस्ति कृमि कोष्ठ, प्रमेह, ब्रध्न, उदर, अजीर्ण कफ रोगियों के लिये, रूक्ष ओषधियों से अति तर्पण दिये गये पुरुषों के लिये कुष्ठ आदि रोगों में भी वायु को नष्ट करके, अग्नि को बढ़ाकर, रोगों को शान्त करके बल को बढ़ाता है।

पुनर्नवैरण्डवृषाश्मभेदवृश्चीरभूतीकबलापलाशाः।
द्विपञ्चमूलानि पलांशिकानि क्षुण्णानि धौतानि पलानि चाष्टौ ॥६६॥
बिल्वं यवान्कोलकुलत्थधान्यफलानि चैकप्रसृतोन्मितानि।
पयोजलार्धाढकयोः शृतं तत्क्षीरावशेषं कृतवस्त्रपूतम् ॥ ६७ ॥
वचाशताह्वामरदारुकुष्ठयष्ट्याह्वसिद्धार्थकपिप्पलीनाम्।
कल्कैर्यवान्या मदनैश्च युक्तं नात्युष्णशीतं गुडसैन्धवाक्तम् ॥ ६८ ॥
क्षौद्रस्य तैलस्य च सर्पिषश्च तथैव युक्तं प्रसृतत्रयेण।
दद्यान्निरूहं विधिना विधिज्ञः स सर्वसंसर्गकृतामयघ्नः ॥ ६९ ॥

क्वाथार्थ—पुनर्नवा, एरण्डमूल, वासामूल, पाषाणभेद, पुनर्नवा, भूतीक (अजवायन या करंज), बला, पलाश (ढाक), दशमूल इनको धोकर दरकच कर लेना चाहिये, प्रत्येक वस्तु एक एक पल, बेलगिरी

कच्ची ८ पल, जौ ८ पल, कोल (बेर), कुलत्थी धान्य (सतुप चावल), फल (मदनफल) प्रत्येक एक प्रसृत (दो दो पल) लेकर, दो आढ़क जल और दो आढ़क दूध में पाक करना चाहिये। जब दूध मात्र शेष रह जावे तब छान लेना चाहिये। इसमें कल्कार्थ—वच, सौंफ, देवदारु, कुष्ठ, मुलहठी, सरसों, पिप्पली, अजवायन, मैनफल प्रत्येक एक पक कर्ष लेकर इनका कल्क, गुड़, सैन्धा नमक, मधु एक प्रसृत, तिल तैल एक प्रसृत, घृत एक प्रसृत मिला कर न तो उष्ण न बहुत शीत निरूह विधि पूर्वक देना चाहिये। यह निरुह वातादि दोषों के संसर्ग से उत्पन्न सब रोगों को नष्ट करता है। *

स्निग्धोष्ण एकः पवने निरूहो द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते।
त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहा न परं विधेयाः ॥७०॥
रसेन वाते प्रतिभोजनं स्यात्क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः।
तथाऽनुवास्येषु च बिल्वतैलं स्याज्जीवनीयं फलसाधितं च ॥ ७१ ॥

वात रोगों में स्निग्ध और उष्ण एक ही निरूह देना चाहिये। पित्त जन्य रोगों में दूध के साथ मधुर एवं शीतल दो निरूह देने चाहियें। कफ रोगों में गोमूत्र के साथ कटु, उष्ण और तीक्ष्ण तीन निरूह देने चाहियें। इससे अधिक और निरूह नहीं देने चाहियें। ※

वात रोगों में मांसरस के साथ, पित्त रोगों में दूध के साथ और कफ रोगों में मुद्गादि यूष के साथ भोजन देना चाहिये।

अनुवासन बस्ति के लिये वातरोगों में विल्व तैल, पित्त रोगों में

---

* श्रीगंगाधरसेन ने पयोजलाद्धकयोः यह पाठ पढ़कर दूध आधा आढ़क, जल आधा आढ़क लिया है।

※ सुश्रुत में चतुर्थ बरि का भी विधान है—

"द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्हतः।
सम्यग् निरूह लिंगं तु प्राप्ते बस्तिं निवर्त्तयेत् ॥

जीवनीय तैल, कफ रोगों में मदनफल साधित तैल व्यवहार में लाना चाहिये। [इन तैलों को स्नेह व्यापत् सिद्धि अध्याय में कहेंगे]।

तत्र श्लोकः।

इतीदमुक्तं निखिलं यथावद्बस्तिप्रदानस्य विधानमग्र्यम्।
योऽधीत्य विद्वानिह बस्तिकर्म करोति लोके लभते स सिद्धिम् ॥७२॥

उपसंहार—इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप में बस्ति प्रदान की श्रेष्ठ विधि को कह दिया है। जो विद्वान् इसको पढ़कर बस्ति कर्म करता है, वह लोक में सफलता को प्राप्त करता है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
पंचकर्मीयसिद्धिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः स्नेहव्यापदिकीं सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे स्नेह व्यापदिकी सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

स्नेहबस्तीन् प्रवक्ष्यामि वातपित्तकफापहान्।
मिथ्याप्रणिहितानां च व्यापदः सचिकित्सिताः ॥ ३ ॥

वात, पित्त, कफनाशक स्नेह बस्तियों की व्याख्या करता हूं तथा बस्तियों के असम्यक् प्रयोग से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा को भी कहूंगा।

दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम्।
गुडूच्येरण्डभूतीकभार्गीवृषकरोहिषान् ॥ ४ ॥
शतावरीं सहचरं काकनासां पलाशिकान्।
यवमाषातसीकोलकुलत्थान्प्रसृतोन्मितान् ॥ ५ ॥

चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च ।
तैलाढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥ ६ ॥
अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत् ।

बिल्व तैल—क्वाथार्थ—दशमूल, बला, रास्ना, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, गिलोय, एरण्ड मूल, भूतीक (अजवायन या करंज), फंजी (ब्राह्मण यष्टी, भांर्गी), बांसा रोहिप तृण, शतावरी, सहचर और काकनासा (कौआ ढूठी) प्रत्येक एक पल, जो, उड़द अलसी, कोल (झाड़ी के बेर), कुलत्थी प्रत्येक दो दो पल लेकर सब को मिलाकर चार द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये । एक द्रोण पानी शेष रहने पर छान लेना चाहिये । इसमें कल्कार्थ—जीवनीय गण की दश ओषधियों को एक एक पल लेकर उनका कल्क, तिल तैल १ आढ़क, दूध १ आढ़क मिला कर तैल सिद्ध करना चाहिये । यह अनुवासन सब वातविकारों को नष्ट करना है ।

आनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ॥ ७ ॥

उपरोक्त दशमूलादि क्वाथ में जीवनीय ओषधियों के कल्क से एक आढ़क दूध तथा एक आढ़क आनूप देश के प्राणियों की वसा (भैंस, सुअर आदि की वसा) को सिद्ध करना चाहिये । यह अनुवासन भी सब वात विकारों को नष्ट करता है ।

शताह्वा यवबिल्वाम्लैः सिद्धं तैलं समीरणे ।
सैन्धवेनाग्निवर्णेन तप्तं चानिलमुद्धृतम् ॥ ८ ॥

क्वाथार्थ—सौंफ, जौ, बेलगिरी, अम्ल (बेर दाड़िम आदि) द्रव्य इनके क्वाथ में इन्हीं के चतुर्थांश के कल्क से तैल सिद्ध करके अनुवासन देना चाहिये । अथवा सैन्धव लवण को अग्नि में लाल वर्ण करके इसको घृत में निर्वापित करना चाहिये । इस तप्त घृत से अनुवासन देने पर वायु शान्त होती है ।

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम् ।
शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम् ॥ ९ ॥

स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम् ।
पिष्ट्वा तैलं घृतं क्षीरे साधयेत्तच्चतुर्गुणे ॥ १० ॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम् ।
मूत्ररेतोरजोदोषान् हरेत्तदनुवासनात् ॥ ११ ॥

जीवन्तीयमक—कल्कार्थ—जीवन्ती, मदनफल, मेदा, श्रावणी (गोरखमुण्डी), मुलहठी, बला, शताह्वा (सौंफ), ऋषभक, पिप्पली, काकनासा (कौआ ठूठी), शतावरी, कौंच, क्षीर काकोली, कर्कटशृङ्गी, शटी (कचूर), वच इन सब को पीस लेना चाहिये, घृत और तैल मिलित यमक स्नेह, दूध स्नेह से चतुर्गुण, कल्क स्नेह से चतुर्थांश लेकर सिद्ध करना चाहिये । यह अनुवासन बस्ति बृंहण, वात, पित्त नाशक, बल, शुक्र और अग्निवर्धक, मूत्ररोग, शुक्रदोष, रजोदोष को नष्ट करती है ।

लाभतश्चन्दनाद्यैश्च पिष्टैः क्षीरचतुर्गुणम् ।
तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम् ॥ १२ ॥

ज्वर चिकित्सा में कथित चन्दनादि तैल के द्रव्यों में से जितने द्रव्य मिल सकें उनको पीसकर स्नेह से चतुर्थांश कल्क बनाना चाहिये, स्नेहार्थ घृत तीन शराव, तिलतैल एक शराव लेकर स्नेह से चतुर्गुण दूध में स्नेह सिद्ध करना चाहिये । यह स्नेह उत्तम अनुवासन है । *

सैन्धवं मदनं कुष्ठं शताह्वां निचुलं बलाम् ।
ह्रीबेरं मधुकं भार्गीं देवदारु सकट्फलम् ॥ १३ ॥
नागरं पुष्करं मेदां चविकां चित्रकं शटीम् ।
विडङ्गातिविषे श्यामा हरेणुं नीलिनीं स्थिराम् ॥ १४ ॥
बिल्वाजमोदे कृष्णां च दन्तीं रास्नां च पेशयेत ।
साध्यमेरण्डजं तैलं तैलं वा कफरोगनुत ॥ १५ ॥

* चक्रपाणि ने 'तैलपादं' के स्थान पर 'तैलपात्रं' पाठ पढ़ा है ।

ब्रध्नोदावर्तगुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान् ।
आनाहमश्मरीं चैव हन्यात्तदनुवासनात् ॥ १६ ॥

कल्कार्थ—सैन्धव लवण, मैनफल, कुष्ठ, सौंफ, निचुल, बला, सोंठ, पोहकरमूल, मेदा, चविका, चित्रक, शटी, विडंग, अतीस, श्यामा (निशोथ), हरेणु, किणही (खर मंजरी), स्थिरा (शालपर्णी), बेलगिरी, अजवायन, पिप्पली, दन्तीमूल और रास्ना इनको समान भाग लेकर पीसकर कल्क बना लेना चाहिये । क्राथार्थ—सैन्धव, लवणादि रास्ना पर्यन्त वस्तुओं को लेकर चतुर्थांश क्राथ करके इस क्राथ में इन्हीं के कल्क से एरण्ड तैल या तिल तैल सिद्ध करना चाहिये ।

ये तैल कफ रोग नाशक, ब्रध्न, उदावर्त्त, गुल्म, अर्श, प्लीहा, मेह, आढ्यवात (वात रक्त), आनाह, अश्मरी रोग को अनुवासन रूप में प्रयोग करने से नष्ट करते हैं ।

मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैर्बिल्वाद्येन गणेन वा ।
तैलं कफहरैर्वापि कफघ्नं कल्पयेद्भिषक् ॥ १७ ॥

मदनफल, अम्लवेर आदि के क्राथ में इन्हीं के चतुर्थांश कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये । अथवा बिल्वादि महा पंचमूल के क्राथ में इसी पंचमूल के चतुर्थांश कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये । अथवा कफनाशक पूर्वोक्त द्रव्यों के या पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) आदि के क्राथ में इन्हीं के चतुर्थांश कल्क से तैल सिद्ध करना चाहिये । ये तैल कफनाशक है ।

विडङ्गैरण्डरजनीपटोलत्रिफलामृताः ।
जातिप्रवालनिर्गुण्डीदशमूलाखुपर्णिकाः ॥ १८ ॥
निम्बपाठासहचरशम्पाककरवीरकम् ।
एषां क्राथेन विपचेत्तैलमेभिश्च कल्कितैः ॥ १९ ॥
फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णारास्नाभूनिम्बदारुभिः ।
सप्तपर्णवचोशीरदार्वीकुष्ठकलिङ्गकैः ॥ २० ॥

लतायष्टिशताह्वाग्निशटीचोरकपौष्करैः ।
तत्कुष्ठानि क्रिमीन् मेहानर्शांसि ग्रहणीगदम् ॥ २१ ॥
क्लीबत्वं विषमाग्नित्वं मलं दोषत्रयं तथा ।
प्रयुक्तं प्रणुदत्याशु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥ २२ ॥
व्याधिव्यायामकर्माध्वक्षीणबलनिरोजसाम् ।
क्षीणशुक्रस्य चातीव स्नेहबस्तिर्बलप्रदः ॥ २३ ॥
पादजङ्घोरुपृष्ठांसकटीनां स्थिरतां पराम् ।
जनयेदप्रजानां च प्रजां स्त्रीणां तथा नृणाम् ॥ २४ ॥

क्वाथार्थं—बायविडंग, हल्दी, एरण्डमूल, पटोल, त्रिफला, गिलोय, चमेली के पत्ते, निर्गुण्डी पत्र, दशमूल, आखूपर्णी (दन्ती), नीम, पाठा, सहचर, अमलतास, करवीर (कनेर), इनका क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये । कल्कार्थ—मदनफल, बेलगिरी, निशोथ, पिप्पली, रास्ना, चिरायता, सप्तपर्ण, वच, उशीर, देवदारु, दारूहल्दी, कुष्ठ, इन्द्र जौ, लता (मंजीठ), मुलहठी, शताह्वा (सौंफ), चित्रक, शठी, चोरक, पुष्करमूल इनका कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिये ।

इस तैल का अनुवासन देने पर कुष्ठ, कृमि, प्रमेह, अर्श, ग्रहणीरोग, नपुंसकता, विषमाग्नि, तीनों दोष नष्ट होते हैं । इस तैल का पान, अभ्यंग और अनुवासन में प्रयोग करना चाहिये । रोग के कारण या व्यायाम से जिनके अंग क्षीण हो गये, बल तथा ओज घट गया हो तथा क्षीणशुक्र पुरुष के लिये इस तैल की बस्ति अतिबलप्रद है । पांव, जंघा, ऊरू, पृष्ठ, स्कन्ध और कटि में अतिशय दृढ़ता को उत्पन्न करता है । सन्तान-रहित स्त्री-पुरुषों में सन्तान को उत्पन्न करता है ।

वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य च ।
अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहबस्तेः षडापदः ॥ २५ ॥

स्नेह व्यापद—वात से आवृत, पित्त से आवृत, कफ से आवृत

अन्न से आवृत, मल से आवृत तथा विना भोजन कराये बस्ति देने पर स्नेह बस्ति में छः आपत्तियां होती हैं।

शीतोऽल्पो वाऽधिके वाते पित्तेऽत्युष्णः कफे मृदुः।
अतिभुक्ते गुरुर्वर्चःसंचयेऽल्पबलस्तथा ॥ २६ ॥
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो न यात्यभिभवादधः।
अभुक्तेनावृतत्वाच्च यात्यूर्ध्वं तस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥

वायु की अधिकता में, शीतल तथा अल्प परिमित स्नेहबस्ति, पित्त की अधिकता में अति उष्ण स्नेहबस्ति, अधिक कफ में अति मृदु स्नेहबस्ति अति भोजन करने पर गुरु स्नेहबस्ति, मल के संचित होने पर अल्पवीर्य स्नेह बस्ति देने पर वात आदि से मार्ग के आवृत होने के कारण तिरस्कृत होकर स्नेहबस्ति नीचे को नहीं आता। ऊपर ही रुक जाता है। विना भोजन के शून्य उदर में दी गई बस्ति मार्ग के खुले रहने से ऊपर की ओर जाती है।

स्तम्भोरुसदनाध्मानज्वरशूलाङ्गमर्दनैः।
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात्स्नेहं वातावृतं भिषक् ॥ २८ ॥

इनके लक्षण—रोगी में स्तम्भ, उरुसाद, आध्मान, ज्वरशूल, अंगों में पीड़ा, पार्श्वों में वेदना, उद्वेष्टन होने पर स्नेहबस्ति को वात से आवृत्त समझना चाहिये।

चिकित्सा—वात से आवृत स्नेह में स्निग्ध, अम्ल लवण, उष्ण बस्तियां देनी चाहिये। रास्ना, पीतद्रुम (सरल द्रुम), तिल्वक (लोध्र) इनको पीसकर सौवीरक, सुरा, बेर, कुलत्थी इनके रस में साधित निरूह बस्ति स्नेह को सम्यक् प्रकार से बाहर करती है।

स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्नापीतद्रुतिल्वकैः।
सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः ॥ २९ ॥
निरूहैर्निर्हरेत्सम्यक् समूत्रैः पाञ्चमूलिकैः।
ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ॥ ३० ॥

अथवा बृहत् पंचमूल क्वाथ में गो मूत्र मिलाकर निरूह देना चाहिये। अथवा सुरा, सौवीरक, कोल, कुलत्थी इनके क्वाथ में रास्ना, सरल द्रुम, लोध्र इनके कल्क से तैल सिद्ध करके बस्ति देना चाहिये। अथवा गोमूत्र युक्त पंचमूल क्वाथ में तैल सिद्ध करके इसकी बस्ति सायंकाल रोगी को भोजन खिला कर अनुवासन देना चाहिये।

दाहरागतृषामोहतमकज्वरदूषणैः।
विद्यात्पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं बस्तिभिर्हरेत् ॥ ३१ ॥

रोगी में दाह, रक्तिमा, प्यास, मोह, तमक श्वास, ज्वर होने पर पित्त से आवृत स्नेह को समझना चाहिये। इसके लिये स्वादु, तिक्त बस्तियां देनी चाहिये।

रोगी में तन्द्रा, शीत ज्वर, आलस्य, लाला-प्रसेक, अरुचि, भारीपन, मूर्च्छा, ग्लानि होने पर स्नेह को कफ से आवृत समझना चाहिये।

इसके लिये कषाय, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण बस्तियां, सुरा, गोमूत्र में साधित मदनफल और तिलतैल युक्त अम्ल बस्तियों से स्नेह को निकालना चाहिये।

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचिगौरवैः।
संमूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणा स्नेहमावृतम् ॥ ३२ ॥
कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः सुरामूत्रोपसाधितैः।
फलतैलयुतैः साम्लैर्बस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ॥ ३३ ॥
छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानिज्वरशूलाङ्गमर्दनैः।
आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम् ॥ ३४ ॥
कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम्।
विरेको मृदुरत्रामविहिता च क्रिया हिता ॥ ३५ ॥

रोगी में वमन, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, ज्वर शूल, अंग में पीड़ा, तथा आम दोष के लक्षण दाह होने पर अति भोजन से आवृत समझना चाहिये। इसके लिये—मरिचादि कटु वस्तुओं तथा लवणों के क्वाथ

या चूर्णों से पाचन करना चाहिये। मृदु विरेचन देवे तथा आमाजीर्ण की चिकित्सा करनी चाहिये।

विण्मूत्रानिलसङ्गार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः।
स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः॥ ३६॥
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः।
निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च॥ ३७॥

रोगी में विष्ठा, मूत्र, वायु के अवरोध जनित पीड़ा को देखकर, भारीपन, आध्मान, हृदयग्रह होने पर स्नेह को मल से आवृत समझना चाहिये। इसके लिये रोगी को स्नेहन, स्वेदन तथा फल वर्त्तियों का प्रयोग करना चाहिये। श्यामा (निशोथ), बिल्वादि पंचमूल के क्वाथ से निरूह अथवा इनके क्वाथ में इन्हीं के कल्क से तैल सिद्ध करके अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। इससे मल को स्नेह के साथ बाहर करना चाहिये। अथवा उदावर्त्त रोग की चिकित्सा करनी चाहिये।

अभुक्ते शून्यपायौ वा वेगात्स्नेहोऽतिपीडितः।
धावत्यूर्ध्वं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि॥ ३८॥

विना भोजन के खाली पेट, गुदा के खाली (शून्य) होने पर जोर से दिया गया स्नेह वेग के साथ ऊपर को दौड़ता है, जिससे स्नेह कण्ठ से तथा ऊर्ध्व नासिका आदि छिद्रों से बाहर आता है।

मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान्।
तत्सिद्धतैल इष्टोऽत्र निरूहः सानुवासनः॥ ३९॥

इसके लिये श्यामा (अरूणमूल त्रिवृत्), निशोथ, जौ, कोल (बेर), कुलत्थी इनको तथा गोमूत्र को अष्टगुण जल में क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। इसमें सैन्धव, मधु, घृत युक्ति से मिला कर निरूह देना चाहिये। अथवा इन्हीं के कल्क से इन्हीं क्वाथ में चतुर्थांश तैल सिद्ध करके अनुवासन देना चाहिये।

कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः।

छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य कार्यं निवर्तनम् ॥ ४० ॥

गले में आते हुए स्नेह को रोकने के लिये तत्क्षण थोड़े समय के लिये गले को रोकना चाहिये। पीछे से मृदु विरेचन देना चाहिये। वमन नाशक क्रियाओं द्वारा कण्ठ में पहुंचते हुए स्नेह को रोकना चाहिये।

यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहबस्तिरनिःसृतः।
सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥ ४१ ॥

जिस पुरुष में स्नेह बस्ति सम्पूर्ण अथवा अल्प रूप में अन्दर रह जाती है, बाहर नहीं निकलती तथा किसी प्रकार का कोई उपद्रव नहीं करती, यह आवृत स्नेह शरीर के रूक्ष होने से रुका होता है, इसलिये इसकी उपेक्षा करनी चाहिये, किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं करनीचाहिये।

मुक्तस्नेहं द्रवोष्णं च लघुपथ्योपसेवनम्।
भुक्तवान्मात्रया भोज्यमनुवास्यस्त्र्यहत् त्र्यहात् ॥ ४२ ॥
धान्यनागरसिद्धं हि तोयं दद्याद्विचक्षणः।
व्युषिताय निशाः कल्यमुष्णं वा केवलं जलम् ॥ ४३ ॥
स्नेहाजीर्णं जरयति श्लेष्माणं तद्भिनत्ति च।
मारुतस्यानुलोम्यं च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम् ॥ ४४ ॥
वमने वा विरेके च निरूहे सानुवासने।
तस्मादुष्णोदकं सेव्यं वातश्लेष्मप्रशान्तये ॥ ४५ ॥

आवृत स्नेह की चिकित्सा से स्नेह का निःसरण हो जाने पर रोगी को द्रव, उष्ण, लघु पथ्य भोजन मात्रा में देना चाहिये। भोजन देकर तीन तीन दिन के अन्तर से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। पीने के लिये धनिया, सोंठ इनसे षडंग विधि के अनुसार पानी को सिद्ध करके एक रात रखकर प्रातःकाल पीने के लिये देना चाहिये। अथवा केवल गरम जल को ही पीने के लिये देना चाहिये। यह जल स्नेहाजीर्ण को पचाता है, कफ को तोड़ता है, वायु का अनुलोमन करता है, इसलिये गरम पानी देना चाहिये।

वमन में, विरेचन में, निरूह में, अनुवासन में, वात, कफ की शान्ति के लिये गरम पानी पीना चाहिये ।

रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निर्भृशं व्यायामपीडितः ।
वङ्क्षणश्रोण्युदावर्तवातार्ताश्च दिने दिने ॥ ४६ ॥
एषां चाशु जरां स्नेहो यात्यम्बु सिकतास्विव ।
अतोऽन्येषां त्र्यहात्प्रायः स्नेहं पचति पावकः ॥ ४७ ॥
नत्वामं प्रणयेत्स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद्गुदम् ।
सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥ ४८ ॥
न चैव गुदकण्ठाभ्यां दद्यात्स्नेहमनन्तरम् ।
सङ्गतः स ह्युभयतो वातमग्निं च दूषयेत् ॥ ४९ ॥

जो पुरुष नित्य रूक्ष भोजन करते हैं, जिनकी अग्नि प्रदीप्त हों, व्यायाम से पीड़ित (व्यायाम करने वाले), वंक्षण रोग, श्रोणि रोग, उदावर्त्त तथा वात से पीड़ित व्यक्तियों को प्रतिदिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । इन पुरुषों में स्नेह जल्दी से जीर्ण हो जाती हैं । जिस प्रकार कि पानी रेती में जल्दी से सूख जाता है । इनसे अतिरिक्त अन्य पुरुषों में तीसरे दिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । अग्नि स्नेह को जीर्ण करती है । इसलिये आम स्नेह को अनुवासन में नहीं देना चाहिये, यह आम स्नेह गुदा को अभिष्यन्दित कर देता है । क्योंकि पूर्व दिये हुए स्नेह को वायु अवशेष रखती है, क्योंकि वायु कोष्ठ में रहती है । स्नेह गुदा और कण्ठ से बाहर नहीं आता । स्नेह के जीर्ण होने के पीछे तीन तीन दिन के अन्तर से स्नेह देना चाहिये । क्योंकि यदि स्नेह जल्दी जल्दी से दिया जाये तो कण्ठ और गुदा के दोनों पार्श्वों में चिपट कर वायु और अग्नि दोनों को दूषित कर देता है, इसलिये तीन तीन दिन के अन्तर से स्नेह देना चाहिये ।

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ।
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहात्पवनाद्भयम् ॥ ५० ॥

तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः ।
स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत् ॥ ५१ ॥

अकेली स्नेह बस्ति या केवल निरूह बस्ति का ही अभ्यास नहीं करना चाहिये । स्नेह बस्ति के ही अभ्यास से उत्क्लेश तथा अग्नि नाश हो जाता है, निरूह बस्ति के अभ्यास से वायु के प्रकोप का भय है । इस लिये पुरुष को निरूह बस्ति देकर पुनः अनुवासन से स्निग्ध करना चाहिये । अनुवासन देने पर निरूह बस्ति देनी चाहिये । इस प्रकार से स्नेह बस्ति कर्म, शोधन बस्ति कर्म (निरूह बस्ति कर्म) किया जाने पर त्रिदोष नाशक होता है ।

कर्मव्यायामभाराध्वपानस्त्रीकर्षितेषु च ।
दुर्बले वातभग्ने च मात्राबस्तिः सदा मतः ॥ ५२ ॥

कर्म (व्यवहार, चेष्टा), व्यायाम, भार, मुसाफिरी, काम (विषय), स्त्री सम्पर्क से कृश हुए, निर्बल, वायु से पीड़ित व्यक्ति में सदा मात्रा में दी हुई बस्ति हितकारी होती है ।

ह्रस्वायाः स्नेहमात्राया मात्राबस्तिः समो भवेत् ।
यथेष्टाहारचेष्टस्य सर्वकालं निरत्ययः ॥ ५३ ॥
बल्यं सुखोपचर्यं च सुखं सृष्टपुरीषकृत् ।
स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत् ॥ ५४ ॥

ह्रस्व स्नेह मात्रा के समान बस्ति की मात्रा होनी चाहिये । जिस प्रकार स्नेह की ह्रस्व मात्रा में आहार चेष्टा विधि है, वही आहार चेष्टा विधि बस्ति की मात्रा में सब समयों में दोष रहित होती है उसी का सेवन करना चाहिये । स्नेह का मात्रा में प्रयोग करने से बल, सुखोपसेवा, सुखपूर्वक मल का त्याग, बृंहण तथा वात रोग नष्ट होते हैं ।

तत्र श्लोकौ ।

वातादीनां शमायोक्ताः प्रवराः स्नेहबस्तयः ।
तेषां चाज्ञप्रयुक्तानां व्यापदः सचिकित्सिताः ॥ ५५ ॥

प्राग्भोज्यं स्नेहबस्तेर्यद् ध्रुवं येऽर्हाश्च यहाच्च ये ।
स्नेहबस्तिविधिश्चोक्तो मात्राबस्तिविधिस्तथा ॥ ५६ ॥

उपसंहार—वातादि दोषों की शान्ति के लिये उत्तम स्नेह बस्तियां कही हैं । इन बस्तियों के मूर्ख से प्रयुक्त होने पर उत्पन्न रोगों की चिकित्सा कह दी है । स्नेह बस्ति से पूर्व भोज्य, जिनको कि नित्य प्रति बस्ति देनी तथा जिनको तीसरे दिन बस्ति देनी, स्नेह बस्ति की विधि मात्रा बस्ति की विधि को कह दिया है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
स्नेहव्यापदिकीसिद्धिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो नेत्रबस्तिव्यापदिकीं सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे नेत्र बस्ति व्यापादि की सिद्धि की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

अथ नेत्राणि बस्तींश्च शृणु वर्ज्यानि कर्मसु ।
नेत्रस्याज्ञप्रणीतस्य व्यापदः सचिकित्सिताः ॥ ३ ॥

बस्ति कर्म में जिन नेत्र या जिन बस्ति पुटकों का व्यवहार नहीं करना चाहिये, उनको सुनो । मूर्ख से प्रणीत नेत्र से उत्पन्न दोषों को तथा उनकी चिकित्सा को भी सुनो ।

ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम् ।
पार्श्वोच्छ्रितं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ॥ ४ ॥

आठ प्रकार के नेत्र निन्दित हैं । यथा—ह्रस्व, दीर्घ, पतली, मोटी, जीर्ण, शिथिल बंधी हुई, पार्श्व में स्थित और वक्र ये आठ दोष हैं । इन दोष वाले नेत्र त्याज्य हैं ।

अप्राप्त्यतिगतिक्षोभकर्षणक्षणनस्रवाः ।

गुदपीडा गतिर्जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

नेत्र के ह्रस्व होने पर स्नेह की अप्राप्ति (स्नेह नहीं पहुंचता), दीर्घ नेत्र में बस्ति से द्रव बहुत अधिक दूरी तक जाता है, तनु नेत्र से बस्ति में क्षोभ होता है, स्थूल नेत्र से कर्षण (खिंचाव) होता है, जीर्ण नेत्र से गुदा में क्षणन (कटाव) करता है, नेत्र के शिथिल बन्धन होने पर बस्ति से द्रव बहता है । गुदा के पार्श्व में नेत्र के रखने से गुदा में पीड़ा होती है । नेत्र के टेढ़ा होने पर द्रव की कुटिल गति होती है ।

मांसलच्छिद्रविषमस्थूलजालकवातलाः ।
छिन्नः क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तीन् कर्मसु वर्जयेत् ॥ ६ ॥
गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः ।
फेनिलच्युतधार्यत्वं बस्तेः स्याद् बस्तिदोषतः ॥ ७ ॥

बस्ति के दोष—मांसल, स्निग्ध, विषम, स्थूल, जालक (छोटे छोटे छिद्रों वाली), वातल, स्निग्ध, क्लिन्न इन आठ दोष वाले बस्ति पुटक को कार्य में प्रयोग नहीं करना चाहिये । इन दोषों वाली बस्ति के उपयोग से गति विषमता, विस्त्व (आमगन्धित्व), स्राव, दुर्गन्धता, विट् स्राव, फेनिल (झागदार), च्युत तथा रुके रहना ये दोष बस्तिपुटक के दोष से होते हैं ।

सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुत्क्षिप्तकम्पिताः ।
अतिबाह्यगमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः ॥ ८ ॥

प्रणेता (बस्ति देने वाले) के क्रिया दोष से उत्पन्न होने वाले दोष निःशेष बस्ति द्रव्य के होने से वातदान (वायु का पहुंचना), अति द्रुत, उत्क्षेप, तिर्यग्बन्ध, उत्क्षिप्त, हाथ के कम्पन से बस्ति का कांपना, अति बाह्य नेत्र, मन्दवेग और अतिवेग ये आठ दोष होते हैं ।

अनुच्छ्वास्यानुबन्धे वा दत्ते निःशेष एव वा ।
प्रविश्य कुपितो वायुः शूलतोदकरो भवेत् ॥ ९ ॥
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ।

बस्ति पुटक में वायु के शेष रहने से उच्छ्वास या सम्पूर्ण बस्ति के देने से, वायु का अनुबन्ध होने से प्रकुपित वायु शूल, तोद उत्पन्न करती है। इसके लिये अभ्यंग, गुदा में स्वेद तथा वातनाशक खानपान देना चाहिये।

द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा ॥ १० ॥
स्यात्कटीगुदजङ्घार्तिबस्तिस्तम्भोरुवेदनाः ।
भोजनं तत्र वातघ्नं स्नेहाः स्वेदाः सबस्तयः ॥ ११ ॥

जल्दी से बस्ति पुटक को दबाने से बस्ति द्रव्य देने पर, नेत्र के जल्दी से निकालने पर, सहसा उत्क्षिप्त अथवा असहसा उत्क्षिप्त बस्ति से कटि, गुदा, जंघा में वेदना, बस्ति में स्तम्भ और ऊरू में दर्द होता है। इसके लिये वातनाशक भोजन, स्नेहन, स्वेदन और बस्तिकर्म करना चाहिये।

तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बन्धेनापि न गच्छति ।
नेत्रं तदूर्ध्वं निष्कृष्य संशोध्य च पुनर्नयेत् ॥ १२ ॥
पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः ।
उरःशिरोर्तिमूर्वोश्च सदनं जनयेद्बली ॥ १३ ॥
बस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादिफलश्यामादिमूत्रवान् ।

तिरछा बांधने से या द्वार के अवरुद्ध होने से स्नेह या निरूह अन्दर प्रविष्ट नहीं होता। इसके लिये नेत्र को निकालकर साफ़ करके तिरछे बन्धन को खोल कर पुनः ठीक प्रकार से बांधकर बस्ति देनी चाहिये। इस प्रकार से न करने पर यदि दबाकर बस्ति दी जाती है तो सम्पूर्ण द्रव्य के जाने के पूर्व ही छोड़ देने पर बलवान वायु गुदा में कुपित होकर (रुक कर) छाती में दर्द, शिर में दर्द, ऊरुओं में पीड़ा उत्पन्न करती है। इसके लिये बिल्वादि पंचमूल, मदन फल, श्यामादि (अपामार्ग तण्डुलीयोक्त अथवा श्यामा त्रिवृत् आदि नौ द्रव्यों) को, गोमूत्र को अष्ट गुण जल

में क्वाथ करके इसमें स्नेह और लवण मिला कर निरूह बस्ति देनी चाहिये।

स्याद्दाहो दवथुः शोफः कम्पनाभिहते गुदे ॥ १४ ॥
कषायमधुराः शीताः सेकास्तत्र सबस्तयः।

बस्ति पीडन के समय हाथ के कम्पन से गुदा में दाह, दवथु (शोथयुक्त पीड़ा), शोथ और चोट (आघात) हो जाती है। इसके लिये कषाय, मधुर द्रव्यों से, शीतल परिषेक और बस्तिकर्म करना चाहिये।

अतिमात्रप्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद् बलेः ॥ १५ ॥
स्याच्छर्दिदाहनिस्तोदगुरुवर्चः प्रवर्तनम्।
तत्र सर्पिः पिचुः क्षीरं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते ॥ १६ ॥

नेत्र के अति मात्रा में गुदा में प्रविष्ट होने से, गुदा की बलि के क्षणन से (क्षत हो जाने से), वमन, दाह, पीड़ा, भारीपन, मल का आना होता है। इसके लिये घृत का मर्दन, पिचु, दूध और पिच्छा बस्ति उत्तम हैं।

न वा वहति मन्दस्तु बाह्यस्त्वाशु निवर्तते।
स्नेहस्तत्र पुनः सम्यक् प्रणेयः सिद्धिमिच्छता ॥ १७ ॥

मन्दवेग से दबाने पर से द्रव बस्ति बाहर नहीं बहता और अन्दर पहुंचा द्रव्य शीघ्र वापिस आ जाता है। इसके लिये स्नेह बस्ति भली प्रकार से देनी चाहिये।

अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम्।
तत्र बस्तिर्विरेकश्च गलपीडादिकर्म च ॥ १८ ॥

बस्ति पुटक के अति वेग से दबाने पर बस्ति कोष्ठ में ठहर जाती है अथवा गले में पहुंच जाती है। इसके लिये बस्ति, विरेचन, गले का दबाना आदि कर्म करने चाहियें।

तत्र श्लोकः। नेत्रबस्तिप्रणेतॄणां दोषानेतान्सभेषजान्।

वेत्ति तत्त्वेन मतिमान्वस्तिकर्माणि कारयेत् ॥ १९ ॥

उपसंहार—बुद्धिमान् विद्वान् वैद्य को चाहिये कि नेत्र बस्ति के प्रयोग में इन दोषों को तथा इनकी औषध को भली प्रकार से जानकर बस्तिकर्म करना चाहिये ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने नेत्रबस्तिव्यापदिकी-
सिद्धिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे वमन-विरेचन-व्यापत् सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

अथ शोधनयोः सम्यग्विधिमूर्ध्वानुलोमयोः ।
असम्यक्कृतयोश्चैव दोषान्वक्ष्यामि सौषधान् ॥ ३ ॥

ऊर्ध्व अनुलोमन शोधन (वमन विरेचन) की सम्यक् विधि को तथा इनके असम्यग् उपयोग (मिथ्यायोग) से उत्पन्न दोषों को उनकी औषध के साथ कहूंगा ।

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः ।
तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः ॥ ४ ॥

अति उष्ण लक्षणों वाली ग्रीष्म, अतिवर्ष लक्षणों की वर्षा, अति शीत लक्षणों का हिमागम (शिशिर) ये तीन ऋतुयें हैं । इन तीन ऋतुओं के बीच में तीन ऋतुयें हैं यथा न तो बहुत उष्ण न बहुत वर्षा के बीच में प्रावृट्, न बहुत वर्षा और न बहुत शीत के बीच में हेमन्त, न बहुत शीत और न बहुत ग्रीष्म में वसन्त ऋतु है ।

प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः ।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति ॥ ५ ॥

प्रावृट् ऋतु—शुचि (आषाढ़) और नभ (श्रावण) ये दो मास, शरद् ऋतु ऊर्ज (कार्त्तिक) और सहा (मार्गशीर्ष) ये दो मास, वसंत ऋतु तपस्य (फाल्गुन) मधु (चैत्र) ये दो मास हैं। ये तीनों ऋतुयें वमन विरेचन रूपी शोधन क्रिया के लिये उत्तम हैं, शेष ग्रीष्म (वैशाख ज्येष्ठ), वर्षा (भाद्रपद और आश्विन), शिशिर (पौष और माघ) ये तीन ऋतुयें संशोधन के लिये ठीक नहीं हैं। *

एतानृतून्विचिन्त्यैव दद्यात्संशोधनं नृणाम्।
स्वस्थवृत्तिमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ॥ ६ ॥
कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च।
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत, स्नेहाद्यन्ते प्रयोजयेत् ॥ ७ ॥

स्वस्थवृत्त की दृष्टि से इन तीन ऋतुओं में ही पुरुषों को संशोधन देने चाहियें। रोग की अवस्था में रोग के अनुसार प्रावृट्, शरद् और वसन्त इनके मध्य में वर्षा, शिशिर, ग्रीष्म ऋतु में प्रथम स्नेह और स्वेदन देने चाहियें, पीछे से वमन विरेचन आदि कर्म करने चाहियें।

विसर्पपिडकाशोफकामलापाण्डुरोगिणः।
अभिघातविषार्तांश्च नातिस्निग्धान्विरेचयेत् ॥ ८ ॥
नातिस्निग्धशरीराय दद्यात्स्नेहविरेचनम्।
स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद्विरेचनम् ॥ ९ ॥

विसर्प रोग, पिड़का, शोफ, कामला, पाण्डुरोग में अभिघात, विघात (मानसिक विघात) में जो बहुत स्निग्ध न हो उसको विरेचन देना

---

* पीछे न वेगान् धारणीय अध्याय में—माधवप्रथमे मासि, नभस्य प्रथमे पुनः सहस्य प्रथमे चैव हारयेद् दोषसंचयम्। तथा रोगभिषग् जितीय अध्याय में जो संशोधनक्रम बताया है वह रस बल के उत्पत्ति तथा स्वस्थवृत्त की दृष्टि से कहा है। यहां पर जो क्रम कहा है वह संशोधन की दृष्टि से कहा है।

चाहिये। जो रोगी बहुत स्निग्ध न हो उसको स्नेह युक्त विरेचन देना चाहिये। जिस पुरुष का शरीर स्नेह से उक्लिष्ट (भरा हुआ) हो उसको रूक्ष विरेचन देना चाहिये।

स्नेहस्वेदोपपन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम्।
एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते ॥ १० ॥
स्निग्धात्पात्राद्यथा तोयमयत्नेन प्रणुद्यते।
कफादयः प्रणुद्यन्ते स्निग्धाद्देहात्तथौषधैः ॥ ११ ॥
आर्द्रं काष्ठं यथा वह्निर्विष्यन्दयति सर्वतः।
तथा स्निग्धस्य वै दोषान् स्वेदो विष्यन्दयेत्स्थिरान् ॥ १२ ॥
क्षारोत्क्लिष्टो यथा वस्त्रे मलः संशोध्यतेऽम्भसा।
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मलः ॥ १३ ॥

स्नेह स्वेद से उत्पन्न (युक्त) पूर्व दिन के भोजन के जीर्ण होने पर, एकाग्रचित्त से मात्रा में पी हुई संशोधन औषध (वमन विरेचन औषध) सम्यग् योग उत्पन्न करती है (उचित फल देती है) जिस प्रकार कि— तैल या घृतादि के स्नेह से स्निग्ध पात्र से पानी बिना किसी प्रयत्न के सुगमता से बाहर हो जाता है, उसी प्रकार स्निग्ध शरीर में से ओषधियों के द्वारा कफादि दोष सुगमता से बाहर हो जाते हैं। जिस प्रकार कि अग्नि गीली लकड़ी को सम्पूर्ण रूप में शुष्क कर देती है, उसी प्रकार से स्वेद दिये हुए पुरुष के दोषों को विरेचन औषध सम्पूर्ण रूप में नष्ट कर देती है। जिस प्रकार वस्त्र पर लगे मल को क्षार से उत्क्लिष्ट (उभार कर) करके पानी से धोकर साफ़ किया जा सकता है, उसी प्रकार स्नेहन और स्वेदन से दोषों को उत्क्लेशित करके संशोधनों से मलों को धो देना चाहिये।

अजीर्णे वर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चापि जायते।
पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अजीर्ण में (पूर्व आहार के जीर्ण न होने पर) शोधन औषध पीने से ग्लानि उत्पन्न होती है, तथा विबन्ध (शरीर मल की रुकावट) उत्पन्न

हो जाता है और औषध की विपरीत क्रिया होती है, वमन औषध गुदा से विरेचक औषध मुख से बाहर आती है।

अल्पमात्रं महावेगं बहुदोषहरं सुखम्।
लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनम्॥ १५॥
अविकाराविपन्नं च नातिग्लानिकरं च यत्।
गन्धवर्णरसोपेतं विद्यान्मात्रावदौषधम्॥ १६॥

संशोधन द्रव्य के गुण—संशोधन औषध मात्रा में अल्प, महावेग वती, बहुत दोषनाशक, सुखदायक, लघुपाकी, सुख से पीने योग्य, प्रीणन (पुष्टिदायक) रोगनाशक, किसी प्रकार का विकार या विपत्ति को न उत्पन्न करने वाली, अतिशय ग्लानि को जो उत्पन्न न करे, तथा गन्ध, वर्ण, रस से युक्त औषध को मात्रा में समझना चाहिये।

विधूय मानसान्दोषान्कामक्रोधभयादिकान्।
एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते॥ १७॥
नरः श्वो वमनं पाता भुञ्जीत कफवर्धनम्।
सुजरं द्रवभूयिष्ठं लघुशीतं विरेचनम्॥ १८॥
उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेन क्षिप्रं दोषाः स्रवन्ति हि।

मानसिक काम, क्रोध, भय आदि दोषों का त्याग करके एकाग्र मन से पी हुई संशोधन औषध सम्यक् फलदायक होती है। मैं कल अगले दिन वमन औषध पीऊंगा। ऐसा विचार कर मनुष्य को उस दिन कफ वर्धक भोजन खाना चाहिये। जिसे अगले दिन विरेचन लेना हो उसको उस दिन अच्छी प्रकार से जीर्ण होने वाला, द्रवबहुल, लघु, शीतल भोजन करना चाहिये। क्योंकि उत्क्लिष्ट (बाहर निकलने के लिये उन्मुख), अल्प कफ से वमन औषध के द्वारा दोष शीघ्र स्रवित हो जाते हैं।

पीतौषधस्य तु भिषक् शुद्धिलिंगानि लक्षयेत्॥ १९॥
ऊर्ध्वं कफानुगे पित्ते विट्पित्तानुगते त्वधः।
हृतदोषं वदेत्कार्श्यदौर्बल्यं चेत्सलाघवम्॥ २०॥

वामयेत्तु ततः शेषमौषधं न त्वलाघवे ।
स्तैमित्येऽनिलसङ्गे च निरुद्गारेऽपि वामयेत् ॥ २१ ॥
अलाघवादणुत्वाच्च कफस्यापत् परं भवेत् ।
वमिते वर्धते वह्निः शमं दोषा व्रजन्ति हि ॥ २२ ॥
वमितं लङ्घयेत्सम्यग्जीर्णलिङ्गानि लक्षयेत् ।
तानि दृष्ट्वा तु पेयादिक्रमं कुर्यान्न लङ्घनम् ॥ २३ ॥

औषध के पीने पर रोगी में शुद्धि के लक्षणों को देखना चाहिये । ऊर्ध्व संशोधन (वमन) में, पित्त के अनन्तर कफ के आने पर, दोष निकल गया समझना चाहिये । अधःसंशोधन (विरेचन) में विट् (मल) के पीछे पित्त के आ जाने पर दोष का निकलना समझना चाहिये । शरीर में कृशता, दुर्बलता, शरीर की लघुता होने पर शेष वमनौषध को वमन कर देना चाहिये और यदि शरीर में लघुता आदि न हो तो शेष औषध का वमन नहीं करना चाहिये । वमनौषध के देने में स्तिमितता, वायु का अवरोध, औषध के उद्गार न आने पर वमन कराना चाहिये । जब तक शरीर में लघुता तथा कफ का अणु रूप (सूक्ष्म) न हो जाये तब तक शेष वमन औषध का वमन नहीं करना चाहिये । क्योंकि वमन से शेष औषध अग्नि वर्धक होती है । वमन कर चुकने पर पुरुष में अग्नि बढ़ती है, तथा दोष शान्त हो जाते हैं । सम्यग् वमन होने पर रोगी को लंघन कराना चाहिये । औषध के जीर्ण होने पर जीर्ण औषध के लक्षणों को देखना चाहिये । जीर्ण औषध के लक्षणों को देखकर तथा रोगी में बुभुक्षा उत्पन्न होने पर पेयादि क्रम बरतना चाहिये उसको लंघन नहीं करावे ।

संशोधनाभ्यां शुद्धस्य हृतदोषस्य देहिनः ।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥ २४ ॥

संशोधन (वमन, विरेचन) से शुद्ध हो जाने पर, दोषों के निकल जाने से अग्नि मन्द हो जाती है, इसलिये अग्नि को बढ़ाने के लिये पेयादि क्रम बरतना चाहिये ।

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके ।
तर्पणादिक्रमं कुर्यात्पेयाऽभिष्यन्दयेद्धि तान् ॥ २५ ॥

कफ और पित्त के असम्यग् रूप में विशुद्ध होने पर, मद्य पीनेवाले में तथा वात, पित्त में सम्यग् शोधन हो जाने पर तर्पणादि क्रम बरतना चाहिये, इनमें पेयादि क्रम नहीं बरतना चाहिये क्योंकि पेयादि क्रम इनको अभिष्यन्दित कर देती है । पेया के स्थान पर लाज सक्तु, विलेपी के स्थान पर मांस रसोदन देना चाहिये ।

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोर्जो मनस्विता ।
लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिजीर्णौषधाकृतिः ॥ २६ ॥

औषध के जीर्ण होने के लक्षण—वायु का अनुलोमन, स्वस्थता, भूख प्यास की प्रतीति, प्रसन्न चित्त, इन्द्रियों में लघुता, उद्गार की शुद्धि होना जीर्णौषध के लक्षण हैं ।

क्लमो दाहोऽङ्गमर्दश्च भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजा ।
अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥ २७ ॥

औषध के अवशिष्ट रह जाने के लक्षण—शरीर में क्लम, दाह, अंगों में पीड़ा, भ्रम, मूर्च्छा, शिर में वेदना, बेचैनी, बल की हानि ये औषध के अवशिष्ट रह जाने के लक्षण हैं ।

अकालेऽल्पातिमात्रं च पुराणं न च भावितम् ।
असम्यक् संस्कृतं चैव व्यापद्येतौषधं ध्रुवम् ॥ २८ ॥
आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः ।
जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥ २९ ॥
अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः ।

गुणवती औषध को अकाल में, थोड़ी मात्रा में, अति मात्रा में पीने से, पुरातन औषध के पीने से, भावनाहीन या असम्यक् भावना से भावित औषध के पीने से निश्चित रूप में व्यापत्ति होती है ।

प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च ॥ ३० ॥

शुद्धोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमतिबाध्यते ।

औषध के अयोग या अतियोग से आध्मान, परिकर्त्तिका, स्राव, हृदयग्रह, गात्रग्रह, जीव का दान (रक्त का देना), विभ्रंश, स्तम्भ और क्लम तथा उपद्रव ये दश व्यापत्तियां होती हैं। इनका कारण प्रेष्य (भृत्य, उपचारक), औषध और वैद्य की विगुणता इन आपत्तियों का कारण है। क्योंकि शुद्ध और उत्क्लिष्ट (बाहर निकलने के लिये उन्मुख) दोष की हृदय के लिये अप्रिय दुर्गन्ध से चित्त में पीड़ा, ग्लानि, उद्विग्नता होती है।

योगः सम्यक्प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् ॥ ३१ ॥
अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् ।

योग का अर्थ सम्यक् (भली प्रकार से) दोषों का प्रवृत्त होना, अतियोग दोषों का अति मात्रा में प्रवृत्त होना, अयोग, दोषों का प्रतिलोम रूप से (विरेचन औषध का ऊर्ध्व भाग से) अथवा थोड़ी मात्रा में या बिल्कुल प्रवृत्त न होना है।

उत्क्लिष्टश्लेष्म दुर्गन्धमहृद्यं नाति वा बहु ॥ ३२ ॥
विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते ।

जिस समय विरेचन औषध आहार के अजीर्ण होने पर पी जाये, दुर्गन्ध या अहृद्य ओषध अति मात्रा में पी जाये, श्लेष्मा के उत्क्लिष्ट (बाहर निकलने के लिये उन्मुख) होने पर, ओषध के पीने से, विरेचन ओषध, ऊर्ध्व मार्ग से (मुख से वमन रूप में) प्रवृत्त होती है।

क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा ॥ ३३ ॥
तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद्विरेचनम् ॥ ३४ ॥

जिस समय भूख से पीड़ित, मृदु कोष्ठ या स्वल्प कफवाला व्यक्ति, तीक्ष्ण, स्थिर (कठिन) और बेचैनी करने वाली वमन औषध पी लेता है, तब उसको विरेचन हो जाता है।

प्रातिलोम्येन दोषाणां हरणात्ते ह्यकृत्स्नशः ।

अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण यदा गच्छति चाल्पशः ॥ ३५ ॥

प्रतिलोम रूप में दोषों को निकालने से दोष सम्पूर्ण रूप में बाहर नहीं आते । अयोग औषध में दोष थोड़े आते हैं या बिल्कुल बाहर नहीं आते, कठिनाई से बाहर आते भी हैं तो थोड़े बाहर आते हैं । *

पीतौषधो न शुद्धश्चेज्जीर्णे तस्मिन्पुनः पिबेत् ।
औषधं न त्वजीर्णेऽन्यद्भयं स्यादतियोगतः ॥ ३६ ॥

औषध के पीने पर यदि शुद्धि न हो तो औषध के जीर्ण होने पर दूसरी औषध मात्रा पीनी चाहिये । औषध के जीर्ण न हुए बिना अन्य दूसरी मात्रा के पीने से अतियोग होने का भय है ।

कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा लघुत्वं बलमेव च ।
अयोगे मृदु वा दद्यादौषधं तीक्ष्णमेव वा ॥ ३७ ॥
वमनं न तु दुश्छर्दी मृदुकोष्ठे विरेचनम् ।
पाययेतौषधं भूयो हन्यात्पीतं पुनर्हि तौ ॥ ३८ ॥

पुरुष के कोष्ठ की गुरुता एवं लघुता को, बल को जानकर अयोग औषध में मृदु या तीक्ष्ण वमन औषध देनी चाहिये । जिसका बुरी तरह वमन हुआ हो उसको वमन नहीं देना चाहिये और मृदु कोष्ठ को विरेचन औषध (तीक्ष्ण विरेचन) नहीं देना चाहिये । क्योंकि दुष्ट वमन वाले तथा मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति को दी गई औषध इनके लिये खतरनाक होती है ।

अस्निग्धास्विन्नदेहस्य रूक्षस्यानवमौषधम् ।
दोषानुत्क्लिश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद्गदान् ॥ ३९ ॥
विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसो दर्शनं तृषम् ।
पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम् ॥ ४० ॥

अस्निग्ध शरीर या विना स्वेद दिये पुरुष को, अथवा रूक्ष शरीर

* श्रीगंगाधरसेन ने अकृत्स्नशः के स्थान पर अकृच्छ्रतः, कृत्स्नेन के स्थान पर कृच्छ्रेण पाठ पढ़ा है ।

पुरुष को या पुरातन औषध के देने से दर्पों को उत्क्लेश हो जाता है, परन्तु ये दोष बाहर नहीं आते इस लिये नाना रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा विभ्रंशता, शोथ, हिचकी, अन्धकार का दीखना, प्यास, जंघाओं में उद्वेष्टन, कण्डू, ऊरूवों में पीड़ा तथा विवर्णता को उत्पन्न करते हैं।

स्निग्धस्विन्नस्य चात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम्।
शीतैर्वा स्तब्धमामैर्वा दोषानुत्क्लिश्य नाहरेत्॥ ४१॥
तानेव जनयेद्रोगान्नयोगः सर्व एव सः।

स्निग्ध—स्विन्न शरीर पुरुष में अल्पमात्रा में दी गई औषध, प्रबल अग्नि वाले पुरुष में औषध के जीर्ण होने पर, औषध की अपक्व अवस्था में (अजीर्ण में) शीत उपचार करने से स्तम्भन हो जाता है, और औषध दोषों को उत्क्लेशित कर के बाहर नहीं करती। वमन औषध वमन नहीं करती, विरेचन औषध विरेचन नहीं करती। औषध, विभ्रंश शोथ, हिक्का आदि रोगों को उत्पन्न करती है, इस सब को 'नयोग' कहते हैं।

विज्ञाय मतिमांस्तत्र यथोक्तां कारयेत्क्रियाम्॥ ४२॥
तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसङ्करैः।
पाययेत पुनर्जीर्णे समूत्रैर्वा निरूहयेत्॥ ४३॥
निरूढं च रसैर्धन्वैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया॥ ४४॥
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत्।
नचातितीक्ष्णेन ततो ह्यतियोगस्तु जायते॥ ४५॥

इसको देखकर बुद्धिमान् वैद्य को जिस रोग की चिकित्सा कही है, वही चिकित्सा उस रोग की करनी चाहिये। यथा वमन विरेचन के अयोग से युक्त पुरुष को तैल और लवण से अभ्यंग देकर प्रस्तर, संकर स्वेद से स्वेदन देना चाहिये। प्रथम दिन का अहार जीर्ण होने पर प्रातः पुनः वमन या विरेचन पिलाना चाहिये। अथवा गोमूत्र युक्त

निरूह देना चाहिये । निरूह बस्ति देने के पीछे धन्वज मांसरस के साथ भोजन दे कर पीछे से अनुवासन देना चाहिये । अनुवासन के लिये मदनफल, पिप्पली, देवदारु, इसके क्वाथ में, इन्हीं के कल्क से तैल सिद्ध करके अनुवासन देना चाहिये । इस प्रकार स्नेह बस्ति से स्निग्ध पुरुष को पुनः वातहर स्नेह से स्निग्ध करके तीक्ष्ण विरेचन से शोधन करना चाहिये । अति तीक्ष्ण विरेचन नहीं देना चाहिए, इससे अतियोग हो जाता है ।

अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ।
हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् धातून्विस्रावयेद् द्रवान् ॥ ४६ ॥
बलस्वरक्षयं दाहं कण्ठशोषं क्लमं तृषाम् ।
कुर्याच्च मधुरैस्तत्र शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥ ४७ ॥

क्षुधा से पीड़ित, मृदु कोष्ठ व्यक्ति को दी गई अति तीक्ष्ण औषध मल पित्त और कफ को नष्ट करके द्रव रूप धातुओं को शीघ्रता से स्रवित करने लगती है । इससे रोगी का बल क्षय, स्वरक्षय हो जाता है, उसको दाह, कण्ठ शोष, क्लम और तृषा हो जाती है । इसके लिये मधुर औषध देकर शेष औषध को वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिये ।

वमने तु विरेकः स्याद्विरेके वमनं मृदु ।
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तम् ॥ ४८ ॥
कषायमधुरैः शीतैरन्नपानौषधैस्तथा ।
रक्तपित्तातिसारघ्नैर्दाहज्वरहरैरपि ॥ ४९ ॥

वमन के अतियोग होने पर विरेचन, विरेचन के अतियोग होने पर मृदु वमन देना चाहिये । शीतल परिषेक, शीतल अवगाहन वमन, विरेचन को रोक देता है । कषाय मधुर एवं शीतल खान-पान, ओषधियां; रक्तपित्त-नाशक, अतिसार नाशक, दाह-ज्वर नाशक उपचार इनको रोक देते हैं ।

अञ्जनं चन्दनोशीरमजासृक्शर्करोदकम् ।
लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ॥ ५० ॥
शुङ्गाभिर्वा वटादीनां सिद्धां पेयां समाक्षिकाम् ।

वर्चःसांग्राहिकैः सिद्धं क्षीरं भोज्यं च दापयेत् ॥ ५१ ॥
जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यं पिच्छाबस्तिं च दापयेत् ।
मधुरैरनुवास्यश्च सिद्धेन क्षीरसर्पिषा ॥ ५२ ॥
वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः ।
पिबेत्फलरसैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ ५३ ॥

रसांजन, चन्दन, उशीर इनको पीसकर बकरे के रक्त और शर्करोदक में मिला कर इसमें लाजा चूर्णों का मन्थ (सत्तू) घोलकर पीने से विरेचन का अतियोग शान्त होता है । वमन के अतियोग में—शीतल जल से परिषेचन करना चाहिये; तथा अनार-आंवला आदि फलों के रस में लाजादि का सत्तू घोलकर इसमें घृत, मधु और शर्करा मिलाकर पीना चाहिये । विरेचन के अतियोग में भोजन के लिये—वट, पीपल, पारस पीपर, गूलर और जामुन इन पांच कषाय वृक्षों के शुंगों के क्वाथ या कल्क से सिद्ध पेया में मधु मिलाकर पीना चाहिये । अथवा षड्-विरेचन-शताश्रितीयोक्त प्रियंगु आदि दश पुरीषसंग्राहक ओषधियों से सिद्ध दूध या भोजन को देना चाहिये । अथवा जांगल मांसरस के साथ भोजन देना चाहिये; या पिच्छा बस्ति देनी चाहिए । पिच्छा बस्ति देने के पीछे मधुर (जीवनीय) गण से सिद्ध दूध से उत्पन्न घृत से रोगों को अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । *

सोद्गारायां भृशं वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः ।
समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ॥ ५४ ॥
वमतोऽन्तः प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः ।
स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषक्षीररसैर्हिताः ॥ ५५ ॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः ।
निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥ ५६ ॥

---

* पुरीषसंग्राहक—प्रियंगु, अनन्ता, आम्रास्थि, कट्वंग, लोध्र, मोचरस, समंगा, धातकी पुष्प, पद्म, पद्मकेशर ॥

वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम् ।
यवागूं तनुकां दद्यात्स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान् ॥ ५७ ॥

जब उद्गार के साथ वमन का अतियोग हो तथा रोगी को मूर्च्छा आती हो तो धनिया, मुस्ता, मुलहठी, रसौत इनके चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये। वमन करते समय यदि रोगी की जिह्वा अन्तः प्रविष्ट हो जाये (पीछे मुड़ जाये) तो स्निग्ध-अम्ल लवण, हृदय के लिये प्रिय यूष, दूध अथवा मांस रस से कवल (गण्डूष) करने चाहिये। वमन करने वाले रोगी के सामने दूसरे पुरुषों को खट्टे फल खाने चाहिये। यदि वमन करते समय जिह्वा बाहर निकल आये तो जिह्वा पर तिल द्राक्षा के कल्क का लेप करके अन्तःप्रविष्ट कर देना चाहिये। रोगी को वाग्-ग्रह (बोलना बन्द हो जाये), वात रोग हो जाये तो घृत एवं मांस से संस्कृत तनु (पतली) यवागू देनी चाहिये और रोगी को स्नेह और स्वेद देना चाहिये।

वमितश्च विरिक्तश्च मन्दाग्निश्च विलङ्घितः ।
अग्निप्राणविवृद्ध्यर्थं क्रमं पेयादिकं भजेत् ॥ ५८ ॥

जिसको वमन दिया हो, या विरेचन दिया हो, जिसकी अग्नि मन्द हो या जिसने लंघन किया हो, उसकी अग्नि तथा प्राण को बढ़ाने के लिये मण्ड पेया, विलेपी क्रम बरतना चाहिये।

बहुदोषस्य रूक्षस्य हीनाग्नेरल्पमौषधम् ।
सोदावर्तस्य चोत्क्लिश्य दोषान्मार्गान्निरुध्य च ॥ ५९ ॥
भृशमाध्मापयेन्नाभिं पृष्ठपार्श्वशिरोरुजाम् ।
श्वासविण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च दारुणम् ॥ ६० ॥
अभ्यङ्गस्वेदवर्त्यादि सनिरूहानुवासनम् ।
उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते ॥ ६१ ॥

बहुत दोष वाले, रूक्ष शरीर, मन्दाग्नि पुरुष में या उदावर्त्त रोगी में अल्प मात्रा में प्रयुक्त विरेचक औषध दोषों को उत्क्लेशित करके तथा मार्गों

को रोक कर अतिशय आध्मान उत्पन्न करती है; नाभि, पृष्ठ, शिर और पार्श्व में वेदना कर देती है; श्वास-मल-मूत्र और वायु का कठोर (तीव्र) अवरोध उत्पन्न कर देती है। इस आध्मान के लिए—अभ्यंग, स्वेद, फलवर्त्ति निरूह अनुवासन बस्ति, तथा उदावर्त नाशक सम्पूर्ण कर्म करने चाहिये।

स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन सामे बलवदौषधम्।
क्षामेण मृदुकोष्ठेन श्रान्तेनाल्पबलेन वा॥ ६२॥
पीतं गत्वा गुदं साममाशु दोषं निरस्य च।
तीव्रशूलां सपिच्छास्रां करोति परिकर्तिकाम्॥ ६३॥
लंघनं पाचनं सामे रूक्षोष्णं लघुभोजनम्।
बृंहणीयो विधिः सर्वः क्षामस्य मधुरस्तथा॥ ६४॥

परिकर्त्तिका व्यापद्—जिस समय स्निग्ध, गुरू कोष्ठ, या निर्बल, मृदु कोष्ठ, श्रान्त अथवा अल्प बल वाला व्यक्ति अपक्व दोष की अवस्था में बलवान् वमन या विरेचन औषध पी लेता है, तब औषध रोगी की गुदा में पहुंचकर सामदोष को निकाल कर गुदा में पिच्छास्रा एवं तीव्र शूल परिकर्त्तिका (कर्त्तनवत् पीड़ा) को उत्पन्न करती है।

इसके लिए अपक्वावस्था (सामावस्था) में लंघन, दीपन औषध, रूक्ष, उष्ण और लघु भोजन तथा क्षाम (निर्बल) व्यक्ति के लिए बृंहण विधि तथा मधुर रस देना चाहिये।

आमाजीर्णे तु बन्धश्चेत्क्षाराम्लं लघु शस्यते।
पुष्पकासीसमिश्रं वा क्षारेण लवणेन च॥ ६५॥

आम अजीर्ण में यदि विबन्ध हो तो क्षार, अम्ल, लघु भोजन पदार्थ उत्तम है। वात की अधिकता होने पर घृत में पुष्प कासीस, क्षार, लवण अनार का रस मिला कर पीना चाहिए। कई लोग पुष्प कासीस में पुष्प से धातकी पुष्प लेते हैं। *

* क्षार अम्ल शब्द से—"चुक्रिकाकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम्। तद्युक्तक्वथितं पेयम्" इस घृत का ग्रहण चक्रपाणि ने किया है।

सदाडिमरसं सर्पिः पिबेद्वातेऽधिके सति ।
दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाडिमत्वचा ॥ ६६ ॥
देवदारुतिलानां वा कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् ।
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षकदम्बैर्वा शृतं पयः ॥ ६७ ॥
कषायमधुरं बस्तिं पिच्छाबस्तिमथापि वा ।
यष्टीमधुकसिद्धं वा स्नेहबस्तिं प्रदापयेत् ॥ ६८ ॥

भोजन और पीने में—अनार के फल की छाल के चूर्ण को अम्ल दधि में मिलाकर पीना चाहिए । अथवा देवदारू तिल इनके कल्क को गरम पानी से पीना चाहिए । पीपल, गूलर, पिलखन या कदम्ब इनकी त्वचा से सिद्ध दूध को पीना चाहिए । कषाय-मधुर शीतल पिच्छाबस्ति देनी चाहिए, अथवा यष्ठी मधु से सिद्ध अनुवासन वस्ति देनी चाहिए ।

अल्पं तु बहुदोषस्य दोषमुत्क्लिश्य भेषजम् ।
अल्पाल्पं स्रावयेत्कण्डूं शोफकुष्ठानि गौरवम् ॥ ६९ ॥
कुर्याच्चाग्निवधोत्क्लेशस्तैमित्यारुचिपाण्डुताम् ।

बहुत दोष वाले पुरुष में अल्प मात्रा में प्रयुक्त विरेचन औषध दोषों को उत्क्लेशित करके थोड़ी थोड़ी मात्रा में बाहर स्रवित करती है, जिससे अल्प शोफ, भारीपन और कुष्ठ उत्पन्न होता है । इससे अग्निनाश, उत्क्लेश स्तिमिता, अरुचि, पाण्डुता हो जाता है ।

परिस्रावगतं दोषं शमयेद्वामयेदपि ॥ ७० ॥
स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पाययेच्च विरेचनम् ।
शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ॥ ७१ ॥

परिस्राव जनित दोष की शमन चिकित्सा करनी चाहिए और रोगी को वमन देना चाहिए । रोगी को पुनः स्नेहन देकर तीक्ष्ण विरेचन औषध देनी चाहिए । इससे शोधन होने पर चूर्ण, आसव अरिष्ट इनको संस्कृत करके देना चाहिए । (अर्श चिकित्सा में कथित चूर्ण आसव अरिष्ट देने चाहिए) ।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः ।
कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम् ॥ ७२ ॥
सहिक्काश्वासपार्श्वार्तिदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः ।
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान्किटिकिटापयन् ॥ ७३ ॥

रोगी विरेचन औषध पीकर जब उपस्थित मल वेग को रोकता है तब वातादि कुपित होकर हृदय में पहुंच कर तीव्र हृदयग्रह, हिक्का, पार्श्वशूल, कास, दीनता, लालसा व अक्षि विभ्रम को उत्पन्न कर देता है। रोगी अचेत होकर जिह्वा को काटता है, दांतों को कटकटाता है।

न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तं भिषक् ।
मधुरैः पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम ॥ ७४ ॥
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत् ।
कायाग्निं च बलं चास्य क्रमेणाभिविवर्धयेत ॥ ७५ ॥

इसके लिए-जबतक रोगी में विभ्रम (चक्कर आना, मूर्च्छा) न आये, उससे पूर्व तक रोगी को वमन देना चाहिए। पित्तजन्य मूर्च्छा में मधुर द्रव्यों से, कफजन्य मूर्च्छा में कटु द्रव्यों से वमन देना चाहिए। रोगी के शेष दोषों का पाचनीय द्रव्यों से पाचन करना चाहिये। रोगी की जठराग्नि और बल को धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये।

[चक्रपाणि के अनुसार मूर्च्छा में भी अगुल आदि के प्रक्षेप से वमन कराना चाहिये]

पवनेनातिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते ।
तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात्पित्तकफेऽन्यथा ॥ ७६ ॥

अति वमन के कारण जिस रोगी के हृदय में पीड़ा होने लगे, उस रोगी के लिए स्निग्ध अम्ल लवण पदार्थ देने चाहिएं। पित्त और कफ में स्निग्ध अम्ल लवण के विपरीत रूक्ष, तिक्त, कटुकादि पदार्थ देने चाहिये। *

* श्रीगंगाधर पित्त 'कफेऽन्यथा' के स्थान पर 'पित्तकफे तथा' पढ़ते हैं। इससे पित्तकफ में भी स्निग्ध अम्ल लवण पदार्थ देने चाहिए।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा ।
रुद्धोऽति चाविशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः ॥ ७७ ॥
स्तम्भवेपथुनिस्तोदसादोद्वेष्टार्तिमूर्च्छितैः ।
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि कारयेत् ॥ ७८ ॥

वमनौषध पीने पर जब रोगी वमन के वेग को रोक लेता है, तब अविशुद्ध पुरुष में वमन वेग के निग्रह से तथा कुपित कफ के निग्रह से रुकी हुई वायु अंगों को पकड़ (जकड़) लेती है, जिससे स्तम्भन, कम्पन तोद, साद, उद्वेष्टन, मूर्च्छा होती है। इसके लिये वातनाशक सम्पूर्ण कर्म तथा स्नेहन एवं स्वेदन आदि करने चाहिये।

अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम् ।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम् ॥ ७९ ॥

लघु दोष वाले मृदु कोष्ठ व्यक्ति को अति तीक्ष्ण विरेचन औषध देने से औषध दोषों को नष्ट करके जीवन के आधार भूत रक्त को मथकर नष्ट कर देती है (बाहर निकालती है रक्तस्राव होता है)।

तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुंक्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेत् ॥ ८० ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमाधानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं चेत्पित्तं शुद्धं तु शोणितम् ॥ ८१ ॥

रक्तयुक्त विरेचन में जीव रक्त की परीक्षा—विरेचन में जो रक्त बाहर आये उस रक्त को अन्न के साथ मिलाकर कौवे या कुत्ते को खाने के लिए देना चाहिये। यदि कुत्ता या कौआ इस रक्त मिश्रित अन्न को खा लेवे तो जीव रक्त समझना चाहिये। यदि न खाये तो पित्त समझना चाहिये। अथवा—श्वेत वस्त्र को इस रक्त से रंगकर कुछ समय पीछे गरम पानी से धोना चाहिये। धोने से यदि रंग परिवर्तन हो जाये तो पित्त, और धोने पर स्वच्छ श्वेत वस्त्र निकल आये तो रक्त समझना चाहिए।

तृषामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात्क्रियाम् ।

तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या हिता ॥ ८२ ॥

रोगी के तृष्णा, मूर्च्छा, मद से पीड़ित होने पर मरण पर्य्यन्त पित्त नाशक सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा अतियोग में वर्णित क्रिया करना चाहिए। जीवित मृग, गाय, भैंस, बकरी इनके तुरन्त निकाले रक्त को पीना चाहिये। चूंकि जीव (रक्त) सम्पूर्ण रूप से जीव (रक्त) को मिलता है, इसलिये इस जीव को पीने से जल्दी से जीव (रक्त) आ जाता है।

मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ॥ ८३ ॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत्।

मृग, गाय, भैंस आदि के तुरन्त के निकले रक्त को कुशामूल के साथ मलकर बस्ति देनी चाहिये।

श्यामाकाश्मर्यबदरीदूर्वावीरैः शृतं पयः ॥ ८४ ॥
घृतमण्डाञ्जनयुतं बस्तिं शीतं प्रदापयेत्।
पिच्छाबस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ॥ ८५ ॥

श्यामा (निशोथ), काश्मरी, बेर दूर्वा, शतावरी इनके कल्क से चतुर्गुण जल में दूध सिद्ध करके इस दूध में घृत-मण्ड, रसांजन मिलाकर शीतल होने पर बस्ति देनी चाहिये। अथवा पिच्छा बस्ति देनी चाहिये। शीतल घृतमण्ड (घृत के उपरितन स्वच्छ भाग) से अनुवासन देना चाहिये।

गुदभ्रंशं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत्।
सामगन्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत् ॥ ८६ ॥

गुदभ्रंश होने पर—वट, गूलर, पीपल आदि कषाय वृक्षों के वल्कलों के क्वाथ से गुदा को स्तम्भित करके अंतः प्रविष्ट करना चाहिये। संज्ञानाश होने पर सान्त्वना के शब्द, गाना बजाना करना चाहिए।

यदा विरेचनं पीतं विडन्तरवतिष्ठते।
वमनं भेषजान्तं वा दोषानुत्क्लेश्य नावहेत् ॥ ८७ ॥

तदा कुर्वन्ति कन्ड्वादीन्दोषाः प्रकुपिता गदान् ।
सविभ्रंशानतस्तत्र स्याद्यथाव्याधि भेषजम् ॥ ८८ ॥

जिस समय पी हुई विरेचन औषध मल के बीच में रुक जाती है (मूत्र को रोक देती है), अथवा वमन औषध दोषों को उत्क्लेशित करके पी हुई औषध वमन में स्वयं बाहर नहीं आती, तब प्रकुपित हुए दोष कण्डू आदि रोग और विभ्रंश उत्पन्न करते हैं। इन रोगों में रोगानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

पीतं स्निग्धेन सस्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद्धृतम् ।
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात्स्तम्भयेच्च्युतान् ॥ ८९ ॥
वातसङ्गगुदस्तम्भशूलैः क्षरति चाल्पशः ।
तीक्ष्णं बस्तिं विरेकं वा दद्याल्लङ्घनपाचनम् ॥ ९० ॥

स्तम्भ व्यापद्—स्निग्ध पुरुष जब स्नेह युक्त विरेचन औषध पीता है, तब मृदुता के कारण वह औषध दोषों को उनके अपने स्थान से चलायमान नहीं कर सकती, जिससे कि दोष वहीं पर स्तम्भित हो जाते हैं। इससे वायु का अवरोध, गुद स्तम्भ, शूल और थोड़ा-थोड़ा वेदना के साथ मल जाता है। इसके लिये रोगी को प्रथम लंघन कराके फिर पाचनों से दोषों का परिपाक करके तीक्ष्ण निरुह बस्ति या तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिये।

रूक्षं विरेचनं पीतं रूक्षेणाल्पबलेन वा ।
मारुतं कोपयित्वाऽऽशु कुर्याद्घोरानुपद्रवान् ॥ ९१ ॥
स्तम्भशूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु मारुतः ।
स्नेहस्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः ॥ ९२ ॥

उपद्रव व्यापद्—रूक्ष शरीर व्यक्ति या अल्प बल वाला मनुष्य जब रूक्ष विरेचन औषध पीता है, तब औषध वायु को कुपित करके भयंकर उपद्रवों को उत्पन्न करता है। इससे वायु स्तम्भ (जड़ता) तथा तीव्र शूल शरीर में उत्पन्न कर देता है। इसके लिये स्नेहन, स्वेदन और वात नाशक विधि वरतनी चाहिये।

स्निग्धस्य गुरुकोष्ठस्य मृदूत्क्लेश्यौषधं कफम् ।
पित्तं वातं च संरुध्य सतन्द्रागौरवं क्लमम् ॥ ९३ ॥
दौर्बल्यं साङ्गमर्दं च कुर्यादाशु तदुल्लिखेत् ।
लङ्घनं पाचनं चात्र स्निग्धे तीक्ष्णं च शोधनम् ॥ ९४ ॥

क्लम व्यापद्—स्निग्ध और गुरु कोष्ठ व्यक्ति में मृदु वीर्य औषध कफ को प्रकुपित करके पित्त और वायु का अवरोध करके शरीर में तन्द्रा, गौरव और क्लम, दुर्बलता, अंगों में पीड़ा उत्पन्न कर देती है। इसके लिये वमन द्वारा औषध को शीघ्र बाहर कर देना चाहिये। पीछे से लंघन एवं पाचन देकर समय पर स्निग्ध, तीक्ष्ण शोधन देना चाहिये।

तत्र श्लोकौ। इत्येता व्यापदः प्रोक्ताः सरूपाः सचिकित्सिताः।
वमनस्य विरेकस्य कृतस्याकुशलैर्नृणाम् ॥ ९५ ॥
एतान्विज्ञाय मतिमानवस्थाश्चैव तत्त्वतः।
दद्यात्संशोधनं सम्यगारोग्यार्थं नृणां सदा ॥ ९६ ॥

उपसंहार—मूढ़ व्यक्ति से दिये गये वमन या विरेचन से उत्पन्न व्यापत्तियों के लक्षण और चिकित्सा को कह दिया है। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि इनको तथा अवस्थाओं को पूर्ण रूप से जानकर आरोग्यता के लिये पुरुषों को संशोधन देवे।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
वमनविरेचनव्यापीत्सद्धिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो बस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'बस्ति-व्यापत्' सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है। ※

※ यहां पर निरुह बस्ति की व्यापत्तियां कही गई हैं, स्नेह बस्ति की व्यापत्तियां पीछे कह चुके हैं।

धीधैर्यौदार्यगाम्भीर्यक्षमादमतपोनिधिम्।
पुनर्वसुं शिष्यगणः पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ ३ ॥

धी (बुद्धि) धैर्य्यं, औदार्य (उदारता) गाम्भीर्य, शम, दम, तप के निधि पुनर्वसु को विनय से नम्र बने शिष्य गण ने पूछा।

काः कति व्यापदो बस्तेः किं समुत्थानलक्षणाः।
काश्चिकित्सा इति प्रश्नाञ्छ्रुत्वा तानब्रवीद् गुरुः ॥ ४ ॥
नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरूर्ध्वता।
प्रवाहिका शिरोङ्गार्त्तिः परिकर्तः परिस्रवः ॥ ५ ॥
द्वादश व्यापदो बस्तेरसम्यग्योगसंभवाः।
आसामेकैकशो रूपं चिकित्सां च निबोधत ॥ ६ ॥

बस्ति की व्यापत्तियां कितनी है और कौन कौन सी हैं ? इनका कारण और लक्षण क्या है ? और इनकी चिकित्सा क्या है ? इन प्रश्नों को सुनकर गुरू ने कहा।

बस्ति के असम्यग् योग से अतियोग तथा अयोग के कारण बारह व्यापत्तियां होती हैं। यथा क्लम, आध्मान, हिक्का, हृदय घट्ट, कण्ठिका, प्रवाहिका, शिर में पीड़ा, अंगों में पीड़ा, परिकर्त्तिका, परिस्राव, ये व्यापत्तियां होती हैं। इनमें अयोग और अतियोग को मिलाकर बारह व्यापत्तियां होती हैं। कई आचार्य 'द्वादश' के स्थान पर 'दशैता' ऐसा पाठ पढ़कर दस व्यापत्तियां गिनते हैं।

इन व्यापत्तियों में से एक एक के लक्षण और चिकित्सा को सुनो।

गुरुकोष्ठेऽनिलप्राये रूक्षे वातोल्बणेऽपि वा।
शीतोऽल्पलवणस्नेहद्रवमात्रो घनोऽपि वा ॥ ७ ॥

बस्तिः संक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् ।
करोति गुरुकोष्ठत्वं वातमूत्रशकृद्ग्रहम् ॥ ८ ॥
नाभिबस्तिरुजं दाहं हृल्लेपं श्वयथुं गुदे ।
कण्डूगण्डानि वैवर्ण्यमरुचिं वह्निमार्दवम् ॥ ९ ॥

अयोग की चिकित्सा—गुरु कोष्ठ (मल से पूर्ण कोष्ठ) में, वात बहुल, रूक्ष, अथवा वायु का प्रकोप होने पर, शीत अवस्था में अल्प लवण, अल्प स्नेहयुक्त द्रव (तरल) रूप अथवा घन (सान्द्र) बस्ति, दोष को विक्षोभित करके निर्बल होने से बाहर न निकालकर कोष्ठ में भारीपन, वातग्रह, मूत्रग्रह, मलग्रह, नाभिशूल, बस्तिशूल, दाह, हृदय उल्लेप, गुदा में शोथ, शरीर में कण्डू, गालों में विवर्णता, अरुचि तथा अग्नि मार्दव को उत्पन्न करते हैं ।

तत्रोष्णायाः प्रमथ्यायाः पानं स्वेदाः पृथग्विधाः ।
फलवर्त्योऽथवा कालं ज्ञात्वा शस्तं विरेचनम् ॥ १० ॥
बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् ।
सुरादिमूत्रवान् बस्तिः स प्राक् प्रेषितमानयेत् ॥ ११ ॥

इत्ययोगव्यापच्चिकित्सा

इसके लिये अतिसार चिकित्सा में कथित उष्ण प्रमथ्या (पाचन कषाय, दीपन पाचन योग) का पान, नाना प्रकार का स्वेद, फलवर्त्ति (उदावर्त्तोक्त) तथा समय पर विरेचन देना उत्तम है । बिल्वमूल, त्रिवृत देवदारु, जौ, बेर, कुलत्थी इनके कषाय में सुरा गोमूत्र मिलाकर पूर्वोक्त बलादि बस्ति युक्त कल्क से सिद्ध की हुई बस्ति बाहर निकालती है ।

[श्री गंगाधरसेन बिल्वादि कल्क से सुरा गोमूत्र द्रव में सिद्ध बस्ति का प्रयोग करने को कहते हैं । ये बलादि कल्क का उपयोग नहीं करते ।]

स्निग्धस्विन्नेऽतितीक्ष्णोष्णो मृदुकोष्ठेऽतियुज्यते ।
तस्य लिङ्गं चिकित्सां च शोधनाभ्यां समाचरेत् ॥ १२ ॥

अतियोग की चिकित्सा—स्निग्ध एवं स्वेद दिये मृदु कोष्ठ व्यक्ति

में तीक्ष्ण, उष्ण बस्ति अतियोग करती है। इसके लक्षण और चिकित्सा को वमन विरेचन संशोधनों के अतियोग की भांति करना चाहिये।

पृश्निपर्णीं स्थिरां पद्मं काश्मर्यं मधुकोत्पलम्।
पिष्ट्वा द्राक्षां मधूकं च क्षीरे तण्डुलधावने॥ १३॥
द्राक्षायाः पक्वलोष्ट्रस्य प्रसादो मधुकस्य च।
विनीय सघृतं बस्तिं दद्याद्दाहेऽतियोगजे॥ १४॥

इत्यतियोगव्यापच्चिकित्सा।

तण्डुलों को दूध में धोकर इस तण्डुलोदक (दूध) में महुवों को पीसकर अथवा द्राक्षाओं को पीस कर रख देना चाहिये। जब ऊपर दूध रूपी तण्डुलोदक नितर आये तो इसको पृथक् कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से मिट्टी के लोष्ठ को अग्नि में पकाकर इस तण्डूलोदक में भिगोना (निर्वापित) चाहिये। मुलहठी को पीसकर क्षीर तण्डुलोदक में घोल देना चाहिये। फिर नितार लेना चाहिये, शीत कषाय विधि से द्राक्षा आदि का प्रसाद प्राप्त करके इस स्वच्छता भाग में पृश्निपर्णी शालपर्णी, पद्म, काश्मरी, मुलहठी और नीला कमल इन में से किसी एक का कल्क मिला कर घृत मिश्रित करके बस्ति देनी चाहिए। इससे दाह नष्ट होता है।

आमदोषे निरूहेण मृदुना दोष ईरितः।
रुणद्धि मार्गं वातस्य हन्त्यग्निं मूर्च्छयत्यपि॥ १५॥
क्लमं विदाहं हृच्छूलं मोहवेष्टनगौरवम्।
कुर्यात्स्वेदैर्विरूक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपाचरेत्॥ १६॥

क्लम व्यापद्—शरीर में आम दोष होने पर जब दोष हारक मृदु निरूह दिया जाता है, तब वायु प्रकुपित हो जाता है, मार्ग को रोक लेता है तथा अग्नि को मन्द कर देता है। इससे क्लम, दाह, हृदयशूल, मूर्च्छा उद्वेष्टन, गौरव (भारीपन) होता है। इसके लिए पुरुष को विरूक्ष स्वेद तथा पाचन देने चाहिए।

पिप्पलीकत्तृणोशीरदारुमूर्वाश्रृतं जलम्।

पिबेत्सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम् ॥ १७ ॥
वचानागरशट्येला दधिमण्डेन मूर्च्छिताः ।
पेयाः प्रसन्नया वा स्युररिष्टेनासवेन वा ॥ १८ ॥
दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम् ।
पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत्क्षारांश्च दीपनान् ॥ १९ ॥
बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम् ।
समूत्रमथवा व्यक्तलवणं माधुतैलिकम् ॥ २० ॥
इति क्लमव्यापच्चिकित्सा ।

पिप्पली, कत्तृण, खस, देवदारू, मूर्वा इनसे सिद्ध जल में सौवर्चल नमक मिलाकर पीना चाहिये । इससे अग्नि दीपन तथा हृदय का शोधन होता है । वचा, सोंठ, सर्जक्षार, बड़ी इलायची इनके चूर्ण को दधि मस्तु, में भली प्रकार से घोलकर पीना चाहिये । अथवा वचा आदि के चूर्ण को प्रसन्ना या अरिष्ट अथवा आसव में घोलकर पीना चाहिये । देवदारू, त्रिकटु, हरड़, पलाश, चित्रक, कचूर और कुष्ठ इनको पीसकर गोमूत्र के साथ पीना चाहिये । क्लम व्यापत्ति में दशमूल क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर बस्ति देनी चाहिए । अथवा गोमूत्र में लवण सैन्धव को पर्य्याप्त घोलकर या मधु तैलिक बस्ति (आगे कही जाने वाली) देनी चाहिए ।

अल्पवीर्यो महादोषे रूक्षे क्रूराशये कृतः ।
बस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुन्ध्यात्समीरणम् ॥ २१ ॥
स विमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम् ।
विदाहं गुरुकोष्ठस्य मुष्कवङ्क्षणवेदनाम् ॥ २२ ॥
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति ।

आध्मान व्यापद्—क्रूर कोष्ठ तथा महादोष वाले पुरुष में अल्प वीर्य तथा रूक्ष बस्ति महादोष के कारण आवृत होकर वायु की ऊर्ध्व या अधोगति को रोक देती है । इससे वायु विमार्ग में जाकर मर्मों में पीड़ा तथा आध्मान को करती है । गुरु कोष्ठ रोगी में विदाह तथा मुष्कों

(अण्ड कोषों) में पीड़ा, वंक्षण में पीड़ा करती है, हृदय को रोक देती है, शूल करती है और इधर उधर भागती है।

फलश्यामादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः ॥ २३ ॥
धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्।
कराङ्गुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत् ॥ २४ ॥
स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे।
अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम् ॥ २५ ॥

कल्पस्थानोक्त श्यामा, मदनफलादि नौ द्रव्यों से (अथवा अपामार्ग तण्डुलीयोक्त त्रिफला इत्यादि), सैन्धव लवण, पिप्पली, कूष्ठ, सरसों, गृहधूम (घर का धुंवासा), उड़द, वच, किण्व, यवक्षार तथा वर्त्ति योग्य प्रमाण में गुड़ मिलाकर हाथ के अंगुष्ठ के समान स्थूल, जौ के आकार की मध्य में से मोटी और किनारों से पतली वर्त्ति बनानी चाहिये। रोगी के सम्पूर्ण शरीर पर तैल का अभ्यंग करके स्निग्ध गुदा में तैल से स्निग्ध वर्त्ति को प्रविष्ट करना चाहिये। अथवा सैन्धव लवण, गृहधूम, श्वेत सरसों इनसे बनी वर्त्ति को पूर्व की भांति गुदा में प्रविष्ट करना चाहिये।

बिल्वादिना निरूहः स्यात्पीलुसर्षपमूत्रवान्।
सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम् ॥ २६ ॥

इत्याध्मानव्यापच्चिकित्सा

बिल्वादि पंचमूल के क्वाथ में पीलु, सरसों का कल्क और गोमूत्र मिलाकर निरूह देना चाहिये। सरल काष्ठ, देवदारु इनके कल्क से चतुर्गुण जल में सिद्ध तैल से अनुवासन देना चाहिये। *

मृदुकोष्ठेऽबले बस्तिरतितीक्ष्णोऽतिनिर्हरन्।
कुर्याद्धिक्कादिकं तत्र हिक्काघ्नं बृंहणं च यत् ॥ २७ ॥

* चक्रपाणि ने बिल्वादि मूल से बिल्व मूल, त्रिवृत्, दारु, यव, कोल, कुलत्थी ये पूर्वोक्त क्वाथ लिया है।

निर्बल शरीर और मृदु कोष्ठ व्यक्ति में अति तीक्ष्ण बस्ति के देने के कारण दोषों के अति मात्रा में निकलने से हिक्का आदि आपत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। इसके लिये हिक्का नाशक औषध तथा बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये।

बलास्थिरादिकाश्मर्यत्रिफलागुडसैन्धवैः।
सप्रसन्नारनालाम्लैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् ॥ २८ ॥

कल्कार्थ—बला, स्थिरा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, काश्मरी, त्रिफला, गुड़ और सैन्धव लवण, क्वाथार्थ—प्रसन्ना और आरनाल (तैल से प्रत्येक द्विगुण मिलित चतुर्गुण) लेकर इनमें तैल सिद्ध करके अनुवासन देना चाहिये।

कृष्णालवणयोरक्षं पिबेदुष्णाम्बुना युतम्।
धूमलेहरसक्षीरस्वेदाश्चान्नं च वातनुत् ॥ २९ ॥

इति हिक्काव्यापच्चिकित्सा।

पिप्पली की एक कर्ष मात्रा को सैन्धव लवण में मिलाकर गरम पानी से पीना हितकारी है। वातनाशक धूम, लेह, रस (मांस रस), दूध, स्वेद और अन्न सब हितकारी हैं।

अतितीक्ष्णः सवातो वा न वा सम्यक् प्रपीडितः।
घट्टयेद्हृदयं बस्तिस्तत्र काशकुशोत्कटैः ॥ ३० ॥
स्यात्साम्ललवणस्कन्धकरीरबदरीफलैः।
श्रृतैर्बस्तिर्हितः सिद्धं वातघ्नैश्चानुवासनम् ॥ ३१ ॥

इति हृत्प्राप्तिव्यापच्चिकित्सा।

हृदय घट्ट अति तीक्ष्ण बस्ति को निःशेष रूप में, वातयुक्त बस्ति से, अथवा सम्यक् रूप में बस्ति का पीड़न न करने से, हृदय में तीव्र घट्टन होता है, रोगी में कास, क्षणन (हिंसन) होता है। इसके लिये करीर फल, बेर के फल के श्रृत कषाय में रोग भिषग्जितीय अध्याय में कथित अम्लस्कन्ध, लवणस्कन्ध मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। वातघ्न

(दशमूलादि या भद्रदारु आदि) द्रव्यों से सिद्ध तैल से अनुवासन देना चाहिये ।

वातमूत्रपुरीषाणां दत्ते वेगान्निगृह्णतः ।
अतिप्रपीडितो बस्तिर्मुखेनायाति वेगवान् ॥ ३२ ॥

कण्ठिकाव्यापद्—बस्ति के देनेपर जब मनुष्य वायु, मूत्र और मल के उपस्थित वेगों को रोक लेता है, अथवा अति प्रपीड़न (बहुत दबाव) से दी गई वेगवती बस्ति मुख में आ जाती है, इससे मूर्च्छा उत्पन्न होजाती है ।

मूर्च्छाविकारं तस्यादौ दृष्ट्वा शीताम्बुना मुखम् ।
सिञ्चेत्पार्श्वोदरं चाधः प्रमृज्याद्वीजयेच्च तम् ॥ ३३ ॥
केशेष्वाकृष्य चाकाशे धनुषा त्रासयेच्च तम् ।
गोखराश्वगजैः सिंहै राजप्रेष्यैस्तथोरगैः ॥ ३४ ॥
उल्काभिरेवमन्यैश्च बस्तिमस्यानयेदधः ।
वस्त्रपाणिग्रहैः कण्ठं रुन्ध्यान्न म्रियते यथा ॥ ३५ ॥
प्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गगः ।
अपानः पवनो बस्तिं तमाश्वेवापकर्षति ॥ ३६ ॥
ततः क्रमुककल्कात्तं पाययेताम्लसंयुतम् ।
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात्सरत्वाच्च बस्तिं चास्यानुलोमयेत् ॥ ३७ ॥

इस 'कण्ठिका' व्यापद् में सब से प्रथम शीतल जल से रोगी के मुख का सिंचन करना चाहिये । पार्श्व और उदर (पेट) को नीचे की ओर मलना चाहिये, रोगी को पंखे से वायु करनी चाहिये, बालों से पकड़ कर आकाश में (भूमि पर पांव न टिकें) हिलाना चाहिये, रोगी को भय दिखाना चाहिये । इसके लिये गाय, गधा, घोड़ा, हाथी, सिंह, राजभृत्य (सिपाही), सांप, उल्का तथा अन्य भयोत्पादक वस्तुओं से भय दिखाकर ऊर्ध्व पहुंची बस्ति को नीचे लाना चाहिये । रोगी के गले में वस्त्र इस प्रकार से बांधना चाहिये अथवा हाथों से इस प्रकार गला घोटना चाहिये, जिससे कि रोगी न मरे । क्योंकि इस प्रकार से प्राण और उदान के रुक जाने पर

अपान वायु अपने प्रसिद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वस्ति की ऊर्ध्व गति को रोक कर शीघ्रता से नीचे की ओर प्रवृत्त करता है। बस्ति के अधोगामी हो जाने पर क्रमुक (सुपारी) के कल्क की कर्ष मात्रा को अम्ल में मिला कर पिलाना चाहिये। हे सोम्य ! यह क्रमुक कल्क उष्ण होने से, रूक्ष होने से, सर होने से बस्ति का अनुलोमन करता है।

पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः।
यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितः॥ ३८॥
विल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो बस्तिरुरःस्थिते।
शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः॥ ३९॥
इत्यूर्ध्वव्यापच्चिकित्सा।

ऊर्ध्वं—जब बस्ति ऊर्ध्वभाग से नीचे को आकर पक्वाशय में स्थित होजाये तब स्वेद देकर दशमूल के क्वाथ से निरूह देना चाहिये। यव, कोल (बेर), कुलत्थी इनको गोमूत्र में सिद्ध करके निरूह देना चाहिये। यदि बस्ति उरस् (छाती) में स्थित हो जाये तब बिल्वादि पंचमूल से सिद्ध निरूह बस्ति देनी चाहिये। बस्ति शिर में स्थित हो तो नावन (नस्य), धूम तथा शिर पर सरसों के कल्क का लेप करना चाहिये।

स्निग्धस्विन्ने महादोषे बस्तिर्मृद्वल्पभेषजः।[1]
उत्क्लेश्याल्पं हरेद्दोषं जनयेच्च प्रवाहिकाम्॥ ४०॥
श्वयथुं बस्तिपायवोश्च जङ्घोरुसदनं तथा।
निरुद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्णं संप्रवाहते॥ ४१॥
स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान्।
विदध्याल्लङ्घयित्वा तु वृत्तिं कुर्याद्विरिक्तवत्॥ ४२॥
इति प्रवाहिकाव्यापच्चिकित्सा

प्रवाहिका—महादोष वाले, स्निग्ध, स्विन्न रोगी को मृदुवीर्य अल्प भेषज बस्ति दोष को उत्क्लेशित करके दोष को थोड़ा बाहर

१. 'कट्वम्लभेषजः' इति पा०।

करती है, जिन से प्रवाहिका उत्पन्न होती है । बस्ति और पायु में शोथ, जंघा और ऊरु में पीड़ा, वायु का अवरोध, बार-बार प्रवाहिका होती है । इस प्रवाहिका में शोधनीय, आनुलोमिक निरूह देने चाहियें, अथवा लंघन कराके विरेचन दिये हुए के समान क्रिया करनी चाहिये ।

दुर्बले तीव्रदोषे च क्रूरकोष्ठे तनुर्मृदुः ।
शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैर्बस्तिस्तद्विहतोऽनिलः ॥ ४३ ॥
गात्राण्यनुसरन् मार्गे ऊर्ध्वमूर्ध्वं विधावति ।
ग्रीवां मन्ये च गृह्णाति शिरः कण्ठं भिनत्ति च ॥ ४४ ॥
बाधिर्यं कर्णनादं च पीनसं नेत्रविभ्रमम् ।
कुर्यादभ्यञ्जनं तैललवणेन यथाविधि ॥ ४५ ॥
युञ्ज्यात्प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरास्यविरेचनैः ।
तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्विन्नं भुक्तेऽनुवासयेत् ॥ ४६ ॥ *

इति शिरःशूलव्यापच्चिकित्सा

शिरःशूल व्यापद्—क्रूर-कोष्ठ, दुर्बल तथा तीव्र दोष वाले व्यक्ति में तनु, मृदु, शीतल, अल्प निरूहबस्ति दोषों से आवृत होकर, आवृत बस्ति से निरूह वायु शरीर के अन्दर फैलती हुई ऊर्ध्व मार्ग में दौड़ती है । यह वायु ग्रीवा और मन्या को स्तम्भित करके, शिर और कण्ठ को विदीर्ण करती है, कानों में बधिरता, कर्णनाद, पीनस, नेत्र-विभ्रम को उत्पन्न करता है । कुछ गरम तैल लवण से पुरुष को अभ्यंग देकर यथाविधि प्रधमन धूम तथा अन्य नस्यों से शिरोविरेचन करना चाहिये । रोगी को स्वेद देकर अन्न के भोजन कर चुकने पर तीक्ष्ण आनुलोमिक तैल से अनुवासन देना चाहिये ।

विरेचनैर्निरूहैश्च बस्तिभिश्चानुलोमिकैः ॥ ४७ ॥
सुस्विन्नस्निग्धदेहस्य यस्य बस्तिर्विधीयते ।
अतितीक्ष्णो गुरुश्चैव सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् ॥ ४८ ॥

* पाठान्तरं—अभ्यज्य विधिना सम्यक् स्निग्धं कायं ततः परम् ।

स्नुतेषु तस्य दोषेषु निरूढस्यातिमात्रशः ।
स्तब्धोदावृत्तकोष्ठस्य वायुः संप्रतिहन्यते ॥ ४९ ॥
विलोमनसमुद्भूतो रुजत्यङ्गानि देहिनः ।
गात्रवेष्टननिस्तोदभेदस्फुरणजृम्भणैः ॥ ५० ॥
तं तैललवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्णवारिणा ।
एरण्डपत्रनिष्क्राथैः प्रस्तरैश्चोपपादयेत् ॥ ५१ ॥
यवान्कुलत्थान्कोलानि पञ्चमूले तथोभये ।
जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च ॥ ५२ ॥
कुर्यात्सबिल्वतैलोष्णलवणेन निरूहणम् ।
निरूहेण समाश्वस्तं द्रोण्यां तमवगाहयेत् ॥ ५३ ॥
ततो भुक्तवतस्तस्य कारयेदनुवासनम् ।
यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा भिषक् ॥ ५४ ॥

इत्यङ्गशूलव्यापच्चिकित्सा ।

अंगशूल व्यापद्—पुरुष को स्नेहन और स्वेदन देकर गुरु तीक्ष्ण द्रव्यों से अति मात्रा में दी गई बस्तियों अथवा बहुत अधिक मात्रा में दी गई बस्ति, स्तब्ध तथा उदावृत्त कोष्ठ वाले पुरुष के स्रोतों में वायु अवरुद्ध होकर, अंगों में वेदना उत्पन्न करती है । अंगों में ऐंठन, चुभन, फूटन, फुरन और जंभाई आदि उपद्रव होते हैं । इसके लिये रोगी को तैल लवण से अभ्यंग देकर गरम पानी से या प्रस्तर-स्वेद से, अथवा एरण्डपत्रों के क्वाथों से स्वेद देना चाहिये । जौ, कुलत्थी, बेर को दशमूल के साथ दो आढ़क जल में पकाकर एक चौथाई जल रहने पर उसमें बिल्व तैल मिश्रित लवण मिलाकर निरूह देना चाहिये । कवोष्ण तैल-द्रोणी में अवगाहन करके स्विन्न होने पर भोजन के उपरान्त रोगी को मुलहठी, महुआ के तैल वा बिल्व तैल से अनुवासन देना चाहिये ।

मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य रूक्षतीक्ष्णोऽतिमात्रवान् ।
बस्तिर्दोषान्निरस्याशु जनयेत्परिकर्तिकाम् ॥ ५५ ॥

त्रिकवङ्क्षणबस्तीनां तोदं नाभेरधो रुजम् ।
विबन्धाल्पाल्पमुत्थानं गुदनिर्लेखनं भवेत् ॥ ५६ ॥
स्वादुशीतौषधैस्तत्र पय इक्ष्वादिभिः शृतम् ।
यष्ट्याह्वतिलकल्काभ्यां बस्तिः स्यात्क्षीरभोजिनः ॥ ५७ ॥
ससर्जरसयष्ट्याह्वजिङ्गिनीकर्दमाञ्जनम् ।
विनीय दुग्धे बस्तिः स्यात्तिक्ताम्लमृदुभोजिनः ॥ ५८ ॥

इति परिकर्तव्यापच्चिकित्सा ।

परिकर्त्तिका व्यापद्—अल्प दोष वाले तथा मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति में रूक्ष, तीक्ष्ण बस्ति, अति मात्रा में दिये जाने पर दोषों को शीघ्रता से नष्ट करके परिकर्त्तिका को उत्पन्न करती है। इससे त्रिक, वंक्षण और बस्ति में तोद, नाभि से निचले भाग में वेदना, विबन्ध, मल का थोड़ा, थोड़ा, बार-बार आना, गुदा का निर्लेखन (किंचित् चर्म-विदारण), होता है। इसके लिये स्वादु शीतल औषध द्रव्यों से, इक्षु, काश, कुश, शार, दर्भ इनमे श्रृत दूध हितकारी है। क्षीर मात्र (केवल दूध) भोजन करने वाले को मुलहठी, तिल के कल्क से युक्त बस्ति देनी चाहिये। दूध में सर्ज रस, मुलहठी, जिंगन का गोंद, कर्दम (कीचड़), रसांजन इन को कल्क बना कर दूध में घोलकर बस्ति देनी चाहिये, भोजन में तिक्त और अम्ल रस देना चाहिये।

पित्तरक्तेऽम्ल उष्णो वा तीक्ष्णो वा लवणोऽथ वा ।
बस्तिर्गुदं विलिखति तीक्ष्णोऽतिविदहत्यपि ॥ ५९ ॥
स विदग्धः स्रवत्यस्रं पित्तं चानेकवर्णवत् ।
बहुधा ह्यतिवेगेन मोहं गच्छति चासकृत् ॥ ६० ॥

परिस्राव व्यापद्—पित्त, रक्त की अधिकता होने पर, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण, लवणयुक्त बस्ति गुदा में विलेखन चिराव कर देती है, अथवा तीक्ष्ण बस्ति, पित्त और रक्त को विदाह करती है। विदग्ध पित्त और रक्त

अनेक प्रकार के वर्णों में गुदा से स्रवित होता है। इसके अति वेग के कारण रोगी बार बार मूर्च्छित हो जाता है।

आर्द्रशाल्मलिवृन्तैस्तु क्षुण्णैराजं पयः शृतम्।
सर्पिषा योजितं शीतं बस्तिमस्मै प्रदापयेत्॥ ६१॥
वटादिपल्लवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च।
सुवर्चलोपोदिकयोः कर्बुदारे च शस्यते॥ ६२॥
गुदे सेकाः प्रदेहाश्च शीताः स्युर्मधुराश्च ये।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते॥ ६३॥

इति परिस्रवव्यापच्चिकित्सा।

चिकित्सा—सिम्बल के आर्द्र (गीले) वृन्तों को कूटकर इनके अष्टमांश कल्क से चतुर्गुण जल में बकरी का दूध सिद्ध करके, इस दूध में घृत मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। बरगद, गूलर, पीपल, पिलखन, जामुन इनके नूतन कोमल पत्तों के कल्क से दूध सिद्ध करके घृत मिला कर बस्ति देनी चाहिये। अथवा तिलों* के कल्क से साधित दूध में घृत मिला कर बस्ति देनी चाहिये। सुवर्चला (सूर्यभक्ता, हुलहुल), उपोदिका (पोदीना) इनके कल्क से बकरी का दूध सिद्ध करके इसमें घृत मिला कर बस्ति देनी चाहिये। कर्बुदार (लाल कचनार) की छाल के कल्क से बकरी का दूध सिद्ध करके घृतयुक्त बस्ति देनी चाहिये। गुदा में मधुर और शीतल परिषेक, प्रलेप लगाने चाहियें, तथा रक्त-पित्त-नाशक और अतिसार-नाशक क्रिया करनी चाहिये।

तत्र श्लोकाः।

इत्येता व्यापदः प्रोक्ता बस्तेः साकृतिभेषजाः।
बुद्ध्वा कार्त्स्न्येन तान् बस्तीन्नियुञ्जन्नापराध्यति॥ ६४॥
तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः।

---

* कविराज श्री गंगाधरसेन 'पंचतिलेषु' से कृष्णादि भेद से पांच प्रकार के तिल मानते हैं।

प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा ॥ ६५ ॥

आपादतलमूर्ध्वस्थान्दोषान् पक्वाशये स्थितः ।

उपसंहार—इस प्रकार से बस्ति की व्यापत्तियों के लक्षण और चिकित्सा कह दी है । इन व्यापत्तियों को सम्पूर्ण रूप में जानकर बस्ति का प्रयोग करने में भूल नहीं होती । तीक्ष्ण बस्ति के देने का समय हो तो गोमूत्र, मस्तु, लवण, क्षार (यवक्षार), सरसों से बस्ति को तीक्ष्ण बना कर देना चाहिये । मृदु वीर्य बस्ति के देने का अवसर हो तो दूध आदि से बस्ति को मृदु बना कर प्रयोग करना चाहिये ।

वीर्येण बस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसानिव ॥ ६६ ॥

यद्वत्कुसुम्भसंमिश्रात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।

तद्वद्द्रवीकृतात्कायान्निरूहो निर्हरेन्मलान् ॥ ६७ ॥

बस्ति का प्रभाव—बस्ति अपने वीर्य (शक्ति) के सामर्थ्य से पांव के तलुए से लेकर शिर तक स्थित सब दोषों को तथा पक्वाशय स्थित दोषों को विशेष रूप से ग्रहण कर लेती है, जिस प्रकार कि आकाश में स्थित सूर्य पृथ्वी के रसों को खींच लेता है जिस प्रकार कि कुसुम्भ (कुसुम्भिया) मिश्रित पानी में से वस्त्र रंग को ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार स्नेह स्वेद से द्रव रूप बने शरीर से निरूह बस्ति मलों को बाहर निकाल लेती है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
बस्तिव्यापदिकी सिद्धिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः प्रासृतयोगिकां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे प्रासृतयोगिक सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

अथेमान्सुकुमाराणां निरूहान् स्नेहनान्मृदून् ।
कर्मणा विप्लुतानां च वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक् ॥ ३ ॥

सुकुमार (नाज़ुक) प्रकृति तथा कर्मों से विप्लुत पुरुषों के लिये मृदु निरूह और मृदु स्नेहों को प्रसृत (दो पल मात्रा) परिमाण से पृथक् कहता हूं ।

क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलघृतात्त्रयः ।
खजेन मथितो बस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत् ॥ ४ ॥

दूध २ प्रसृत (४ पल, एक कुड़व), मधु १ प्रसृत, तैल १ प्रसृत, घृत १ प्रसृत इस प्रकार से तीन प्रसृत लेकर मन्थन दण्ड से मथकर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति वातनाशक, बलकारक और वर्णकारक है ।

एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम् ।
बिल्वादिमूलक्वाथाद् द्वौ कौलत्थाद् द्वौ स वातनुत् ॥ ५ ॥

तैल १ प्रसृत, प्रसन्ना १ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घृत १ प्रसृत ये चार प्रसृत, बिल्वादि पंचमूल का क्वाथ दो प्रसृत, कुलत्थी का क्वाथ दो प्रसृत इस प्रकार आठ प्रसृत लेकर खज से मथकर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति वातरोगनाशक है ।

पञ्चमूलरसात्पञ्च द्वौ तैलात्क्षौद्रसर्पिषोः ।
एकैकः प्रसृतो बस्तिः स्नेहनीयोऽनिलापहः ॥ ६ ॥

बिल्वादि पंचमूल का क्वाथ पांच प्रसृत, तैल दो प्रसृत, मधु एक प्रसृत, घृत एक प्रसृत इन नव प्रसृत बस्ति को खज से मथकर प्रयोग करना चाहिये । यह बस्ति स्नेहनीय और वातनाशक है ।

सैन्धवार्धाक्ष एकैकः क्षौद्रतैलपयोघृतात ।
प्रसृतौ हपुषाख्याच्च निरूहः शुक्रकृत्परः ॥ ७ ॥

सैन्धव लवण आधा अक्ष (एक तोला), मधु एक प्रसृत, तैल एक प्रसृत, दूध १ प्रसृत, घृत १ प्रसृत, हवुषा (हऊबेर, छोटी कटेरी का

क्वाथ करके) दो प्रसृत, मधु दो प्रसृत इनको खज से मथकर निरूह देना है। यह बस्ति अति शुक्रकारक है।

पटोलनिम्बभूनिम्बरास्नासप्तच्छदाम्भसः।
चत्वारः प्रसृता एको घृतात्सर्षपकल्कितः॥ ८॥
निरूहः पञ्चतिक्तोऽयं मेहाभिष्यन्दकुष्ठनुत्।
विडङ्गत्रिफलाशिग्रुफलमुस्ताखुपर्णिकात्॥ ९॥
कषायात्प्रसृतोः पञ्च तैलादेको विमथ्य तान्।

पटोल, चिरायता, नीम की छाल, रास्ना और सप्तपर्ण इन पांचों का मिलित क्वाथ ४ प्रसृत, घृत १ प्रसृत और सरसों का कल्क योग्य मात्रा (एक पल मात्रा) में मिला कर खज से मथकर निरूह देना चाहिये। यह पंच तिक्त निरूह प्रमह, अभिष्यन्द और कुष्ठ का नाशक है। ❀

विडङ्गपिप्पलीकल्को निरूहः क्रिमिनाशनः॥ १०॥

वायविडंग, त्रिफला, शिग्रु (शोभांजन), मदनफल, मुस्ता, आखुपर्णी (दन्ती) इनको अष्टगुण जल में पका कर चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। यह क्वाथ पांच प्रसृत, तैल १ प्रसृत लेकर खज से मथकर वायविडंग, पिप्पली का कल्क उचित मात्रा में मिलाकर किया हुआ निरूह कृमिनाशक है।

[जलपकल्पतरु के अनुसार वायविडंग, शिग्रु, मदनफल, मुस्ता, दन्ती इन पांचों में प्रत्येक का कषाय पृथक् करना चाहिये, ये पांच प्रसृत (एक एक प्रसृत), त्रिफला का क्वाथ एक प्रसृत, तैल एक प्रसृत लेकर बस्ति देनी चाहिये।]

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम्।
एकैकः प्रसृतो बस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत्॥ ११॥

❀ अष्टांगसग्रह में चिरायता के स्थान पर करंज है और पंचतिक्त शब्द से नीम, गिलोय, वासा, पटोल, छोटी कटेरी इन पांच का कल्क मिलाने का 'इन्दु' ने निर्देश किया है।

पयस्या (क्षीर काकोली) का क्वाथ एक प्रसृत, इक्षु रस १ प्रसृत, शालपर्णी क्वाथ १ प्रसृत, रास्ना क्वाथ १ प्रसृत, विदारी कन्द का रस १ प्रसृत, मधु १ प्रसृत, घृत १ प्रसृत इन सात प्रसृतों को एक करके इसमें पिप्पली का कल्क मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति वृष्य है।

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकान्।
प्रसृताः सर्षपैः पिष्टैर्विट्सङ्गानाहभेदनः ॥ १२ ॥

तैल, गोमूत्र, दधिमस्तु, अम्ल कांजि प्रत्येक एक एक प्रसृत मिलित चार प्रसृत लेकर इसमें सरसों का कल्क मिला कर बस्ति देने से मल का अवरोध और आनाह नष्ट होता है।

श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्डरसात्तैलात्सुरासवात्।
प्रसृताः पञ्च यष्ट्याह्वात्कौन्ती मागधिका सिता ॥ १३ ॥
कल्को बस्तिस्तु सानाहे मूत्रकृच्छ्रे परो मतः।
एते सलवणाः कोष्णा निरूहाः प्रसृता नव ॥ १४ ॥

गोखरू, पाषाण भेद, ऐरण्ड तीनों का मिलित क्वाथ एक प्रसृत, तैल एक प्रसृत, सुरा एक प्रसृत, आसव एक प्रसृत, मुलहठी का क्वाथ एक प्रसृत इस प्रकार से पांच प्रसृत लेकर इसमें कौन्ती (रेणुका) पिप्पली और मिश्री का कल्क मिला कर बस्ति देनी चाहिये। [अष्टांगसंग्रह के मत से कवोष्ण बस्ति देनी चाहिये]। यह बस्ति आनाह, मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करती है।

इन नौ प्रसृतयोगों में अनुक्त सैन्धव लवण मिला कर थोड़ा गरम करके निरूह देना चाहिये।

मृदुबस्तौ जडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो बस्तिरिष्यते।
तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्वादु प्रत्यास्थापनमिष्यते ॥ १५ ॥

जिस पुरुष में मृदु वीर्य बस्ति जड़ हो जाये उसमें अन्य तीक्ष्ण बस्ति देनी चाहिये। तीक्ष्ण बस्तियों से कृश हुए पुरुष में स्वादु (मधुर,

शीत, स्निग्ध, मृदु] निरूह बस्ति से प्रति-आस्थापन करना चाहिये ।

वातोपसृष्टस्योष्णैः स्युर्गुददाहादयो यदि ।
द्राक्षाम्बुना त्रिवृत्कल्कं दद्याद्दोषानुलोमनम् ॥ १६ ॥
तद्धि पित्तशकृद्वातान् हृत्वा दाहार्तिकाञ्जयेत् ।
शुद्धश्चापि पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥ १७ ॥

वात से युक्त पुरुष में यदि उष्ण द्रव्यों की बस्ति से दाह और पीड़ा होजायें तो मुनक्के के रस-क्वाथ में त्रिवृत् का कल्क मिलाकर पीना चाहिये, इससे दोषों का शोधन होता है । ❀ इस के पीने से पित्त, मल, वायु नष्ट होते हैं, तथा वातादि दोषों की शान्ति होती है । इससे शोधन होने पर शर्करा मिश्रित शीत यावागू पीनी चाहिये ।

[षड् विरेचन-शताश्रितिय अध्याय में कथित द्राक्षा, काश्मरी आदि दश विरेचनोपयोगी द्रव्य लेने चाहियें]

अथवाऽतिविरिक्तः स्यात्क्षीणविट्कः स भक्षयेत् ।
माषयूषेण कुल्माषान्पिबेद्दध्यथवा सुराम् ॥ १८ ॥

अति विरेचन होने पर या मल के क्षीण होने पर माष-यूष के साथ यवागू देनी चाहिये । कुल्माष (अर्धस्विन्न जौ) की कांजी या दधि अथवा सुरा पीने को देना चाहिये ।

सामं चेदतिसार्येत शूलारोचकवान्नरः ।
स तदा ह्पुषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत् ॥ १९ ॥

रोगी को अति विरेचन होने पर जब मल-त्याग में वेदना हो; आमरस हो, अरोचक हो तो घन (मुस्ता), अतिविषा, कुष्ठ तगर, देवदारु, वच इन को जल के साथ पीस कर पीना चाहिये ।

शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योऽतिसार्यते ।
पक्वस्तत्र स्ववर्गीयैर्बस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम् ॥ २० ॥

❀ 'द्राक्षादिना' इति च पाठः ।

जिस रोगी के मल में वायु, रक्त, पित्त या कफ आता हो उसको आगे कहे जाने वाले स्ववर्गीय गण से सिद्ध पक्व बस्ति देनी उत्तम है।

षण्णामेषां द्विसंसर्गात्त्रिंशद्भेदा भवन्ति ते ।
केवलैः सह चेत् त्रिंशद्विद्यात्सोपद्रवानपि ॥ २१ ॥
शूलप्रवाहिकाध्मानपरिकर्त्यरुचिज्वरान् ।
सतृष्णादाहमूर्च्छान्तांश्चैषां विद्यादुपद्रवान् ॥ २२ ॥

उपसंहार—आम, मल, वात, रक्त, पित्त और कफ, इन छः से तीस भेद हो जाते हैं। यथा केवल शुद्ध रूप में आम, मल, वात, रक्त, पित्त और कफ ये छः, दो के संसर्ग से पन्द्रह, यथा आम शकृत्, आमवात, आमरक्त, आमपित्त, आमकफ, शकृद्वात, शकृत्पित्त, शकृद् रक्त, शकृत्कफ, वातरक्त, वातपित्त, वातकफ, रक्तपित, रक्तकफ, पित्तकफ, इस प्रकार से १५, और शूल, प्रवाहिका आदि ९ उपद्रव, मिलाकर तीस भेद हो जाते हैं।

उपद्रव—शूल, प्रवाहिका, आध्मान, परिकर्त्तिका, अरुचि, ज्वर, तृष्णा, दाह, मूर्च्छा ये ६ इनके उपद्रव हैं।

तत्रामे वमनं कार्यं त्र्योषाम्ललवणैर्युतम् ।
पाचनं शस्यते बस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते ॥ २३ ॥

स्ववर्ग—रोगी को अतिविरेचन होने पर यदि आमाशय में आम हो तो घनातिविषादि पाचन में सोंठ, मिरच, पिप्पली, अम्ल, (अनार का रस आदि) और सैन्धव लवण मिला कर अन्तर-पान पाचन देना चाहिये। आम को छोड़ कर सर्वत्र बस्ति देना उत्तम है, आम में बस्ति का निषेध है। इसलिये मल, रक्त, वात, पित्त, कफ, इन में अपने अपने वर्ग से पक्व बस्ति उत्तम है।

वातघ्नग्राहिवर्गीयैर्बस्तिः शकृति शस्यते ।

मल के पक्व होने पर (निरामावस्था में) वातघ्न बृहत्पंचमूल

(अथवा दशमूल) तथा षड्विरेचन शताश्रितीयोक्त पुरीष-संग्रहणीय द्रव्यों से क्काथ बस्ति देनी चाहिये।

स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहबस्तिः समीरणे ॥ २४ ॥
रक्ते रक्तेन पित्ते तु कषायस्वादुतिक्तकैः।
सार्यमाणे कफे बस्तिः कषायकटुतिक्तकैः ॥ २५ ॥

वात में—स्वादु, अम्ल, लवण द्रव्यों से सिद्ध स्नेहबस्ति हितकारी है। रक्तातिसार में रक्त से बस्ति देनी चाहिये। पित्तातिसार में कषाय, स्वादु, तिक्त द्रव्यों से बस्ति देनी चाहिये। कफातिसार में कषाय, कटु, तिक्त, द्रव्यों से बस्ति देनी चाहिये।

शकृता वायुना चामे तेन वर्चस्यथानिले।
संसृष्टेऽन्तरपानं स्याद्व्योषाम्ललवणैर्युतम् ॥ २६ ॥

संसर्ग में चिकित्साविधि—वायु के साथ मल का, वायु के साथ आम का, मल के साथ आम का, वायु के साथ अनल (पित्त) का संसर्ग (योग) होने पर बस्ति क्रिया के करते हुए मध्य में प्यास लगने पर व्योष, अम्ल (अनार का रस या कांजा) और लवण से युक्त जल देना चाहिये। *

पित्तेनामेऽसृजा वापि तयोरामेन वा पुनः ॥
संसृष्टयोर्भवेत्पानं सव्योषकटुतिक्तकम् ॥ २७ ॥
तथाऽऽमे कफसंसृष्टे कषायव्योषतिक्तकम्।
आमे तनुकफे व्योषकषायलवणैर्युतम् ॥ २८ ॥
वातेन विषि पित्ते वा विट्पित्तास्रैस्तथाऽनिले।
मधुराम्लकषायः स्यात्संसृष्टे बस्तिरुत्तमः ॥ २९ ॥

पित्त के साथ आम का संसर्ग होने पर, पित्त का रक्त के साथ योग होने पर, पित्त-रक्त का आम के साथ संसर्ग होने पर [पाठान्तर में विष—पुरीष, अनिल—वायु, का आम के साथ योग होने पर], व्योष (सोंठ,

* 'वर्चस्यथानिले' इति पा०।

मरिच, पिप्पली] कुट, तिक्त द्रव्यों से सिद्ध जल पीने के लिये देना चाहिये। आम यदि कण से मिला हो तो कषाय, व्योष, तिक्त द्रव्यों से सिद्ध जल देना चाहिये। आम तनु कफ से युक्त हो तो कषाय लवण से युक्त जल पीने के लिये देना चाहिये। वायु के साथ मल, या वायु के साथ पित्त का संसर्ग होने पर अथवा वायु के साथ मल, पित्त, रक्त का संसर्ग होने पर कषाय, अम्ल, मधुर बस्ति उत्तम है।

शकृच्छोणितयोः पित्तशकृतो रक्तपित्तयोः।
बस्तिरन्योन्यसंसर्गे कषायस्वादुतिक्तकः ॥ ३० ॥

शकृत् और रक्त, पित्त और मल, रक्त और पित्त का संसर्ग होने पर कषाय, स्वादु, तिक्त बस्ति उत्तम है।

कफेन विषि पित्ते वा कफे विट्पित्तशोणितैः।
व्योषतिक्तकषायः स्यात्संसृष्टे बस्तिरुत्तमः ॥ ३१ ॥
स्वाद्वस्तिर्व्योषतिक्ताम्लः संसृष्टे वायुना कफे।
मधुरव्योषतिक्तस्तु रक्ते कफविमिश्रिते ॥ ३२ ॥

कफ के साथ मल या पित्त का संसर्ग होने पर, या कफ के साथ मल, पित्त, रक्त का संसर्ग होने पर, व्योष, तिक्त, कषाय द्रव्यों से सिद्ध बस्ति देना उत्तम है।

मारुते कफसंसृष्टे व्योषाम्ललवणो भवेत्।
बस्तिर्वातेन रक्ते तु कार्यः स्वाद्वम्लतिक्तकः ॥ ३३ ॥

वायु के साथ कफ मिश्रित होने पर व्योष, तिक्त, अम्ल मिश्रित बस्ति देनी उत्तम है। कफ के साथ रक्तमिश्रित होने पर मधु, व्योष, तिक्त बस्ति देनी उत्तम है। कफ के साथ रक्त मिश्रित होने पर मधुर, व्योष, तिक्त बस्ति देनी चाहिये। वायु के कफ के साथ मिश्रित होने पर व्योष, अम्ल, तिक्त बस्ति देनी चाहिये।

त्रिचतुःपञ्चषड्योगानेवमेव विकल्पयेत्।
युक्तिश्चैषाऽतिसारोक्ता सर्वरोगेष्वपि स्मृता ॥ ३४ ॥

आम आदि छः के, तीन के संसर्ग, चार के संसर्ग में, पांच के संसर्ग में, छः के संसर्ग में इस प्रकार से बस्ति की कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार से संसर्ग होने पर बीस भेद हो जाते है। यथा—तीन के संसर्ग में दश, चार के संसर्ग में छः, पांच के संसर्ग में तीन और छः के संसर्ग में बीस प्रकार के भेद हैं। *

युगपत्षड्रसं षण्णां संसर्गे पाचनं भवेत्।

आमादि के तीन, चार, पांच, छः संसर्गों से उत्पन्न सब रोगों में अतिसारोक्त चिकित्सा करनी चाहिये, यह युक्ति सब रोगों में बरतनी चाहिये।

निरामाणां च पञ्चानां वस्तिः षाड्रसिको मतः॥ ३५॥

आम आदि छः का सब का संसर्ग होने पर छः रसों को एक साथ मिलाकर पारण (भक्षण) करना चाहिये या इन द्रव्यों से पाचन बना कर पीना चाहिये। आम से रहित मल, वायु, रक्त, पित्त, कफ इन पांचों का अतिसरण होने पर छः रसों से बनी बस्ति देनी चाहिये।

उदुम्बरशलाटूनि जम्ब्वाम्रोदुम्बरत्वचः।
शङ्खं सर्जरसं लाक्षां कर्दमं च पलांशिकम्॥ ३६॥
पिष्ट्वा तैः सर्पिषः प्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत्।
अतीसारेषु सर्वेषु पेयमेतद्यथाबलम्॥ ३७॥

---

* बीस भेदः—(१) आमविड्वात, (२) आमविड्सृज, (३) आमविट्पित्तज, (४) आमविट्कफज, (५) विड्वातासृज्ज, (६) विट्वातपित्तज, (८) वातरक्तपित्तज, (९) वातरक्तकफज, (१०) रक्त-पित्तकफज, (११) आमविड्वातासृज्ज, (१२) आमविड्वातपित्तज (१३) आमविड्वातकफज, (१४) विड्वातकफज, (१५) विड्-वातासृक्कफज, (१६) वातरक्त पित्त कफज, (१७) आमविड्वातासृक्-पित्तज, (१८) आमविड्वातासृक्कफज, (१९) विड्वातासृक्-पित्तकफज, (२०) आमविड्वातासृक्पित्तकफज इस प्रकार से बीस भेद हैं।

कल्कार्थ—कच्चे गूलर, जामुन, आम, गूलर, पिलखन इनकी छाल, शंखनाभि, सर्जरस और कर्दम एक एक पल लेकर पीस लेना चाहिये, घृत एक प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ लेकर पाक करना चाहिये। सब अतिसारों में इसको बलानुसार पीना चाहिये।

कच्छूराधातकीबिल्वसमङ्गारक्तशालिभिः।
मसूराश्वत्थशुङ्गैश्च यवागूः स्याज्जले श्रृतैः॥ ३८॥

भोजन—कच्छूरा (शूक शिम्बी, कौंच), धातकी पुष्प, बिल्वगिरी, समंगा (मजीठ), लाल चावल, मसूर, पीपल के शुंग इनके क्वाथ में यवागू सिद्ध करके देनी चाहिये।

बालोदुम्बरकट्वङ्गसमङ्गाप्लुतपल्लवैः।
मसूरधातकीपुष्पबलाभिश्च तथा भवेत्॥ ३९॥

बाल (ह्रीवेर), गूलर, कट्वंग (श्योनाक), समंगा (लाजवन्ती या मजीठ), पिलखन के पत्ते, मसूर, धातकी पुष्प और बला इनके क्वाथ में यवागू सिद्ध करके देनी चाहिये।

स्थिरादीनां बलादीनामिक्ष्वादीनामथापि वा।
क्वाथेषु समसूराणां यवाग्वः स्युः पृथक् पृथक्॥ ४०॥

नौ अरिष्ट—स्थिरादि (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), वटादि (वट, कपीतन, गूलर, पीपल, अश्मन्तक, सोमवल्कल) के क्वाथ में, इक्ष्वादि (इक्षु, कुश, काश, दर्भ, क्षुरक, वसुक, उशीर), इनके क्वाथ में, अमृता, अभया, धात्री आदि वयःस्थापक दस द्रव्यों के क्वाथ में पृथक् २ अरिष्टों को बनाना चाहिये, ये आठ अरिष्ट हैं। स्थिरादि पांच, वटादि वर्ग का एक, इक्षु आदि एक और अमृतादि एक, इस प्रकार से ये आठ, शर्करा, अमृत (गिलोय), शाल्यादि तण्डुल इनसे सिद्ध अरिष्ट नौ हैं।

कच्छुरामूलशाल्यादितण्डुलैर्वापि साधिताः।
दधितक्रारनालाम्लचारेष्विक्षुरसेऽपि वा॥ ४१॥

शीताः सशर्करक्षौद्राः सर्वातीसारनाशनाः।
ससर्पिर्मरिचाजाजीमधुरा लवणाः शिवाः ॥ ४२ ॥

इन अरिष्टों को दधि तक्र से खट्टा बनाकर, सैन्धव लवण मिलाकर, जल, यवक्षार, शर्करा, मधु मिलाकर घृत से भावित पात्र में रख देना चाहिये। समय पर जब रस उत्पन्न हो जाये तब सब अतिसार को (निरूह के अतियोग से उत्पन्न आमवाकृत् अतिसार नाशक) नष्ट करते हैं। इन अरिष्टों में घृत और लवण मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। मधुर द्रव्यों से मधुर या लवण से नमकीन करके पीना चाहिये।

भवन्ति चात्र।

स्निग्धाम्ललवणमधुरं पानं बस्तिश्च मारुते कोष्णः।
शीतं तिक्तकषायं मधुरं पित्ते च रक्ते च ॥ ४३ ॥
तिक्तोष्णकषायकटु श्लेष्मणि संग्राहि वातनुच्छकृति।
पाचनमामे पानं पिच्छासृग्बस्तयो रक्ते ॥ ४४ ॥
अतिसारं प्रत्युक्तं मिश्रं द्वन्द्वामजेष्वपि च।
तत्रोद्रेकविशेषाद्दोषेषूपक्रमः कार्यः ॥ ४५ ॥

उपसंहार—वात में स्निग्ध, अम्ल, लवण, मधुर खान-पान, कवोष्ण बस्ति देनी चाहिये। पित्त और रक्त में—तिक्त, कषाय, मधुर खान-पान और शीतल बस्ति देनी चाहिये। कफ में—तीक्ष्ण, उष्ण, कषाय, कटु खान-पान या बस्ति देनी चाहिये। मल में—वातनाशक और पुरीषसंग्राही पदार्थ देने चाहियें। आम से—पाचनों को पिलाना, रक्त में पिच्छाबस्ति या रक्त-बस्ति देनी चाहिये। * मिश्र अतिसार, द्वन्द्वज (त्रि, चतुष्कादि संसर्गज) अतिसार में यह चिकित्सा है। दोष की प्रबलता (बलाबल की विशेषता) के कारण विशेष हो जाता है।

तत्र श्लोकः। प्रासृतिका सव्यापत्क्रिया निरूहास्तथाऽतिसारहिताः।
रसकल्पघृतयवाग्वश्चोक्ता गुरुणा प्रसृतसिद्धौ ॥ ४६ ॥

* 'पिच्छादिबस्तयो रक्तः' इति पाठः।

इस प्रसृत सिद्धि अध्याय में गुरु आत्रेय ने प्रासृतिक व्यापत्तियों की क्रिया को निरूह के अतियोग से उत्पन्न अतिसारों के लिये हितकारी रस, कल्प, घृत, यवागू का उपदेश किया है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने प्रासृत-
योगिकासिद्धिर्नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिमर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे त्रिमर्मीय सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिन् स्कन्धशाखाश्रितमग्निवेश ! तेषामन्यतमपीडायां समधिका पीडा भवति, चेतनानिबन्धवैशेष्यात् ॥ ३ ॥

हे अग्निवेश ! इस शरीर में स्कन्ध (शिर, ग्रीवा, मध्यभाग) और शाखा (हाथ, पांव) में आश्रित मर्म एक सौ सात (१०७) हैं ।* इनमें से किसी एक मर्म के पीड़न से अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक पीड़ा होती है । क्योंकि मर्मस्थानों में चेतना धातु विशेष रूप से निबद्ध रहती है । इससे जिस-जिस अवयव में चेतना-धातु का विशेष निबन्धन रहता है वहीं पर अधिक वेदना होती है ।

तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि,

---

* एक सौ सात मर्म यथा—प्रत्येक सक्थि में ग्यारह मर्म, प्रत्येक बाहू में ग्यारह (कुल ४४), उदर और उरस् में १२, पीठ में १४, ग्रीवा से ऊपर ३७, इस प्रकार से १०७ मर्म हैं ।

शाखानां तदाश्रितत्वात् । स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्तिशिरांसि, तन्मूलत्वाच्छरीरस्य ॥ ४ ॥

इन मर्मों में भी स्कन्ध भाग में आश्रित मर्म शाखा में आश्रित मर्मों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं, चूंकि शाखायें स्वयं स्कन्ध के आश्रित हैं। स्कन्धाश्रित मर्मों में भी हृदय, बस्ति और शिर ये मर्म मुख्य हैं। क्योंकि हृदय, बस्ति और शिर ये तीनों ही शरीर के मूल कारण हैं।

तत्र हृदि दश च धमन्यः प्राणोदानमनोबुद्धिचेतनामहाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि, शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि, बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां नाडीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठितो भवति ।

हृदय मर्म में दस धमनियां, प्राण, उदान, मन, बुद्धि, चेतना, सूक्ष्म महाभूत स्थित हैं। जिस प्रकार नाभि (चक्रनाभि) में अर स्थित होते हैं, चक्रनेमि में लगे अर नेमि के टूटने से नष्ट हो जाते और उसके बने रहने से बने रहते हैं, इसी प्रकार से प्राण, उदान आदि हृदय में आश्रित हैं। शिर मर्म में—इन्द्रियां और प्राणवह स्रोतस् स्थित हैं, जिस प्रकार किरणें सूर्य का आश्रय करके रहती हैं उसी प्रकार बस्ति-मर्म, मुष्क (अण्डकोश), स्थूल गुदा, सेवनी, शुक्रवहा, मूत्रवहा नाड़ियों के बीच में स्थित है, यह मूत्र का आधार (मूत्र एकत्रित होने का स्थान) है, तथा अम्बुवाह स्रोतसों का मुख्य स्थान है। जिस प्रकार सब नदियों का विश्राम स्थान समुद्र है, इसी प्रकार सब शरीर में अम्बुवह स्रोतों का स्थान यह बस्ति ही है।

बहुभिश्च तन्मूलैर्मर्मसंज्ञकैः स्रोतोभिर्गगनमिव दिनकरकरैर्व्याप्तमिदं शरीरम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से आकाश व्याप्त रहता है उसी प्रकार बस्तिमूल मर्म संज्ञा वाले बहुत से स्रोतों से यह शरीर व्याप्त है।

तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदादाश्वेव शरीरभेदः स्यात्, आश्रयनाशादाश्रितस्य नाशः, तदुपघातात्तु घोरव्याधिप्रादुर्भावः, तस्मादेतानि विशेषेण रक्ष्याणि बाह्याभिघातात् वातादिदोषेभ्यश्चेति ॥ ६ ॥

हृदय, शिर, बस्ति इन तीनों में से किसी एक मर्म का भेदन होने से शीघ्र ही शरीर का भेद होजाता है । चूंकि आश्रय के नाश से आश्रित वस्तु का भी नाश हो जाता है, इन तीनों मर्मों में से किसी एक मर्म के उपघात (नष्ट) होने से घोर (भयानक) रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिये इन तीनों मर्मों की बाह्य आघात तथा वातादि दोषों (आन्तरिक और बाह्य दोनों कारणों) से विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये ।

तत्र हृदयेऽभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमापकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः, शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहवेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमीलनगण्डस्पन्दनजृम्भणलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि, बस्तौ तु वातमूत्रवर्चोनिग्रहवङ्क्षणमेहनबस्तिशूलकुण्डलोदावर्तगुल्मब्रध्नानिलाष्ठीलोपस्तम्भनाभिकुक्षिगुदश्रोणिग्रहादयः ॥ ७ ॥

इनमें हृदय पर चोट लगने से कास, श्वास, बल का नाश, कण्ठशोष, क्लोम (पिपासा स्थान) का अपकर्षण, जिह्वा का बाहर निकलना, मुखशोष, तालुशोष, अपस्मार, उन्माद, प्रलाप, चित्तनाश आदि हो जाते हैं । शिर पर चोट लगने पर—मन्यास्तम्भ, अर्दित, चक्षुर्विभ्रम, मोह, उद्वेष्टन, चेष्टानाश, कास, श्वास, हनुग्रह, मूकता, गद्गद् वाक्, चक्षुर्निमीलन, गण्डस्यन्दन, जृम्भण, लालास्राव, स्वरहानि, मुख का टेढ़ा होना आदि लक्षण होते हैं । बस्ति में आघात लगने पर—वातनिग्रह, मलनिग्रह, वंक्षणशूल, मेहनशूल, बस्तिशूल, कुण्डलिनी (वात-कुण्डलिका), उदावर्त, गुल्म, ब्रध्न, वाताष्ठीला, उपस्तम्भ (अवरोध), नाभिग्रह, कुक्षिग्रह, गुदग्रह, श्रोणिग्रह होते हैं ।

वाताद्युपसृष्टानां त्वेषां लिङ्गानि चिकित्सिते सक्रियादिविधीन्युक्तानि । किं त्वेतानि विशेषतोऽनिलाद्रक्ष्याणि, अनिलो हि पित्तकफसमुदीरणे हेतुः प्राणमूलं च, स बस्तिकर्मसाध्यतमः। तस्मान्न बस्तिकर्मसमं किंचित् कर्म मर्मपरिपालनमस्ति ॥ ८ ॥

वात आदि दोषों से युक्त बस्ति, शिर और हृदय के लक्षण तथा क्रियाएं आदि चिकित्सास्थान में कह दी हैं। परन्तु बस्ति, शिर, हृदय इनकी वायु से विशेष रक्षा करनी चाहिये। वायु ही पित्त और कफ के प्रकोप का कारण होता है। मर्म प्राणों का मूल है; मर्म में उत्पन्न रोग बस्तिकर्म से साध्य है। मर्म की रक्षा के लिये बस्तिकर्म के समान अन्य कोई कर्म नहीं है।

तत्र षडास्थापनस्कन्धान् विमाने द्वौ चानुवासनस्कन्धाविह च विहितान् बस्तीन् बुद्ध्या विचार्य महामर्मपरिपालनार्थं प्रयोजयेद्वावातव्याधिचिकित्सां च ॥ ९ ॥

महामर्मों (बस्ति, शिर, हृदय) की रक्षा के लिये विमान स्थान के रोगभिषग्जितीय अध्याय में कथित छः आस्थापन स्कन्ध [जीवकादि मधुर स्कन्ध; आम्रादि अम्लस्कन्ध, सैन्धवादि लवणस्कन्ध; पिप्पली आदि कटुकस्कन्ध; चन्दन-नलादि तिक्तस्कन्ध; प्रियंगु अनन्ता आदि कषाय स्कन्ध] तथा दो अनुवासन स्कन्ध [स्थावर और जंगमात्मक स्नेह] से सिद्ध बस्तियों को बुद्धि से विचार कर प्रयोग करना चाहिये; तथा वात व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये।

भूयश्च हृद्युपसृष्टे वातेन हिङ्गुचूर्णलवणानामन्यतमचूर्णसंयुक्तां पेयां मातुलुङ्गस्य रसेन वाऽन्येन वाऽम्लेन हृद्येन वा पाययेत। स्थिरादिपञ्चमूलीरसः सशर्करः पानार्थं, बिल्वादिपञ्चमूलरससिद्धा च यवागूः हृद्रोगविहितं च कर्म ॥ १० ॥

उपरोक्त चिकित्सा के अतिरिक्त यदि हृदय वात से युक्त हो तो जल में सिद्ध पेया में हींग, सैन्धव लवण आदि कोई एक चूर्ण मिलाकर गलगल के रस से या अन्य किसी हृदय के लिये प्रिय अम्ल से संयुक्त करके रोगी

को पिलाना चाहिये। पीने के लिये स्थिरादि (शालपर्णी आदि लघु पंचमूल) क्वाथ में शर्करा मिलाकर पीने के लिये देना चाहिये। बिल्वादि पंचमूल के क्वाथ में सिद्ध यवागू देनी चाहिये। हृदय रोग के लिए पूर्व कथित चिकित्सा करनी चाहिये।

मूर्ध्नि तु वातोपसृष्टे अभ्यङ्गस्वेदनोपनाहनस्नेहपाननस्तःकर्माव-पीडनधूमादीनि ॥ ११ ॥

शिर में वायु का प्रकम्प होने पर अभ्यंग, स्वेद, उपनाह, नस्य कर्म, अवपीड़न, धूम आदि देने चाहियें।

बस्तौ तु कुम्भीस्वेदो वर्तयश्च, श्यामादिभिर्गोमूत्रसिद्धो निरूहः, बिल्वादिभिश्च सुरादिसिद्धः, शरकाशेक्षुदर्भगोक्षुरकमूलश्रृतक्षीरश्च त्रपुषैर्वारुखराश्वाबीजयवर्षभककल्कितो निरूहः क्षारयवतिल्वकभृ-ष्टकल्कितो वा निरूहः पीतदारुकसिद्धतैलानुवासनं, तैल्वकं च सर्पिर्विरेकार्थम्।

बस्ति में वायु का कोप होने पर—कुम्भीस्वेद, फलवर्त्ति; श्यामा, त्रिवृत्, चतुरङ्गुल, तिल्वक, महावृक्ष, दन्ती, द्रवन्ती [अथवा षड्विरेचन शताश्रितीयोक्त त्रिवृद्, बिल्व इत्यादि दश आस्थापनोपयोगी द्रव्यों] के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर निरूह देना चाहिये। अथवा बिल्वादि पंच-मूल [अथवा बिल्वमूल, त्रिवृत्, देवादारु, यव, कोल, कुलत्थी] के क्वाथ में सुरादि मिलाकर सिद्ध निरूह देना चाहिये। अथवा शर, काश, इक्षु, दर्भमूल, गोखरू-मूल इनसे सिद्ध दूध से निरूह देना चाहिये। यवक्षार और भृष्टलोध्रमूलत्वक् कल्क से सिद्ध निरूह देना चाहिये। त्रपुष (ककड़ी), एर्वारू (खीरा), खराश्व (अजवायन) इनके बीज, जौ के कल्क से सिद्ध निरूह देना चाहिये। पीतदारु (सरल काष्ठ) के कल्क से सिद्ध तैल (अथवा पीतदारु से निकाले तैल, तारपीन का तेल) का अनुवासन देना चाहिये। विरेचन के लिए तैल्वक घृत देना चाहिए।

शतावरीगोक्षुरकबृहतीकण्टकारिकागुडूचीपुनर्नवोशीरमधुकद्वि-

सारिवालोध्रश्रेयसीकुशकाशमूलकषायक्षीरचतुर्गुणं बलावृषर्षभकखराश्वोपकुञ्चिकावत्सकत्रपुषैर्वारुबीजशितिवारकमधुकवचाशतपुष्पाश्मभेदवर्षाभूमदनफलकल्कसिद्धं तैलमुत्तरबस्तिः, निरूहः शुद्धस्निग्धस्विन्नस्य बस्तिशूलमूत्रविकारहर इति ॥ १२ ॥

उत्तर बस्ति—क्काथार्थं—शतावरी, गोखरू, बृहती, कटेरी छोटी, गिलोय, पुनर्नवा, उशीर (खस) मुलहठी, अनन्तमूल, कृष्ण सारिवा, श्रेयसी (रास्ना), लोध्र, काश्मरीमूल इन तेरह द्रव्यों का क्काथ चतुर्गुण कल्कार्थं—बला, बांसा, ऋषभक, खराश्व (अजवाइन), उपकुंचिका (काला जीरा), पुनर्नवा, मैनफल, इनका कल्क स्नेह से चतुर्थांश लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर उत्तर बस्ति देने से शूल और मूत्र रोग नष्ट होते हैं।

भवन्ति चात्र। हृदि मूर्ध्नि च बस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
तस्मात्तेषां सदा यत्नात्कुर्वीत परिपालनम् ॥ १३ ॥
आघातवर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम्।
उत्पन्नार्तिविघातश्च मर्मणां परिपालनम् ॥ १४ ॥

हृदय, शिर और बस्ति में मनुष्यों के प्राण आश्रित हैं। इसलिये सदा यत्नपूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये। सदा इन को आघात (चोट) से बचाना चाहिये, नित्य स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिये। उत्पन्न मर्म-रोगों का प्रतिकार करना, यह मर्मों की रक्षा करने के उपाय हैं।

अत ऊर्ध्वं विकारा ये त्रिमर्मीये चिकित्सिते।
न प्रोक्ता मर्मजास्तेषां कांश्चिद्वक्ष्यामि सौषधान् ॥ १५ ॥

त्रिमर्मीय-चिकित्सा-अध्याय में मर्मजन्य जिन रोगों को नहीं कहा है, उनको चिकित्सा के साथ इस स्थान पर कहूंगा।

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते।
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ॥ १६ ॥
धनुर्वन्नमयेद् गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तथा।

कृच्छ्रेण चाप्युच्छ्वसिति स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ॥१७॥
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ।

अपतन्त्रक—अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु अपने स्थान (पक्वाशय) से ऊपर की ओर जाकर हृदय में पहुंचकर हृदय, शिर, शंख प्रदेशों को पीड़ित करके शरीर को धनुष के समान मोड़ (झुका) देती है। शरीर में आक्षेप (हाथी पर चढ़े हुए के समान झकोरे) उत्पन्न करती है, शरीर में मोह (मूर्च्छा) उत्पन्न करती है। रोगी कठिनाई से श्वास लेता है, आंखें स्तब्ध (स्थिर) हो जाती हैं, अथवा आंखें बन्द होजाती हैं। रोगी के गले से कबूतर के समान शब्द निकलता है, रोगी की चेतना नष्ट हो जाती है, यह 'अपतन्त्रक' रोग है।

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ॥ १८ ॥
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ।

अपतानक—वायु हृदय में पहुंच कर दृष्टि को स्तम्भित करती तथा संज्ञा का नाश कर देती है, रोगी के गले से कराहने का शब्द आता है। जिस समय वायु मनुष्य के हृदय को छोड़ देता है, उस समय मनुष्य स्वस्थ हो जाता है, इसमें चेतना आ जाती है और फिर जब वायु हृदय पर अधिकार कर लेती है, तब मूर्च्छा (चेतना नाश) हो जाती है। इसको 'अपतानक' कहते हैं, यह दारुण रोग है। कुछ लोग इसको 'अपतानक' कहते हैं।

वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ॥ १९ ॥
श्वसनं कफवाताभ्यां रुद्धं तस्य विमोचयेत् ।
तीक्ष्णैः प्रधमनैः, संज्ञां तासु मुक्तासु विन्दति ॥ २० ॥

दारुण होने का कारण—यह अपतानक रोगी कफ-वायु से अवरुद्ध होता है, इन कफ और वात को मुक्त करना चाहिए। इसके लिए संज्ञावहा नाड़ियों में तीक्ष्ण प्रधमन नस्य देना चाहिये, इनसे कफ-वायु के मुक्त हो जाने पर रोगी को संज्ञा (चेतना) आ जाती है।

मरिचं शिग्रुबीजानि विडङ्गं च फणिज्झकम् ।
एतानि सूक्ष्मचूर्णानि दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥ २१ ॥
हिङ्गु तुम्बुरु पथ्या च पौष्करं लवणत्रयम् ।
यवक्वाथाम्बुना पेयं हृत्पार्श्वार्त्यपतन्त्रके ॥ २२ ॥
हिङ्ग्वम्लवेतसं शुण्ठीं ससौवर्चलदाडिममम् ।
पिबेद्वातकफघ्नं च कर्म हृद्रोगनुद्धितम् ॥ २३ ॥
शोधना बस्तयस्तीक्ष्णा हितास्तस्य च कृत्स्नशः ।
सौवर्चलाभयाव्योषैः सिद्धं तु स्याद्घृतं हितम् ॥ २४ ॥

मरिच, शिग्रुबीज (सहजन के बीज), वायविडंग, फाणिज्झक (तुलसी भेद) इनका सूक्ष्म चूर्ण करके शीर्ष-विरेचन (शिरोविरेचन) के लिये देना चाहिये । हृदयरोग, पार्श्वशूल और अपतंत्रक रोग में, यव के क्वाथ में, हींग, तुम्बरु, हरड़, पुष्करमूल, सैन्धव, संचल और उद्भिद इन तीन नमक का चूर्ण मिलाकर पीना चाहिये । हींग, अम्लवेतस, सोंठ, संचल नमक, अनारदाना इनके चूर्ण को पानी के साथ पीना चाहिये तथा वात-कफ-नाशक कर्म एवं हृदयरोगनाशक कर्म करना हितकारी है । इस रोग में शोधक तीक्ष्ण सब बस्तियां हितकारी हैं । सौवर्चल, अभया (हरड़) और व्योष इनके कल्क से सिद्ध घृत रोगी के लिये हितकारी है । *

मधुरस्निग्धगुर्वन्नसेवनाच्चिन्तनाद्भयात् ।
शोकाद् व्याध्यनुषङ्गाच्च वायुनोदीरितः कफः ॥ २५ ॥
यदाऽसौ समवस्कन्द्य हृदयं हृदयाश्रयान् ।
समावृणोति ज्ञानादींस्तदा तन्द्रोपजायते ॥ २६ ॥

तन्द्रा—मधुर, स्निग्ध, दुग्ध आदि के सेवन से, अतिद्रव (अति

* "तस्य न कृत्स्नशः" इति पाठश्चसम्मतः । इससे शोधन के लिये स्तोक-निरूह देना कहा है । अति शोधन निरूह-दान से वायु के क्षोभ होने का भय है ।

धावन) से, श्रम से, शोक से, रोग का सम्बन्ध होने से, वायु से प्रेरित कफ जिस समय हृदय पर अधिकार करके हृदय में आश्रित ज्ञान, बुद्धि, चेतना आदि को आवृत कर लेता है, तब रोगी को तन्द्रा उत्पन्न होती है।

हृदये व्याकुलीभावो वाक्चेष्टेन्द्रियगौरवम ।
मनोबुद्ध्यप्रसादश्च तन्द्राया लक्षण मतम् ॥ २७ ॥
कफघ्नं तत्र कर्तव्य शोधनं शमनानि च ।
व्यायामो रक्तमोक्षश्च भोज्यं च कटुतिक्तकम् ॥ २८ ॥

लक्षण—हृदय व्याकुल (बेचैन) हो जाता है, वाक् (वाणी) भारी हो जाती है, इन्द्रियों में भारीपन आ जाता है, मन और बुद्धि अस्वच्छ हो जाती है, ये तन्द्रा के लक्षण हैं।

तन्द्रा के लिये कफनाशक चिकित्सा, संशोधन, संशमन-चिकित्सा, व्यायाम, रक्तमोक्षण, कटु, तिक्त भोजन देना चाहिये।

मूत्रौकसादं जठरं कृच्छ्रं सोत्सङ्गसङ्क्षयौ ।
मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वातबस्त्युष्णमारुतौ ॥ २९ ॥
वातकुण्डलिकाग्रन्थिर्विड्घातो बस्तिकुण्डलम् ।
त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषांस्ताँल्लिङ्गतः शृणु ॥ ३० ॥

बस्तिरोग—तेरह हैं। यथा—मूत्रसाद, मूत्रजठर, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रसंग, मूत्रक्षय, मूत्रातीत, वातष्ठीला, वातबस्ति, उष्णवात, वातकुण्डलिका, वातग्रन्थि, विड्विघात और बस्तिकुण्डलिका ये तेरह मूत्र के दोष हैं, इनके लक्षण सुनो।

पित्तं कफो द्वयं वापि बस्तौ संहन्यते यदा ।
मारुतेन तदा मूत्रं रक्तपीतं घनं सृजेत् ॥ ३१ ॥
सदाहं श्वेतसान्द्रं वा सर्वैर्वा लक्षणैर्युतम् ।
मूत्रौकसादं तं विद्यात्पित्तश्लेष्महरैर्जयेत् ॥ ३२ ॥

मूत्रसाद—वायु, पित्त या कफ को अथवा दोनों को जिस समय बस्ति में संघात रूप में कर देता है, तब मूत्र रक्त या पीत वर्ण तथा

दाहयुक्त (पित्त से) अथवा श्वेत और सान्द्र (घट्ट कफ से) प्रवाहित होता है अथवा सब लक्षणों से युक्त होता है । इसको 'मूत्रसाद' कहते हैं, इसके लिये पित्त-कफ-नाशक चिकित्सा करनी चाहिये । पित्त-कफ के आवरण के जय होने से वायु की स्वयं शान्ति हो जाती है ।

विधारणात्प्रतिहतं वातोदावर्तितं यदा ।
पूरयत्युदरं मूत्रं तदा तदनिमित्तरुक् ॥ ३३ ॥
अपक्तिमूत्रविट्सङ्गैस्तन्मूत्रजठरं वदेत् ।
मूत्रवैरेचनीं तत्र चिकित्सां संप्रयोजयेत् ॥ ३४ ॥
हिङ्गुद्विरुत्तरं चूर्णं त्रिमर्मीये प्रकीर्तितम् ।
हन्यान्मूत्रादिसंघातं व्याधिं च गुदमेढ्रयोः ॥ ३५ ॥

मूत्रजठर—मूत्र वेग के रोकने से प्रतिहत मूत्र जिस समय वात से उत्पन्न उदावर्त्त में उदर के अन्दर भर जाता है, तब विना कारण के ही वेदना होती है, मूत्र का अवरोध और मल का अवरोध होता है, इसको 'मूत्रजठर' कहते हैं । इसके लिये मूत्रविरेचनीय चिकित्सा करनी चाहिये। त्रिमर्मीय अध्याय में जो द्विरुत्तर हींग (हिंगु, वचा इत्यादि में दो भाग हींग कहा है) का चूर्ण कहा है, वह देना चाहिये । इससे मूत्र का अवरोध, गुदा की व्याधि और शिश्न के रोग शान्त होते हैं ।

मूत्रितस्य व्यवायात्तु रेतो वातोद्धृतं च्युतम् ।
पूर्वं मूत्रस्य पश्चाद्वा स्रवेत्तत्कृच्छ्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

मूत्रकृच्छ्र—मैथुन करने के पीछे मूत्र त्याग करने पर वात से प्रेरित शुक्र मूत्र के पहिले या पीछे स्रवित होता है, इसको 'मूत्रकृच्छ्र' कहते हैं ।

स्ववैगुण्यानिलाक्षेपैः किञ्चिन्मूत्रं च तिष्ठति ।
मणिसन्धौ स्रवेत्पश्चात्तदरुग्वाऽथवाऽतिरुक् ॥ ३७ ॥
मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्नस्तच्छेषो गुरुशेफसः ।
वाताकृतिर्भवेद्वातात् ।

मूत्रसंग—स्ववैगुण्यात् (मूत्रद्वार की विगुणता से) तथा वायु के

आक्षेप के कारण मणिसन्धि (शिश्न की अग्रसन्धि) में कुछ मूत्र रुक जाता है, यह मूत्र पीछे से विना वेदना के या अत्यन्त वेदना के साथ स्रवित होता है, इसको मूत्रसंग कहते हैं। यह शेष बचा हुआ मूत्र विच्छिन्न होकर (रुक कर) शिश्न में भारीपन कर देता है, जिससे वात के लक्षण हो जाते हैं।

मूत्रे शुष्यति संक्षयः ॥ ३८ ॥

मूत्रक्षय—वायु के कारण मूत्र के शुष्क हो जाने पर 'मूत्रक्षय' हो जाता है, इसमें वायु के लक्षण रहते हैं।

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ ३९ ॥

मूत्रातीत—मूत्र के उपस्थित वेग को देर तक रोके रहने से फिर मूत्र प्रवाहण करने में मूत्र प्रवर्त्तित नहीं होता, यदि कदाचित् प्रवृत्त भी होता है तो धीरे धीरे आता है, इसको 'मूत्रातीत' कहते हैं।

आध्मापयन्बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥ ४० ॥

अष्ठीला—वायु आध्मान उत्पन्न करके, बस्ति और गुदा का अवरोध करती हुई चंचल, उन्नत (ऊपर को उठी), अष्ठीला (पत्थर) के समान ग्रन्थि को उत्पन्न करती है, इसको 'अष्ठीला' कहते हैं। इससे मूत्रमार्ग और मलमार्ग का अवरोध हो जाता है।

मूत्रं धारयतो बस्तौ वायुः क्रुद्धो विधारणात्।
मूत्ररोधार्तिकण्डूभिर्वातबस्तिः स उच्यते ॥ ४१ ॥

वातबस्ति—जो रोगी आये हुए मूत्र को रोक लेता है उसमें कुछ वायु मूत्ररोधजन्य वेदना, कण्डू उत्पन्न करके मूत्र को रोक देता है, इसको 'वातबस्ति' कहते हैं।

ऊष्मणा सोष्मकं मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम्।
उष्णवातः सृजेत्कृच्छ्राद्बस्त्युपस्थार्तिदाहवान् ॥ ४२ ॥

गतिसङ्गादुदावृत्तः स मूत्रस्थानमार्गयोः।

उष्णवात—पित्त की उष्णिमा से युक्त वायु रक्त, पीतवर्ण मूत्र को शुष्क कर देता है, बस्ति और शिश्न में वेदना तथा दाह उत्पन्न करता है, मूत्र कठिनाई से आता है, इसको 'उष्णवात' कहते हैं।

मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नव्याविद्धकुण्डली ॥ ४३ ॥
मूत्रं विहन्ति संस्तम्भभग्नगौरववेष्टनैः।
तीव्ररुक् मूत्रविट्सङ्गैर्वातकुण्डलिकेति सा ॥ ४४ ॥

वातकुण्डलिका—विगुण वायु मूत्र के स्थान और गति के संग होने से मूत्रमार्ग में उदावर्त्त उत्पन्न करके भग्न (प्रतिहत), व्याविद्ध (वक्र, टेढ़ा बन कर) तथा कुण्डल (आवर्त्त) रूप में स्थित हो जाता है। इससे मूत्र रुक जाता है, भंग के समान वेदना, जड़ता, भारीपन, उद्वेष्टन होता है, तीव्र वेदना, मलावरोध हो जाता है, यह 'वात-कुण्डलिका' है।

रक्तं वातकफाद् दुष्टं बस्तिद्वारे सुदारुणम्।
ग्रन्थिं कुर्यात्स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम् ॥ ४५ ॥
अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते।

रक्त ग्रन्थि—वात कफ के कारण से दूषित रक्त जिस पुरुष में बस्ति-द्वार के अन्दर दारुण ग्रन्थि को उत्पन्न कर देता है, यह पुरुष इस ग्रन्थि से आवृत मूत्र को अश्मरी के समान वेदना के कारण कठिनाई से प्रवाहित करता है। इसको 'रक्तग्रन्थि' कहते हैं।

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥ ४६ ॥
मूत्रस्रोतः प्रपद्येत विट्-संसृष्टं तदा नरः।
विड् गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥ ४७ ॥

विड्विघात—रूक्ष और दुर्बल पुरुषों में जब वायु के कारण उत्पन्न उदावर्त्त मल-मूत्रस्रोतों में पहुंच जाता है, तब मल से मिश्रित तथा मल

की गन्ध से युक्त मूत्र को रोगी कठिनाई से प्रवाहित करता है, इसको 'विड्-विघात' कहते हैं।

द्रुताध्वलङ्घनायासादभिघातात्प्रपीडनात् ।
स्वस्थानाद्बस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ ४८ ॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ।
पीडितस्तु स्रवेद्धारां स्तम्भनोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ ४९ ॥
बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ ५० ॥
तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ।

बस्तिकुण्डल—शीघ्र चलने से, लंघन से, परिश्रम से, चोट लगने से, दबने से, बस्ति अपने स्थान से उद्वृत्त (परावृत्त) होकर गर्भ के समान स्थूल रूप में स्थित हो जाती है। इससे लक्षण शूल, कम्पन, दाह होती है, रोगी को बूंद-बूंद करके मूत्र आता है, बस्ति को दबाने से मूत्र धारारूप में बहता है, इसमें रोगी को स्तम्भ तथा उद्वेष्टन की पीड़ा होती है। इस रोग को 'बस्ति-कुण्डल' कहते हैं। यह मारक होने से शस्त्र और विष के समान है। बस्तिकुण्डल में वायु की प्रबलता रहती है, मूढ व्यक्ति इसका निवारण नहीं कर सकते। बस्ति के पित्त से आवृत होने पर दाह, शूल और मूत्र में विवर्णता होती है। बस्ति के कफ से आवृत होने पर शोथ, मूत्र, स्निग्ध, श्वेत और घना (सान्द्र) होता है।

श्लेष्मणा गौरव शोफः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ॥ ५१ ॥
श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ।
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥ ५२ ॥
स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहोच्छ्वास एव च ।

साध्यासाध्य—यदि बस्तिमुख का छिद्र कफ से अवरुद्ध हो तथा पित्त उदीर्ण (कुपित) हो तो बस्ति साध्य नहीं है। जिस बस्तिमुख

का छिद्र कफादि से अवरुद्ध न हो, मुखछिद्र खुला हो तो बस्ति साध्य है, जिस पुरुष में बस्ति कुण्डलाकार नहीं हुई, वह भी साध्य है। बस्ति के कुण्डलाकार होने पर तृषा, मोह और श्वास ये लक्षण होते हैं।

दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान्मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत् ॥ ५३ ॥
बस्तिमुत्तरबस्तिं च सर्वेषामेव योजयेत् ।

इन तेरह मूत्र रोगों में दोष की प्रधानता को देखकर मूत्रकृच्छ्रहर ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये। सब मूत्ररोगों में बस्ति और उत्तरबस्ति देनी चाहिये।

पुष्पनेत्रं च हैमं स्यात्सूक्ष्ममौत्तरबस्तिकम् ॥ ५४ ॥
जातीपुष्पस्य वृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम् ।
रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशाङ्गुलम् ॥ ५५ ॥

उत्तर बस्ति के लिये पुष्पनेत्र स्वर्ण का तथा सूक्ष्म (पतला) होना चाहिये। गाय के पुच्छ के समान बीच में स्थूल, जातिपुष्प (चमेली के फूल) या अश्वहनन (कनेर) के फूल के वृन्त के समान सूक्ष्म छिद्र वाला होना चाहिये। चांदी से बने नेत्र का छिद्र सरसों के बराबर होना चाहिये। सब पुष्पनेत्र बारह अंगुल लम्बे तथा तीन कर्णिका वाले (पाठान्तर में द्विकर्णिका वाले) होने चाहियें।

तेनाजबस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धपलं नयेत् ।
यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा ॥ ५६ ॥

पुष्पनेत्र को बकरी की बस्ति के साथ संयुक्त करके डेढ़ पल स्नेह बस्ति में प्रविष्ट करना चाहिये। अथवा आयु के अनुसार भेद करके स्नेह मात्रा बस्ति में प्रविष्ट करनी चाहिये।

स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा ।
सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥ ५७ ॥
ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृतान्विते ।
शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत् ॥ ५८ ॥

ततः शेफःप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत् ।
गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनुसेवनीम् ॥ ५९ ॥
हिंस्याद्व्यतिगतं बस्तिमूनं स्नेहो न गच्छति ।
सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षेन्नेत्रमेव च ॥ ६० ॥

प्रणयन विधि—रोगी को स्नान कराके दूध या मांसरस के साथ भोजन देकर, मलमूत्र का त्याग कराके, जानुसम (घुटने के समान), कोमल, पीठ (पीढ़े-चौकी) पर रोग के अनुसार सुखपूर्वक बिठाना चाहिये। फिर दृढ़ एवं हर्षित शिश्न को घृत से स्निग्ध करके इसमें शलाका प्रविष्ट करके मूत्रमार्ग के छिद्र को ढूंढना चाहिये। यदि शलाका बिना रुकावट के प्रविष्ट हो जाये तो शलाका को निकाल कर शिश्न के समान (लम्बाई का) पुष्पनेत्र मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करना चाहिये। यहां पर गुदा के समान न तो बहुत जल्दी, न बहुत धीरे, हाथ को बिना कंपाये सेवनी के साथ समान रूप में पुष्पनेत्र प्रविष्ट करना चाहिये। इस प्रकार से दिया गया स्नेह बस्ति में पहुंचकर मूत्राशय को पीड़ित नहीं करता और वस्ति में जाता है। शिश्न-प्रमाण से अधिक लम्बा नेत्र मूत्रमार्ग को पीड़ित कर देता है, और प्रमाण में छोटे नेत्र से स्नेह बस्ति में नहीं पहुंचता। स्नेह के बस्ति में पहुंच जाने पर सुखपूर्वक बस्ति को दबाकर, शिश्न को पकड़कर नेत्र को निकाल लेना चाहिये।

प्रत्यागते द्वितीयं तु तृतीयं च प्रदापयेत् ।
अनागच्छन्नपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च ॥ ६१ ॥
पिप्पलीलवणागारधूमापामार्गसर्षपैः ।
वार्ताकुरसनिर्गुण्डीशम्पाकैः सहाचरैः ॥ ६२ ॥
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडैर्वर्तिं कृत्वा प्रवेशयेत् ।
अग्रे तु सर्षपाकारां पश्चाद्वै माषसंमिताम् ॥ ६३ ॥
नेत्रदीर्घां घृताभ्यक्तां सुकुमारामभङ्गुराम् ।
नेत्रवन्मूत्रनाड्यां तु पायौ वाऽङ्गुष्ठसंमिताम् ॥ ६४ ॥

स्नेह-बस्ति के वापिस आ जाने पर द्वितीय वार या तृतीय वार बस्ति देनी चाहिये। यदि स्नेह वापिस न आये तो एक रात तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि फिर भी स्नेह बाहर न आये तो पिप्पली, सैन्धव लवण, गृहधूम, अपामार्ग, सरसों, बैंगन का रस, निर्गुण्डी, शम्पाक (अमलतास), सहचर और गुड़ इनको गोमूत्र और अम्ल (कांजी आदि) से पीस कर वर्त्ति बनानी चाहिये। यह वर्त्ति अग्रभाग से सरसों के समान और पिछले भाग (मूल) में दो उड़दों के बराबर, लम्बाई में पुष्पनेत्र के समान बारह अंगुल होनी चाहिये। यह वर्त्ति सुकुमार (चिकनी, श्लक्ष्ण), अभंगुर (न टूटने वाली, सीधी), पुष्पनेत्र के समान मूत्र-नाड़ी (मूत्र के निकलने के लिये बीच में छेदवाली, खोखली) होनी चाहिये। इस वर्त्ति को घृत से स्निग्ध करके शिश्न में प्रविष्ट करना चाहिये और स्नेह को निकालने के लिये वर्त्ति को अंगुष्ठ के समान बनाकर गुदा में देना चाहिये।

स्नेहे प्रत्यागते ताभ्यां सानुवासनिको विधिः।
परिहारस्य सव्यापत्सम्यग्दत्तस्य लक्षणम् ॥ ६५ ॥

मूत्रमार्ग से दिये गये स्नेह के वापिस आने पर अनुवासन विधि के समान परिहार पालना चाहिये। इसके व्यापत् और सम्यग् योग के लक्षण अनुवासन बस्ति के व्यापत् एवं सम्यग्योग के लक्षणों की भांति समझने चाहियें।

स्त्रीणां चार्तवकाले तु प्रतिकर्म तदाचरेत्।
गर्भासना सुखं स्नेहं तदाऽऽदत्ते ह्यपावृता ॥ ६६ ॥
गर्भं योनिस्तदा शीघ्रं जिते गृह्णाति मारुते।

स्त्रियों के आर्त्तव काल में उत्तर बस्ति का कर्म करना चाहिये। इस आर्त्तव काल में गर्भासना योनि (गर्भ जिसका आसन है, ऐसी योनि या गर्भाशय) स्नेह को सुगमता से ग्रहण कर लेती है। अपावृता (संचित रजोरूप आवरण के हटने से) स्त्री तथा वायु के शान्त हो

जाने से योनि गर्भ को शीघ्रता से ग्रहण कर लेती है ।

बस्तिजेषु विकारेषु योनिविभ्रंशजेषु च ॥ ६७ ॥
योनिशूलेषु तीव्रेषु योनिव्यापत्स्वसृग्दरे ।
अप्रस्रवति मूत्रे च बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ॥ ६८ ॥
विदध्यादुत्तरं बस्तिं यथास्वौषधसंस्कृतम् ।

निम्न रोगों में स्त्रियों में उत्तर बस्ति देनी चाहिये । यथा—योनि भ्रंश से उत्पन्न रोगों में, योनिशूल में, योनिरोगों में, रक्तप्रदर में, मूत्र के बूंद बूंद आने पर या बहुत मूत्र आने पर रोग के अपने औषध से संस्कृत उत्तर बस्ति देनी चाहिये ।

पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशाङ्गुलम् ॥ ६९ ॥
मूत्रस्रोतःपरीणाहं मूत्रस्रोतोऽनुवाहि च ।
गर्भमार्गे तु नारीणां विधेय चतुरङ्गुलम् ॥ ७० ॥

स्त्रियों में पुष्पनेत्र का परिमाण स्त्री की अंगुल के हिसाब से दस अंगुल होना चाहिये, इसकी मोटाई मूत्रस्रोत के समान और इसका छेद (स्रोत) मूंग के बराबर (पाठान्तर में मूत्रस्रोत के समान) होना चाहिये । प्राप्तयौवना स्त्रियों के अपत्यमार्ग (योनिपथ) मे स्नेह देने के लिये नेत्र चार अंगुल लम्बा होना चाहिये, बाला स्त्री में मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करने के लिये दो अंगुल नेत्र और अपत्यमार्ग में प्रविष्ट करने के लिये एक अंगुल नेत्र होना चाहिये । अथवा प्राप्तवयस्का स्त्रियों में मूत्र मार्ग के लिये दो अंगुल और बाला में स्वल्प प्रमाण होने से मूत्रमार्ग के लिये एक अंगुल होना चाहिये । [बालिकाओं के अपत्यमार्ग में स्नेह नहीं दिया जाता, क्योंकि उनका अपत्यमार्ग बन्द रहता है । यह चक्रपाणि का विचार है ।]

द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमङ्गुलम् ।
उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी ॥ ७१ ॥
अथास्याः प्रणयेन्नेत्रमनुवंशगतं सुखम् ।

द्वित्रिश्चतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत् ॥ ७२ ॥
बस्तौ बस्तौ प्रणीते च बस्तिश्चानन्तरो भवेत् ।
त्रिरात्रं कर्म कुर्वीत स्नेहमात्रां विवर्धयन् ॥ ७३ ॥
अनेनैव विधानेन कर्म कुर्यात्पुनस्त्र्यहात् ।

स्त्री को पीठ के भार उत्तान लेटा कर दोनों टांगों को समान करके मोड़ देना चाहिये । फिर पृष्ठ वंश को लक्ष्य करके पृष्ठवंश के साथ-साथ बस्ति नेत्र को सुगमता से प्रविष्ट करना चाहिये । दो, तीन, चार, दिन-रात (२४ घन्टे) के पीछे स्नेहबस्ति देनी चाहिये । स्नेहबस्ति के बस्ति में देने पर पीछे से निरूहबस्ति देनी चाहिये । इस प्रकार से स्नेह मात्रा को क्रमशः बढ़ाते हुए तीन दिन बस्तिकर्म करना चाहिये । फिर तीन दिन के अन्तर से इसी प्रकार स्नेहबस्ति देनी चाहिये । यह उत्तर बस्ति विधान का उपदेश कर दिया है ।

शिरोरोग

अतः शिरोविकाराणां कश्चिद्भेदः प्रवक्ष्यते ॥ ७४ ॥

इसके आगे शिरोरोगों के कुछ भेद कहता हूं ।

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः ।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोफं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ ७५ ॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा ।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम नामतः ॥ ७६ ॥
जीवेत्त्र्यहं चेद्भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ।
शिरोविरेकसेकादि सर्वं वीसर्पनुच्च यत् ॥ ७७ ॥

शंखक रोग—दूषित पित्त, रक्त और वायु शंख प्रदेश में कुपित होकर दारुण शोथ को उत्पन्न करते हैं । इसमें तीव्र वेदना, दाह और रक्तिमा होती है । यह शोथ विष के समान शीघ्र फैल कर शिर और गले व्याप्त हो जाता है, गले को बन्द कर देता है । तीन दिन में मनुष्य को मार देता है, और यदि तीन दिन पीछे रोगी बच जाये तो प्रत्याख्येय

(असाध्य) कह कर चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग को 'शंखक' कहते हैं।

इस शंखक रोग में शिरो-विरेचन, परिषेक आदि तथा विसर्पनाशक सब चिकित्सा करनी चाहिये।

रूक्षात्यध्यशनात्पूर्ववातावश्यायमैथुनैः।
वेगसन्धारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः॥ ७८॥
केवलः सकफो वापि गृहीत्वाऽर्धं शिरो बली।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धे च वेदनाम्॥ ७९॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः।
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत्॥ ८०॥

अर्द्धावभेदक—रूक्ष भोजन से, अति मुसाफ़री से, अध्यशन से, प्राग्वात (सीधी वायु) से, अवश्याय (ओस) से, मैथुन से, मल-मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, परिश्रम से, व्यायाम से प्रकुपित वायु स्वतंत्र रूप में अथवा कफ के साथ मिल कर अर्द्ध शिर का आश्रय लेकर गण्ड, भ्रू, शंख, दांत, आंख, मस्तक को पीड़ित करता हुआ, मन्या, भ्रू, शंख, कान, आंख और मस्तक के आधे भाग में वेदना उत्पन्न करता है। यह वेदना शस्त्र से छेदन के समान तथा अरणि से मथने के समान तीव्र रूप में होती है। यह वेदना बहुत बढ़ कर आंख अथवा कान को (दृष्टि और श्रवण शक्ति को) नष्ट कर देती है। इसलिये चिकित्सकों को प्रारम्भ में ही चिकित्सा करनी चाहिये।

चतुःस्नेहोत्तमा मात्रा शिरःकायविरेचनम्।
नालीस्वेदो घृतं जीर्णं बस्तिकर्मानुवासनम्॥ ८१॥
उपनाहः शिरोबस्तिर्दहनं चात्र शस्यते।
प्रतिश्याये शिरोरोगे यच्चोदिष्टं चिकित्सितम्॥ ८२॥

चिकित्सा—चतुःस्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) की उत्तम मात्रा (जो दिन रात में जीर्ण हो) देनी चाहिये। शिरोविरेचन, काय-

विरेचन (वमन-विरेचन) देने चाहियें। नाड़ीस्वेद, दश वर्ष स्थित पुरातन घृत, बस्ति कर्म, अनुवासन कर्म, उपनाह, शिरोबस्ति, ललाट और शंख प्रदेश में शर, काण्ड आदि से दाह, तथा प्रतिश्याय और शिरोरोग में जो चिकित्सा कही है, वह सब करना चाहिये।

संधारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ।
दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्छितम् ॥ ८३ ॥
सूर्योदयेंऽशुसंतापाद्‌द्रवं विष्यन्दते शनैः।
तदा दिने शिरःशूलं दिनवृध्या च वर्धते ॥ ८४ ॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के संप्रशाम्यति।
सूर्यावर्तः स एव स्यात्सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ॥ ८५ ॥

सूर्यावर्त्त—मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, अजीर्ण आदि से, रक्त और वायु दूषित होकर मस्तिष्क (मस्तुलुंग) को दूषित कर देते हैं। रक्त वायु से दूषित मूर्च्छित मस्तिष्क से सूर्य के उदय काल में सूर्य की उष्णिमा से धीरे धीरे रक्त स्खलित होता (चूता) है, जिस प्रकार सूर्य की उष्णिमा बढ़ती जाती है, उसी प्रकार से दिन के बढ़ने के साथ साथ दिन में शिरोवेदना भी बढ़ती जाती है। दिन के क्षय होने पर सूर्य-सन्ताप के घटने से रक्त भी स्त्यान (घट्ट) होता जाता है, इसलिये वेदना भी शान्त हो जाती है। सूर्य की उष्णिमा से रक्त बढ़ता है और उष्णिमा के कम होने से घट जाता है। इसको 'सूर्यावर्त्त' कहते हैं। [यह वेदना सूर्य-सन्ताप से ही बढ़ती है, अग्नि से नहीं।]

शिरःकायविरेकौ च मूर्ध्नि च स्नेहधारणम्।
जाङ्गलैरुपनाहश्च घृतक्षीरैश्च सेचनम् ॥ ८६ ॥
बर्हितित्तिरिलावादिशृतक्षीरोत्थितं घृतम्।
नावनं जीवनीयाष्टगुणक्षीरोपसाधितम् ॥ ८७ ॥

चिकित्सा—भोजन के उपरान्त घृतपान, शिरोविरेचन, कायविरेचन (वमन-विरेचन) शिर पर स्नेह-धारण (शिरोबस्ति), जांगल

पशु पक्षियों के मांस से उपनाह, घृत और दूध से परिषेचन करना चाहिये । मोर, तीतर, बटेर इनके मांसरस में सिद्ध दूध से उत्पन्न घृत को सिद्ध करके देना चाहिये । जीवनीय गण की दश ओषधियों के कल्क से अष्टगुण दूध को सिद्ध करना चाहिये । इस दूध में से घृत निकाल कर नस्य लेना चाहिये ।

उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनैः ।
दुष्टा दोषास्त्रयो मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम् ॥ ८८ ॥
तीव्रां कुर्वन्ति नासाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठते ।
स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम् ॥ ८९ ॥
सोऽनन्तवातस्तं हन्याच्छिरोऽर्कावर्तनाशनैः ।

अनन्त-वात—उपवास से, अति शोक से, अति रूक्ष, अति शीत, अति अल्प भोजन से तीनों दोष कुपित होकर मन्या के पीछे घाटाओं (ग्रीवा के पिछली मांस पेशियों) में तीव्र वेदना को उत्पन्न करते हैं । यह वेदना नासा, आंख, भ्रू, शंख में स्थित रहती है । इससे गण्ड पार्श्व में स्पन्दन, नेत्र रोग, हनुग्रह हो जाता है, इसका नाम 'अनन्त वात' है ।

शिरोरोग नाशक, अर्द्धावर्त्त नाशक ओषधियों से अनन्त वात की चिकित्सा करनी चाहिये ।

'शिरार्कवर्त-नाशनैः' पाठ के अनुसार शिरामोक्ष (रक्तमोक्षण) और सूर्यावर्त्त नाशक ओषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये ।

वातो रूक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत् ॥ ९० ॥

शिरःकम्प—रूक्ष आदि कारणों से कुपित वायु शिरःकम्प को उत्पन्न करती है ।

तत्रामृताबलारास्नामहाश्वेताश्वगन्धकैः ।
स्नेहस्वेदादि वातघ्नं शस्तं नस्यं च तर्पणम् ॥ ९१ ॥
नस्तःकर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित् ।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्य हन्ति तान् ॥ ९२ ॥

चिकित्सा—अमृता (गिलोय), बला, रास्ना, महाश्वेता (अपराजिता), अश्वगन्धा इनका चूर्ण अथवा कल्क देना चाहिये, वातनाशक स्नेह, स्वेद आदि देना चाहिये, अवपीड़न नस्य देना चाहिये ।

शास्त्र को समझने वाले वैद्य को शिरोरोगों में नस्य कर्म करना चाहिये । शिर का द्वार नासा है, इस नासा द्वार से औषध शिर में व्याप्त होकर रोगों को नष्ट करती है ।

नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च ।
प्रतिमर्षश्च विज्ञेयो नस्तःकर्म तु पञ्चधा ॥ ९३ ॥
स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम् ।
शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः ॥ ९४ ॥
चूर्णस्याध्मापनं नाम देहश्लेष्मविशोधनम् ।
विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः ॥ ९५ ॥
प्रतिमर्षो भवेत्स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत् ।
एवं तद्रेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा ॥ ९६ ॥

नस्य के पांच प्रकार—नावन, अवपीड़न, धमन, धूम और प्रतिमर्ष यह पांच प्रकार का नस्य है । (१) नावन दो प्रकार का है—शोधन और स्नेहन नस्य । (२) अवपीड़न भी दो प्रकार का है—शोधन और स्तम्भन, यह नस्य अवपीड़न (दबा कर) करके दिया जाता है । (३) धमन—चूर्ण को द्विमुख नलिका से नासापुट में फूत्कार द्वारा देना आध्मापन या धमन कहा जाता है, यह धमन शरीर की श्लेष्मा का विशोधन करता है । (४) धूम तीन प्रकार का है—प्राग्भक्त, शमन और शोधन । (५) प्रतिमर्ष स्नेह—शोधन और शमन दोनों कार्य करता है, यह निर्दोष नस्य है । प्रतिमर्ष कर्म तीन प्रकार का है—रेचन (शिरो विरेचन), तर्पण और शमन ।

स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लैष्मिका ये शिरोगदाः ।
शिरसो रेचनं तेषु नस्तःकर्म प्रशस्यते ॥ ९७ ॥
ये च वातात्मका रोगाः शिरःकम्पार्दितादयः ।

शिरसस्तर्पणं तेषु नस्तःकर्म प्रवक्ष्यते ॥ ९८ ॥
रक्तपित्तादिरोगेषु शमनं नस्यमिष्यते ।

स्तम्भ, सुप्ति (संज्ञा नाश), गुरुता आदि कफजन्य शिरोरोगों में शिरोविरेचन रूप नस्य कर्म करना चाहिये । शिरःकम्प, अर्दित आदि वातजन्य शिरोरोगों में शिरःसन्तर्पण रूप नस्य कर्म करना चाहिये । रक्त पित्तादि से उत्पन्न शिरोरोगों में शमन नस्य देना चाहिये ।

ध्मापनं धूमपानं च यथायोग्येषु शस्यते ॥ ९९ ॥
दोषादिकं समीक्ष्यैव भिषक् सम्यक् च कारयेत् ।

यथायोग्य रोगों में दोष आदि को देख कर वैद्य को ध्मापन (प्रधमन) और नासा से धूमपान कराना चाहिये ।

फलादि भेषजं प्रोक्तं शिरसो यद्विरेचनम् ॥ १०० ॥
तत्तु संकल्पयेत्तेन पचेत्स्नेहं विरेचनम् ।
यदुक्तं मधुरस्कन्धे भेषजं तेन तर्पणम् ॥ १०१ ॥
साधयित्वा भिषक् स्नेहं नस्तः कुर्याद्विधानवित् ।

फलादिक (फल, पत्र, पुष्प, मूल, कन्द, निर्यास, त्वग्) जो जो विरेचन (शिरोविरेचन) औषध कही है, उस औषध को दोष, व्याधि के अनुसार निश्चित करना चाहिये । औषध निश्चय करके उस औषध से शिरोविरेचन स्नेह सिद्ध करना चाहिये । शिरःसन्तर्पण स्नेह विमानस्थान में, मधुर स्कन्ध भेषज आस्थापन के लिये कही हैं, उन द्रव्यों से तर्पण स्नेह सिद्ध करके प्रतिमर्ष नस्य में प्रयोग करना चाहिये ।

प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा कुर्यात्तर्पणमेव च ॥ १०२ ॥
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम् ।
प्रलम्बशिरसः किंचित्किंचित्पादोन्नतस्य च ॥ १०३ ॥
दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक् ।
अनवाक्शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते ॥ १०४ ॥
अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गे च तिष्ठति ।

अत एव शयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः ॥ १०५ ॥
संस्वेद्य नासामुन्नाम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा ।
हस्तेन दक्षिणेनाथ दद्यादुभयतः समम् ॥ १०६ ॥
प्रणाल्या पिचुना वापि नस्तः स्नेहं यथाविधि ।

नस्य विधि—प्रातः काल (ग्रीष्म ऋतु में) या मध्याह्न में (शिशिर ऋतु में) मल मूत्र आदि आवश्यक कर्म करके अपने बिस्तर पर उत्तान (पीठ के भार) लेटना चाहिये, शिर को कुछ लटका कर (पीछे की ओर) तथा पांव को थोड़ा सा ऊंचा करके रोगी के नासापुटों में स्नेह तर्पण देना चाहिये। स्नेह देने से पूर्व शिर का स्वेदन करना चाहिये। शिर को स्वेदन देकर वाम अंगुष्ठ से नासा को ऊंचा करके दक्षिण हाथ से दबा कर दोनों नासिकाओं में प्रणाली या पिचु द्वारा स्नेह नस्य देना चाहिये। न तो शिर को बहुत नीचा करके और न सिर को बिना नीचे किये (थोड़ा सा नीचा करके) स्नेह-नस्य देना चाहिये। सिर को बिना झुकाये नस्य देने से नस्य शिर में नहीं आता। सिर को बहुत नीचा करके नस्य देने से नस्य मस्तुलुंग में पहुंच जाता है। इसलिये रोगी का शिर नीचे करके प्रथम स्वेदन देना चाहिये। फिर वाम अंगुष्ठ के पर्व से नासा को उठाकर दक्षिण हाथ से दोनों को समान करके नाड़ी या पिचु से स्नेह नस्य देना चाहिये।

कृते च स्वेदयेद्भूय आकर्षेच्च पुनः पुनः ॥ १०७ ॥
तं स्नेहं श्लेष्मणा सार्धं तथा स्नेहो न तिष्ठति ।
स्वेदेनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तःकर्मण्युपस्थितः ॥ १०८ ॥
भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि स्त्यायते[1] ततः ।
श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते ॥ १०९ ॥
ततो नस्तःकृते धूमं पिबेत् कफविनाशनम् ।
हितान्नभुङ् निवातोष्णसेवी स्यान्नियतेन्द्रियः ॥ ११० ॥

१. 'श्यायते' इति पा० ।

स्नेह नस्य दे चुकने पर वार वार स्वेदन देना चाहिये, इस स्वेदन से स्नेह और श्लेष्मा को बाहर खींचना चाहिये, जिससे स्नेह शिर में स्थित न रहे।

क्योंकि शिर में स्थित कफ स्वेद द्वारा उत्क्लेशित (बाहर निकलने के लिये उन्मुख) होकर स्नेह-नस्य के देने से, स्नेह की शीतलता के कारण प्रायः प्रतिश्याय के समान उपद्रव (प्रतिश्याय) उत्पन्न कर देता है । साथ ही श्रोत्र, मन्या, गले आदि में रोगों को उत्पन्न कर देता है। इसलिये नस्य कर्म करने के उपरान्त पुरुष को कफनाशक धूम नासा मे पीना चाहिये। जितेन्द्रिय (मैथुनादि से रहित) होकर हितकारी भोजन करते हुए निवात तथा उष्ण वस्तुओं का सेवन करना चाहिये।

विधिरेषोऽवपीडस्य कार्यः प्रध्मापनस्य तु।
षडङ्गुल्याऽथवा नाल्या धमेच्चूर्णं मुखेन तु॥ १११ ॥
विरिक्तशिरसं तूर्णं पाययित्वाऽम्बु भोजयेत्।
लघु त्रिष्वविरुद्धो च निवातस्थमतन्द्रितः॥ ११२ ॥

प्रतिमर्ष नस्य की विधि अवपीड़न और प्रधमन नस्य में भी करनी चाहिये। प्रध्मापन नस्य छः अंगुल लम्बी नलिका के द्वारा चूर्ण औषध मुख की सहायता से नासिका में धमन करना चाहिये। शिरोविरेचन देने पर तन्द्रा (आलस्य) रहित पुरुष को निवात स्थान में बैठा कर जल्दी मे पानी पिला कर भोजन देना चाहिये। जो भोजन तीनों दोषों में अविरोधि और लघु हो वह देना चाहिये।

विरेकशुद्धदोषस्य कोपनं यस्तु सेवते।
स दोषो विचरंस्तत्र करोति स्वान् गदान्बहून्॥ ११३ ॥
यथास्वं विहितां तेषु क्रियां कुर्याद्विचक्षणः।

शिरोविरेचन से शुद्ध व्यक्ति जिस दोष के प्रकोपक द्रव्यों का सेवन करता है, वह दोष कुपित होकर शिर में विचरता हुआ उसी अपने दोष

से उत्पन्न होने वाले बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। इसके लिये बुद्धिमान् वैद्य को उसी दोष की चिकित्सा करनी चाहिये।

अकालकृतजातानां रोगाणामनुरूपतः ॥ ११४ ॥
अजीर्णे भुक्तभक्ते च तोयपीतेऽथ दुर्दिने।
प्रतिश्याये नवे स्नाने स्नेहपानेऽनुवासने ॥ ११५ ॥
नावनं स्नेहनं रोगान्करोति श्लैष्मिकान्बहून्।
तत्र श्लेष्महरः सर्वस्तीक्ष्णोष्णादिविधिर्हितः ॥ ११६ ॥

अकाल में शिरोविरेचन देने से उत्पन्न रोगों में रोगों के अनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये। अकाल, अजीर्ण में, भोजन करने पर, पानी पीने पर, मेघ से आच्छादित दुर्दिन में, नूतन प्रतिश्याय में स्नान करने पर, स्नेह पान करने पर, अनुवासन लेने पर, नावन स्नेह (स्नेह-नस्य) लेने से कफजन्य बहुत से रोग होते हैं। इसके लिये कफनाशक तीक्ष्ण और उष्ण चिकित्सा करनी चाहिये।

क्षामे विरेचिते गर्भे व्यायामाभिहतेष्वपि।
वातो रूक्षेण नस्येन क्रुद्धः स्वञ्जनयेद् गदान् ॥ ११७ ॥
तत्र वातहरः सर्वो विधिः स्नेहनबृंहणः।
स्वेदादिः स्याद् घृतं क्षीरं गर्भिण्यास्तु विशेषतः ॥ ११८ ॥

निर्बल पुरुष में, विरेचन देने पर, गर्भावस्था में, व्यायाम से पीड़ित (थके), रूक्ष व्यक्ति को नस्य देने से वायु कुपित होकर वातजन्य रोगों को उत्पन्न करता है। इसके लिये वातनाशक चिकित्सा, स्नेहन, बृंहण, स्वेद आदि विधि करनी चाहिये। गर्भवती स्त्री को विशेषकर दूध और घृत देना चाहिये।

ज्वरशोकाभितप्तानां तिमिरं मद्यपस्य च।
रूक्षैः शीताञ्जनैर्लेपैः पुटपाकैश्च साधयेत् ॥ ११९ ॥

ज्वर आदि से पीड़ित पुरुषों में स्नेहन नस्य तिमिर रोग को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार मद्य पीने वाले में भी स्नेहन नस्य तिमिर रोग को

उत्पन्न करता है। इसके लिये रूक्ष तथा शीतांजन (स्रोतोऽञ्जन या तिक्त द्रव्यों से बनाये अंजन) का आंखों पर लेप करना चाहिये, तथा आंखों पर स्नेहन, लेखन, प्रसादन रूप पुटपाक (अक्षितर्पणजन्य विकारों का लेखन करने वाला या शमन करने वाला) लगाना चाहिये। इससे ज्वरादि शान्त होते हैं। ❀

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते ।

नस्य कर्म दो प्रकार का है यथा—स्नेहन और शोधन। ये दोनों प्रकार के नस्य कर्म प्रतिमर्ष करते हैं, दोष को उत्पन्न नहीं करते।

प्रतिमर्षश्च नस्यार्थं करोति न च दोषवान् ॥ १२० ॥
नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात्प्रातर्निशि च सर्वदा ।
नचोत्सिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत् ॥ १२१ ॥

शमन प्रतिमर्ष—स्वस्थ पुरुष को चाहिये कि प्रति दिन प्रातःकाल और रात्रि में यथोक्त शिरोरोगों के शमन स्नेह से अंगुलि को स्निग्ध करके नस्य देवे। अतिशय रूप में नाक को स्वच्छ न करे। इस प्रकार का प्रतिमर्ष नस्य शरीर को दृढ़ करता है।

तत्र श्लोकौ। त्रीणि यस्मात्प्रधानानि मर्माण्यभिहतेषु च ।
तेषु लिङ्गं चिकित्सां च रोगभेदाश्च सौषधाः ॥ १२२ ॥
विधिरुत्तरबस्तेश्च नस्तःकर्मविधिस्तथा ।
षड्व्यापद्भेषजं सिद्धौ मर्माध्याये प्रकीर्तितम् ॥ १२३ ॥

उपसंहार—जिस कारण से तीन मर्मों का प्रधान कहा है, इन मर्मों के लक्षण, रोगों के भेद, औषध, चिकित्सा, उत्तरबस्ति की विधि, नस्य कर्म की विधि, षड् व्यापद भेषज (आम, शकृत्, वात, पित्त, कफ, रक्त

❀ कविराज श्री गंगाधर सेन के अनुसार—वातजन्य ज्वर आदि से पीड़ित रोगियों के लिये घृत और दूध विशेष रूप से देना चाहिये, मद्यप के तिमिर की शीतांजन से चिकित्सा करनी चाहिये।

अतिसार के अति योग निरूह भेषज) सिद्धि इस मर्म अध्याय में कह दी है ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
त्रिमर्मीयसिद्धिर्नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो बस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे बस्तिसिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

सिद्धानां बस्तीनां शस्तानां तेषु तेषु रोगेषु ।
शृण्वग्निवेश गदतः सिद्धिप्रदां भिषजाम् ॥ ३ ॥

हे अग्निवेश ! प्रत्येक रोगों में प्रशस्त, वैद्यों के लिये सिद्धिप्रद सिद्ध बस्तियों का मुझ से श्रवण करो !

बलदोषकालरोगप्रकृतीः प्रविभज्य योजितः सम्यक् ।
स्वैरौषधवर्गैः स्वान्स्वान् रोगान्निवर्तयति ॥ ४ ॥
कर्मान्यद्बस्तिसमं न विद्यते शीघ्रसुखविशोधित्वात् ।
आश्वपतर्पणयोगाच्च निरत्ययत्वाच्च ॥ ५ ॥

रोगी के बल, दोष, प्रकृति (रोग प्रकृति) और काल का विभाग करके अपने अपने वर्ग की ओषधियों से सिद्ध (दोषानुसार) बस्तियों के सम्यक् प्रयोग से रोग नष्ट होते हैं । बस्ति के समान अन्य कोई भी चिकित्सा कर्म नहीं है । क्योंकि इससे शीघ्र तथा सुखपूर्वक विशोधन होता है, शीघ्र अपतर्पण, शीघ्र संतर्पण होता है, तथा निर्दोष है ।

सत्यपि दोषहरत्वे कटुतीक्ष्णोष्णादिभेषजादानात् ।
दुःखोद्गारोत्क्लेशाहृद्यत्वकोष्ठारुजा विरेके स्युः ॥ ६ ॥

यद्यपि कटु, तीक्ष्ण, उष्णादि औषध के योग होने से विरेचन भी

दोषनाशक है, परन्तु इसमें दुःख, उद्गार, उत्क्लेश, हृदय में पीड़ा, कोष्ठ में वेदना होती है, इसलिये यह बस्ति के समान सुखदायक नहीं है।

अविरेच्यौ शिशुवृद्धौ तावप्राप्तहीनधातुबलौ ।
आस्थापनमेव तयोः सर्वार्थकृदुत्तमं कर्म ॥ ७ ॥
बलवर्णहर्षमार्दवगात्रस्नेहान्नृणां दधात्याशु ।

शिशु, वृद्ध पुरुष विरेचन के अयोग्य हैं, क्योंकि शिशु में बल नहीं होता तथा वृद्ध का बल क्षीण हो चुका होता है। इनमें आस्थापन कर्म ही सब उत्तम कर्मों को करता है, सब सिद्धियों को देता है। पुरुषों में बल, वर्ण, हर्ष, मृदुता और शरीर में स्नेह शीघ्र उत्पन्न करता है।

अनुवासनं निरूहश्चोत्तरबस्तिश्च स त्रिविधः ॥ ८ ॥
शाखावातार्तानां सङ्कुचितस्तब्धभग्नसन्धीनाम् ।
विट्सङ्गाध्मानारुचिपरिकर्तिरुगादिषु च शस्तः ॥ ९ ॥

यह बस्ति तीन प्रकार की है। यथा—अनुवासन, निरूह और उत्तरबस्ति। जो पुरुष शाखावात (हाथ, पांव की वायु) से पीड़ित हैं, संकुचित-सन्धि, स्तब्ध-सन्धि, भग्न-सन्धि, विट्संग, आध्मान, अरुचि, परिकर्त्तिका आदि वेदनाओं में बस्ति उत्तम है।

उष्णार्तानां शीताञ्छीतार्तानां तथा सुखोष्णांश्च ।
तद्योगौषधयुक्तान् बस्तीन् सन्तर्क्य विनियुञ्ज्यात् ॥ १० ॥

उष्ण कारणों से पीड़ित पुरुषों में शीत बस्तियों का, शीत कारणों से पीड़ित पुरुषों में सुखोष्ण बस्तियों का, रोग के अनुसार योग तथा औषध से संयुक्त करके विवेचना पूर्वक प्रयोग करना चाहिये।

बस्तीन्न बृंहणीयान्दद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु ।
मेदस्विनो विशोध्या ये च नराः कुष्ठमेहार्ताः ॥ ११ ॥

संशोधनीय रोगों में बृंहणीय बस्तियां नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार से मेदस्वी पुरुषों में जिनका शोधन करना है, कुष्ठ रोगी तथा प्रमेह रोगियों में बृंहणीय बस्तियों को नहीं देना चाहिये।

न क्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कस्तब्धदेहानाम् ।
दद्याद्विशोधनीयान्दोषनिबद्धायुषो ये च ॥ १२ ॥

क्षीण, क्षत, दुर्बल, मूर्च्छित, कृश, शुष्क तथा स्तब्ध दोष वाले पुरुषों में और जिनकी आयु दोष के सहारे टिकी हुई है (जैसे कि शोषरोगी,) उनमें संशोधनीय बस्तियां नहीं देनी चाहिये ।

वाजीकरणेऽसृक्पित्तयोर्मधुघृतपयःसंयुताः सर्वे ।
शस्ताः सतैलमूत्रारनाललवणाः कफावृते वाते ॥ १३ ॥

वाजीकरण बस्तियों में, रक्त, पित्त दोषनाशक बस्तियों में मधु और घृत का प्रक्षेप मिलाना सब अवस्था में उत्तम है । कफ और वात दोष में तैल, मूत्र, वच और लवण का मिश्रण करना सब अवस्था में श्रेष्ठ है ।

युञ्ज्याद् द्रव्याणि बस्तिष्वम्लं मूत्रं पयः सुराक्काथान् ।
अविरोधाद्धातूनां रसयोनित्वाच्च जलमुष्णम् ॥ १४ ॥

बस्तियों में अम्ल (कांजी), गोमूत्र, पय (दूध), सुरा, उष्ण जल मिलाना चाहिये, क्काथ के अविरोधी, तथा धातुओं से अविरोधी वस्तुएं मिलानी चाहिये । जल ही रसों का उत्पत्ति स्थान है, इसलिये यह उष्ण जल बस्तिगत सम्पूर्ण रस का पोषण करता है, अतः सब बस्तियों में कल्कादि के पोषण के लिये प्रयोग करना चाहिये । अथवा जल से अम्ल द्रव आदि ग्रहण करके उनका भी मिश्रण करना चाहिये ।

सुरदारुशताह्वैलाकुष्ठमधुकपिप्पलीमधुस्नेहाः ।
ऊर्ध्वानुलोमभागाः स सर्षपा शर्करा लवणम् ॥ १५ ॥
आवापो बस्तीनामतः प्रयोज्यानि येषु यानि स्युः ।
युक्तानि सह कषायैस्तदुत्तरतः प्रवक्ष्यामि ॥ १६ ॥

बस्ति में प्रक्षेप द्रव्य देवदारु, सौंफ, इलायची बड़ी, कुष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, मधु, स्नेह, सरसों, शर्करा, सैन्धव लवण इनको तथा ऊर्ध्व भाग, अनुलोम द्रव्यों का मिश्रण करना चाहिये । बस्तियों में आवाप (प्रक्षेप) सब से श्रेष्ठ है, इसलिये बस्तियों में इन द्रव्यों को आवाप रूप में प्रयोग

करना चाहिये। कषाय के साथ जिन वस्तुओं को मिश्रित करना चाहिये, उन द्रव्यों को आगे कहूंगा। ॐ

चिरजातकठिनबलिषु व्याधिषु तीक्ष्णा विपर्यये च मृदवः।
सप्रतिवापकषायैर्योज्यास्त्वनुवासननिरूहाः॥ १७॥

चिरजात (पुरातन) तथा कठिन, बल वाले पुरुषों में तीक्ष्ण बस्तियां, नूतन, मृदु, निर्बल पुरुषों में मृदु बस्तियां देनी चाहिये। अनुवासन बस्ति और निरूह बस्ति में प्रतिवाप और कषाय मिला कर प्रयोग करना चाहिये। अनुवासन बस्ति में भी आवाप करना चाहिये।

अर्धश्लोकैरतः सिद्धान्नानाव्याधिषु वर्गशः।
बस्तीन् वीर्यसमैर्भागैर्यथार्हानिह ताञ्छृणु॥ १८॥

नाना रोगों के लिये वर्ग (विभाग) के अनुसार वीर्य सम भाग (अन्योऽन्य अनुपहत सामर्थ्य वाले द्रव्यों को समान भाग) वाले द्रव्यों से बनी हुई अर्ध श्लोक में कही दोषों के योग्य बस्तियों को सुनो।

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योणाकः काश्मर्यः पाटलिस्तथा।
शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वर्धमानकः॥ १९॥
यवाः कुलत्थाः कोलास्थि स्थिरा चेति त्रयोऽनिले।
शस्यन्ते सचतुःस्नेहाः पिशितस्य रसान्विताः॥ २०॥

तीन बस्तियां—(१) बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, काश्मरी और पाटला इनकी मूल का क्काथ। (२) शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, वर्धमान (एरण्ड) इनका क्काथ, (३) जौ, कुलत्थी, कोलास्थि (बेर की मज्जा) और स्थिरा (शालपर्णी) इनका क्वाथ ये तीन बस्तियां वातदोष में उत्तम हैं। इन क्वाथ में मांसरस मिला कर चतुः स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) सिद्ध करके बस्तियां देनी चाहियें।

नलवञ्जुलवानीरशतपत्राणि शैवलम्।

ॐ कविराज श्रीगंगाधर सेन आवाप के स्थान पर 'आपः' पढ़ते हैं और इससे जल ग्रहण करते हैं।

मञ्जिष्ठा सारिवाऽनन्ता पयस्या मधुयष्टिका ॥ २१ ॥
चन्दनं पद्मकोशीरं तुङ्गं च पैत्तिके त्रयः ।
सशर्कराघृतक्षौद्राः सक्षीरा बस्तयो हिताः ॥ २२ ॥

तीन बस्तियां—(१) नल (नरसड़), वञ्जुल (वेतस), वानीर (वेतस भेद), शतपत्र (गुलाब), शैवल (सरवाल), (२) मंजीठ मुलहठी, अनन्तमूल, पयस्या (क्षीरविदारी), मुलहठी (दो बार होने से दो भाग), (३) चन्दन, पद्माख, उशीर (खस) ये तीन पित्त रोग में प्रशस्त हैं। इन बस्तियों में शर्करा, घृत, मधु और सौवीर कांजी (निस्तुष कांजी) मिला कर प्रयोग करना चाहिये ।

अर्कस्तथैव चालर्क एकाष्ठीला पुनर्नवा ।
हरिद्रा त्रिफला मुस्तं पीतदारु कुटन्नटम् ॥ २३ ॥
पिप्पल्यश्चित्रकश्चेति त्रयस्ते श्लेष्मरोगिणाम् ।
सक्षारक्षौद्रगोमूत्रा नातिस्नेहान्विता हिताः ॥ २४ ॥

तीन बस्तियां—(१) अर्क (श्वेत आक), अलर्क (रक्त आक), एकाष्ठीला (पाठा या वकपुष्प वृक्ष), पुनर्नवा । (२) हल्दी, त्रिफला, मुस्ता, पीतदारु, कुटन्नट (कैवर्त्त मुस्ता या श्योनाक), (३) पिप्पली और चित्रक ये तीन बस्तियां कफ रोगी के लिये उत्तम हैं। इन बस्तियों में यवक्षार, मधु, गोमूत्र तथा मात्रा में स्नेह (अति अधिक स्नेह नहीं) मिश्रित करके बस्ति देनी चाहिये ।

फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकवत्सकाः ।
श्यामा च त्रिफला चैव स्थिरा दन्ती द्रवन्त्यपि ॥ २५ ॥
प्रकीर्या चोदकीर्या च नीलिनी क्षीरिणी तथा ।
सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च ॥ २६ ॥
चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते पक्वाशयविशोधनाः ।
व्यस्तैरपि समस्तैश्च चतुर्योगा उदाहृताः ॥ २७ ॥

चार योग—(१) मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, अक्षोट

(अखरोट) और इन्द्रजौ, (२) श्यामा, त्रिवृत् इनकी मूल, दन्तिमूल, द्रवन्ती (३) प्रकीर्य्या (करंज), उदकीर्य्या (नाटा करंज), क्षीरिणी (दुग्धिका, पाठान्तर में चक्रिणी), नीलिनी (नील), (४) सप्तला, शंखिनी, लोध्र, मदनफल और कम्पिल्ल इन चारों को पृथक् पृथक् या समस्त रूप में गोमूत्र में सिद्ध करके (क्वाथ करके) प्रयोग करना चाहिये ये चारों योग पक्वाशय के शोधक हैं।

काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी शतावरी।
विदारी मधुयष्ट्याह्वा शृङ्गाटककशेरुके ॥ २८ ॥
आत्मगुप्ताफलं माषाः सगोधूमा यवास्तथा।
जाङ्गलानूपजं मांसमित्येते शुक्रमांसदाः ॥ २९ ॥

चार बस्तियां—(१) काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, शतावरी, (२) मुलहठी, विदारी, सिंघाड़ा और कशेरु, (३) कौंच के बीज, उड़द, गोमूत्र और जौ, (४) जांगल मांस तथा आनूप मांस इनसे सिद्ध चार बस्तियां शुक्रप्रद और मांसप्रद हैं।

जीवन्ती चाग्निमन्थश्च धातकीपुष्पवत्सकौ।
प्रग्रहः खदिरः कुष्ठं शमी पिण्डातको यवाः ॥ ३० ॥
प्रियङ्गू रक्तमूली च तरुणी स्वर्णयूथिका।
वटाद्याः किंशुकं लोध्रमिति सांग्राहिका मताः ॥ ३१ ॥

चार बस्तियां—(१) जीवन्ती, अग्निमन्थ, धातकी पुष्प, वत्सक (इन्द्रजौ), (२) प्रग्रह, खदिर, कुष्ठ, शमी (जंड), पिण्डीतक (मदनफल) और जौ, (३) प्रियंगु, रक्तमूली (समंगा पाठान्तर में अर्कमूली), तरुणी (गुलाब या नवमालिका), स्वर्णयूथिका (चमेली), (४) वट आदि मूत्र संग्राहि दश में से जामुन, पिलखन और आम को छोड़कर वट, कपीतन आदि सात, किंशुक (ढाक) और लोध्र इनके क्वाथ की बस्तियां सांग्राहिक हैं।

परिस्रवे शृतं क्षीरं सवृश्चीरपुनर्नवम्।

आखुपर्णिकया वापि तण्डुलीयकयुक्तया ॥ ३२ ॥

परिस्राव में—वृश्चीर (रक्त पुनर्नवा) और श्वेत पुनर्नवा से पक्व दूध की बस्ति देनी चाहिये । अथवा तण्डुलीय (चौलाई) के साथ आखुपर्णि को मिलाकर इनसे दूध को सिद्ध करके बस्ति देनी चाहिये ।

कोलकतककाण्डेक्षुदर्भपोटगलवालिभिः ।
दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चोत्पलादिभिः ॥ ३३ ॥

दाह में—कोल, कतक, काण्डेक्षु (बृहद् इक्षु), दर्भपत्री (कतृण), इक्षुवालिका इनके क्वाथ में घृत और दूध मिला कर बस्ति देनी चाहिये । अथवा पद्म, उत्पल, नलिनी आदि मूत्र विरजनीय दस ओषधियों में से पद्म को छोड़कर शेष नौ द्रव्यों का क्वाथ करके इसमें घृत, दूध मिला कर बस्ति देनी चाहिये यह दाहनाशक है । [अथवा उत्पल आदि से नलिन, सोगन्धिक आदि जलज पुष्पों का ग्रहण करना चाहिये ।

कर्बुदाराढकीनीपविदुलैः क्षीरसाधितैः ।
बस्तिः प्रदेयो भिषजा शीतः समधुशर्करः ॥ ३४ ॥
परिकर्ते तथा वृन्तैः श्रीपर्णीकोविदारजैः ।

परिकर्त्तिका में—कर्बुदार (लाल कचनार), अरहर, नीप (निम्ब), विदुल (वेतस) इनके क्वाथ में दूध सिद्ध करके उसमें मधु और शर्करा मिला कर शीतल बस्ति देनी चाहिये । अथवा श्रीपर्णी (गम्भारी) और कोविदार (कचनार) के वृन्तों से दूध सिद्ध करके इसमें मधु और शर्करा मिला कर शीतल बस्ति देनी चाहिये ।

मुष्टिः शाल्मलिवृन्तानां क्षीरसिद्धो घृतान्वितः ॥ ३५ ॥
हितः प्रवाहणे तद्वद्वृन्तैः शाल्मलिकस्य च ।

प्रवाहण में—शाल्मली वृन्त एक मुष्टि (पल) लेकर इनसे दूध सिद्ध करके घृत मिला कर बस्ति देनी चाहिये । शाल्मली के वेष्ट (गोंद) से दूध सिद्ध करके इसमें घृत मिला कर बस्ति देनी चाहिये ।

अश्वावरोहिकाकाकनासाराजकशेरुकैः ॥ ३६ ॥

सिद्धाः क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः ।
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिनाऽपरः ॥ ३७ ॥
बस्तिः प्रवाहणे देयो भिषजा कल्पितो धिया ।

अश्वावरोहिका (अश्वगन्धा वा पीपल के वृक्ष की छाल), काकनासा (कौआठूठी), राजकशेरु इनको पृथक् २ दूध में सिद्ध करके मधु, घृत और रसांजन मिला कर प्रवाहण में प्रयोग करने चाहियें, ये तीन योग हैं । वटादि चार (बरगद, पीपल, गूलर, पिलखन) को दूध में सिद्ध करके मधु, घृत, रसांजन मिलाकर बस्ति प्रवाहण में देनी चाहिये ।

बृहती क्षीरकाकोली पृश्निपर्णी शतावरी ॥ ३८ ॥
काश्मर्यं बदरी दूर्वा तथोशीरप्रियङ्गवः ।
जीवादाने शृतौ क्षीरे द्वौ घृताञ्जनसंयुतौ ॥ ३९ ॥
बस्ती प्रदेयौ भिषजा शीतौ समधुशर्करौ ।
गोऽव्यजामहिषीक्षीरर्जीवनीययुतैस्तथा ॥ ४० ।
तेनैव विधिना बस्तिर्देयः सक्षौद्रशर्करः ।

तीन बस्तियां—(१) जीवनीय आदि दस ओषधियों के क्वाथ में बृहती (बड़ी कटेरी), क्षीरकाकोली, पृश्निपर्णी, शतावरी इनके कल्क से दूध सिद्ध करके उसमें मधु, शर्करा, घृत और रसांजन मिला कर बस्ति देनी चाहिये, (२) जीवनीय दश ओषधियों के क्वाथ में काश्मरी, बेर, दूर्वा, उशीर, प्रियंगु इनके कल्क से दूध सिद्ध करके इसमें मधु, शर्करा, घृत और रसांजन मिला कर बस्ति देनी चाहिये । ३) गाय, भैंस, भेड़ और बकरी के दूध को जीवनीय गण की ओषधियों के कल्क से सिद्ध करके इसमें घृत, मधु, शर्करा और रसांजन मिला कर प्रवाहण में बस्ति देनी चाहिये । चक्रपाणि जीवादान में ये तीन बस्तियां देने को कहता है ।

शशैणदक्षमार्जारमहिषाव्यजशोणितैः ॥ ४१ ॥
सद्यस्कैर्मृदुभिर्बस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते ।

रक्त देने के लिये—शशक, हरिण, दक्ष (मुर्गा), , भैंस, बिल्ली भेड़, बकरी इनके तुरन्त निकले रक्त में मृदु वीर्य द्रव्यों को मिलाकर बस्ति देनी चाहिये । इससे जीव (रक्त) बढ़ता है, रक्त प्रवृत्ति में यह बस्ति उत्तम है ।

मधूकमधुकद्राक्षादूर्वाकाश्मर्यचन्दनैः ॥ ४२ ॥
शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः ।
रक्तपित्ते प्रमेहे तु कषायः सोमवल्कजः ॥ ४३ ॥

तीन क्वाथ—(१) महुआ, मुलहठी, द्राक्षा, दूर्वा, काश्मरी, चन्दन (२) शर्करा, चन्दन, द्राक्षा, मधु, धात्रीफल (आंवला), उत्पल (कमल), (३) सोम वल्कल (विड् खादिर या कायफल) इन तीन कषायों से बस्तियां रक्त पित्त और प्रमेह में प्रशस्त हैं । विधि को जानने वाले वैद्य को इनसे बस्ति देनी चाहिये । कई वैद्य सोमवल्कल को द्वितीय बस्ति में मिला कर दो ही बस्ति गिनते हैं ।

तत्र श्लोकाः । त्रिकास्त्रयोऽनिलादीनां चतुष्काश्चापरे त्रयः ।
पक्वाशयविशुद्ध्यर्थं वृष्याः सांग्राहिकास्तथा ॥ ४४ ॥
परिस्रावे तथा दाहे परिकर्ते प्रवाहणे ।
अतियोगे मताः पञ्च जीवादाने तथा त्रयः ॥ ४५ ॥
रक्तपित्ते द्वयं मेह एकस्त्रिंशच्च पञ्च च ।
सुलभा नौषधक्लेशा बस्तयो गुणवत्तमाः ॥ ४६ ॥
गुल्मातिसारोदावर्तस्तम्भसङ्कुचितादिषु ।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगेषु रोगेष्वेवंविधेषु च ॥ ४७ ॥
यथास्वमौषधैः सिद्धान् बस्तीन्दद्याद्विचक्षणः ।
पूर्वोक्तेन विधानेन कुर्याद्योगान् पृथग्विधान् ॥ ४८ ॥

वात, पित्त, कफ तीन दोषों के लिये तीन बस्तियां, पक्वाशय शोधन के लिये वृष्य तथा सांग्राहिक (तीन के लिये) चार बस्तियां, परिस्राव, दाह, परिकर्त्तिका, प्रवाहण के अतियोग में दो दो बस्तियां, जीवादान में

दो बस्तियां, रक्त पित्त में दो, इस प्रकार से कुल ३६ (छत्तीस) बस्तियां कही हैं। ये बस्तियां सुलभ, अल्प-औषधसाध्य तथा अल्पक्लेशदायक गुणों में उत्तम हैं। [तैंतीस बस्तियां पूरी करने के लिये जीवादान में तीन गिननी चाहियें।]

गुल्म, अतिसार, उदावर्त्त, स्तम्भ, संकोच आदि रोगों में, सर्वांग रोग, एकांग रोग तथा इस प्रकार के अन्य रोगों में अपने गण की ओषधियों से सिद्ध बस्तियों का प्रयोग करना चाहिये। पूर्वोक्त विधि से पृथक् २ योगों को सिद्ध करके बस्ति देनी चाहिये।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने बस्ति-
सिद्धिर्नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः।

अथातः फलमात्रसिद्धिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे फलमात्र सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

भगवन्तमुदारसत्त्वधीश्रुतविज्ञानसमृद्धमत्रिजम्।
फलबस्तिवरत्वनिश्चये सविवादा मुनयोऽभ्युपागमन् ॥ १ ॥
भृगुकौशिककाप्यशौनकाः सपुलस्त्यासितगौतमादयः।
कतमत्प्रवरं फलादिषु स्मृतमास्थापनयोजनास्विति ॥ २ ॥

फलबस्ति के श्रेष्ठत्व निश्चय करने के विषय में विवादशील भृगु, कौशिक, काप्य, शौनक, पुलस्त्य, असित और गौतम आदि ऋषि उदार-सत्त्व, धी, श्रुत विज्ञान से समृद्ध भगवान् आत्रेय के पास पहुंच कर पूछने लगे—भगवन्! आस्थापन योजना में मदन फल आदि द्रव्यों में से कौन द्रव्य श्रेष्ठ है?

कफपित्तहरं वरं फलेष्वथ जीमूतकमाह शौनकः।

मृदुवीर्यतया भिनत्ति तच्छकृदित्याह नृपोऽथ वामकः ॥३॥
कटुतुम्बीफलमुत्तमं मतं वमने दोषसमीरणं च तत् ।
तदयोग्यमशैत्यतीक्ष्णताकटुरौक्ष्यादिति गौतमोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
कफपित्तनिबर्हणं परं स च धामार्गवमित्यमन्यत ।
तदमन्यत वातलं पुनर्बडिशो ग्लानिकरं बलापहम् ॥ ५ ॥
कुटजं प्रशशंस चोत्तमं न बलघ्नं कफपित्तहारि च ।
अतिपिच्छलमूर्ध्वभागिकं पवनक्षोभि च काप्य आह तत् ॥ ६ ॥
कृतवेधनमाह वातलं कफपित्तं प्रबलं हरेदिति ।
तदसाध्विति भद्रशौनकः कटुकं चापि बलघ्नमित्यपि ॥ ७ ॥

शौनक ऋषि ने कहा कि—फलों में जीमूतक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह कफ-पित्तनाशक है।

वामक नृप ने कहा कि—यह जीमूतक मृदु वीर्य होने से मल का अच्छी प्रकार से भेदन करता है।

गौतम ऋषि ने कहा कि—वमन के लिये कटुतुम्बी का फल उत्तम है, बस्ति में देने से दोषनाशक है। क्योंकि यह अवृष्य, सूक्ष्म और तीक्ष्ण तथा कटु, रूक्ष होने से दोषों को निकालता है।

धामार्गव ने कहा कि—कफ पित्त को निकालने के लिये कटु तुम्बी फल ठीक है।

बडिश ने कहा कि—यह ठीक है, परन्तु कटु तुम्बी फल वायुकारक, ग्लानि करने वाली और बलनाशक है। फलों में कुटज फल उत्तम है, यह बल को नष्ट नहीं करता और कफ पित्त को नष्ट करता है।

काप्य ने कहा कि—यह कुटज वातप्रकोपक है, पिच्छल और वामक है। इसलिये कृतवेधन, वायुकारक होते हुए भी कफ, पित्त को शीघ्रता से नष्ट करता है।

शौनक ने कहा—यह ठीक नहीं है, कृतवेधन कटु और बलनाशक भी है।

इस प्रकार विचित्र हेतुओं वाले ऋषियों के वचनों को सुन कर बुद्धिमान् अत्रि पुत्र ने इनकी प्रशंसा की और फलों के विषय में अन्तिम श्रेष्ठ निश्चय इस प्रकार से कहा—

इति तद्वचनानि हेतुभिः सुविचित्राणि निशम्य बुद्धिमान् ।
प्रशशंस फलेषु निश्चयं परमं चात्रिसुतोऽब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥
फलदोषगुणान्सरस्वती प्रति सर्वैरपि सम्यगीरिता ।
न तु किंचिददोषनिर्गुणं गुणभूयस्त्वमतो विचिन्त्यते ॥ ९ ॥

आप सब महानुभावों ने फलों के दोष और गुणों के विषय में सम्यक् प्रकार से वाणी कही है। कोई भी फल निर्दोष और निर्गुण नहीं है, इसलिये गुणों की प्रधानता का ही विचार किया जाता है।

इह कुष्ठहिता गरागरी हितमिक्ष्वाकु तु मेहिने मतम् ।
कुटजस्य फलं हृदामये प्रवरं कोठफलं च पाण्डुषु ॥ १० ॥
उदरे कृतवेधनं हितं मदनं सर्वगदाविरोधि तु ।
मदनं सकषायतिक्तकं तदरूक्षं सकटूष्णपिच्छिलम् ॥ ११ ॥
कफपित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च ।
फलनामविशेषतस्त्वतो लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि ॥ १२ ॥

गरागरी (खरागरी पाठान्तर में—जीमूतक) कुष्ठ रोग में, इक्ष्वाकु फल प्रमेह में उत्तम है। हृदय रोग में कुटज फल, पाण्डु रोग में कोशातकी फल उत्तम है। उदर रोग में कृतवेधन फल उत्तम है तथा मैनफल सब रोगों में अविरोधी है। मैनफल, मधुर, कषाय, तिक्त, स्नेह गुण, कटु, उष्ण और पिच्छिल है। * कफ, पित्तनाशक, दोषों को शीघ्र निकालने वाला, इसलिये लघु, निर्दोष, वायु का अनुलोमक है। इसलिये अन्य

---

* जल्पकल्पतरु में—'कोठफलं च पाण्डुषु' यह पाठ है। कोठफल से काठोडुम्बर फल लिया है। परन्तु संग्रह में कोशफल ही पाठ है।

(१) 'कटूष्णपिच्छिलम्' के स्थान में जल्पकल्पतरु में 'कटूष्णविज्जलम्' पाठ है, यह चिन्तनीय है।

जीमूतादि फलों के होते हुए भी मैनफल ही सबसे विशेष (श्रेष्ठ) है।

गुरुणा च वचस्युदाहृते मुनिसङ्घेन च पूजिते ततः।
प्रणिपत्य मुदा समन्वितः सहितः शिष्यगणोऽनुपृष्टवान् ॥ १३ ॥

गुरु आत्रेय के इस प्रकार से वचन कहने पर मुनिवृन्द ने इनकी पूजा की। प्रसन्न होकर नम्रतापूर्वक शिष्यसमूह ने भगवान् आत्रेय से पूछा।

सर्वकर्मगुणकृद्गुरुणोक्तो बस्तिरूर्ध्वमथ वेदिना मतः।
नाभ्यधो गुदगतश्च शरीरात्सर्वतः कथमपोहति दोषान् ॥ १४ ॥

अर्थ को जानने वाले गुरु ने बस्ति को सब कर्म्म, सब गुणों को करने वाली कहा है। नाभि से नीचे गुदा में पहुंची बस्ति किस प्रकार से सम्पूर्ण शरीर के दोषों को निकाल देती है ?

तद्गुरुरब्रवीदिदं शरीरं तन्त्रयतेऽनिलः सङ्गविघातात्।
केवल एक दोषसहितो वा स हि वायुः प्रकोपमुपयाति ॥ १५ ॥
तं पवनं सपित्तकफविट्कं शुद्धिकरोऽनुलोमयति बस्तिः।
सर्वशरीरगश्च गदसंघातः प्रकाशनात्प्रशान्तिमुपयाति ॥ १६ ॥

इसका उत्तर गुरु ने कहा—इस शरीर को वायु ही सङ्ग और विघात रूप में धारण करती है। (कहा भी है—वायुस्तन्त्रतन्त्रधरः)। यह वायु स्वतंत्र रूप में अथवा अन्य दोषों के साथ शान्त हो जाता है या प्रकुपित हो जाता है। पित्त, कफ, मलयुक्त इस वायु को बस्ति शोधन करती और अनुलोमन करती है। इसलिये सम्पूर्ण शरीर के रोगसमूह इस वायु के शान्त होने पर शान्त हो जाते हैं।

अथाभिगम्यार्थमखण्डितं धिया गजोष्ट्रगोऽश्वाव्यजबस्तिकर्म।
अपृच्छदेनं स च बस्तिमब्रवीद्विधिं च तस्याह पुनः प्रचोदितः ॥१७॥

इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप में अर्थ को बुद्धि से समझ कर शिष्यों ने हाथी, ऊंट, गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी के बस्ति कर्म्म के विषय में पूछा। गुरु ने बस्ति तथा इसकी विधि का पुनः उपदेश किया।

अजाविके सौम्य गजोष्ट्रयोर्वा गवाश्वयोर्बस्तिमुशन्ति माहिषम् ।
अजाविकादेस्तु सुबस्तिमुत्तरं वदन्ति बस्ति त्वथ उत्तरेण ॥ १८ ॥

हे सौम्य ! अजा (बकरी), भेड़, गज (हाथी), ऊंठ, गाय, घोड़ा, भैंस इनकी बस्ति बस्ति कर्म में प्रयुक्त होती है । विपरीत रूप (गुदा-मार्ग) से दी जाने वाली बस्ति को विपरीत बस्ति, मूत्र-मार्ग से दी जाने वाली बस्ति को उत्तर बस्ति और अपत्य-मार्ग से दी जाने वाली बस्ति का 'सुबस्ति' कहते हैं ।

सुबस्तिमष्टादशषोडशाङ्गुलं तथैव नेत्रं च दशाङ्गुलं क्रमात् ।
गजोष्ट्रगोश्वाव्यजबस्तिसंधौ चतुर्थभागे कृतकर्णिकं वदेत् ॥ १९ ॥

नेत्र परिमाण—हाथी और ऊंट की बस्ति में नेत्र १८ अंगुल लम्बा, गाय और घोड़े की बस्ति में १६ अंगुल, भेड़ और बकरी की बस्ति में दस अंगुल लम्बा नेत्र होना चाहिये । नेत्र के चतुर्थ भाग में कर्णिका बना कर वहां पर गाय आदि की बस्ति की सन्धि बनानी चाहिये ।

प्रस्थस्त्वजाव्योर्हि निरूहमात्रा गवादिषु द्वित्रिगुणो यथाबलम् ।
निरूह उष्ट्रस्य तथाढकद्वयं गजस्य वृद्धिस्त्वनुवासनेऽष्टमः ॥ २० ॥

भेड़ और बकरी की बस्ति में निरूह मात्रा एक प्रस्थ मात्रा, गाय और घोड़े को निरूह देने में दो प्रस्थ, हाथी और ऊंट को निरूह देने में ३ प्रस्थ मात्रा बरतनी चाहिये । बल के अनुसार ऊंट को निरूह देने में दो आढक, हाथी को निरूह देने में बलानुसार वृद्धि करनी चाहिये । अनुवासन बस्ति में निरूह के अष्टम भाग (चक्रपाणि के अनुसार अष्टमांश स्नेह) की बस्ति देनी चाहिये ।

कलिङ्गकुष्ठे मधुकं सपिप्पली वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम् ।
हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो द्विपञ्चमूलस्य विकल्पना त्वियम् २१

द्रव्य—कलिंग (इन्द्रजौ), कुष्ठ, मुलहठो, पिप्पली, वचा, सौंफ, मैनफल प्रत्येक का क्वाथ करके इसमें रसांजन घोल कर गुड़ और सैन्धव मिला कर निरूह करना चाहिये । इसी प्रकार दशमूल के क्वाथ में रसां-

जन, गुड़, सैन्धव मिला कर बस्ति देनी चाहिये । यह सब के लिये सामान्य निरूह है ।

गजेऽधिकोऽश्वत्थवटाश्वकर्णजः सखादिरः प्रग्रहशालतालजः ।
तथा च उष्ट्रे धवशिग्रुपाटलामधूकसाराः सनिकुम्भचित्रकाः ॥२२॥
पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणीकषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः ।
पलाशदन्तीसुरदारुकत्तृणद्रवन्त्य उक्तास्तुरगस्य चाधिकाः ॥ २३ ॥
खरोष्ट्रयोः पीलुकरीरखादिराः शम्याकबिल्वादिगणस्य च च्छदाः ।
अजाविकानां त्रिफलापरूषकं कपित्थकर्कन्धु सबिल्वकोलजम् ॥२४

गज के लिये निरूह बस्ति पीपल, बरगद, अश्वकर्ण (शाल भेद) खैर, प्रग्रह, शाल, ताल (ताड़) इनके कषाय की बस्ति देनी चाहिये । ऊंठ के लिये धव, शिग्रु (शोभांजन), पाटला, मधूकसार (महुए का सार या विजयसार), निकुम्भ (दन्ती), चित्रक इनके क्वाथ की बस्ति देनी चाहिये । गाय के लिये ढाक, भूतीक (अजवायन या करंज), देव-दारु, कटुकी इनके कषाय की बस्ति उत्तम है । घोड़े के लिये ढाक, दन्ती, देवदारु, कत्तृण, द्रवन्ती इनके कषाय की बस्ति उत्तम हे । गधे और ऊंट के लिये पीलु, करीर, खैर इनके क्वाथ की तथा अमलतास और बिल्वादि पंचमूल के पत्तों का निरूह उत्तम है । भेड़ और बकरी के लिये त्रिफला, फालसा, कैथ, कर्कन्धू (बेर), बेलगिरी, कोल (झाड़ी का बेर) इनके क्वाथ की बस्ति उत्तम है ।

अथाग्निवेशः सततोऽन्तरान्तरा हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च ।
सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्याः सह पण्यजीविभिः ॥२५॥
द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते ।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात्परानुरोधाद्बहुचिन्तनाद्भयात् ॥ २६ ॥
नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना ।
सदासनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ॥ २७ ॥
सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम् ।

अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते ॥२८॥

सदा रोगियों के लिये हितकारी प्रश्न को अग्निवेश ने पूछा, गुरु आत्रेय ने उत्तर दिया। श्रोत्रिय (वेदपाठी), राजसेवक, वेश्या और पण्यजीवी (व्यापारी) सदा रोगी रहते हैं। क्योंकि वेदपाठी ब्राह्मण शिष्यों को पढ़ाने में, व्रतों में, दैनिक पूजा-पाठ में सदा लगे रहते हैं, वे शरीर का ध्यान नहीं रखते, इसलिये सदा रोगी रहते हैं। राजसेवक राजा और धन की रक्षा में लगे रहने से, दूसरों के अधीन रहने से, बहुत चिन्ता और भय के कारण सदा रोगी रहते हैं। वेश्या पुरुष की इच्छा के अनुसार चलने से, पुरुष के उपकार में लगी रहने से, शरीर मार्जन तथा शृङ्गार में दत्तचित्त रहने से सदा रोगी रहती है। पण्यजीवी (व्यापारी) नित्य बैठे रहने से, खरीद फ़रोख्त के लोभ में फंसे रहने से सदा रोगी रहते हैं। ये पुरुष सदा मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकते हैं और समय पर भोजन नहीं करते। इसी प्रकार से जो अन्य पुरुष भी अकाल में मल मूत्रादि का त्याग तथा बिना समय के भोजन करते हैं, वे भी सदा रोगी रहते हैं।

समीरणं वेगविधारणोद्धतं विवद्धसर्वाङ्गरुजाकरं भिषक्।
समीक्ष्य तेषां फलवर्तिमादितः सुकल्पितां स्नेहवतीं प्रयोजयेत् ॥२९
पुनर्नवैरण्डनिकुम्भचित्रकान्सदेवदारुत्रिवृतानिदिग्धिकान्।
महान्ति मूलानि च पञ्च तद्भवान्विपाच्य मूत्रे दधिमस्तुसंयुते ॥३०
सतैलसर्पिर्लवणैश्च पञ्चभिर्विमूर्च्छितं बस्तिमथ प्रयोजयेत्।
निरूहितं धन्वरसेन भोजितं निकुम्भतैलेन ततोऽनुवासयेत् ॥३१॥

मल मूत्र के वेग को रोकने से कुपित, अवरुद्ध एवं सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा उत्पन्न करने वाली वायु को शान्त करने के लिये सब से प्रथम स्नेह युक्त फलवर्त्ति का प्रयोग वैद्य को करना चाहिये, पीछे से पुनर्नवा, एरण्ड मूल, निकुम्भ (दन्ती), चित्रक, देवदारु, निशोथ, छोटी कटेरी, बिल्वादि महा पंचमूल इन को दधि मस्तु और गोमूत्र के साथ क्वाथ करना

चाहिये। इस क्काथ में तैल, घृत, पाचों नमक (सैन्धव, सावचल, साम्भर, उद्भिद, विड् लवण) मिला कर मन्थन दण्ड से मथकर बस्ति देनी चाहिये। निरूह देने के उपरान्त धन्व (जांगल) मांस रस के साथ भोजन देकर निकुम्भ (दन्ती) क्काथ में निकुम्भ कल्क से साधित तैल से अनुवासन देना चाहिये।

बलाश्वगन्धाफलबिल्वचित्रकान्द्विपञ्चमूले कृतमालकोत्पले।
यवान्कुलत्थांश्च पचेज्जलाढके रसः स पेष्यैस्तु कलिङ्गकादिभिः ॥३२
सतैलसर्पिर्गुडसैन्धवो हितः सदा नाराणां बलवर्णवर्धनः।
तथैव शस्तं मधुकेन साधितं फलेन बिल्वेन शताह्वयाऽथ वा ॥३३॥

क्काथार्थ—बला, रास्ना, मदनफल, बेलगिरी, चित्रक, दशमूल, अमलतास का फल, कमल जौ और कुलत्थी इनका एक आढ़क जल में क्काथ करना चाहिये। इसमें कल्कार्थ कलिंग, कुष्ठ, मधुक, पिप्पली, वच, सौंफ, मैनफल, रसांजन इन वस्तुओं के कल्क से सिद्ध करके इसमें तैल, घृत, गुड़, सैन्धव मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति सदा रोगियों के लिये बलवर्धक, कान्तिवर्धक है। निरूह देने के उपरान्त मुलहठी से सिद्ध या बिल्व फल से सिद्ध अथवा सौंफ से सिद्ध तैल से अनुवासन देना चाहिये।

सजीवनीयस्तु रसोऽनुवासन निरूहणे चालवणो शिशोर्हितः।
नचान्यदाश्वङ्गबलाभिवर्धनं निरूहबस्तेः शिशुवृद्धयोः परम् ॥३४॥

शिशुओं के अनुवासन के लिये जीवनीय क्काथ में साधित स्नेह देना चाहिये। निरूह बस्ति जीवनीय क्काथ में बिना नमक मिलाये देना चाहिये। बालक और वृद्ध पुरुषों के अंगों को शीघ्रता से बढ़ाने के लिये निरूह बस्ति श्रेष्ठ है। *

---

* श्रीगंगाधर सेन—जीवनीय ओषधियों से सिद्ध मांस-रस को अनुवासन में देना और निरूह बस्ति में लवण मिलाना कहते हैं। वे 'निरूहणे चालवणः' के स्थान पर 'निरूहणे वा लवणः' पाठ करते हैं।

तत्र श्लोकः। फलकर्मबस्तिषु वरत्वनिश्चयो बस्तयो गवादीनाम्।
सादातुरास्ताश्चोद्दिष्टाः फलमात्रा या हितं चैषाम्॥ ३५॥

उपसंहार—फल कर्म्म बस्तियों के श्रेष्ठत्व निश्चय में गाय आदि की बस्तियों, निरन्तर रोगी पुरुषों और इनके लिये हितकारी फल मात्रा को भी कह दिया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रीतसंस्कृते सिद्धिस्थाने फलमात्रा-
सिद्धिर्नाम एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथात उत्तरबस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

इसके आगे उत्तरबस्ति सिद्धि की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है।

अथ खल्वातुरं वैद्यः संशुद्धं वमनादिभिः।
दुर्बलं कृशमल्पाग्निं मुक्तसंधानबन्धनम्॥ ३॥
निर्हृतानिलविण्मूत्रकफपित्तं कृशाशयम्।
शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेत्॥ ४॥
यथैव तरुणं पूर्णं तैलपात्रं तथैव च।
गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः॥ ५॥

वैद्य को चाहिये कि वमन, विरेचन आदि से शुद्ध, दुर्बल, आम दोष युक्त, मन्दाग्नि, मुक्त सन्धि बन्धन पुरुष को, वायु, मल, मूत्र और कफ पित्त का बहिः निसरण किये हुए, दोष शून्य आशय वाले, शून्य शरीर, प्रतिकार सहिष्णु (उच्च भाषण आदि क्रिया को सहने वाले या वमनादि प्रयोग को सहन करने वाले), पुरुष की सदा रक्षा करे। जिस

परन्तु अष्टांग संग्रह में 'अलवण' ही पाठ है। शिशुओं में मृदु बस्ति होने से नमक खिलाना उत्तम नहीं है।

प्रकार तैल से भरे तरुण पात्र की लोग रक्षा करते हैं, जिस प्रकार कि ग्वाला हाथ में दण्ड लेकर गायों की रक्षा करता है, इसी प्रकार से वैद्य को सब अपचारों से रोगी की रक्षा करनी चाहिये।

अग्निसंधुक्षणार्थं तु पूर्वं पेयादिभिर्भिषक्।
रसोत्तरेणैव चरेत्क्रमेण क्रमकोविदः ॥ ६ ॥
स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ।
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः ॥ ७ ॥
अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः।
व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद्भिषक् ॥ ८ ॥

रोगी की अग्नि को बढ़ाने के लिये क्रम को जानने वाले वैद्य को क्रमशः पूर्व पेयादि क्रम देकर पीछे से मांसरस भोजन देना चाहिये। फिर पीछे से प्रथम स्निग्ध, अम्ल हृदय के लिये भोजन देकर पीछे से अम्ल, लवण रस देने चाहियें। इसके पीछे मधु-तिक्त रस, अनन्तर कषाय कटु रस देने चाहियें। इस प्रकार से एक दूसरे के अविरोधी रस देने चाहिये थे। स्निग्धजन्य रोग में रूक्ष, रूक्ष व्याधि में स्निग्ध इस प्रकार से विरुद्ध उपचार द्वारा रोगी को प्रकृति में लाना चाहिये।

बलवान् वर्णवान् सर्वरतिः स्वङ्गः स्थिरेन्द्रियः।
प्रसन्नात्मा सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥ ९ ॥

प्रकृति में आने के लक्षण—जब पुरुष बलवान्, कान्तिमान्, सब कार्यों में प्रवृत्त होने की शक्ति वाला, सुन्दर अंगों से युक्त, स्थिर इन्द्रिय, प्रसन्न आत्मा (मन) वाला, सब कुछ सहने वाला (सर्व-अभ्यास-सह) हो तो उस पुरुष को प्रकृति में स्थित समझना चाहिये।

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत्।
महादोषकराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः ॥ १० ॥

यदि मनुष्य उपरोक्त प्रकृति में न आये तो उसको सब रोगों में जो त्याज्य होता है, उन सब बातों का परित्याग करना चाहिये। विशेषकर

महादोषकारक आठ बातों का त्याग तो अवश्य करना चाहिये।

उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचङ्क्रमणासने।
अजीर्णाहितभोज्ये च दिवास्वप्नं च मैथुनम्॥ ११॥
तज्जा देहोर्ध्वसर्वाधोमध्यपीडामदोषजाः।
श्लेष्मजाः क्षयजाश्चैव व्याधयः स्युर्यथाक्रमम्॥ १२॥
तेषां विस्तरतो लिङ्गमेकैकस्य सभेषजम्।
यथावत्संप्रवक्ष्यामि सिद्धान्बस्तींश्च यापनान्॥ १३॥

आठ बातें—ऊंचा बोलना, रथादि यान से क्षोभ (शरीर का अति चलना), अति चलना फिरना, बहुत बैठना, अजीर्ण में भोजन, अहित भोजन, दिन में सोना और अति मैथुन इन आठ बातों का परित्याग करना चाहिये। क्योंकि ऊंचे बोलने से ऊर्ध्व देह में उत्पन्न होने वाले रोग हो जाते हैं। रथादि के यान से सर्व शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग हो जाते हैं। अति चंक्रमण से अधोदेह में उत्पन्न रोग होते हैं। अति बैठने से मध्य शरीर जन्य पीड़ा होती है। अजीर्ण में भोजन करने से आमजन्य रोग होते हैं। अहित भोजन से दोषजन्य रोग होते हैं। दिन में सोने से कफजन्य रोग होते हैं। अति मैथुन से क्षयजन्य रोग होते हैं।

इनके लक्षण और चिकित्सा विस्तार से पूर्ण रूप में कहूंगा तथा सिद्ध यापना बस्तियां भी कहूंगा। इनमें—

तत्र, उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां शिरस्तापकर्णशङ्खनिस्तोदस्रोतोऽवरोधमुखतालुकण्ठशोषतैमिर्यपिपासाज्वरतमकहनुमन्याग्रहनिष्ठीवनोरःपार्श्वशूलस्वरभेदहिक्काश्वासादयः स्युः, रथक्षोभात् संधिपर्वशैथिल्यहनुनासाकर्णशिरःशूलतोदवह्निविक्षोभाटोपान्त्रकूजनाध्मानहृदयेन्द्रियोपरोधस्फिक्पार्श्ववंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनासंधिस्कन्धहनुग्रीवादौर्बल्याङ्गाभितापपादशोफप्रस्वापहर्षणादयः, अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुजानुवंक्षणश्रोणीपृष्ठशूलच्छर्दिसक्थिसादनिस्तोदपिण्डिकोद्वेष्टनाङ्गमर्दांसाभितापसिराधमनीहर्षश्वासकासादयः स्युः, अत्यासनात्

रथक्षोभजाः स्फिक्पार्श्ववंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः स्युः, अजीर्णाध्यशनाभ्यां तु मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषादयः स्युः, विषमाहिताशनाभ्यामनन्नाभिलाषदौर्बल्यवैवर्ण्यकण्डूपामागात्रावसादवातादिप्रकोपजाश्च ग्रहण्यर्शोविकारादयः, दिवास्वप्नादरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुकण्डूपामादाहच्छर्द्यङ्गमर्दहृत्स्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्गग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्तमूत्राक्षिताताल्लुलेपाः पिपासा च, व्यवायादाशुबलसादोरुसादबस्तिशिरोगुदमेढ्रवृषणवंक्षणोरुजानुजङ्घापादशूलहृदयस्पन्दननेत्रपीडाङ्गशैथिल्यशुक्रमार्गशोणितागमनकासश्वासशोणितष्ठीवनस्वरावसादकटीदौर्बल्यैकाङ्गसर्वाङ्गरोगमुष्कश्वयथुवातवर्चोमूत्रसङ्गशुक्रविसर्गजाड्यवेपथुबाधिर्यविषादादयः स्युः, उत्पाट्यत इव गुदस्ताड्यत इव मेढ्रमवसीदतीव मनो वेपते हृदयं पीड्यन्ते सन्धयस्तमः प्रविश्यतीव च, इत्येवमेभिरष्टभिरपचारैरेते प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः ॥ १४ ॥

ऊंचे बोलने या बहुत बोलने से शिर में ताप (उष्णिमा), शंखप्रदेशों में पीड़ा, स्रोतों का अवरोध, मुखशोष, तालुशोष, कण्ठशोष, तिमिर, तृषा, ज्वर, तमक श्वास, हनुग्रह, मन्याग्रह, निष्ठीवन, उरःशूल, पार्श्वशूल, स्वरभेद, हिक्का, श्वास आदि रोग होते हैं। रथ के क्षोभ के कारण सन्धियों में शिथिलता, पर्वों में शिथिलता, हनुशूल, कर्णशूल, नासाशूल, शिरःशूल, तोद (सर्वांग में वेदना), अग्नि का विक्षोभ, आध्मान, इन्द्रियों का उपरोध, नितम्ब, पार्श्व, वंक्षण, वृषण, कटि और पृष्ठ में वेदना, सन्धि-शिथिलता, स्कन्ध-शिथिलता, हनु-शिथिलता, ग्रीवा में शिथिलता, दुर्बलता, अंगों में अभिताप, पांव में शोफ, प्रस्वाप (नींद का आना), हर्षण (रोमांच) आदि होते हैं। बहुत चलने से पांव में शूल, जंघाशूल, ऊरुशूल, जानुशूल, वंक्षणशूल, श्रोणिशूल, पृष्ठशूल, वमन, सन्धिसाद, पादसाद, तोद, पिण्डलियों में उद्वेष्टन (ऐंठन), अंगमर्द, अंस (स्कन्ध) में अभिताप, शिराहर्ष, धमनीहर्ष, श्वास, कास

आदि होते हैं। बहुत बैठने से रथक्षोभजन्य रोग तथा नितम्ब में, पार्श्व में, वंक्षण में, वृषण में, कटि में, पीठ में वेदनायें होती हैं। अजीर्ण में भोजन करने और अध्यशन से मुखशोष, आध्मान, शूल, निस्तोद, प्यास, गात्रसाद, वमन, अतिसार, मूर्च्छा, ज्वर, प्रवाहण, विषादि (Ptomaine Poison पूति-विष) होते हैं। विषमाशन और अहित भोजन से. भोजन में अनिच्छा, दुर्बलता, विवर्णता, कण्डू, पामा, शरीर में अवसाद (पीड़ा), वात आदि दोषों के प्रकोपजन्य ग्रहणी, अर्श आदि रोग हो जाते हैं। दिन में सोने से अरोचक, अविपाक, अग्निनाश, स्तिमितता, पाण्डुत्व, कण्डू, पामा, दाह, वमन, अंगों में पीड़ा, हृदयस्तम्भ, जड़ता, तन्द्रा, निद्राप्रसंग, ग्रन्थि रोग, दुर्बलता, आंखों में रक्तिमा, आंखों में उपलेप होता है। अति मैथुन से बल का शीघ्र नष्ट होना, ऊरुसाद, बस्ति में स्तम्भ, शिर स्तम्भ (जड़ता), लिङ्ग, गुदा और वंक्षण में स्तम्भ, ऊरुस्तम्भ, वृषणशूल, जानुशूल, जंघाशूल, पादशूल, हृदय में पीड़ा, नेत्रपीड़ा, अंगों में शिथिलता, शुक्रमार्ग से रक्त का आना, कास, श्वास, रक्त का वमन, बल की हानि, स्वर की हानि, कटि में दुर्बलता, एकांग रोग, सर्वांग रोग, मुष्कों में शोथ, वात, मल-मूत्र का अवरोध, शुक्र का आना, जड़ता, कम्पन, बधिरता, विषादि रोग होते हैं। अति मैथुन से क्षयजन्य रोगों में—गुदा में फटने के समान, शिश्न में ताड़न के समान, चलने में पीड़ा, हृदय में कम्पन; सन्धियों में दबने के समान वेदना होती है, रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि वह अन्धकार में घुस रहा है, इस प्रकार से आठ अपचारों के कारण ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

तेषां सिद्धिः—उच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाहधूमनस्योपरिभक्तस्नेहपानरसक्षीरादिभिर्वातहरः सर्वो विधिर्मौनं च, रथक्षोभातिचंक्रमणात्यासनजानां स्नेहस्वेदादि वातहरं कर्म सर्वं निदानवर्जं, अजीर्णाध्यशनजानां निरवशेषतश्छर्दनं रूक्षस्वेदधूमपानलङ्घनीयपाचनीयदीपनीयौषधावचारणं च, विषमाहिताशनजा-

नां यथास्वं दोषक्रियाः, दिवास्वप्नजानां धूमपानलङ्घनवमनशिरोविरेचनव्यायामरूक्षाशनादिदीपनीयौषधोपयोगः प्रकर्षणोन्मर्दनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः, मैथुनजानां जीवनीयसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगस्तथा वातहराः स्वेदाभ्यङ्गोपनाहा वृष्याश्चाहाराः स्नेहाः स्नेहविधयो यापनाबस्तयोऽनुवासनं च मूत्रवैकृतबस्तिशूलेषु चोत्तरबस्तिः विदारीगन्धादिगणजीवनीयगणक्षीरसंसिद्धं तैलं स्याद्यापनाश्च बस्तयः सर्वकालं देयाः । तानुपदेक्ष्यामः–॥ १५ ॥

चिकित्सा—अतिभाषण व उच्चभाषण से उत्पन्न रोगों में, अभ्यंग, स्वेदन, उपनाह, धूमपान, नस्य, भोजन के उपरान्त स्नेहपान, मांसरस, दूध आदि वातनाशक सम्पूर्ण विधि तथा रोगी को मौन धारण करना चाहिये। रथक्षोभ, अधिक चलने और बैठने से उत्पन्न रोगों में स्नेह, स्वेद आदि वातनाशक कर्म्म तथा निदान का सम्पूर्ण रूप में त्याग करना आवश्यक है । अजीर्ण और अध्यशन में सम्पूर्ण रूप में वमन, रूक्ष स्वेद, धूमपान, लंघन, पाचन ओषधियां देनी चाहियें। विषम भोजन तथा अहित भोजन में अपने अपने दोष के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये । दिन में सोने से उत्पन्न रोगों में धूमपान, लंघन, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम, रूक्ष भोजन, दीपनीय ओषधियों का उपयोग, प्रहर्षण (आनन्द उत्पन्न करना), उन्मर्दन, परिषेचन, कफ नाशक सम्पूर्ण विधि बरतनी चाहिये । मैथुनजन्य रोगों में जीवनीय गण की ओषधियों से सिद्ध दूध और घृत का उपयोग, तथा वातहर स्वेद, अभ्यंग, उपनाह, वृष्य आहार, स्नेहन, स्नेह विधि, यापना बस्ति, अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । मैथुन में मूत्र में विकृति आने पर या बस्ति में शूल होने पर उत्तरबस्ति देनी चाहिये । विदारी गन्धादि गण, जीवनीय गण से दूध सिद्ध करके उससे तैल सिद्ध करके देना चाहिये, सब समयों में यापना बस्तियां देनी चाहियें । अब यापना बस्तियों का उपदेश करते हैं । [ये बस्तियां दीर्घ काल तक आयु की यापना करती हैं, इसलिये इनको 'यापना-बस्ति' कहते हैं ।]

मुस्तोशीरबलारग्वधरास्नामञ्जिष्ठाकटुरोहिणीत्रायमाणापुनर्नवा-बिभीतकगुडूचीस्थिरादिपञ्चमूलानि पलिकानि खण्डशः कृप्तानि अष्टौ च मदनफलानि प्रक्षाल्य जलाढके परिक्वाथ्य पादशेषो रसः क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तः पुनः शृतः क्षीरावशेषः जाङ्गलरसतुल्यो मधुयुतः शतकुसुमामधुककुटजफलरसाञ्जनप्रियङ्गुकल्कीकृतः ससैन्धवः सुखोष्णबस्तिः शुक्रमांसाग्निजननः क्षतक्षीणकासगुल्मशूलविषमज्वरब्रध्नकुण्डलोदावर्तकुक्षिशूलमूत्रकृच्छ्रासृग्रजोविसर्प (र्ग) प्रवाहिकाशिरोरुजाजानूरुजङ्घाबस्तिग्रहाश्मर्युन्मादार्शःप्रमेहाध्मानवात-रक्तपित्तश्लेष्मव्याधिहरः सद्यो बलजननो रसायनश्चेति ॥ १६ ॥

क्वाथार्थ—मुस्ता, उशीर, बला, आरग्वध, रास्ना, मजीठ, कटुकी, त्रायमाणा, पुनर्नवा, बिभीतक, गिलोय, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरु (स्वल्प पंचमूल) प्रत्येक वस्तु एक एक पल लेकर इनको काट कर टुकड़े कर लेना चाहिये, मदनफल ८ पल लेकर, इनको पानी में धोकर एक आढ़क जल में क्वाथ करना चाहिये । जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब इसको छान लेना चाहिये । इसमें दूध दो प्रस्थ मिला कर पाक करना चाहिये । जब दूध मात्र (८ शराव) शेष रह जाये तब इसमें जांगल मांसरस आठ शराव (दूध के बराबर), घृत तथा मधु एवं सौंफ, मुलहठी, कुटज फल (इन्द्रजौ), रसौंत, प्रियंगु इनका कल्क, मात्रा में सैन्धव नमक मिला कर खज से मथ कर सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिये । * इस बस्ति में मधु और घृत समान होने चाहियें ।

यह बस्ति शुक्रजनक, मांस, अग्निबल-वर्धक, क्षीणक्षत, कास, गुल्म, विषमज्वर, ब्रध्न, वातकुण्डलिका, उदावर्त्त, कुक्षिशूल, मूत्रकृच्छ्र, रक्तप्रदर, वीसर्प, प्रवाहिका, कास, शिरोरोग, जानुरोग, जंघा, बस्ति,

* अष्टांगसंग्रह में क्वाथ द्रव्यों में पाठा और एरण्ड अधिक हैं, कल्क द्रव्यों में श्यामा अधिक है ।

ग्रहणी, अश्मरी, उन्माद, अर्श, प्रमेह, आध्मान, वातरक्त, पित्त रोग, कफ रोग नाशक, तुरन्त बलजनक और रसायन है।

एरण्डमूलपलाशात षट्पलं शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका गोक्षुरको रास्नाऽश्वगन्धा गूडूची वर्षाभूरारग्वधो देवदार्विति पलिकानि खण्डशः क्लृप्तानि फलानि चाष्टौ प्रक्षाल्य जलाढके क्षीरपादे पचेत्, पादशेषं कषायं पूतं शतकुसुमाकुष्ठमुस्तपिप्पलीहपुषाविल्ववचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानिप्रक्षेपकल्पितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रीन्वा दद्यात्, सर्वेषां प्रशस्तो विशेषतो ललितसुकुमारक्षतक्षीणस्थविरचिरार्शसामपत्यकामानां च ॥ १७ ॥

शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी और गोखरु इनको एक एक पल लेकर, टुकड़े २ कर, एक आढ़क दूध में क्वाथ करना चाहिये। यहां पर दूध कषाय के स्थान में होता है। इस दूध में सौंफ, मुलहठी आदि का कल्क, घृत, तैल, सैन्धव, मधु मिला कर कवोष्ण निरूह एक, दो, तीन निरूह देने चाहियें। सब रोगियों के लिये यह उत्तम बस्ति है। खासकर ललित, सुकुमार, स्त्रीसंग से क्षीण, उरःक्षत रोगियों और पुरातन अर्श-रोगियों के लिये, संतान की कामना वालों के लिये विशेष उपयोगी है। ※

सहचरबलामूर्वा[1]मूलसारिवासिद्धेन पयसा तथा बृहतीकण्टकारीशतावरीच्छिन्नरुहाश्रृतेन पयसा मधुकमदनपिप्पलीकल्ककृतेन पूर्ववद् बस्तिः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार से सहचर, बला, मूर्वामूल (पाठान्तर में दर्भ) और शारिवा इनके कल्क से दूध को सिद्ध करके, इसमें सौंफ, मुलहठी आदि का कल्क, घृत, तैल, सैन्धव लवण और मधु मिलाकर बस्ति देनी चाहिये।

※ अष्टांगसंग्रह में गोखरु का पाठ नहीं है। १. 'दर्भ' इति पा०।

यह बस्ति सब के लिये उत्तम है, विशेष रूप से सुकुमार, स्त्रीसंग से क्षीण, उरःक्षत रोगियों के लिये प्रशस्त है।

बृहती, कण्टकारिका, शतावरी, गिलोय इनके कल्क से दूध सिद्ध करके, इस दूध में मैनफल, मुलहठी, पिप्पली इनका कल्क, मधु, घृत, तैल और सैन्धव लवण मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति सब के लिये प्रशस्त है।

तथा बलातिबलाविदारीशालिपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकादर्भमूलयवकाश्मर्यबिल्वफलसिद्धेन पयसा मधूकमदनकल्कीकृतेन मधुघृतसौवर्चलप्रयुक्तेन कासज्वरगुल्मप्लीहार्दितस्त्रीमद्यक्लिष्टानां सद्योबलजननो रसायनश्च ॥ १९ ॥

बला, अतिबला, विदारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, दर्भमूल, काश्मरी फल, बिल्व फल इनके कल्क से दूध सिद्ध करके इसमें मुलहठी, मैनफल का कल्क, मधु, घृत और सौवर्चल नमक उपयुक्त मात्रा में मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह कास, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, अर्दित, स्त्रीसंग या मद्य से पीड़ित रोगियों के लिये तुरन्त बलकारक और रसायन है।

तथा बलातिबलारास्नारग्वधमदनबिल्वगुडूचीपुनर्नवैरण्डाश्वगन्धासहचरपलाशदेवदारुद्विपञ्चमूलानि पलिकानि यवकोलकुलत्थद्विप्रसृतं शुष्कमूलकानां च जलद्रोणे सिद्धं निरूहप्रमाणं शेषं कषायं पूतं मधूकमदनशतपुष्पाकुष्ठपिप्पलीवचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानीकल्कीकृतं गुडघृततैलक्षौद्रक्षीरमांसरसाम्लकाञ्जिकसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं च बस्तिं दद्यात् शुक्रमूत्रवर्चःसङ्गेऽनिलजगुल्महृद्रोगाध्मानब्रध्नपार्श्वपृष्ठकटीग्रहसंज्ञानाशबलक्षयेषु च ॥ २० ॥

क्वाथार्थ—बला, अतिबला, रास्ना, अमलतास, मदनफल, बेलगिरी, गिलोय, पुनर्नवा, एरण्ड मूल, अश्वगन्धा, सहचर, पलाश, देवदारु, दशमूल प्रत्येक द्रव्य एक एक पल; यव, कोल (बेर), कुलत्थ और शुष्क

मूली प्रत्येक वस्तु दो दो पल लेकर एक द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिये। जब निरूह के योग्य क्वाथ (१६ शराव) शेष रह जाये तब छान लेना चाहिये। इसमें मुलहठी, मैनफल, सौंफ, कूठ, पिप्पली, वच, इन्द्रजौ, रसौंत, प्रियंगु और अजवायन इनका कल्क, गुड़, घृत, तैल, मधु, दूध, मांस रस, अम्ल कांजी, सैन्धव नमक मात्रा में मिला कर सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति शुक्र, मूत्र, मल, वायु के रोगों में, गुल्म, हृदय रोग, आध्मान, ब्रध्न, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, संज्ञानाश तथा बलक्षय में उपयोगी हैं।

हपुषार्धकुडवो द्विगुणार्धक्षुण्णयवः क्षीरोदकसिद्धः क्षीरशेषो मधुघृततैललवणयुक्तो बस्तिः सर्वाङ्गविसृतवातरक्तसक्तविण्मूत्रस्त्रीखेदितहितो वात हरो बुद्धिमेधाग्निबलजननश्च ॥ २१ ॥

हपुषा आधा कुडव (एक भाग), अध कटे जौ एक कुडव (दो भाग), दूध और जल समान भाग लेकर इनमें पाक करना चाहिये। जब केवल दूध मात्र शेष रह जाये तो इसमें मधु, घृत, मदनफल तैल मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति सर्वांग में फैली वायु, रक्त, मूत्र, शुक्र, मल, मूत्र, स्त्रीसंग से पीड़ित पुरुषों के लिये हितकारी, वातनाशक, बुद्धिवर्धक, मेधावर्धक, अग्निवर्धक और बलजनक है।

ह्रस्वपञ्चमूलीकषायः क्षीरोदकसिद्धः पिप्पलीमधूकमदनकल्कीकृतः सगुडघृततैललवणः क्षीणविषमज्वरकर्षितस्य बस्तिः ॥ २२ ॥

शालपर्णी आदि ह्रस्व पंचमूल को दूध और पानी में सिद्ध करके, दूध पाक करना चाहिये। इसमें पिप्पली, मुलहठी, मैनफल इनका कल्क, गुड़, घृत, तैल, सैन्धव लवण मिला कर क्षीण तथा विषम ज्वर से कृश हुए पुरुषों में बस्ति देनी चाहिये।

बलातिबलापामार्गात्मगुप्ताष्टपलार्धक्षुण्णयवाञ्जलिकषायः पूर्ववद्बस्तिः स्थविरदुर्बलक्षीणशुक्ररुधिराणां पथ्यतमः ॥ २३ ॥

बला, अतिबला, अपामार्ग, कौंच मिलित आठ पल, अधकुटे जौ एक

कुडव लेकर अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये । अथवा दूध और जल में पाक कर दूध मात्र शेष रखना चाहिये । इस क्वाथ या दूध में पिप्पली, मैनफल, मुलहठी का कल्क, गुड़, घृत, तैल, सैन्धव लवण मिला कर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति वृद्ध, दुर्बल, क्षीणशुक्र और क्षीणरक्त पुरुषों के लिये उत्तम है ।

बलामधुकविदारीदर्भमूलमृद्वीकायवैः कषायमाजेन पयसा पुनः पक्त्वा मधुकाक्षकल्कितं समधुघृतसैन्धवं ज्वरार्तेभ्यो बस्तिं दद्यात् ॥ २४ ॥

बला, मुलहठी, विदारी, दर्भमूल, मृद्वीका, जौ इनका अष्टगुण जल में क्वाथ करना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर छान कर इस कषाय के बराबर बकरी का दूध मिला कर दूध मात्र शेष रखना चाहिये । इसमें मुलहठी एक कर्ष, मधु, घृत, सैन्धव लवण मिला कर ज्वर रोगियों को बस्ति देनी चाहिये ।

शालिपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरककोलकाश्मर्यपरूषकखर्जूरफलमधूकपुष्पैरजाक्षीरजलप्रस्थाभ्यां सिद्धः कषायः पिप्पलीमधुकोत्पलकल्कितः सघृतसैन्धवः क्षीणेन्द्रियविषमज्वरकर्षितस्य बस्तिः शस्तः ॥ २५ ॥

बकरी का दूध दो प्रस्थ, जल दो प्रस्थ, इनमें शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरु, कंकोल (शीतल चीनी), काश्मरी, फालसा, खजूरफल, महुए के फूल मिला कर क्वाथ करना चाहिये । जब दूध मात्र शेष रह जाये तब पिप्पली, मुलहठी, कमल का कल्क, सैन्धव लवण और घृत मिला कर क्षीणेन्द्रिय, विषम ज्वर से कृश हुए रोगी को बस्ति देनी चाहिये ।

स्थिरादिपञ्चमूलीपञ्चपलेन शालिषष्टिकयवगोधूममाषकषायपञ्चप्रसृतेन छागपयःशृतं पादशेषं, कुक्कुटाण्डरसमधुघृतशर्करासैन्धवसौवर्चलयुक्तो बस्तिर्वृष्यतमो बलवर्णजननश्च । इति यापनाबस्तयो द्वादश ॥ २६ ॥

स्थिरादि पंचमुल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कटेरी और गोखरू) प्रत्येक द्रव्य पांच पल, शालि, सांठी, जौ, गेहूं, माष प्रत्येक द्रव्य दो पल लेकर क्वाथ करना चाहिये। इस क्वाथ से पांच प्रसृत लेकर इसके समान बकरी का दूध मिला कर दूध मात्र शेष रखना चाहिये। इस दूध में मुर्गी के अण्डों का रस (दूध से चतुर्थांश), मधु, घृत, शर्करा, सैन्धव, सौवर्चल नमक मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति अतिशय वृष्य, बलजनक और वर्णजनक है।

कल्पश्चैष शिखिगोनर्दहंसाण्डरसेषु स्यात् ॥ २७ ॥

ये बारह यापना-बस्तियां हैं। स्थिरादि पंचमूली कल्प के समान कुक्कुट रस के स्थान में मोर के अण्डे का रस या गोनर्द (बृहत्काक) के अण्डे का रस अथवा हंस के अण्डे का रस मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। ये तीन बस्तियां हैं।

सतित्तिरिः मयूरराजहंसपञ्चमूलीसिद्धपयः शतकुसुममधुकरास्नाकुटजफलपिप्पलीकल्कः घृततैलगुडसैन्धवयुक्तो बस्तिर्बलवर्णशुक्रजननो रसायनश्च ॥ २८ ॥

तीतर का मांस रस अथवा मोर का मांस रस, शम्पाक (अमलतास), हंस (हंसराज या हंस का मांस), बृहत्पंचमूल इनके कषाय में दूध सिद्ध करना चाहिये। इस दूध में सौंफ, मुलहठी, रास्ना, इन्द्रजौ, पिप्पली का कल्क, घृत, तैल, गुड़, सैन्धव मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति बल-वर्ण-शुक्रजनक और रसायन है। ये दो बस्तियां है।

द्विपञ्चमूलीकुक्कुटरससिद्धं पयः पादशेषं पिप्पलीमधूकरास्नामदनमधुककल्कं शर्करामधुघृतयुक्तं स्त्रीष्वतिकामानां बलजननो बस्तिः ॥ २९ ॥

दशमूल, कुक्कुट मांस के क्वाथ में दूध सिद्ध करके चतुर्थांश शेष रखना चाहिये। इसमें पिप्पली, मुलहठी, मदनफल, रास्ना, महुआ का

कल्क, शर्करा, मधु, घृत मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। जो पुरुष स्त्रियों की अति कामना करते हैं उनमें बलदायक है।

मयूरमपित्तपक्षपादास्यान्त्रं कृत्वा स्थिरादिभिः पलिकैः सजले पयसि पक्त्वा क्षीरशेषं मदनविदारीपिप्पलीशतकुसुमामधूककल्कीकृतं मधुघृतसैन्धवयुक्तं बस्तिं दद्यात, स्त्रीष्वतिप्रसक्तक्षीणेन्द्रियेभ्यो हितो बलवर्णकरः॥ ३०॥

मोर [और मद्गु] पक्षी को पित्त, पक्ष, पांव, मुख और आंत्र से पृथक् करके शेष मांस को स्थिरादि (शालपर्णी आदि) वर्ग की ओषधियों को एक एक पल लेकर जल मिश्रित दूध में क्वाथ करना चाहिये। जब दूध मात्र शेष रह जाय तब इसमें मैनफल, विदारी, पिप्पली, सौंफ, मुलहठी इनका कल्क, मधु, घृत, सैन्धव लवण मिला कर बस्ति देनी चाहिये। अति स्त्री संग करने वाले, क्षीण इन्द्रियों के लिये बल, वर्णकारक है।

कल्पश्चैष विष्किरप्रतुदप्रसहाम्बुचरेषु स्यात, अक्षीरो रोहितादिषु मत्स्येषु च॥ ३१॥

इसी प्रकार से (मोर मद्गु के मांस के स्थान पर) विष्किर (लावादि ८, वर्त्तकादि १२ कुल २०), प्रतुद (शतपत्रादि ३०), प्रसह (गाय आदि १९), जलचर (हंस आदि २७ सत्ताईस) तथा रोहित आदि रोहित, मत्स्य, शिशुमार, तिमिंगल, शुक्ति, शंखोद्र, कुम्भीर, चुलुकी और मकर नौ) मछलियों के मांस रसों में, मयूर, मद्गु की भांति बस्तियां सिद्ध करनी चाहिये। मछलियों से बस्तियों को सिद्ध करने में दूध का मिश्रण नहीं करना चाहिये क्योंकि मछली और दूध परस्पर विरुद्धवीर्य हैं।

गोधानकुलमार्जारमूषिकशल्लकमांसानां दशपलान्भागान् सपञ्चमूलान्पयसि पक्त्वा तत्पयःपिप्पलीफलकल्कसैन्धवसौवर्चलशर्करामघृततैलयुक्तो बस्तिर्बल्यो रसायनः क्षीणक्षतस्य सन्धानकरो

मथितोरस्करथगजहयभग्नवातवलासकप्रभृत्त्युदावर्तवातसक्तमूत्रवर्चःशुक्राणां हिततमश्च ॥ ३२ ॥

गोधा, नकुल (नेवला), बिल्ली, चूहा और शल्लकी ये पांच तथा बृहत्पंचमूल प्रत्येक द्रव्य एक एक पल, मिलित दश पल लेकर चतुर्गुण दूध में पकाना चाहिये । चतुर्थांश रहने पर इसमें पिप्पली, मदनफल का कल्क, सैन्धव, सौवर्चल, शर्करा, मधु, घृत और तैल मिला कर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति बलकारक, रसायन, क्षीणक्षत के लिये सन्धानकारक है, जिसकी छाती दब गई हो, हाथी, रथ या घोड़े की सवारी से अस्थिभंग हो और उदावर्त्त, शुक्र, मूत्र, मल, वात के लिये हितकारी है, तथा वायु और कफ की प्रवृत्ति को नष्ट करती है ।

कूर्मादीनामन्यतमपिशितसिद्धं पयो गोवृषनागहयनक्रहंस कुक्कुटाण्डरस-मधु-घृत-शर्करा-सैन्धवेक्षुरकात्मगुप्ताफलकल्कसंसृष्टो बस्तिर्वृद्धानामपि बलजननः ॥ ३३ ॥

कूर्म्म, कर्कटक, मत्स्य, शिशुमार, तिमिंगिल, शुक्ति, शंखोद्र, कुम्भीर, चुलुकी, मकर इन दस वारिचर प्राणियों में से किसी एक प्राणि के चतुर्गुण मांस रस में दूध को सिद्ध करना चाहिये । इस दूध में गोवृष (बैल), श्वेत मुर्गा, हंस इनका मांस रस और कुकुट के अण्डों का रस, घृत, मधु, शर्करा, सैन्धव लवण, इक्षुरस, मुलहठी, कौंच के फल का कल्क मिला कर बस्ति देनी चाहिये, यह बस्ति वृद्धों के लिये भी बलदायक है ।

गोवृषबस्तवराहवृषणकर्कटचटकसिद्धं क्षीरमुच्चटकेक्षुरकात्मगुप्ता-मधुघृतयुतं किंचिल्लवणितं बस्तिः ॥ ३४ ॥

गोवृष (बैल), बस्त (बकरा), वराह (सूअर) इनके अण्ड, कैंकड़ा और खरगोश के वृषणों से सिद्ध दूध में उच्चटा (उटंकन) इक्षुरक (तालमखाना) कौंच इनका कल्क, मधु, घृत तथा थोड़ा सा नमक मिलाकर बस्ति देनी चाहिये ।

कर्कटकरसश्चटकाण्डरसयुक्तः समधुघृतशर्करो बस्तिरित्येते बस्तयः परमवृष्याः ॥ ३५ ॥

कैंकड़े के मांस रस में चिड़ियों के अण्डों का रस मिलाकर, मधु, घृत और शर्करा को योग करके बस्ति देनी चाहिये। ये बस्तियां अति वृष्य हैं। निरूह बस्ति लेने के उपरान्त—

उच्चटकेक्षुरकात्मगुप्ताशृतक्षीरप्रतिभोजनानुपानात्स्त्रीशतगामिनं नरं कुर्युः ॥ ३६ ॥

उटंगण, तालमखाना, कौंच से सिद्ध दूध के साथ भोजन खाने पर पुरुष सौ स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति वाला हो जाता है।

दशमूलमयूरहंसकुक्कुटक्वाथात्पञ्चप्रसृतं मधुतैलघृतवसामज्जचतुष्प्रसृतयुक्तं शतपुष्पामुस्तहपुषाकल्कीकृतः सलवणो बस्तिः पादगुल्फोरुजानुजङ्घात्रिकवंक्षणबस्तिवृषणानिलरोगहरः ॥ ३७ ॥

दशमूल, मोर, कुक्कुट, हंस इनका मांस लेकर एक साथ क्वाथ करना चाहिये। यह क्वाथ पांच प्रसृत (१० पल), मधु, घृत, तैल, वसा और मज्जा ये पांचों मिलित चार प्रसृत (८ पल) लेकर इसमें शतपुष्पा, हवुषा का कल्क और सैन्धा लवण मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति पाद, मुष्क, जंघा, त्रिक, वंक्षण, बस्ति, वृषण और पायु के रोगों को नष्ट करती है।

मृगविष्किरानूपबिलेशयानामेतेनैव कल्पेन बस्तयो देयाः ॥ ३८ ॥

इसी विधि से गाय, अश्व आदि सत्रह मृगों से, विष्किर, आनूप, बिलेशय इनमें से किसी एक के मांस के साथ दशमूल का क्वाथ करके मधु, घृत आदि मिला कर बस्ति देनी चाहिये।

मधुघृतद्विप्रसृतं तुल्योष्णोदकं शतपुष्पार्धपलं सैन्धवार्धाक्षयुक्तो बस्तिर्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शोब्रध्नप्लीहमेहहरः ॥ ३९ ॥

मधु एक प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, उष्ण जल दो प्रस्थ, सौंफ आधा पल,

सैन्धव लवण आधा कर्ष मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति अति वृष्य तथा मूत्र-कृच्छ्रनाशक, पित्तनाशक और वातनाशक है।

तद्वत्समधुघृतः पयस्तुल्यो बस्तिः पूर्वकल्पेन बलवर्णकरो वृष्यतमो निरुपद्रवो बस्तिमेढ्रपाकपरिकर्तिकामूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनश्च ॥ ४० ॥

तुरन्त का बना घृत, तुरन्त का निकला तैल, तुरन्त की वसा, तुरन्त की मज्जा, प्रत्येक एक एक प्रस्थ, हवुषा आधा प्रस्थ, सैन्धव आधा कर्ष मिलाकर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति वृष्य, मूत्रकृच्छ्र और पित्त रोग नाशक तथा रसायन है। मधु दो प्रस्थ, तैल दो प्रस्थ, उष्ण जल ४ प्रस्थ, सौंफ आधा पल, सैन्धव आधा कर्ष मिला कर बस्ति देनी चाहिये। बस्ति दीपक, बृंहण, बल-वर्णकारक, उपद्रव-रहित, अति वृष्य, रसायन, कृमि, कुष्ठ, उदावर्त्त, गुल्म, अर्श, व्रध्न, प्लीहा-प्रमेह-नाशक है। इसी प्रकार से मधु दो प्रस्थ, घृत दो प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ लेकर सौंफ आधा पल, सैन्धव आधा कर्ष मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति बल-वर्ण कारक, अतिवृष्य, उपद्रव रहित, बस्तिपाक, शिश्नपाक, परिकर्त्तिका, मूत्रकृच्छ्र और पित्तरोग नाशक तथा रसायन है।

मधुघृताभ्यां मांसरसतुल्यो मुस्ताद्ययुक्तः पूर्ववद्बस्तिर्बलासपादहर्षगुल्मजानूरुनिकुञ्चनबस्तिवृषणमेढ्रत्रिकोरुपृष्ठशूलहरः ॥ ४१ ॥

सुरासौवीरककुलत्थमांसरसमधुघृततैलसप्तप्रसृतः मुस्तशताह्वाकल्कितः सलवणो बस्तिः सर्ववातरोगहरः ॥ ४२ ॥

मधु एक प्रस्थ, घृत १ प्रस्थ, मांस रस दो प्रस्थ, मुस्ता का कल्क एक कर्ष मिला कर बस्ति देनी चाहिये। यह बस्ति कफ, पादहर्ष, गुल्म, जानु, जंघा, ऊरू के आंकुचन, बस्तिशूल, मेढ्रशूल, वृषणशूल, त्रिकशूल, ऊरू और पृष्ठ के शूल को नष्ट करती है।

सुरा, सौवीरक, कुलत्थ, मांस रस, मधु, घृत, तैल प्रत्येक एक एक प्रसृत, मिलित सात प्रसृत लेकर इसमें मुस्ता, सौंफ का कल्क, सैन्धव

लवण मिला कर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति सब वात-रोगों को नष्ट करती है ।

तथा द्विपञ्चमूलत्रिफलाबिल्वमदनफलकषायो गोमूत्रसिद्धः कुटजमदनफलमुस्तपाठाकल्कितः सैन्धवयवाशूकक्षौद्रतैलयुक्तो बस्तिः श्लेष्मव्याधिबस्त्याटोपवातशुक्रसङ्गपाण्डुरोगाजीर्णविसूचिकालसकेषु देय इति ॥ ४३ ॥

दशमूल, त्रिफला, बिल्वगिरी, मदनफल इनका गोमूत्र में क्वाथ करना चाहिये । इस क्वाथ में कुटज (इन्द्रजौ), मदनफल, पाठा और मुस्ता का कल्क, सैन्धव लवण, यवक्षार, मधु, तैल मिलाकर बस्ति देनी चाहिये । यह बस्ति कफ रोग नाशक, वर्णकारक, वातसंग, शुक्रसंग, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक रोग में देनी चाहिये । इस प्रकार से ये तीस बस्तियां हैं ।

अत ऊर्ध्वं वृष्यतमान्स्नेहान्वक्ष्यामः ॥ ४४ ॥

इसके आगे वृष्यतम स्नेहों (अनुवासन बस्तियों) की व्याख्या करते हैं ।

शतावरीगुडूचीवृविदार्यामलकद्राक्षाखर्जूराणां यन्त्रपीडितानां रसप्रस्थं पृथगेकैकं तद्वद् घृततैलगोमहिष्यजाक्षीराणां द्वौ द्वौ दद्यात्, जीवकर्षभकमेदामहामेदात्वक्क्षीरीश्रृङ्गाटकमधूलिकामधुकोच्चटक-पिप्पलीपुष्करबीजनीलोत्पलकदम्बपुष्पपुण्डरीककेशरकल्कान् पृषत-तरक्षुमांसकुक्कुटचटकचकोरमत्ताक्षबर्हिजीवञ्जीवककुलिङ्गनीलहंसानां रसं वसामज्ञोश्च प्रस्थं दत्वा साधयेत् । ब्रह्मघोषशङ्खपटह-भेरीनिनादैः सिद्धं सितच्छत्रकृतच्छायं गजस्कन्धमारोहयेद्भगवन्तं वृषध्वजमभिपूज्य तं स्नेहं त्रिभागमाक्षिकं मङ्गलाशीःस्तुतिदेवतार्चनैर्बस्तिं गमयेत् । नृणां स्त्रीविहारिणां नष्टरेतसां क्षतक्षीणविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां वन्ध्यानां रक्तगुल्मिनीनां मृतापत्यानामनार्तवानां च स्त्रीणां क्षीणमांसरुधिराणां पथ्यतमं रसायनमुत्तमं वलीपलितनाशनं विद्यात् ॥ ४५ ॥

शतवारी, गिलोय, विदारी, आंवला, द्राक्षा, खजूर, इक्षु, इन सात द्रव्यों में से प्रत्येक को यंत्र में दबाकर स्वरस निकालना चाहिये। यह स्वरस एक, एक प्रस्थ, मिलित सात प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, तैल एक प्रस्थ, गाय का दूध, भैंस का दूध, बकरी का दूध, प्रत्येक दो प्रस्थ, कल्कार्थ— जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, वंशलोचन, सिंघाड़ा, मधूलिका, मुलहठी, उटंगन, पिप्पली, पुष्करबीज, नीला कमल, कदम्ब पुष्प, पुण्डरीक और राजकशेरु, इनका कल्क उचित मात्रा में मिला कर, पृषत (हरिण भेद) तरक्षु, इन का मांस, कुक्कुट, चटक, चकोर, मत्ताक्ष, मोर, जीवञ्जीवक, कुलिंगक, नील हंस, इनके मांस को क्वाथ करके इनका मांस रस, वसा एक प्रस्थ, मज्जा एक प्रस्थ मिलाकर सिद्ध करना चाहिये।

इस चतुःस्नेह को सिद्ध करते समय वेदपाठ करना, शंख बजाना, नगाड़े बजाना तथा भेरी का शब्द करना चाहिये। जब यह सिद्ध होजाये तब इस स्नेह को हाथी के ऊपर रखकर श्वेत छत्र से छाया करनी चाहिये। इसकी पूजा करनी चाहिये। पीछे से शिव भगवान की पूजा करके इस स्नेह में तिहाई भाग मधु या स्नेह के बराबर मधु मिलाकर, मंगल पाठ, स्तुति (स्वस्तिवाचन), देवताओं की पूजा करके इस स्नेह से बस्ति देनी चाहिये।

स्त्री-संग में लगे रहने से जिन पुरुषों का शुक्र नष्ट हो गया है, उनके लिये और क्षतक्षीण विषम ज्वर से पीड़ित, दूषित योनि वाले, वन्ध्याओं, रक्तगुल्म के रोगियों, जिन स्त्रियों के बच्चे मर जाते हैं, जिनके आर्त्तव नहीं होता उन औरतों और जिन स्त्रियों का मांस, रक्त क्षीण हो गया हो, उनके लिये अति पथ्यतम, उत्तम रसायन और वली-पलितनाशक है।

बलागोक्षुरकरास्नाश्वगन्धाशतावरीसहचराणां शतं शतमायोज्य जलद्रोणशते प्रसाध्य तस्मिन् जलद्रोणावशेषे रसे वस्त्रपूते विदार्यामलकस्वरसयोर्बस्तमहिषवराहवृषकुक्कुटबर्हिहंसकारण्डवसारसानां घृततैलयोश्चैकैकं पृथक् प्रस्थमष्टौ प्रस्थान् क्षीरस्य दत्त्वा चन्दन-

मधुकमधूलिकात्वक्क्षीरीबिसमृणालोत्पलपटोलफलात्मगुप्तोदनपाकितालमज्जाखर्जूरमृद्वीकातामलकीकण्टकारीजीवकर्षभकक्षुद्रसहामहासहाशतावरीमेदामहामेदापिप्पलीह्रीबेरत्वक्पत्रकल्कांश्च दत्त्वा साधयेद् ब्रह्मघोषादिना विधिना । तत्सिद्धं बस्तिमादद्यात् । तेन स्त्रीशतं गच्छेत् न चात्रास्ते विहाराहारयन्त्रणा क्वचित् । एष वृष्यो वर्ण्यो बृंहण आयुष्यो वलीपलितनुत् । क्षतक्षीणनष्टशुक्रविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां च पथ्यतमः ॥ ४६ ॥

क्काथार्थ—बला, गोखरू, रास्ना, अश्वगन्धा, शतावरी और सहचर प्रत्येक द्रव्य १०० पल, लेकर १०० द्रोण जल में क्काथ करना चाहिये। जब एक द्रोण शेष रह जाये तब छान लेना चाहिये। इसमें—विदारी स्वरस, आमल की स्वरस, एक, एक प्रस्थ मिलाना चाहिये। फिर, बकरा, भैंसा, वराह, वृष, कुक्कुट, मोर, हंस, कारण्डव और सारस इन का मांसरस एक, एक प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, तैल १ प्रस्थ, दूध आठ प्रस्थ, कल्कार्थ—चन्दन, मधूलिका (गुड़तृण, गुड़मार), वंशलोचन, बिस, मृणाल, नीला कमल, पटोल, कौंच, ओदनपाकी (पाठान्तर में शीतपाकी—चावल का भेद, शिखण्डी), ताल, खजूर, मृद्वीका, तामलकी (भूई आंवला), कटेरी, जीवक, ऋषभक, क्षुद्रसहा, महासहा, शतावरी, मेदा, महामेदा, पिप्पली, ह्रीबेर, दालचीनी और तेजपात इनका कल्क (स्नेह से चतुर्थांश) मिला कर स्नेहपाक विधि से स्नेह पाक करना चाहिये। वेदपाठ, भेरी, मृदंग आदि के शब्दों के साथ सिद्ध करके बस्ति देनी चाहिये। इस बस्ति के देने पर पुरुष सौ स्त्रियों से रमण कर सकता है। इसमें किसी प्रकार के विहार या आहार का निषेध नहीं है। यह बस्ति वृष्य, वर्णकारक, बृंहण, आयुवर्धक, वलीपलित नाशक, क्षतक्षीण, नष्टशुक्र, विषम ज्वर से पीड़ित, व्यापन्न योनि वाली स्त्रियों के लिये पथ्यतम है।

[अष्टांगसंग्रह के अनुसार बकरा, भैंसा, वराह और बैल इनके अण्डकोषों का क्काथ (रस) लेना चाहिये। संग्रह में अश्वगन्धा का पाठ नहीं है।]

सहचरपलशतमुदकद्रोणचतुष्टयं पक्त्वा द्रोणशेषे रसे सुपूते विदारीक्षुरसप्रस्थाभ्यामष्टगुणक्षीरं घृततैलप्रस्थं बलामधुकमधूकचन्दनमधूलिकासारिवामेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीपयस्याऽगुरुमञ्जिष्ठाव्याघ्रनखशटीसहचरीसहस्रवीर्यावराङ्गलोध्राणामक्षमात्रैर्द्विगुणशर्करैः कल्कैः साधयेद् ब्रह्मघोषादिना विधिना। तत्सिद्धं बस्तिं दद्यात्। एष सर्वरोगहरो रसायनो ललितानां श्रेष्ठोऽन्तःपुरचारिणां क्षतक्षयवातपित्तवेदनाश्वासकासहरस्त्रिभागमाक्षिकोऽकालवलीपलितनुत् वर्णरूपबलमांसशुक्रवर्धनः ॥ ४७ ॥

क्वाथार्थ—सहचर १०० पल लेकर १०७ द्रोण जल में क्वाथ करना चाहिये। एक द्रोण रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें विदारी स्वरस १ प्रस्थ, इक्षु स्वरस १ प्रस्थ, दूध आठ प्रस्थ, घृत और तैल मिलित एक प्रस्थ, कल्कार्थ—बला, मुलहठी, महुआ, चन्दन, मधूलिका, सारिवा, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, पयस्या (क्षीरविदारी), अगरु, मजीठ, व्याघ्रनख (नखी), कचूर, सहस्रवीर्य्या (दूर्वा), सहचरी, वरांग (अमरु त्वक्) और लोध्र प्रत्येक द्रव्य एक अक्ष (कर्ष) कल्क रूप में, सम्पूर्ण कल्क से द्विगुण शर्करा (श्री गंगाधरसेन के मत से दो अक्ष शर्करा) मिला कर स्नेहपाक विधि से स्नेह सिद्ध करना चाहिये। मुख बन्द करके उतारना चाहिये, फिर छानकर रख देना चाहिये।

ब्रह्मघोष आदि विधि से सिद्ध करके बस्ति देनी चाहिये। यह स्नेह सब रोगों का नाशक, रसायन, अन्तःपुरचारी स्त्रियों के लिये श्रेष्ठ है। क्षत-क्षय, वातवेदना, कास, श्वास नाशक है। इस स्नेह में तिहाई भाग मधु मिलाने से यह अकाल पलित, वली नाशक, वर्ण, रूप, मांस, बल और शुक्र वर्धक है।

इत्येते रसायनाः स्नेहबस्तयः सति विभवे शतपाकाः सहस्रपाका वा कार्या वीर्यबलाधानार्थमिति ॥ ४८ ॥

विभव (धन) होने पर इन रसायन स्नेहबस्तियों में बल और

वीर्य्य बढ़ाने के लिये शतपाक या सहस्रपाक करना चाहिये । [चक्रपाणि के मत से स्नेह की अपेक्षा शतगुण द्रव्य में एक ही बार पाक करना चाहिये, परन्तु पृथक् २ शतवार पाक करने से अतिशय गुण आता है ।]

भवन्ति चात्र ।

इत्येते बस्तयः स्नेहाश्चोक्ता प्राणिषु संज्ञिताः ।
सुस्थानामातुराणां च वृद्धानां चाविरोधिनः ॥ ४९ ॥
अतिव्यवायशीलानां शुक्रमांसबलप्रदाः
सर्वरोगप्रशमनाः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ॥ ५० ॥
नारीणामप्रजातानां नराणां चाप्यपत्यदाः ।
उभयार्थकरा दृष्टाः स्नेहबस्तिनिरूहयोः ॥ ५१ ॥

उपसंहार—ये स्नेह बस्तियां स्वस्थ, रोगी, वृद्ध सब प्राणियों के लिये अविरोधी हैं । जो लोग अति मैथुन करते हैं, उनके लिये शुक्रप्रद, बलप्रद, मांसप्रद हैं और सब रोगों का नाश करने वाली तथा सब ऋतुओं में उपयोगी हैं । वन्ध्या स्त्रियों तथा पुत्र हीन पुरुषों के लिये सन्तानप्रद हैं । ये स्नेह-बस्तियां, स्नेह बस्ति (अनुवासन) तथा निरूह दोनों बस्तियों के कार्य भी करते हैं ।

व्यायामो मैथुनं मद्यं मधूनि शिशिराम्बु च ।
संभोजनं रथक्षोभो बस्तिष्वेतेषु गर्हितम् ॥ ५२ ॥

इन रसायन स्नेह-बस्तियों में व्यायाम, मैथुन, मद्य, मध्वम्बु (मधु मिश्रित पानी), शीतल जल, सम्भोजन (सब रसों को एक साथ मिला कर खाना) और रथक्षोभ (रथयात्रा) निषिद्ध है ।

तत्र श्लोकाः । शिखिगोनर्दहंसाण्डैर्दत्तवद् बस्तयस्त्रयः ।
विंशतिर्विष्किरैस्त्रिंशत्प्रतुदैः प्रसहैर्नव ॥ ५३ ॥
विंशतिश्च तथा सप्तविंशतिश्चाम्बुचारिभिः ।
नव मत्स्यादिभिश्चैव शिखिकल्पेन बस्तयः ॥ ५४ ॥
दश कर्कटकाद्यैश्च कूर्मकल्पेन बस्तयः ।

मृगैः सप्तदशैकोनविंशतिर्विष्किरैर्दश ॥ ५५ ॥
आनूपैर्दक्षशिखिवद्भूशयैश्च चतुर्दश ।
एकोनत्रिंशदित्येते सह स्नेहैः समासतः ॥ ५६ ॥
प्रोक्ता विस्तरशो भिन्ना द्वे शते षोडशोत्तरे ।

दक्ष के समान शिखि (मोर), गोनर्द (काक) और हंस के अण्डों से तीन बस्तियां हैं। विष्किरों से बीस, प्रतुदों से तीस, प्रसहों से २९, जलचरों से २७, मत्स्यादि से ९, ये मयूर-मद्गु विधि से कही हैं। कूर्म्म विधि से कर्कटकादि १० हैं। मृगों के मांसों से १७, विष्किर मांसों से १९, आनूप मांसों से १०, बिलेशय मांसों से १४, इनको दशमूल, मयूर-कुक्कट कल्प से सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार से संक्षेप में स्नेह बस्तियां २९ (उनतीस) कही हैं। विस्तार में इनको पृथक् १ गिनने से ये २१६ (दो सौ सोलह) बस्तियां हैं।

एते माक्षिकसंयुक्ताः कुर्वन्त्यतिवृषं नरम् ।
नातियोगं नवायोगं स्तम्भितास्ते च कुर्वते ॥ ५७ ॥
मृदुत्वान्न निवर्तेरन्बस्तयश्च निरूहणे ।
समूत्रैर्बस्तिभिस्त्वेतैरास्थाप्यः क्षिप्रमेव च ॥ ५८ ॥

इन बस्तियों को मधु के साथ मिला कर प्रयोग करने से ये बस्तियां पुरुष को अतिवृष कर देती हैं। ये बस्तियां मधु से स्तम्भित होकर न तो अतियोग को और न अयोग को उत्पन्न करती हैं। प्रयोग करने पर ये बस्तियां मृदु होने से वापिस नहीं आवें तो मूत्रयुक्त तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग शीघ्रता से करना चाहिये।

शोफाग्निनाशपाण्डुत्वशूलार्शःपरिकर्तिकाः ।
स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थसेवया ॥ ५९ ॥

यापना बस्तियों के अतियोग से (अथवा यापना बस्तियों के शरीर में रुक जाने से), शोष [पाठान्तर में शोथ], अग्निनाश, पाण्डु, गुल्म, अर्श, परिकर्त्तिका, ज्वर और अतिसार हो जाता है।

अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया ।
युक्त्या तस्मान्निषेवेत यापनान्न प्रसङ्गतः ॥ ६० ॥

चिकित्सा—इसके लिये अरिष्ट, दूध, सीधु आदि, अग्निवर्धक दीपन क्रिया करनी चाहिये । इसलिये यापना-बस्तियों का प्रयोग युक्तिपूर्वक करना चाहिये । इनका निरन्तर सेवन नहीं करना चाहिये ।

इत्युच्चैर्भाष्यपूर्वाणां व्यापदः सचिकित्सिताः ।
विस्तरेण पृथक् प्रोक्तास्तेभ्यो रक्षेन्नरं सदा ॥ ६१ ॥

इस प्रकार से उच्च भाषण आदि जन्य रोगों को तथा इनकी चिकित्सा को विस्तार से कह दिया है, इन आठ बातों से मनुष्यों को सदा बचाना चाहिये । क्योंकि उच्च भाषण आदि से पुरुषों में सदा भय बना रहता है ।

कर्मणां वमनादीनामसम्यक्करणापदाम् ।
यत्रोक्तं साधनं स्थाने सिद्धिस्थानं तदुच्यते ॥ ६२ ॥

सिद्धिस्थान का लक्षण—वमन आदि पंच कर्मों के असम्यक् योग से उत्पन्न आपदाओं को तथा इनकी चिकित्सा को जिस स्थान में कहा जाता है, उस स्थान को सिद्धिस्थान कहते हैं ।

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम् ।
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ॥ ६३ ॥
दीर्घमायुर्यशः प्रज्ञामरोग्यं चापि पुष्कलम् ।
सिद्धिं चानुत्तमां लोके प्राप्नोति विधिना पठन् ॥ ६४ ॥

संहिता का उपसंहार—इस संहिता में एक सौ बीस अध्याय आत्रेय मुनि का वाङ्मय (वाणी) है । प्राणियों की हितकामना से बुद्धिमान् अग्निवेश ने इसका उपदेश किया है । इसको विधिपूर्वक पढ़ने से दीर्घ आयु, यश, स्वास्थ्य, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) और सर्वोत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ।

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् ॥ ६५ ॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ।
संस्कृतं तत्तु संसृष्टं विभागेनोपलक्ष्यते ॥ ६६ ॥
अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे ॥ ६७ ॥
कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषाच्च बलोच्चयम ।
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरपूरयत् ॥ ६८ ॥

संस्कर्त्ता के कर्त्तव्य—संस्कर्त्ता पुरुष पुरातन तंत्र में संक्षिप्त भाग का विस्तार करता है, लेशोक्त (सूत्र रूप में कथित) वचन का विस्तार करता है। इस प्रकार से पुरातन तंत्र को फिर से नया कर देता है। इस कारण से इस उत्तम तंत्र को अति बुद्धि वाले चरक ने संस्कृत किया है। इस संस्कृत तंत्र में संश्लिष्ट भोग बहुत सूक्ष्म दृष्टि से विभक्त दिखाई देता है। [साधारणतः पता नहीं चलता ।]

चरक से प्रतिसंस्कृत इस तंत्र के चिकित्सास्थान के शेष सत्रह अध्याय, सिद्धिस्थान और कल्पस्थान (अप्राप्त भाग) को पंचनदपुर में उत्पन्न कपिलबल के पुत्र दृढ़बल ने बहुत से तंत्रों से सारमात्र संगृहीत करके पूर्ण किया है।

तन्त्रयुक्ति ।

इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रं दोषविवर्जितम् ।
षट्त्रिंशता विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः !

तन्त्र-युक्ति—इस प्रकार से पूर्ण किया हुआ यह तन्त्र न्यून शब्द, अर्थ और वाच्य दोषों से रहित तथा छत्तीस (३६) तन्त्रयुक्तियों से विभूषित है।

तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च ॥ ६९ ॥
प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ।
उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ॥ ७० ॥

प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः ।
पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः ॥ ७१ ॥
अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः ।
निदर्शनं निर्वचनं संनियोगो विकल्पनम् ॥ ७२ ॥
प्रत्युच्चारस्तथोद्धारः संभवस्तन्त्रयुक्तयः ।

(१) अधिकरण—जिस अर्थ को लेकर (दृष्टि में रखकर) कहा जाता है, वह 'अधिकरण' है । यथा—दीर्घ जीवित को लेकर जो कुछ प्रथम अध्याय में कहा है, वह सब दीर्घंजीवित अधिकरण में समझना चाहिये । अथवा सामान्य रूप में कथित बात को बलात् विशेष रूप में लगाना 'अधिकरण' है । जैसे—कोई कहता है कि सातवें दिन औषध देनी चाहिये और कोई कहता है कि दसवें दिन देनी चाहिये, इस सामान्य वाक्यार्थं से यह बात कारणवश स्वयं स्पष्ट हो जाती है कि ज्वर को लक्ष्य में रखकर यह नियम है ।

(२) योग—जिसके द्वारा वाक्यार्थ या पदार्थ का सम्बन्ध किया जाता है, वह 'योग' है । जैसे—

पादावशेषे शीते च पूते तस्मिन् सिता शतम् ।
दत्वा कुम्भे दृढे स्थाप्यं मासार्द्धं घृतभाविते ॥

यहां पर घृत से भावित दृढ़ कुम्भ में रखना चाहिये यह 'योग' है ।

(३) हेत्वर्थ—एक स्थान पर कही बात दूसरे स्थान पर भी उसी प्रकार से लागू हो जाये । अथवा अन्य कही बात अन्य अर्थ को सिद्ध करे । जैसे—"समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्" (समान गुणों का अभ्यास धातुओं की वृद्धि में कारण है) यह कहने पर यहां समान शब्द से यह भी ज्ञान हो जाता है कि 'रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणम्' (समान गुणों का अभ्यास रस आदि की भी वृद्धि में कारण है)। प्रथम वात (वायु) आदि धातुओं को लक्ष्य में रख कर

कही है। अथवा यह कहने पर कि एक एक शाखा में ये अवेध्य हैं, ऐसा कहने पर शेष वेध्य हैं, ऐसा स्वयं जान लिया जाता है।

(४) पदार्थ—सूत्र या पद में जो अर्थ कहा हो, उसको पूर्वापर योग से देखकर ग्रहण करना 'पदार्थ' है। जैसे—गुरु आदि गुण शब्द से जाने जाते हैं। अथवा—'गुणा गुणाश्रया नोक्ता' यह कहने पर। "कार्यगुणाश्रयाः कार्यगुणा न भवन्ति"। अथवा वेदोत्पत्ति अध्याय की व्याख्या करते हैं, यह कहने पर संशय होता है कि कौन से वेद की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। फिर पूर्वापर योग से पता लगता है कि 'आयुर्वेदोत्पत्ति अध्याय' की व्याख्या करते हैं।

(५) प्रदेश—प्रकृत वस्तु को छोड़कर अन्य उससे बाहर के भी अर्थ का ज्ञान होना, एकदेशीय अर्थ से न कहे हुए अर्थ का भी ज्ञान करना 'प्रदेश' है। जैसे—इसने देवदत्त का शल्य निकाला है, इसलिये यह यज्ञदत्त का भी शल्य निकाल देगा। अथवा ये बस्तियां अति मैथुनशील पुरुषों के लिये शुक्रप्रद और बलप्रद हैं। इससे प्रकरण योग में यह ज्ञान हो जाता है ये बस्तियां वन्ध्या स्त्रियों के लिये भी पुत्रदायक है।

(६) उद्देश—जहां पर अर्थों को शब्द मात्र से ही कहा जाता है। जैसे—ह्रस्व, दीर्घ आदि आठ, नेत्र दोष हैं। ये यहां संक्षेप में ही कह दिया है। अथवा द्रव्य, गुण, कर्म इनको नाम मात्र से कहना।

(७) निर्देश—शब्द मात्र से कथित अर्थ को जब विस्तार से कहा जाता है। जैसे—खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः (आकाश आदि पंचमहाभूत, मन, काल, दिशा ये द्रव्य हैं)।

(८) वाक्यशेष—जहां पर अनुक्त पद से वाक्य समाप्त किया जाता है, वह वाक्यशेष है। जैसे—"अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथग् ये फलमूलिभिः। स्नुह्यर्काश्मान्तकास्तेषामिदं कर्म पृथक् यहां पर 'श्रृणु' यह पद वाक्यशेष है।

(९) प्रयोजन—जिस अर्थ को लेकर कार्य का आरम्भ किया

जाता है। जैसे—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तंत्रस्यास्य प्रयोजनम्' इस तन्त्र का प्रयोजन धातुओं का समान करना है।

(१०) उपदेश—यह इस प्रकार से है, यह इस प्रकार से नहीं है, यह 'उपदेश' है। जैसे—रात्रि में नहीं जागे और दिन में न सोये। अथवा—"गर्भस्तु मातुःपृष्ठाभिमुखो ललाटे कृताञ्जलिः संकुचिताङ्गः" इत्यादि।

(११) अपदेश—इस कारण से यह हुआ अथवा प्रतिज्ञात बात को इस हेतु से सिद्ध करना। जैसे—मधुर रस से कफ बढ़ता है। अथवा रसादि धातुओं के क्षय तथा अवृष्य वस्तुओं के सेवन से वृद्ध पुरुषों में शुक्र क्षीण हो जाता है।

(१२) अतिदेश—अनागत वस्तु से प्रकृत को सिद्ध करना, जैसे-क्रोध से उत्पन्न ज्वर सद्वाक्यों से शान्त होता है। अथवा—'यच्चान्य-दपि किञ्चित्स्यादनुक्तमिह पूजितम्। पूर्णं तदपि चात्रेयः सर्वदैवानुमन्यते।"

(१३) अर्थापत्ति—कहे हुए एक अर्थ से अनुक्त दूसरे अर्थ का सिद्ध होना 'अर्थापत्ति' है। जैसे यह रोग सन्तर्पण साध्य नहीं है, इतना कहने से यह स्वयं जान लिया जाता है कि यह रोग 'अपतर्पण-साध्य' है। अथवा रात्रि में दधि नहीं खानी चाहिये, इससे यह जान लिया जाता है कि दिन में दही खाने का निषेध नहीं है।

(१४) निर्णय—पूर्वपक्ष का उत्तर वचन (पीछे का कथन) 'निर्णय' है। जैसे—चतुष्पदभेषजत्वादि विचार को लेकर कहते हैं—"षोडश-कलं पूर्वाध्याये भेषजम्" यहांपर 'युक्तियुक्तमारोग्याय' यह निर्णय है।

(१५) प्रसंग—जिसको प्रकरणान्तर से समाप्त करते हैं, वह प्रसंग है। जैसे—अति प्रभाव वाले वस्तुओं का बहुत देखना 'अतियोग' है। अथवा प्रथमाध्याय में—'सत्वात्मा शरीरञ्च' आदि। अथवा वमन-प्रस्ताव में 'धूमान्तैः' इत्यादि अप्राकरणिक वचन से समाप्त करना।

(१६) एकान्त—पक्षान्तर को हटाकर एकान्त रूप में कहना। जैसे—त्रिवृद् विरेचन करती है और मदनफल वामक है।

(१७) नैकान्त—कहीं सजातीय पक्ष में और कहीं विजातीय पक्ष में जाता है। जैसे—कुछ प्रत्यक्षवादी कहते हैं—पुनर्जन्म नहीं है और जा आगमवादी हैं वे कहते हैं कि पुनर्जन्म है। अथवा कुछ आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है, कुछ कहते हैं कि रस प्रधान है, कुछ कहते हैं कि वीर्य प्रधान है, कुछ कहते हैं कि विपाक प्रधान है।

(१८) अपवर्ग—जो युक्ति सर्वत्र चरितार्थ होती है, वह कहीं एक स्थान पर नहीं घटती। जैसे—सब अम्ल पित्तकारक हैं; परन्तु अनार और आंवला अम्ल होते हुए भी पित्तकारक नहीं हैं।

(१९) विपर्य्यय—जो युक्ति जिसके विषय में विपरीत होती है। जैसे—कृश, अल्पप्राण, भीरु ये दुश्चिकित्स्य हैं। इससे दृढ़ आदि सुचिकित्स्य हैं इसका ज्ञान हो जाता है। अथवा स्वादु, अम्ल, लवण वायु को शान्त करते हैं। यह कहने पर कटु, तिक्त, कषाय वायु को कुपित करते हैं यह ज्ञान हो जाता है।

(२०) पूर्वपक्ष—तन्त्रयुक्ति में आक्षेपपूर्वक प्रश्न। जैसे—वातजन्य चार प्रमेह किस कारण से असाध्य हैं? अथवा हे भगवन्! निष्क्रिय चेतना धातु में फिर क्रियायें किस प्रकार से हैं?

(२१) विधान—प्रकरण के आनुपूर्व्य रूप से कहना। जैसे—सक्थि के मर्म ग्यारह हैं। अथवा 'उच्चैर्भाष्यम्' इत्यादि महादोषों के प्रकरण के अनुसार लक्षण और चिकित्सा कही है। *

(२२) अनुमत—जहां पर दूसरे के मत का प्रतिषेध नहीं किया जाता है। जैसे—दूसरे कहते हैं कि रस सात हैं। अथवा अतीन्द्रिय मन 'सत्त्व' संज्ञक है ऐसा कई विद्वान् कहते हैं।

---

* सुश्रुत में ३२ तन्त्रयुक्तियां मानी हैं। किसी २ तन्त्र में ३४ भी मानी हैं। विस्तार के लिये सुश्रुत देखिये।

(२३) व्याख्यान—विस्तार से जिसका वर्णन किया हो। जैसे—धातुभेद से पुरुष को २४ धातुओं वाला कहा जाता है।

(२४) संशय—जहां पर दोनों प्रकार के हेतु देखे जायें। जैसे—'यहां से मरने पर फिर उत्पन्न होंगे वा नहीं' यह 'संशय' है। इस विषय में दोनों प्रकार की युक्तियां हैं।

(२५) अतीतावेक्षण—पूर्व कथित बात को पुनः देखना। जैसे—निदानस्थान में वर्णित ज्वर की आकृति को पुनः चिकित्सास्थान में कहा है।

(२६) अनागतावेक्षण—'आगे इस प्रकार से कहेंगे' इसका नाम 'अनगतावेक्षण' है। जैसे—षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में जो संक्षेप से कहा है, उसको विस्तार से कल्पस्थान में कहेंगे। अथवा सूत्रस्थान में यह कहना कि चिकित्सास्थान में कहेंगे।

(२७) स्वसंज्ञा—जो संज्ञा अन्य शास्त्रों में सामान्य रूप से न हो। जैसे—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम यह संज्ञा इसी तन्त्र में की गई हैं, अन्यत्र नहीं है। इसी प्रकार से दीपन-पाचन योगों की 'प्रमथ्या' संज्ञा इस तन्त्र में ही है।

(२८) ऊह्य—विना कही बात को बुद्धिमान् व्यक्ति का बुद्धि से स्वयं समझ लेना। जैसे—'मात्राशी स्यात्'—यहां पर 'अशन' शब्द से चार प्रकार के (अशित, खादित, पीत, लीढ भेद से) भक्ष्य को समझना।

(२९) समुच्चय—यह है और यह भी है। जैसे—'पुनर्नवैरण्ड निकुम्भचित्रकान्' इत्यादि में—'महान्ति मूलानि च तद्भवान् विपाच्य मूत्रे०' इत्यादि।

(३०) निदर्शन—जहां पर उदाहरण देकर अर्थ स्पष्ट किया जाये। जैसे—जिस प्रकार विष, जिस प्रकार शस्त्र, जिस प्रकार अग्नि—अविद्वान् पुरुष के लिये विष के समान, जानने वाले के लिये अमृत के समान हैं,

इसी प्रकार से औषध भी जानने वाले के लिये अमृत और अविद्वान् पुरुष के लिये विष के समान हैं।

(३१) निर्वचन—निश्चित रूप में जो कहा जाता है अथवा पण्डित-बुद्धि गम्य दृष्टान्त देना। जैसे—आयुर्वेदयतीति आयुर्वेदः। अथवा विविध रूप से फैलता है, इसलिये 'विसर्प' कहते हैं।

(३२) सन्नियोग—यही करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये, इस प्रेरणा को 'सन्नियोग' कहते हैं। जैसे—मात्रा में भोजन करना चाहिये। देवता, ब्राह्मण, गाय आदि की पूजा करनी चाहिये।

(३३) विकल्पना—यह करना नहीं चाहिये, या करना चाहिये। इस विकल्प को 'विकल्पना' कहते हैं। जैसे—ग्रीष्म ऋतु में मद्य नहीं पीना चाहिये, अथवा बहुत पानी मिलाकर पीना चाहिये।

(३४) प्रत्युच्चार—पूर्व कथित बात को पीछे से उसी प्रकार कहना, अथवा दूसरे के मत का निवारण करना। जैसे—प्रथम 'षड्विरेचनशतानि भवन्ति।' इसी को फिर—'विरेचनशतानि यदुक्तमिति' कहना 'प्रत्युच्चार' है। अथवा यह कहने पर कि गर्भिणी को आठवें मास में घृतयुक्त क्षीर-यवागू देनी चाहिये, इसका काप्य खण्डन करते हैं, कि नहीं देनी चाहिये, क्योंकि पैंगल्य होने का भय है।

(३५) उद्धार—उपदिष्ट अर्थ को लेकर जहां उसका उद्धार किया जाता है। जैसे—विचित्र गुण कर्म करने वाली बस्ति किस प्रकार से रोगों को शान्त करती है, इस बात को सूर्य के रस-ग्रहण का उदाहरण देकर उद्धार किया है।

(३६) सम्भव—जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका 'सम्भव' है। जैसे—मुख में व्यंग नीलिकादि उत्पन्न होते हैं। दोष रोगों को उत्पन्न करते हैं। *

* भट्टार हरिचन्द्र ने इन तन्त्रयुक्तियों को विस्तार से पृथक् २

तन्त्रे व्याससमासाभ्यां भवन्त्येता हि कृत्स्नशः ॥ ७३ ॥
एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहितास्तथा ॥ ७४ ॥
यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।
प्रबोधनप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥ ७५ ॥

इस तन्त्र में समास (संक्षेप) और व्यास (विस्तार) से ये ३६ तन्त्रयुक्तियां कही हैं। जिस प्रकार एक दृष्टि मात्र से सम्पूर्ण अवयव देख लिया जाता है, इसी प्रकार से संक्षेप में कहे हुए वचन को जानकर सम्पूर्ण शास्त्र का ज्ञान हो सकता है।

तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन—जिस प्रकार कमल वन के लिये सूर्य प्रबोधक और प्रकाशक होता है, और जिस प्रकार घर को प्रकाशित करने के लिये प्रदीप होता है उसी प्रकार से शास्त्र के अर्थ को दिखाने और प्रबोधन के लिये ये तन्त्रयुक्तियां हैं।

एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात्प्रबुध्यते ॥ ७६ ॥
अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्यविचक्षणः ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान्भाग्यक्षये यथा ॥ ७७ ॥
दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शास्त्रं शस्त्रमिवाबुधम् ।
सुगृहीतं तदेव ज्ञं शास्त्रं शस्त्रं च रक्षति ॥ ७८ ॥

जिस पुरुष की बुद्धि किसी एक शास्त्र में खुल गई है, जिस पुरुष ने एक भी शास्त्र बुद्धि से समझ लिया है, वह पुरुष अन्य शास्त्रों की भी तन्त्रयुक्तियां को जानकर समझ लेता है। शास्त्र को पढ़ते हुए भी जो व्यक्ति तन्त्रयुक्तियों को नहीं जानता, वह शास्त्र के अर्थ को उसी प्रकार नहीं प्राप्त करता जिस प्रकार भाग्य के नष्ट होने पर पुरुष धन नहीं पाता। बुरी तरह पढ़ा हुआ शस्त्र मूढ व्यक्ति का उसी प्रकार

लिखा है। जिसको वैद्य मस्तरामजी ने रावलपिण्डी से प्रकाशित किया है, विस्तार के लिये उसे देखिये।

नाश कर देता है, जिस प्रकार अशुद्ध रीति से पकड़ा हुआ शस्त्र मूढ का नाश कर देता है। सम्यक् प्रकार से गृहीत शास्त्र बुद्धिमान् की उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार सम्यक् प्रकार से पकड़ा शस्त्र पुरुष की रक्षा करता है। सुगृहीत शास्त्र भी रोगी की उसी प्रकार रक्षा करता है जैसे शस्त्र चोर आदि से रक्षा करता है।

(तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः ।
तत्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः ॥ ७९ ॥)

इस तन्त्र के गुण, दोषों के देखने और तत्त्व ज्ञान के लिये, एक सौ बीस अध्यायों के उपरान्त मैंने इन तन्त्र युक्तियों को कहा है। जिससे इन तंत्रयुक्तियों द्वारा मुझ से पूर्ण किये इस तन्त्र के गुण दोषों को देख कर तत्व ज्ञान ग्रहण कर सकें।

इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति यो विमलः प्रयोगनित्यः ।
स मनुजसुखजीवितप्रदानाद् भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मवृद्धः ॥८०॥

तन्त्र के पढ़ने का फल—जो शुद्ध व्यक्ति इस तंत्र को भली प्रकार पढ़कर अर्थों को पूर्ण रूप से जानकर नित्य प्रयोग करता है, वह मनुष्य पुरुषों को जीवन रूप। सुख देने से, धृति, स्मृति, बुद्धि और धर्म में सब से वृद्ध (बड़ा, पूज्य) गिना जाता है।

यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता ॥
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः ॥ ८१ ॥

जिस पुरुष के हृदय में बारह हज़ार श्लोकों की यह संहिता सदा उपस्थित रहती है, वही पुरुष अर्थ को जानने वाला, वही विचार को जानने वाला और वही चिकित्सा में कुशल है। *

---

* ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
रोगास्तेषां चिकित्सां च स किमर्थं न बुध्यते ॥
इति गंगाधरसेनसम्मतोऽधिकः श्लोकः पठ्यते ॥

चिकित्सितं वह्निवेश स्वस्थातुरहितं प्रति ॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ ८२ ॥

हे वन्हिवेश ! स्वस्थ और रोगी पुरुष के लिये जो चिकित्सा इस ग्रन्थ में है, वही अन्य ग्रन्थों में भी है और जो चिकित्सा इस ग्रन्थ में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है । [यह उक्ति प्रधानतया कायचिकित्सा के लिये ही समझनी चाहिये, यहां शालाक्य आदि चिकित्साएं लेशमात्र दिखाई हैं] ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सिद्धिस्थाने
उत्तरवस्तिसिद्धिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तं चेदं चरकतन्त्रम् ॥



चरक संहितान्तर्गत

ऋष्यादि-नामानुक्रमणी

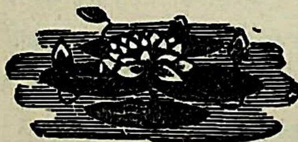
* इस अनुक्रमणी में प्रथम संख्या खण्ड और दूसरी संख्या पृष्ठ की सूचक है ।

चरकसंहितान्तर्गत-अध्यायनाम-वर्णानुक्रमणी

चरकसंहितान्तर्गत-अध्यायनाम-वर्णानुक्रमणी

चरकसंहितान्तर्गत

विशेषयोगनाम-वर्णानुक्रमणी



चरकसंहितान्तर्गत-

रोगनाम-वर्णानुक्रमणी

चरकसंहितान्तर्गत (कल्पस्थान अ० १२)

द्रव्य-परिमाण-सारणी

६ वंशी (त्रसरेणु)	=	१ मरीचि
६ मरीचि	=	१ श्वेत सर्षप
८ रक्तसर्षप	=	१ तण्डुल
२ तण्डुल	=	१ धान्यमाष, या माषकलाय
२ धान्य माष	=	१ यव
४ यव	=	१ अण्डक
४ अण्डक	=	१ माष, हेम, धानक
३ माष	=	१ शाण
२ शाण	=	१ द्रंक्षण, कोल, बदर
२ द्रंक्षण	=	१ कर्ष, सुवर्ण, अक्ष, बिडालपदक, पिचु, पाणितल, तिन्दुक, कवड (ल) ग्रह
२ सुवर्ण	=	१ पलार्ध, शुक्ति, अष्टमिका
२ पलार्ध	=	१ पल, मुष्टि, प्रकुंच, चतुर्थिका, बिल्व, षोडशिका, आम्र, निष्क
२ पल	=	१ प्रसृत, अष्टमान
२ प्रसृत (४ पल)	=	१ कुडव, अञ्जलि
२ कुडव	=	१ मानिका, शराव
२ मानिका (४ कुडव)	=	१ प्रस्थ
४ प्रस्थ (द्रोण)	=	१ आढक, घट, अष्टशरावक, पात्रं,पात्र, कंस
४ कंस	=	१ द्रोण, चार्मण, नल्वन, कलश, घट, उन्मान
२ द्रोण	=	१ शूर्प, कुम्भ
२ शूर्प	=	१ गोणी, खारी, भारी
३२ शूर्प (१६ गोणी)	=	१ वाह
१०० पल	=	१ तुला

आयुर्वेद-ग्रन्थमाला

के

ग्राहक बनिये

१) रु० कार्यालय में जमा कराकर स्थायीग्राहक बनने से ग्राहक को प्रत्येक खण्ड पौने दामों में दिया जाता है।

आयुर्वेद-ग्रन्थमाला में सब से प्रथम ग्रन्थ

चरक-संहिता

(हिन्दी अनुवाद सहित)

तीन खण्डों में समाप्त

प्रत्येक खण्ड का मूल्य ४) तीन खण्डों का ल्य १२) रु०

स्थायी ग्राहकों से केवल ६) रु०

ग्रन्थ छपेंगे

सुश्रुतसंहिता, बंगसेन, नावनीतकम्, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, माधवनिदान, चक्रदत्त, योगरत्नाकर आदि २ अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित।

आवश्यक निवेदन

जो वैद्य महानुभाव आयुर्वेदसम्बन्धी उत्तम स्वतन्त्र ग्रन्थ वा आयुर्वेद के अति उपयोगी ग्रन्थों के अनुवाद छपाना चाहें वे नीचे लिखे पते से पत्र व्यवहार करें।

पता—व्यवस्थापक

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड्, अजमेर.

